THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180669

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.1 K14H Accession No. H251

Author कल्हण.

Title राजतरंगिणी

This book should be returned on or before the date last marked below.

स्वर्गीया स्नेहमयी जीवनसंगिनी

श्रीमती सुन्दरदेवी की

पुनीत स्मृति में

समर्पित

स्नेहाञ्जलि

साश्रुनयन

गो० कृ० त्रिवेदी

भुजवनतरुच्छायां येषां निषेव्य महीभुजाम् ;
जलधिरशना मेदिन्यासीदसावकुतोभया ।
स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहम् ;
प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे ॥

(राजतरंगिणी)

दो शब्द

राजतरंगिणी संस्कृतभाषामयी अष्टतरंगात्मक कृति है। काश्मीरवासी महा कवि कल्हण इसका रचयिता है। उसने सन् ११४८ (विक्रम-संवत् १२०५ अथवा शालिवाहन शक १०७०) में इसका प्रारंभ कर सन् ११५० (विक्रम-संवत् १२०७ अथवा शालिवाहन शक १०७२) में इसे समाप्त किया।

राजतरंगिणी के कतिपय अंश का अनुवाद सर्व प्रथम परशियन भाषा में काश्मीर के बादशाह जान उल् अब्दीन की आज्ञा से (जिसका शासनकाल ई० सन् १४२१–१४७२ माना गया है) करवाया गया; जिसका नाम बहर-उल् अश्मार या कथासागर रख गया था।

बादशाह अकबर द्वारा काश्मीर को अपने राज्य में सम्मिलित कर लेने पश्चात् इतिहासकार अब्द-उल्-कादिर-अल्बदौनी को हिजरी सन् १००३ या मा ख्रिस्ताब्द १५९४ में उस अपूर्ण अनुवाद को पूर्ण करने की आज्ञा हुई। उक्त लेखक के कथनानुसार जब कि अनुवादकार्य चल रहा था "एक दिन बादशाह अकबर ने उसे अपने शयनकक्ष में बुलाया और प्रभात तक प्रत्येक तरंग से कथाएँ सुनाने को कहा। पुनः आज्ञा हुई; चूंकि प्रथम कृति बहर-उल्-अश्मार प्राचीन कठिन फारसी में है अतः तुम उसका नवीन अनुवाद करो जो जनसाधारण की चलती भाषा में हो। बादशाह की आज्ञा को नम्रता-पूर्वक स्वीकार कर मैंने कार्यारम्भ किया।"

आईने अकबरी में अबुल फजल ने काश्मीर के इतिहास का एक अवतरण सम्मिलित किया, जो कि कल्हण के आधार पर लिखा गया था।

राजतरंगिणी का एक संक्षिप्त संस्करण फारसी में काश्मीर के एक अमीर खान्दान के हैदरमलिक ने किया था उसमें कल्हण की तिथियों के स्थान पर हिजरी सन् का उपयोग किया गया। उसकी भूमिका में वह लिखता है कि जहाँगीर के शासन के बारहवें वर्ष अर्थात् हिजरी सन् १२०७ या ख्रिस्ताब्द १६१७ में उक्त संक्षिप्त अनुवाद प्रारंभ किया था।

सन् १६६४ में एक फ्रांसीसी चिकित्सक फ्रांको बर्नियर ने काश्मीर की

यात्रा की जिसका सुन्दर विवरण उसने "भारत का स्वर्ग" (Paradise of Indies) में दिया है। वस्तुतः जब वह यह कहता है "काश्मीर के प्राचीन राजाओं का इतिहास जिसका अनुवाद जहाँगीर की आज्ञा से हुआ जिसका कि मैं अब फारसी से अनुवाद कर रहा हूँ।" तब उसका अभिप्राय हैदर मलिक के अनुवाद ही से था। बर्नियर का अनुवाद—यदि वह पूर्ण कर सका—या तो खो गया अथवा अप्रकाशित ही रहा।

एक शताब्दी के पश्चात् एक पादरी लीपेरी टिफेन्थलर ने अपनी कृति "भारतवर्ष का विवरण" (Desinplin De I'Inde) में काश्मीर के प्राचीन राजाओं के इतिहास का सार सम्मिलित किया जो हैदर मलिक के फारसी अनुवाद के आधार पर था।

गत शताब्दी के प्रारंभ में ही सर विलियम जोन्स का ध्यान कल्हण की कृति की ओर गया। सन् १८१६ से काश्मीर महाराजा रणजीतसिंह के राज्य का एक भाग था। महाराज की आज्ञा से मि० मूरक्रापट महोदय सन् १८२३ में श्रीनगर गये, और राजतरंगिणी की मूल काश्मीरी प्रति प्राप्त करने में सफल हुए, जिसके आधार पर बंगाल की एशाइटिक सोसाइटी की ओर से कलकत्ता में सन् १८३५ में राजतरंगिणी का अनुवाद प्रकाशित कराया गया।

इस बीच में सन् १८२५ में डाक्टर विल्सन ने हिन्दू राजाओं के इतिहास पर एक निबन्ध लिखा था जिसमें कल्हण के ६ तरंगों का सारांश था।

मूल संस्कृत के आधार पर सम्पूर्ण राजतरंगिणी का सर्वप्रथम अनुवाद फ्रेंच भाषा में हुआ।

सन् १८३५ के कलकत्ता वाले संस्करण के ६ तरंगों का अनुवाद सन् १८४० में कलकत्ता संस्कृत कालिज के अध्यक्ष एम. ट्रायर द्वारा किया गया जो पेरिस की एशाइटिक सोसाइटी के तत्त्वावधान में प्रकाशित हुआ। ट्रायर महोदय ने १८५२ में अनुवाद-कार्य पूर्ण किया। दुर्भाग्य से ट्रायर के लिए उस समय मूल का कोई सटिप्पण अनुवाद न था।

इसवी सन् १८३५ के संस्करण से श्री योगेशचन्द्र दत्त ने अंग्रेजी अनुवाद किया जो कि सन् १८७६ से १८८७ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।

सन् १८८८ में श्रीयुत शंकर पांडुरंग पंडित ने वाक्पति के "गौडवहो" काव्य का प्रकाशन किया था उन्होंने वाक्पति तथा उसके आश्रयदाता यशोवर्मा का समय निर्णय करने के लिए राजतरंगिणी को आधारभित्ति माना था, इसलिए उन्होंने विस्तार से कल्हण के संबन्ध में चर्चा की और कुछ पद्यों का अनुवाद भी किया था और कहा कि जब तक राजतरंगिणी जैसे बहुमूल्य ग्रंथ का पूर्ण परिश्रम के साथ कोई प्रामाणिक संस्करण न निकल जाय तब तक उसके (राजतरंगिणी) संबन्ध में कोई निर्णय न किया जाय। ऐसा कहकर उन्होंने विद्वानों का ध्यान कलकत्तावाले संस्करण के दोषों की ओर आकर्षित किया था।

सौभाग्य से दो विद्वानों ने मूल राजतरंगिणी का सटिप्पण संस्करण प्रकाशित करने का सफल प्रयत्न किया। सन् १८९२ में सर ओरेल स्टीन ने बंबई से सटिप्पण संस्करण प्रकाशित कराया। और प्रायः उसी काल के लगभग म० म० पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी ने भी बंबई के निर्णयसागर प्रेस से स्वसंपादित संस्करण प्रकाशित कराया। सर स्टीन महोदय ने सन् १९०० में राजतरंगिणी का अंग्रेजी में भी अनुवाद किया। उस अनुवाद में स्टीन महोदय ने पं० दुर्गाप्रसाद के सुधारों का पर्याप्त लाभ उठाया जिसका उन्होंने स्वयं ही भूमिका में उल्लेख किया है।

प्रो० वुलर ने राजतरंगिणी के कुछ श्लोकों का अनुवाद किया था। स्टीन महोदय ने अनुवाद के सम्बन्ध में प्रो० वुलर की सम्मतियों को माना है।

इसके बाद सन् १९२९ में माधव व्यंकटेश लेले महाशय ने राजतरंगिणी का मराठी अनुवाद चित्रशाला प्रेस पूना से प्रकाशित कराया।

सन् १९३५ में श्रीयुत रणजीत सीताराम पंडित ने कल्हण के मूल पाठ के आधार पर इण्डियन प्रेस प्रयाग से एक अत्यन्त सुन्दर एवं प्रामाणिक अंग्रेजी भाषा का अनुवाद प्रस्तुत किया।

स्वर्गीय भारतेन्दु बाबू ने राजतरंगिणी के कुछ थोड़े से अंश का हिन्दी में अनुवाद किया जिसका नाम "काश्मीर-कुसुम" था।

सन् १९३७ में एक बार मुझे मेरे अनन्य सुहृद पं० सूर्यनारायण जी व्यास के भारती भवन में सर ओरेले स्टीन महोदय द्वारा श्री० व्यासजी के

पितृवर्य महापंडित स्वर्गीय नारायणजी व्यास महोदय को समर्पित की गई राजतरंगिणी की मूल सटिप्पण पुस्तक को अवलोकन करने का अवसर प्राप्त हुआ। तब व्यासजी ने मुझसे कहा था कि इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ का अनुवाद अंग्रेजी, फ्रेंच, परशियन तथा मराठी में हो चुका है परन्तु हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी इस ग्रन्थ से आज तक वंचित ही है। इस उपालम्भ व्यंजक वचन के साथ ही मुझे इसका अनुवाद करने के लिए बार बार उत्साहित भी किया। तदनुसार मैंने अपने इष्टदेव को जिन्हें लोग आलस्य शब्द से संबोधित करते हैं—त्यागकर सन् १९३८ में अनुवाद कार्य प्रारंभ किया दुर्भाग्य से केवल प्रथम तरंग का अनुवाद कर सका था कि अकस्मात् सांघातिक संग्रहणी रोग की कृपा से शय्याग्रस्त होना पड़ा; परन्तु उस रुग्णावस्था में भी यथाशक्ति अनुवाद कार्य करता ही रहा। पश्चात् सन् १९३९ में परमपूज्य पिताजी के स्वर्गवास हो जाने के कारण दो-तीन मास तक अनुवाद कार्य बन्द रहा कुछ समय के बाद ही पितृशोक संतप्त हृदय को विदीर्ण करने के लिए उद्यत हुए विधि ने मुझे सर्वदा के लिए पत्नी-वियुक्त कर दिया। इन अनेक दुर्घटनाओं के कारण इस प्रथम भाग अर्थात् प्रारंभ से लेकर सप्तम तरंग पर्यन्त के अंश का अनुवाद ढाई वर्ष में हो सका। चित्त की अस्थिरता के कारण इस अनुवाद में संभव है कुछ त्रुटियाँ रह गई होंगी और प्रेस के कार्यकर्ताओं के प्रमाद से भी इसमें अनेक अशुद्धियाँ विद्यमान हैं, इसलिए इसके पीछे शुद्धि पत्र जोड़ दिया गया है उसे देखकर पाठक अपनी शंका को दूर कर सकेंगे। अन्त में गुणैकपक्षपाती सहृदय विद्वानों से सविनय निवेदन है कि यदि इस अनुवाद में कतिपय दोष रह गये हों तो कृपया उनकी ओर उपेक्षा प्रदर्शित करते हुए नीरक्षीरन्याय के अनुसरण द्वारा अपनी महत्ता का परिचय देकर मुझे अनुगृहीत करें। इति

श्रीरामनवमी
संवत् १९९८

अनुवादक—
गोपीकृष्ण शास्त्री द्विवेदी
उज्जयिनी

प्रस्तावना

पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति से हमारे भारतवर्ष में ऐतिहासिक ग्रन्थों का नितान्त अभाव है। इतिहास के वास्तविक ज्ञान के लिए ताम्रपत्र, शिलालेख, प्राचीन मुद्राएँ तथा पुरातन भग्नावशेष (खण्डहर) के अतिरिक्त दूसरी कोई भी साधनसामग्री नहीं है। परन्तु हम इस कथन को सर्वथा सत्य नहीं मान सकते। क्योंकि यह कथन भ्रमपूर्ण है। और इस प्रकार के भ्रम का कारण भारतीय प्राचीन विद्वानों की इतिहासविषयक उदासीनता ही है। हमारे भारतीय प्राचीन पण्डितप्रकाण्ड पाश्चात्यपद्धति के अनुसार ऐतिहासिक तथ्य के अन्वेषण के महत्व को न समझ कर उस ओर उपेक्षा दृष्टि से अवलोकन करते हैं।

यद्यपि महाभारत, रामायण, अष्टादश महापुराण एवं उपपुराणों में धार्मिक तथा उपदेशपूर्ण कथाओं में अनेक ऐतिहासिक वार्ताओं का संमिश्रण किया गया है; तथापि उन कथाओं का शुद्ध ऐतिहासिक स्वरूप न होकर आलंकारिक भाषा में उल्लिखित होने के कारण उनके अन्दर छिपे हुए इतिहास की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार ऐतिहासिक कथाओं के आधार पर रचे गये अनेक काव्य संस्कृत साहित्य में विद्यमान हैं; परन्तु उन काव्यों के कथानकों का ऐतिहासिक दृष्टि से किञ्चित मात्र महत्व नहीं है। कवि अपनी विद्वत्ता, कल्पकता तथा काव्य-रचना-चातुर्य को प्रदर्शन करने के लिए उन कथानकों का उपयोग करते हैं। इस प्रकार के चरित्रात्मक काव्यों में कवि अपने आश्रयदाता के शौर्य, औदार्य आदि गुणों के वर्णन करने में अपने कवित्व को पूर्णरूप से विकसित कर देता है। क्योंकि इस प्रकार के वर्णन से उसको अपने आश्रय दाता के निकट से आर्थिक लाभ की आशा होती है। और सच्चे इतिहास के लेखन में गुणवर्णन के समान दोषप्रदर्शन भी नितान्त अनिवार्य होता है और ऐसे वर्णन से आर्थिक लाभ

की अपेक्षा राज-रोष के पात्र बन जाने की अधिक सम्भावना होती है। अतः उक्त काव्यों से वास्तविक इतिहास का पता नहीं लग सकता।

परन्तु महाकवि कल्हण की राजतरंगिणी को मध्ययुगीन पाश्चात्य ऐतिहासिक ग्रन्थ एवं मुस्लिम तवारिखों की अपेक्षा किसी प्रकार न्यून नहीं कहा जा सकता। इसके साथ साथ यह भी कथन अत्युक्ति पूर्ण न होगा कि समग्र संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक ग्रंथों में इसका बहुत ऊँचा स्थान है। यद्यपि राजतरंगिणी महाकवि कल्हण रचित एक उत्कृष्टतम ऐतिहासिक काव्य है तथापि उसके विवेचन एवं वर्णन की शैली एक स्वतन्त्र रूप को धारण किये हुए है। इसमें कल्हण ने पौराणिक काल से लेकर स्वयं के काल तक के काश्मीरी राजाओं के शासन का सरल एवं निष्पक्ष इतिहास शृङ्खलाबद्ध रूप से लिखने का सफल प्रयत्न किया है। उन राजाओं में जो अत्यंत प्राचीन हैं उनका इतिवृत्त पौराणिक कथाओं के आधार पर लिखा गया है। उनके बाद के राजाओं का इतिहास प्राचीन इतिहास ग्रंथ, शिला लेख एवं ताम्र शासन पत्र आदि विश्वसनीय प्रमाणों के आधार पर वर्षगणना के सहित वर्णन किया गया है। पश्चात् लेखक के समय के तथा उसके अत्यंत निकट पूर्ववर्ती समय के भूमिपालों का इतिवृत्त प्रत्यक्ष दृष्टाओं के मुख से सुने गये कथानक के समान सुविस्तृत रूप से निविष्ट किया गया है। इसमें प्रत्येक राजाओं का चरित्रचित्रण स्तुतिपाठ के समान केवल प्रशंसा के रूप में ही नहीं किया गया है किन्तु एक तटस्थ एवं स्पष्टवादी इतिहासज्ञ विद्वान के द्वारा जैसा लिखा जाना चाहिए वैसा ही पक्षपात शून्य सत्य घटना पूर्ण लिखा गया है।

कल्हण ने इस काव्य में अपने पांडित्य के विषय में अवास्तविक अभिमान अथवा मिथ्या प्रौढ़त्व का किंचिन्मात्र भी प्रदर्शन नहीं किया है। प्रत्युत स्थान स्थान पर प्राचीन इतिहासज्ञों के ग्रंथों की सहायता से लिखी गई कथाओं के संबन्ध में उन ग्रंथों की सहायता का स्पष्ट उल्लेख किया है। परन्तु राजतरंगिणी के लेखन समय में कल्हण को जो प्रमाण-रूप सामग्री अथवा ग्रंथ उपलब्ध हो सके थे वे इस समय पूर्णतया उपलब्ध नहीं हो सकते। अतः इस ग्रंथ की ऐतिहासिक योग्यता का निर्णय इसी पर निर्भर है।

कवि परिचय

राजतरंगिणी के आठ तरंग हैं। प्रत्येक तरंग में "काश्मीरिक-महामात्य-चंपक-प्रभु-सुत-कल्हण-कृत-राजतरंगिण्यां" इस प्रकार उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार कल्हण के पश्चात् ई० स० ११५० के बाद के राजाओं का इतिहास जोनराज नामक इतिहासवेत्ता कवि ने लिखा है। उसमें जोनराज ने कल्हण का अतिस्वल्प परिचय लिखा है। कल्हण ने लौकिक वर्ष ४२२४ अर्थात् शालिवाहन शक १०७० अथवा ईसवी सन् ११४८ में राजतरंगिणी का प्रारंभ किया था। इस विषय में निम्नलिखित पद्य ही प्रमाण है :-

"लौकिकेऽब्दे चतुर्विंशे शककालस्य साम्प्रतम्।
सप्तत्याऽभ्यधिकं यातं सहस्रं परिवत्सराः॥"

और लौकिक वर्ष ४२२६ अर्थात् शालिवाहन शक १०७२ अथवा ईसवी सन् ११५० में राजतरंगिणी को समाप्त किया था। इस विषय में राजतरंगिणी के अष्टम तरंग का ३४०० श्लोक प्रमाण हो सकता है। कल्हण का पिता चंपक ई० स० १०८६ से ११०१ तक राजा हर्षदेव का प्रधान मंत्री था। हर्ष के शासन काल के उत्तरार्ध में द्वारपति के पद पर कार्य करते हुए चंपक ने "दुग्धघात" नामक दुर्ग को चारों ओर से घेर लिया था उस समय उसके द्वारा प्रदर्शित की गई कार्यपटुता की कल्हण ने खूब प्रशंसा की है। "हर्ष के अन्तिम युद्ध तक चंपक उसी के पास विद्यमान था" ऐसा कल्हण ने सादर उल्लेख किया है। उस विकट परिस्थिति को देखकर हर्ष के मंत्रियों ने तटस्थ एवं निर्भय बनकर अपने स्वामी को जो उपदेश दिया था उसका कल्हण ने स्पष्टतया उल्लेख किया है। इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि उन उपदेशक मंत्रियों में चम्पक प्रधान व्यक्ति था और उसने उक्त वृत्तान्त कल्हण से कह दिया था। इसी प्रकार हर्ष के राजत्याग, पलायन एवं शोचनीय मरण का इति वृत्त भी चम्पक के सेवक मुक्तक के मुख से कल्हण को विदित हुआ होगा क्यों कि वह मृत्यु के समय तक हर्ष के पास रहकर जीवित रह सका था।

महामात्य चंपक की नन्दिक्षेत्र के तीर्थ एवं देवताओं पर असीम श्रद्धा थी इसलिए कल्हण को उक्त क्षेत्र तथा उसके समीप के प्रदेशों की अच्छी जानकारी थी। "चंपक ई० स० ११३७ में भी जीवित था" इस बात का समर्थन राजतरंगिणी के निम्नांकित श्लोक से होता है:—

"नन्दिक्षेत्रे स तत्राद्यैः प्रणीतश्चंपकादिभिः।
तेन कालानुसारेण पोषितः पंचषाः समाः।

राज० तरंग ८ श्लोक २३६५

कल्हण ने चंपक के कनिष्ठ भ्राता कनक का भी राजतरंगिणी में उल्लेख किया है। राजा हर्षदेव ने कनक से संगीत का अध्ययन किया था और गुरुदक्षिणा के रूप में एक लक्ष दीनार भेंट किये थे। यह बात सप्तम तरंग के ११२७ वें श्लोक से स्पष्टतया प्रमाणित होती है। "हर्ष के अवसान के बाद कनक ने मरण पर्यन्त काशीवास किया" इस बातका अष्टम तरंग के १२ वें श्लोक में सादर उल्लेख किया है। कनक की जन्मभूमि परिहासपुर था। उसने हर्ष के उपद्रव से वहां की एक भव्य बुद्ध प्रतिमा को बचाया था ऐसा सप्तम तरंग के ११२७ श्लोक से विदित होता है और इसी वृत्तान्त से कनक की बौद्ध धर्म विषयक सहानुभूति भी प्रतीत होती है।

कल्हण ने भी परिहासपुर में उसका घर होने के कारण उस ग्राम के विषय में विशेष जानकारी प्रगट की और ब्राह्मण होने के कारण संस्कृत भाषा पर कल्हण का पूर्णतया अधिकार था। उसकी लेखनी से योग्य तपस्वी ब्राह्मणों के विषय में यत्र-तत्र गौरव एवं सात्विक अभिमान उट्टङ्कित किया गया है।

"कल्हण काश्मीर देश में बहुत प्राचीन समय से प्रवृत्त होने वाले शैव संप्रदाय का कट्टर अनुयायी था" इस बात का समर्थन प्रत्येक तरंग के आरंभ में लिखे गये अर्धनारीनटेश्वरवन्दनात्मक श्लोकों से निश्शंकतया हो सकता है। इसीलिए उसने काश्मीरिक शैवागम के प्रमुख आचार्य भट्ट कल्लट के विषय में सादर उल्लेख किया है। शैवागम तथा तान्त्रिक सिद्धान्तों का उत्तम ज्ञान होने पर भी अन्ध श्रद्धा का कल्हण के मन में अत्यन्ताभाव था अतएव उसने कहीं कहीं पाखण्डी तान्त्रिकों का परिहास प्रचुर वर्णन किया है।

शैव होकर भी कल्हण ने अपनी रचना में बौद्धधर्म के प्रति यत्र-तत्र आदर प्रगट किया है वह नितान्त आश्चर्य-कारक है। इससे उसकी पर-धर्म-सहिष्णुता स्पष्टतया प्रतीत होती है। उसने अशोक से लेकर स्वयं के समकालिक राजाओं में जो बौद्धधर्मानुयायी राजा अथवा धनिक हो गये हैं उनके तथा मेघवाहन आदि अहिंसाप्रेमी राजाओं के सत्कार्यों की भूरि भूरि प्रशंसा की है। उसे बौद्धधर्म के मूल सिद्धान्त तथा दंतकथाओं का अच्छा ज्ञान था। उसके समय में शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध एवं जैन आदि भिन्न भिन्न धर्मों के अनुसर्ताओं में परधर्मसहिष्णुता के भाव जागरित हो चुके थे। इस बात का उत्कृष्ट उदाहरण कन्नौज के राजा हर्षवर्धन को ही हम मान सकते हैं क्योंकि उसकी राजसभा में जैन, बौद्ध तथा सनातनी ब्राह्मण समानतया संमानित किये जाते थे। यह बात प्रत्यक्ष-दृष्टा चीनी प्रवासी ह्वेनत्सांग ने लिखी है। इस विषय में जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरी तथा डॉ० बुल्हर के कथनानुसार शैवधर्म के कट्टर अनुयायी राजा कुमारपाल भी उदाहरण बन सकते हैं। फिर भी उस समय में शैव एवं जैन मत का काश्मीर में जितना पारस्परिक स्नेह संबन्ध था उतना गुजरात में नहीं। क्योंकि नीलमत पुराण में भी बुद्ध जयन्ती के महोत्सव को मनाने का आदेश दिया गया है।

कल्हण ने कहाँ तक साहित्य का अध्ययन किया था इस विषय का कहीं उल्लेख न मिलने पर भी यह निर्विवाद है कि जो योग्यता प्रतिभासंपन्न महाकवि में होना आवश्यक है वह उच्चकोटि की योग्यता उसमें पूर्णरूप से विद्यमान थी। वह साहित्य शास्त्र में कितना प्रवीण था इस बात का पता उसकी इस उत्कृष्टतम रचना से भली भांति लग सकता है। उसने रघुवंश, कुमार संभव, मेघदूत, बिल्हणकृत विक्रमांकदेव चरित आदि काव्यों का उत्तम रीति से मनन किया था। इसी प्रकार हमारे धार्मिक ग्रंथ रामायण, महाभारत एवं पुराणों का भी भली भांति अध्ययन किया था। उसके हृदय में महाभारत तथा पुराणों के अन्तर्गत धार्मिक कथानकों पर असीम श्रद्धा थी। उसने वराह मिहिर की बृहत्संहिता का कुछ स्थलों पर उल्लेख किया है इससे उसका ज्योतिष शास्त्र संबन्धी ज्ञान भी ध्वनित होता है। उसको ग्रंथों में

लिखी गई कथाओं के अतिरिक्त लोक प्रचलित दन्तकथाओं का भी पूरा पता था यह बात यशोवर्मा राजा के आश्रित कवि एवं पण्डितों के विषय में किये गये उल्लेख से स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।

राजतरंगिणी के लिखने के कुछ समय पूर्व काश्मीरी कवि मंख ने श्रीकण्ठ-चरित नामक काव्य लिखा था। उसके पच्चीसवें सर्ग में मंख ने अपने ज्येष्ठ भ्राता महामंत्री अलंकार के गृह पर प्रतिदिन एकत्रित होनेवाले कविमण्डल के अधिवेशन का सुविस्तृत रूप से वर्णन किया है। मंख ने अपना काव्य इसी सभा में परीक्षण के लिए रखा था। विद्वान लोग मंख एवं कल्हण को समकालिक मानते हैं। मंखने अपना काव्य ई० स० ११२८ से ११४४ तक के समय में लिखा था और कल्हण ने ई० स० ११४८ से ११५० तक के समय में राजतरंगिणी रचना की थी। "अलंकार मंत्री के भवन में एकत्रित होनेवाले विद्वानो का नामोल्लेख करते हुए मंख ने कल्हण के नाम का उल्लेख क्यों नहीं किया" ऐसी शंका स्वाभाविकतया उत्पन्न हो सकती है। परन्तु इसका समाधान कल्हण शब्द के शुद्ध संस्कृत रूप "कल्याण" शब्द से हो सकता है। उस काव्य में मंख ने कल्याण कवि का वर्णन तीन पद्यों में किया है।* उस वर्णन में उसे कविकुल गुरु, सुप्रसिद्ध महामंत्री अलकदत्त द्वारा समादृत, बिल्हण के समान काव्य रचना में चतुर तथा अनेक आख्यायिकाओं का ज्ञाता कहा गया है। श्रीकण्ठ चरित की टीका लिखने वाले द्वितीय राजतरंगिणी के निर्माता जोनराज ने महामंत्री अलकदत्त के द्वारा कविवर कल्याण को आश्रय देने का उल्लेख किया। यद्यपि जोनराज ने कल्याण

---

* श्रीमानलकदत्तोऽयमनल्पं काव्यशिल्पिषु।
स्वपरश्रमसर्वस्वन्यासंसभ्यममन्यत ॥
तथापचस्करे येन निजवाङ्मयदर्पणः।
बिल्हणप्रौढिसंक्रान्तौ यथा योगत्वमग्रहीत् ॥
तत्तद्बहुकथाकेलिपरिश्रमनिरंकुशम् ।
तं प्रश्रयप्रयत्नेन कल्याणं सममीमनत् ॥
श्रीकण्ठचरित काव्य सर्ग २५ श्लोक ७८, ७९, ८०

का अर्थ कल्हण नहीं बताया है; तथापि कल्याण का अपभ्रंश कल्हण ही होता है। इसलिए पूर्वोक्त तर्क अयोग्य नहीं कहा जा सकता। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि कल्हण को अपभ्रंश के शब्दों का लिखने का अभ्यास हो गया था और मंख को शुद्ध संस्कृत शब्दों का प्रयोग अधिक प्रिय था। जोनराज ने ३०० वर्ष के बाद दूसरी राजतरंगिणी की रचना की थी। वह अधिक समय बीत जाने के कारण कल्हण तथा कल्याण के एकत्व को न जान सका।

कल्हण ने यह ग्रंथ ई० स० ११४८ से ११५० तक के समय में लिखा था। उसके वर्णन की शैली से स्पष्ट विदित होता है कि उस समय वह प्रौढ़ावस्था में पदार्पण कर चुका था। ई० स० ११२१ में भिक्षाचर को उसके सैनिकों ने धोखा दिया था इस विषय का वर्णन कल्हण ने एक प्रौढ़ प्रत्यक्ष दृष्टा के समान लिखा है। इसी प्रकार ई० स० ११११ से ११२० तक का सुस्सल के राज्य शासन का वर्णन भी प्रौढ़ता के साथ लिखा है। इससे यही निश्चय होता है कि उस समय वह बालक न था। और इससे इस बात का भी अनुमान किया जा सकता है कि उसका जन्म लगभग ई० स० ११०० के होगा। ईसवी सन् के १२ वें शतक के प्रारंभ में काश्मीर देश में भयंकर राज्य क्रान्ति हुई और एक नवीन राजघराने की स्थापना हुई। हर्ष ने ई० स० १०८६ से ११०१ तक राज्य किया था। उसके शासन-काल का पूर्वार्ध शान्तिपूर्ण तथा उत्तरार्ध अव्यवस्था पूर्ण रहा। उसके मारे जाने के पश्चात् उच्चल काश्मीर का शासक हुआ। उच्चल ने ई० स० ११०१ से ई० स० ११११ तक राज्य किया। उसके पश्चात् ई० स० १११२ से ११२८ तक उसका कनिष्ठ भ्राता वहाँ का शासक हुआ। पश्चात् सुस्सल के पुत्र जयसिंह ने काश्मीर राज्य का शासन सूत्र अपने हाथ में लिया। जयसिंह के शासन काल में भी ई० स० ११४३ तक उसे अपने दायादों से निरंतर झगड़ना पड़ा। उसके बाद भी छोटे बड़े झगड़े चलते ही रहे। क्योंकि जब कल्हण ने राजतरंगिणी की रचना की थी उस समय भी वे झगड़े समूल नष्ट न हो सके थे। कल्हण को अधिकांश आयु काश्मीर में होनेवाली भयंकर

राज्यक्रान्ति तथा विचित्र झगड़ों के देखने में ही व्यतीत हुई; और उसीका परिणाम राजतरंगिणी की रचना है।

हर्ष राजा के विनाश का कारण राज्यक्रान्ति कल्हण के कुटुम्ब की अवनति का भी कारण हुई क्योंकि राजतरंगिणी के अष्टम तरंग में जहाँ बहुत से मंत्रियों के नामों का उल्लेख किया गया है वहाँ चंपक का नाम नहीं लिखा गया है। प्रत्युत चम्पक का नाम भूतेश्वर तीर्थ के वर्णन के अवसर पर २३६४ श्लोक में आया है। इससे यह विदित होता है कि महामात्य चंपक ई० स० ११३५ के बाद भी कुछ वर्ष तक जीवित था। वह हर्ष का परम कृतज्ञ सचिव था इसलिए अपने स्वामी की मृत्यु के बाद स्वामिभक्ति को व्यक्त करते हुए उसने आमरण तीर्थवास को स्वीकार किया।

कल्हण ने अपने समय के शासक जयसिंह की अधीनता को स्वीकार नहीं किया था। इसलिए जयसिंह के शासनकाल का वर्णन गुणदोष-प्रदर्शनपूर्वक अत्यन्त स्पष्टता से किया है। उसने पक्षपात को त्याग कर जयसिंह के प्रतिपक्षियों के सद्गुणों की प्रशंसा करने में खूब उदारता प्रदर्शित की है। उसने जयसिंह के पिता सुस्सल की भी निष्पक्ष समालोचना करने में कमी नहीं की। और सुस्सल तथा जयसिंह को बार-बार कष्ट देनेवाले भिक्षाचर के शौर्य की प्रशंसा करने में उदारता का अच्छा परिचय दिया। शूर एवं विचार-शून्य राजद्रोही भोज के लिए कल्हण के हृदय में करुण का अंकुर विद्यमान था। लोठण तथा मल्लार्जुन के विषय में वह तिरस्कार के विचार रखता था। राज्य क्रान्ति के समय में काश्मीरियों की धैर्य हीनता, स्वामि द्रोह एवं स्वार्थपरायणता का कल्हण ने अच्छा चित्र खींचा है। बात-बात में प्रायोपवेशन करनेवाले ब्राह्मण तथा रिश्वतखोर राजकर्मचारी और राजा का सर्वस्व हरण करनेवाले धूर्त कायस्थ एवं सूदखोर वैश्य कल्हण की दृष्टि में प्रधानतया आलोचनापात्र थे। इसी प्रकार प्राचीन पुरोहित-मण्डली पर भी कल्हण की रोष दृष्टि कम न थी।

यद्यपि कल्हण राजकीय-प्रधान-कर्मचारी का पुत्र था, उसी वातावरण में रह कर बड़ा हुआ था; तथापि उसने राजकर्मचारियोंका झूठा पक्षपात नहीं किया

हाँ, कृतज्ञ सेवकों की प्रशंसा करने में उसने संकोच भी नहीं दिखाया। इसी प्रकार उसने काश्मीरी सैनिकों की कृतघ्नता का वर्णन प्रत्यक्ष दृष्टा के समान किया है। और इसके विपरीत विदेशी राजपूत सैनिकों की कृतज्ञता, धैर्य, शौर्य आदि सद्गुणों का उदारतापूर्वक प्रशंसापूर्ण वर्णन भी किया। उच्चल राजा के शासन-वर्णन में उसने एक मिथ्यावादी साहूकार के एक आचरण का परिहास पूर्ण क्रमयुक्त वर्णन बड़ी रोचकता के साथ किया है।

कल्हण अपने समय के काश्मीर राज्य के प्रधान पुरुषों से पूर्णतया परिचित था। उसने भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोगों का गुणदोष विवेचन अच्छी तरह से किया है। रिल्हण, सिल्हण, अलंकार आदि राजनीतिज्ञ मंत्रियों का वर्णन अच्छे ढंग से किया है। अलंकार के कनिष्ठ भ्राता महाकवि एवं सांधिविग्रहिक मंत्री मंख के विषय में कल्हण द्वारा केवल एक बार उल्लेख किया गया है। विचार स्वातन्त्र्य के कारण महाकवि कल्हण ने जयसिंह के विरोधी राजवदन की भी अच्छी प्रशंसा की है।

इतना सब कुछ लिखने पर भी इस महाकवि ने अपने स्वयं के विषय में मौन का अवलंबन करके ऐतिहासिक दृष्टि से एक प्रकार का गुरुतर अपराधकिया है। फिर भी उसकी रचना को देखकर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वह अत्यंत चतुर था। उसे मनुष्य स्वभाव का अच्छा ज्ञान था। वह अपने देशकी नैतिक, भौतिक तथा आर्थिक स्थिति को खूब समझता था। प्राचीन इतिहास के अन्वेषण में उसकी तीक्ष्ण बुद्धि खूब काम देती थी। वह स्वाभिमानी कवि था उसने इस ऐतिहासिक महाकाव्य को राजा के निकट से पारितोषिक प्राप्त करने की इच्छा से नहीं लिखा था; किन्तु संसार के सम्मुख ऐतिहासिक सत्य की स्थापना के लिए लिखा था।

राजतरंगिणी का प्रतिपाद्य विषय

राजतरंगिणी कल्हण के द्वारा इतिहास समझ कर नहीं रची गई है अपितु काव्य समझ कर लिखी गई है। पाश्चात्य देशों में भी प्राचीन काल में कई वर्षों तक इस प्रकार के ग्रंथ काव्य अथवा नैतिक प्रबन्ध समझ कर लिखे जाते थे। केवल इतिहास ग्रंथों का भी काव्यों में ही अन्तर्भाव

माना जाता था। इसी सिद्धान्त को आदर्श रखकर कल्हण ने भी काव्य के ढंग पर राजतरंगिणी की रचना की है। इसीलिए इस ग्रंथ में अलंकारप्रचुर भाषा का उपयोग किया गया है। प्रारंभ में प्रास्ताविक श्लोकों के द्वारा उसने कवियों को सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के समान योग्यताशाली बतलाया है। इस बात से हमें यह मानना पड़ेगा कि कल्हण का दृष्टिकोण मुख्यतया काव्य रचना की ओर था और ऐतिहासिक वर्णन गौणतया इस काव्य में कवि के द्वारा निविष्ट किया गया। एक सर्वाङ्गसुन्दर महाकाव्य का निर्माण करने के लिए कल्हण ने इस ग्रंथ में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का समावेश किया है। फिर भी विक्रमांकदेवचरित, हर्षचरित आदि काव्यों में जिस प्रकार षड्ऋतुवर्णन, प्राकृतिकदृश्यवर्णन आदि का समावेश किया गया है इस प्रकार राजतरंगिणी में नहीं। फिर भी इस काव्य में महाकाव्य को सुशोभित करने वाली रचना कई स्थानों पर समाविष्ट है। यह काव्य बहुत दीर्घकाय बन गया है ऐसा स्वयं कल्हण ने स्वीकार किया है।

अलंकार शास्त्र के नियमानुसार संपूर्ण काव्य में अथवा उसके मुख्य मुख्य अंशों में किसी भी एक रसकी प्रधानता होनी चाहिए। इस काव्य का प्रधान रस शान्त है। इसका कारण सम्पूर्ण मानवीय व्यवहार एवं कृतियों की अनित्यता ही है। ऐसा कल्हण ने भी कहा है। इस रस के परिपोष के लिए उसने धार्मिक एवं शान्तवृत्ति को धारण करनेवाले राजाओं के शासन का सुविस्तृत वर्णन किया है। यह प्रकार इसके प्रथम चार तरंगों में विशेषतया उपलब्ध होता है।

कल्हण के आधार भूत ग्रंथ

इतिहास का वास्तविक महत्त्व कहल्हण को भली भांति विदित हो चुका था। इतिहासकार न्यायकर्ता के समान निष्पक्षपात दृष्टिवाला होना चाहिए। कल्हण ने कहा है कि इतिहासकार को "गतं शोच्यं न पण्डितैः" इस सिद्धान्त को नहीं अपनाना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसने उसे जिन ग्रंथों से इस ग्रंथ के लेखन में सहायता मिली है उनका निस्संकोच नामोल्लेख किया है। उसके लेखानुसार, उसके समय प्राचीन ग्रंथकारों ने काश्मीर के इतिहास पर

जो विस्तृत ग्रंथ लिखे थे वे सब सुलभ थे परन्तु उनमें कुछ ऐसे दोष विद्यमान थे जिनके कारण सत्य इतिहास प्रायः लोगों को विदित नहीं होता था। कल्हण ने महाभारत तथा रामायण से प्रसंगानुसार सहायता ली थी। इसी प्रकार काश्मीरी राजाओं के इतिहास के ग्यारह ग्रंथ-जिनमें से केवल तीनों का नामोल्लेख किया गया है—पढ़े थे। नीलमतपुराण का भी अच्छी तरह से अध्ययन किया था। वह पुराण आज भी प्राप्य है। तीन ग्रंथों के नाम क्रमशः सुव्रतकृत काश्मीर का इतिहास, क्षेमेन्द्रकृत नृपावली और हेलाराजनिर्मित पार्थिवावली हैं। आज ये तीनों ग्रन्थ अनुपलब्धावस्था में है। कल्हण ने पद्ममिहिर और छविल्लाकर नामक दो पंडितों का भी नामोल्लेख किया है। इन सब प्रामाणिक ग्रंथों के अतिरिक्त देवालय आदि स्थानों में उपलब्ध होनेवाले शिलालेख, ताम्रपत्र, सनद आदि का भी कल्हण ने अच्छा उपयोग किया है। प्राचीन प्रशस्तियाँ, भिन्न भिन्न हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतियाँ और पुराने सिक्के भी कल्हण के ग्रन्थ लेखन में उपयुक्त हुए हैं।

उसने अपने समय के लोगों में प्रचलित दंतकथाओं का भी अपने ग्रंथ में उपयोग किया है। वे दंतकथाएँ प्राचीन प्रमाणों से प्रमाणित थीं या नहीं इस विषय में उसने कुछ नहीं लिखा है। क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से दंतकथाओं का विशेष महत्त्व नहीं माना जाता। स्वयं के समय के इतिहास को उसने प्रत्यक्षद्रष्टा होने के कारण अच्छे ढंग से विस्तार पूर्वक लिखा है। उसके कुछ वर्ष पूर्व का भी इतिहास अपने पिता, पितामह आदि पूर्वजों से जैसा सुना था वैसा ही लिखा है। क्योंकि कल्हण का पिता चंपक हर्ष का प्रधान सचिव था इसलिए ई० स० १०८६ से ११०१ तक का हर्ष शासनकालिक इतिहास सुस्पष्टतया चंपक के कथनानुसार लिखा होगा। इसी प्रकार उसके बाद का इतिहास भी किसी प्रमाणिक व्यक्ति तथा राजकीयकार्य कर्ताओं के कथनानुसार लिखा गया है। ई० स० ११२१ से ११४८ तक इतिहास स्वयं के अनुभव से लिखा गया है।

कल्हण की सावधानता

कल्हण को इतिहास की खोज करने के समय प्राप्त हुई सामग्री का हम

दिग्दर्शन करा चुके हैं। इस साधनसामग्री का उसने कहाँ तक उपयोग किया इस विषय में निश्चित निर्णय पर पहुँचना हमारे लिए कठिन है। क्योंकि उसने वर्णित साधनों के उपयोग का विस्तृत वर्णन तो दूर रहा दिग्दर्शन भी नहीं कराया है। केवल इतना ही लिखा है कि प्राचीन इतिहासग्रंथ खंडित एवं सदोष थे इसलिए मैंने इस ग्रंथ की रचना की है। और उसने जिन प्राचीन ग्रंथों का अथवा ताम्रशासनपत्रों का या सिक्कों का उपयोग किया था वे आज दिन अप्राप्य हैं। इसलिए इतिहासकार के रूप में कल्हण की योग्यत के निर्णय का साधन राजतरंगिणी के अन्दर के प्रमाण ही हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त उसने जिन ग्रन्थों को अपनी रचना के आधारभूत माना है, वे ग्रन्थ राजतरंगिणी के काल से अधिक से अधिक ३०० तीन सौ वर्ष पुराने हैं। और बहुत से तो इससे भी अर्वाचीन हैं। पंचम तरंग का कथांश ई० स० नवम शतक के मध्य का है; और वहीं से कुछ लेख आदि प्रमाणों की उपलब्धि का प्रारंभ होता है। इसके पूर्व के चार तरंग का इतिवृत्त पौराणिक कथाओं के आधार पर लिखा गया है। परन्तु इन दोनों अंशों में ऐतिहासिक दृष्टि से जो भेद होना चाहिए उस भेद को बतलाने में कल्हण ने सर्वथा उपेक्षा प्रदर्शित की है अर्थात् प्रारम्भिक तीन तरंगों के अन्दर वर्णन किये गये राजाओं के वंश, नाम आदि की सूची और उनके पश्चात् दृढ़तर प्रमाणों के आधार पर लिखे गये राजाओं के वंश, नाम आदि की सूची कल्हण के द्वारा एक ही ढंग से समानकोटी के विश्वास के साथ लिखी गई है। प्राचीन ग्रन्थों के दोषों का कहीं भी दिग्दर्शन नहीं कराया है। कथाओं में के पाठभेद भी कहीं कहीं दिये गये हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उसका दन्तकथाओं पर पूर्ण विश्वास था। ऐसी स्थिति में स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कल्हण का विवेचकदृष्टि से खास सम्बन्ध नहीं था। परन्तु इस न्यूनता के कारण हम उसे इस ग्रंथ में रहनेवाली त्रुटियों के लिए दोषी नहीं कह सकते क्योंकि आज कल के ढंग की इतिहास-लेखनशैली अर्थात् विवेचना पूर्ण इतिहास लिखने की शैली पाश्चात्य देश में भी अभी अभी प्रचलित हुई है। वहाँ के प्राचीन इतिहास-लेखकों को इस आधुनिक शैली का स्वप्न में भी

पता नहीं था। इसलिए कल्हण को इस नवीन शैली का अनुसरण न करने के कारण दोषी नहीं कह सकते।

इसके अतिरिक्त कल्हण ने अपनी कथाओं में अद्भुतरसपूर्ण विचित्र अलौकिक घटनाएँ तथा जादू-टोना एवं शाप और वरदान आदि प्राचीन भारतीय विश्वास के आदर्श का भी समावेश किया है। क्योंकि काश्मीर जैसे उन्नत पर्वतीय प्रदेश में रहनेवाले लोगों की मनोवृत्ति धार्मिक विश्वास से ओतप्रोत होना चाहिए तथा सरलता से युक्त भी होना चाहिए। खुद कल्हण भी इन बातों पर पूर्ण विश्वास रखता था। इसलिए उसके द्वारा इस प्रकार लिखा जाना ठीक ही है।

राजतरंगिणी की वास्तविक ऐतिहासिक योग्यता का निर्णय करने के लिए उसमें की गई का कालगणना पर एक बार विवेचकतापूर्ण दृष्टि डालना आवश्यक है। इस विषय में कई आपत्तिपूर्ण प्रश्न भी उपस्थित होते हैं। प्रारंभ के तीन तरंगों में अर्थात् ई० स० के सप्तम शतक के प्रारंभ तक की कालगणना बिलकुल कृत्रिम है। उस कालगणना का विश्वसनीय स्वरूप प्रदान करने के लिए कल्हण ने भगीरथ प्रयत्न किया है। परन्तु इसकी सचाई जानने के लिए हमारे पास आधुनिक शैली का कोई साधन नहीं है। युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के समय से राजतरंगिणी की कथा का आरंभ होता है। और उसका काल कृत्रिम है परन्तु कल्हण ने उसे सच्चा मान लिया है। इसी प्रकार राजा रणादित्य के राज्यशासन का काल ३०० तीन सौ वर्ष मान कर कल्हण ने और भी हमको भ्रम में डाल दिया है। परन्तु इस प्रकार के प्रमाद के कारण हम केवल कल्हण को ही दोषी नहीं ठहरा सकते किन्तु प्राचीन दंतकथाओं पर विश्वास रखनेवाले हिन्दु लोगों के स्वभाव का यह असर है और यही कारण अधिक व्यापक एवं अनुरूप हो सकता है। हिन्दु लोगों के सरल स्वभाव का सूक्ष्मदृष्टि से परिशीलन करनेवाले अल्बेरूनी ने भी कहा है "हिन्दु लोग सच्ची इतिहास परम्परा की ओर ध्यान नहीं देते यह बड़े दुर्भाग्य की बात है राजाओं की विश्वसनीय परंपरा प्रदर्शित करने में उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती इसके अतिरिक्त यदि इस विषय में उनकी निकष-परीक्षा की

जाए तो वे घबड़ा जाते हैं और चिढ़ कर अपना पिंड छुड़ाते हैं" यह उसका कथन राजतरंगिणी के प्रारंभिक भाग में दी गई कालगणना के विषय में सत्य सिद्ध होता है।

कल्हण की प्रतिपादन शैली एवं योग्यता

यद्यपि कल्हण के ग्रंथ में उपरनिर्दिष्ट न्यूनताएँ विद्यमान हैं तथापि उसके ग्रन्थ के प्रधान तथा विशेष गुण ये ही हैं कि उसने वास्तविक स्थिति और पक्षपातशून्यता इन दोनों गुणों को पर्याप्त रूप से अपनाया है। उसने अपने समय के इतिहास में स्पष्टवादिता का पूर्ण परिचय दिया है। अपने समय के राजाओं के गुण दोष, मंत्रियों की कार्यपटुता अथवा कमजोरियाँ, राज सेवकों की कृतघ्नता और स्वामिभक्ति का शब्द चित्र बड़े उत्तम ढंग से अंकित किया है। उसने दरबारी कवियों के समान अपने आश्रयदाता को सकल गुण निधान एवं सर्वश्रेष्ठ और उसके विपक्षियों को सर्वथा अयोग्य ठहराने का प्रयत्न नहीं किया निन्दा अथवा स्तुति सभ्यतापूर्वक पक्षपात को छोड़कर सचाई के साथ उल्लिखित की गई है। इस प्रकार इतिहासकार की सत्यवादिता ही उसके विवेचकत्व की समर्थक होती है। महाकवि कल्हण ने भी अपने समय के इतिहास को लिखते हुए इसी सत्यवादिता का पूर्ण परिचय दिया है। सप्तम और अष्टम तरंग के कथानक में जो सावधानता कल्हण के द्वारा प्रदर्शित की गई है वह उसके चातुर्य तथा सूक्ष्म निरीक्षण का सत्परिणाम है।

किसी भी इतिहासकार की कृति के योग्यत्वायोग्यत्व के विवेचन करते समय उसके द्वारा लिखे वर्णन के सूक्ष्मक्रम तथा क्रमिक इतिवृत्त लेखन की ओर ध्यान देकर लिखे गये इतिहास का सूक्ष्म निरीक्षण करना अत्यंत आवश्यक है। जब हम इस कसौटी पर कल्हण की काल गणना को कसना चाहते हैं तब उसकी न्यूनता साफ तौर से जाहिर होती है। प्रारंभ के तीन तरंगों की काल गणना को हम पहिले ही कृत्रिम सिद्ध कर चुके हैं। क्योंकि उस अंश में प्रत्येक राजा का शासन काल कितने वर्ष का था यही बतलाया गया है। सच्चे शक, संवत्, तिथियाँ वगैरह नहीं लिखे गये हैं। हाँ कहीं कहीं वर्ष-

संख्या के साथ साथ दिवस-संख्या भी लिख दी गई है। परन्तु इससे उस काल गणना में कोई विशेष महत्व नहीं आ सकता।

चिप्पट जयापीड राजा के मरण के पश्चात् अर्थात् ई० स० ८१३ से कल्हण ने लौकिक मान के अनुसार मास तथा तिथियाँ भी लिखना प्रारंभ किया है। यह लौकिक वर्षमान काश्मीर में प्राचीन काल से प्रचलित है। पंचम तरंग में उत्पलवंश के अधीन राज्य शासन के होने पर प्रत्येक राजा के शासन का प्रारंभ और अंत वर्ष, मास एवं तिथियों की गणना के साथ लिखा गया है। वह प्रायः ठीक ही है। क्योंकि वह उस समय उपलब्ध होनेवाले लेखों के आधार पर ही लिखा गया होगा। और उसके परीक्षण के लिए हमारे पास दूसरा कोई स्वतन्त्र साधन भी नहीं है। प्रत्येक के शासन काल के प्रारंभ तथा अंत के अतिरिक्त होनेवाले विशेष परिवर्तनों का सुविस्तृत वर्णन ई० स० के ११ वें शतक के प्रारंभ से कल्हण के समय तक जो सुविस्तृत क्रमपूर्वक वर्णन लिखा गया है वह प्रामाणिक है। परन्तु ठीक ठीक वर्ष, मास, तिथि आदि के लिखने का शायद कल्हण को अभ्यास ही न था। क्योंकि कहीं उसने मास और तिथि का उल्लेख कर वर्ष के उल्लेख करने का कष्ट नहीं किया और कहीं वर्ष, मास का उल्लेख करने पर तिथि को भुला दिया है। शायद उसकी दृष्टि में इस बात का कोई महत्व नहीं होगा? इसी प्रकार उसने जो राजा हर्षदेव की जन्म तिथि बतलाई है वह उसी के द्वारा लिखी गई हर्ष की जन्म कुंडली से नहीं मिलती।

"इतिहास-लेखक को वंशावली की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए" इस महत्त्वपूर्ण बात की ओर कल्हण का पूरा ध्यान था इसलिए उसे जहाँ महत्त्वपूर्ण एवं विश्वसनीय प्रमाण मिला है वहाँ प्रत्येक नवीन व्यक्ति के वंश का परिचय अत्यन्त सावधानता के साथ दिया है। ऐसा यदि न होता तो अन्तिम दो तरंगों में लिखे गये विस्तृत इतिहास में वर्णित पात्रों का ठीक तौर से परिचय नहीं हो सकता था।

कल्हण का विधिविलसित अर्थात् दैव की महिमा पर अत्यधिक विश्वास था। वह प्रत्येक अद्भुत घटना में विधि के प्रभाव को ही मुख्य कारण मानता था।

उसने यत्र तत्र इस बात का उल्लेख भी किया है। हर्ष के समान राजनीतिपुनिपुण तथा गुणवान् राजा को अन्त में इस प्रकार दुःखमय एवं नैराश्यपूर्ण जीवन बिता कर मृत्यु के वशीभूत होना पड़ा इसका कारण कल्हण की दृष्टि में भाग्य का प्रतिकूलत्व ही था।

इसी प्रकार पवित्रतीर्थ, क्षेत्र, देवालय आदि धार्मिक स्थानों में अत्याचार करने पर ईश्वरीय कोप का पात्र बनकर राजा को नष्ट होना पड़ता है ऐसा कल्हण का दृढ़ मन्तव्य था। हर्ष के राज्य में देवस्थानों पर अत्याचार किया गया था। इसलिए उसका नाश हुआ। इसी प्रकार काश्मीरी लोगों के पूज्य नागों के विषय में भी माना गया है क्योंकि सुश्रवा नाग के कोप से नरपुर का नाश हो गया था ऐसा लिखा गया है। शुभाशुभ शकुनों पर तथा उत्पातों के विषय में कल्हण की यही धारणा थी। यह सब उस समय के लोकमतों का निदर्शक है।

कल्हण की काल-गणना

इस काव्य में कालगणना के दो स्थूल विभाग हो सकते हैं। प्रथम में प्रारंभिक तीन तरंग और द्वितीय में अन्तिम पांच तरंगों को समाविष्ट किया जा सकता है। प्रथम विभाग में प्राचीन गोनन्दादि वंशों के राजाओं का करीब ३०५० वर्षों का शासनकाल लिया जा सकता है। उसमें जो राजाओं की नामावली और कुछ इने गिने राजाओं के विषय में लिखी गई पौराणिक कथाएँ तथा लोकप्रचलित दन्तकथाएँ विद्यमान है उनके सन्बन्ध दूसरे प्रमाणों के अभाव से सत्यासत्य-निर्णय के लिए उन्हीं कथाओं अन्तर्वर्ती प्रमाणों का आश्रय लेना आवश्यक है।

कल्हण ने चतुर्थ तरंग से लेकर समाप्ति पर्यन्त होनेवाली घटनाओं का विस्तार पूर्वक सुस्पष्ट वर्णन किया है। उस विभाग में की मुख्य मुख्य घटनाओं के परीक्षण के लिए ताम्रपत्र, मुद्राएँ, शिलालेख एवं भारतीय तथा विदेशी ग्रन्थकारों के लेख आदि प्रमाण उपलब्ध हो सकते हैं।

कल्हण की कालगणना यथा क्रम एवं यथा नियम होने के कारण उसकी आलोचना सरलता के साथ की जा सकती है। वह जितनी सत्य और विश्व-

सनीय सिद्ध होगी उसी परिमाण से ग्रन्थ की विश्वसनीयता बढ़ेगी। इसलिए इसका परीक्षण अत्यावश्यक है।

कल्हण की इस कृति को पाश्चात्यदेशीय संस्कृतज्ञ विद्वान अत्यंत आदर पूर्ण दृष्टि से देखते हैं। इस आदरपूर्ण दृष्टि का कारण केवल इस ग्रंथ के अन्तर्गत विषय की योग्यता और यथार्थता ही नहीं है; किन्तु काल गणना की सयुक्तिकता भी है। सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में प्रायः ऐतिहासिक कथाओं की सक्रम कालगणना के उल्लेख करने में राजतरंगिणी अद्वितीय ग्रंथ है। इसलिए भारतवर्ष के जिन अन्य प्रान्तों का सविवरण इतिहास नहीं मिलता उनके इतिहासों की स्थूल स्थूल घटनाओं का काल निर्णय करने के लिए यह एक उत्कृष्ट विश्वसनीय साधन है। इस प्रकार कुछ समय तक माना जाता था और इसी लिए उसके विषय में विचारक लोगों ने इस काल गणना के सत्यासत्य निर्णय करने का भगीरथ प्रयत्न किया है। परन्तु उस सम्पूर्ण परिश्रम का और विचार का परिणाम असमाधान कारक ही हुआ। लेकिन इसका उत्तरदायित्व कल्हण के ऊपर नहीं हो सकता। क्योंकि यह गलती पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा की गई है। और इसका कारण यह है कि उन्हें जो राजतरंगिणी की मूल प्रति मिली थी वह अशुद्ध और खण्डित थी इसलिए गलत फहमी से उन्होंने उसमें दी हुई कालगणना को सत्य मान लिया था। इसी प्रकार उन्होंने प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में राजतरंगिणी के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों से जो अनुमान किये हैं वे भी सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण ही हैं। इस विषय में सुविस्तृत विवरण प्रो० बुल्हर द्वारा लिखा गया है।

पहिले तीन तरंग और चौथे तरंग के अधिकांश भाग में स्थूल मान से प्रत्येक राजा का शासनकाल कितने बर्ष का था इतना ही विवरण दिया है। इसके बाद के हिस्से में अर्थात् चौथे तरंग के थोड़े से अन्तिम भाग से अष्टम तरंग तक के भाग में प्रायः सभी घटनाओं का वर्ष, मास, तिथियों की गणना के साथ विवरण दिया गया है। वे तिथियाँ लौकिक शक के ३८८६ से अर्थात् ता० ७ मार्च सन् ८१३ ई० से लौकिक शक ४२२५ अर्थात् ई० स० ११४५-५० तक दी गई है। इनमें प्रारंभिक तिथि को राजा चिप्पट

जयापीड़ का निधन हुआ था। और अन्तिम तिथि को राजतरंगिणी का लेखन समाप्त किया गया था। लौकिक शक कलि संवत् २५ के समाप्त होने पर २६ की चैत्र शुक्ला १ प्रतिपदा अर्थात् ईसवी सन् के प्रारंभ के ३०७६ वर्ष पूर्व शुरू हुआ था ऐसा प्रो० बुल्हर का कथन है। उन्होंने काश्मीरी ब्राह्मणों में प्रचलित पारंपरिक दंतकथा तथा दूसरे प्रमाणों के आधार पर इस बात को सिद्ध किया है। अल्बेरूनी का भी यही मन्तव्य है।

लौकिक शक का वर्षारंभ चान्द्र एवं सौर दोनों मानों के सम्मिश्रण से चैत्र शुक्ल १ प्रतिपदा को होता है और शुद्ध चान्द्र मान के अनुसार पूर्णिमा के दिन मासान्त होता है। कल्हण ने भी इसी पद्धति का स्वीकार किया है।

वराह मिहिर ने स्वनिर्मित बृहत्संहितानामक ज्योतिष ग्रंथ में राजा युधिष्ठिर के राज्याभिषेक का जो समय निश्चित किया है वह समय कलियुग के ६५३ वें वर्ष का प्रारंभ है। कल्हण की राजतरंगिणी के इतिहास का श्री गणेश भी उसी समय से हुआ है। और विस्मृतिसागर में मग्न हुए काश्मीरी राजाओं में से जो सर्व प्रथम राजा गोनन्द था उसका भी राज्याभिषेक उसी दिन हुआ था ऐसा कल्हण का मत है। इस विषय में कल्हण ने नीलमत पुराण को आधारभूत स्वीकार किया है। अर्थात् युधिष्ठिर और गोनन्द समकालिक थे ऐसा कहा जा सकता है क्योंकि नीलमतपुराण में राज्याभिषेकी तिथि का उल्लेख नहीं है।

बाद में कल्हण ने प्रथम तरंग में गोनन्द आदि राजाओं का वर्णन किया है। उन सबका संकलित शासन काल २२६८ वर्ष का होता है ऐसा भी उसने कहा है। परन्तु इस बात के समर्थन के लिए उपयुक्त कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं लिखा है। यही उक्ति उसके द्वारा की जाने वाली आगे की कालगणना के लिए आधार भूत है। इस कथन को सत्य सिद्ध करने के लिये उसने प्रयत्न भी किया है। इससे यह विदित होता है कि उसे इसका महत्त्व ज्ञात था। उपर्युक्त संख्या सर्वथा सत्य है ऐसा प्रमाणित करने के लिए कल्हण ने कलियुग के आरंभ से ६५३ वर्ष और उसके बाद के राजाओं के शासनकाल के संकलित १३५८ वर्ष मिलाकर ४२४६ अथवा शालिवाहन शक

१०७० तक का अपनी राजतरंगिणी की प्रस्तावना के लिखने का समय बतलाया है "परन्तु यह २२६८ वर्ष का समय ठीक नहीं है ऐसा कतिपय ग्रन्थकारों का मत है।" ऐसा भी उसने (कल्हण ने) कहा है। और इसका कारण 'महाभारत युद्ध द्वापर के अन्त में हुआ है अथवा कलियुग के प्रारंभ में हुआ है' यह वैकल्पिक कथन ही है ऐसा उन ग्रंथकारों का कथन है ऐसा भी कल्हण ने ही कहा है। इससे यह प्रमाणित होता है कि गोनन्द के राज्यारोहण की तिथि तथा संकलित २२६८ वर्षका समय केवल कल्हण के द्वारा ही स्वीकार नहीं किया गया है अपितु प्राचीन काल से ही मान्य किया गया है। परन्तु इसके लिए कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता। कल्हण ने भी इस विषय में मौन धारण कर रखा है इसलिए विशेष विवेचन के लिए कोई मार्ग नहीं है।

इस कालगणना के सम्बन्ध में कल्हण की प्रस्तावना में और भी दो विधान उपलब्ध होते हैं एक तो कल्हण ने जब यह ग्रंथ लिखा था उस समय के संबन्ध में अर्थात् शालिवाहन शक १०७० पर्यन्त तीसरे गोनन्द से एकंदर २३३० वर्ष बीत गये थे, दूसरा-विस्मृति सागर में मग्न हुए ५२ राजाओं के शासन काल में १२६६ वर्ष व्यतीत हो गये थे।

कल्हण ने तीसरे गोनन्द के शासन काल से प्रत्येक के शासनकाल की वर्ष संख्या बतलाना प्रारंभ किया है। उसे प्राचीन राजाओं की नामावलियाँ प्राचीन ग्रंथकारों से ही प्राप्त हुई थीं। उन सब राजाओं के शासनकालों की संकलित वर्ष संख्या १२६६ तो अवश्य ही होती है परन्तु प्रत्येक के शासनकाल की वर्ष संख्या भी कल्हण ने उन्हीं प्राचीन ग्रंथकारों के कथनानुसार लिखी है या नहीं इस विषय में कुछ नहीं कहा है। अतः इस विषय में प्राचीन ग्रंथकारों के मन्तव्य का पता नहीं लग सकता।

विस्मृति सागर में मग्न हुए ५२ राजाओं ने १२६६ वर्ष तक राज्य किया था। यह कालगणना कल्हण द्वारा कल्पित की गई है ऐसा उसकी लेखन शैली से विदित होता है।

इससे निम्नलिखित ३ बातें स्पष्ट विदित होती हैं:—

१—कल्हण ने अपनी कालगणना प्रथम गोनन्द की काल्पनिक राज्यारोहण की तिथि से प्रारंभ की है और इस पौराणिक राजा के समय को महाभारत में की एक सुप्रसिद्ध कथा के साथ कथंचित् जोड़ दिया है।

२—विशेष प्रमाण के अभाव से "एक ही कुल में उत्पन्न हुए राजाओं ने २२६८ वर्ष पर्यन्त राज्य किया और उस वंश के ५२ राजा प्राचीन ग्रंथकारों के मत से विस्मृतिसागर में मग्न हो गये" इस कथन को भी सत्य मानना पड़ता है।

३—"इसी प्रकार किसी भी आधार के विना तीसरे गोनन्द से लेकर कल्हण के समय पर्यंत के राजाओं के शासनकाल के वर्षों की संकलित संख्या २३३० है" ऐसा भी मानना पड़ता है।

कल्हण ने प्रारंभ के तीन तरंगो में के राजाओं में से कतिपय राजाओं के शासनकाल की वर्ष संख्या सुस्पष्ट क्रम से दी है इससे और पूर्वोक्त तीन बातों से कल्हण की कालगणना पद्धति के संबन्ध में आनेवाला आक्षेप अथवा संशय कम हो सकता है ऐसा नहीं कह सकते।

यह क्रमिक एवं सुविस्तृत विवरण तृतीय गोनन्द के शासनकाल से प्रारंभ किया गया है। कल्हण को "इसी राजा का नाम सर्व प्रथम है" यह बात प्राचीन ग्रंथकारों के द्वारा ही विदित हुई है। उसके पूर्व के ५२ राजाओं के संबन्ध में कलियुग के गत वर्ष ६५३ और प्रथम गोनन्द के राज्यारोहण का समय और कलियुग वर्ष १६१६ के अतिरिक्त उसने किसी भी तिथि का निर्देश नहीं किया है। उन नष्टस्मृति ५२ राजाओं में से १७ राजाओं के नाम उसने भिन्न भिन्न ३ ग्रंथों से उद्धृत किये हैं। उनके शासनकाल के अनुसार इन ५२ राजाओं के शासन काल के संकलित वर्षों को जानने के लिए पाश्चात्य विद्वानों ने प्रयत्न किया है। परन्तु वह निरुपयोगी सिद्ध हुआ। उन नामों को कल्हण ने भिन्न भिन्न ३ श्लोकों में जिस क्रम से जिस स्थान पर उल्लिखित किया है उसके लिए कल्हण के लेख के अतिरिक्त दूसरा कोई भी प्रमाण नहीं है। तीसरे गोनन्द के बाद के राजाओं का शासन कालिक इतिहास देखने में तो क्रमिक एवं सत्य-सा प्रतीत होता है परन्तु सूक्ष्मदृष्टि

से विचार करने पर उसमें कई स्थल शंका के योग्य मौजूद हैं। पहिले तीन राजवंशो में के ३७ राजाओं का शासकाल १७८४ वर्ष होते हैं अर्थात् सरसरी तौर से प्रत्येक शासनकाल ४८ वर्ष से अधिक हो सकता है। वह असंभव है इस प्रकार डॉ० विल्सन ने कई वर्ष पूर्व सूचित किया है। इस गणना पर विश्वास नहीं किया जा सकता। और इस सरसरी तौर से की जानेवाली कालगणना की असंभवनीयता का प्रत्यंतर अन्तिम चार तरंगों के राजवंशीय राजाओं के शासनकाल की सरसरी तौर पर की गई कालगणना में भी उपलब्ध होता है। इन सब ५० शासन कालों को मिलाने से ५४७ वर्ष होते हैं। अर्थात् प्रत्येक का शासनकाल करीब ११ वर्ष का होता है।

उपर्युक्त कालगणना को देखने से कल्हण की यथार्थता पर सन्देह उत्पन्न हो सकता है।

प्रथम तरंग में पिता एवं पुत्र के रूप में क्रमशः राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होनेवाले हिरण्यकुल, वसुकुल, मिहिरकुल तथा बक इन चार राजाओ के शासनकाल पर विचार करने पर प्रत्येक का शासनकाल साठ साठ वर्ष से अधिक सिद्ध होता है। प्रथम गोनन्द के कुल में उत्पन्न हुए २१ राजाओं में से ८ आठ राजाओं में प्रत्येक ने ६० से ७० वर्ष तक राज्य किया ऐसा लिखा गया है और उन्हीं में से राजा बक ने ६३ वर्ष और कुछ दिनों तक राज्य किया था ऐसा भी कल्हण ने लिखा है। परन्तु इससे एतद्विषयक शंका कम नहीं हो सकती।

इन सब में एक अत्यंत विलक्षण घटना यह है कि कल्हण ने तीसरे तरंग में राजा रणादित्य का शासनकाल ३०० सौ वर्ष का माना है। इस दीर्घ अवधि के शासनकाल के कारण इतिहास में एक बड़ी भारी त्रुटि रह गई है इस बात की ओर बहुत से विद्वानों का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ है।

कल्हण की दृष्टि से रणादित्य और कर्कोटक कुल के राजा दुर्लभवर्धन इन दोनो के मध्य में ७६ वर्ष व्यतीत हुए। परन्तु इस विषय में उपलब्ध हुए स्वतन्त्र प्रमाण से दुर्लभ वर्धन के शासनकाल में राजतरंगिणी की काल-गणना की अपेक्षा २५ वर्ष से अधिक फरक नहीं पड़ता। इन सब बातों को

देखने से और रणादित्य के ३०० वर्षों को स्वीकार करने में हिचकिचाहट न दिखाने से स्पष्ट विदित होता है कि कल्हण में क्षोदक्षेम करने की क्षमता नहीं थी या वह अत्यंत श्रद्धालु था।

प्रथम तरंग में ५४ राजाओं का वर्णन हुआ है उनमें से केवल ६ राजाओं का उल्लेख अन्य ऐतिहासिक लेखों में मिलता है। उनके विषय में कल्हण के द्वारा स्वीकार किये गये अनुक्रम के अनुरोध से विचार करने पर उनमें से सर्वप्रथम राजा अशोक तथा उसके बाद के चार राजाओं के नाम कल्हण ने छबिल्लाकर के ग्रंथ के आधार पर लिखे हैं। स्वयं छबिल्लाकर ने भी "ये नाम प्राचीन ग्रंथकारों ने विस्मृति सागर में मग्न हुए ५२ राजाओं के नामों में से उद्धृत किये हैं" ऐसा कहा है। ऐसी स्थिति में अशोक उन राजाओं की नामावली के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता जिनकी नामावली का कल्हण ने उल्लेख किया है। अशोक और तृतीय गोनन्द के मध्य में कितनी पीढ़ियों का अंतर है इस बात को भी कल्हण ने स्पष्ट नहीं किया। इस ग्रंथ में लिखी गई राजपरंपरा की नामावली को देखते हुए यही कहना होगा कि कल्हण के मत से अशोक राजा गतकलि १९१९ अर्थात् ई० स० के ११८२ वर्ष से भी बहुत पहिले हो गया है। परन्तु भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में अशोक समय पूर्णतया एकमत से निश्चित हो चुका है। इस विषय में उसके द्वारा लिखवाए गये शिलालेख, कीर्तिस्तंभ तथा बौद्ध साहित्य प्रमाण हैं। यदि कल्हण के कथन को सत्य माना जाय तो वह निश्चित समय के १००० एक हजार वर्ष पीछे चला जाता है।

इसी प्रकार हुष्क, जुष्क और कनिष्क इन तीनों तुरुष्क राजाओं के नाम भी कल्हण ने छबिल्लाकर के ग्रन्थ से उद्धृत किये हैं। इन तीनों ने बराबरी के समय में राज्य किया था ऐसा भी उसने (कल्हण ने) लिखा है। कनिष्क और हुष्क 'कुशान' वंश में उत्पन्न हुए थे ऐसा शिलालेख और प्राचीन मुद्राओं के द्वारा प्रमाणित हो चुका है। कनिष्क तथा उसके बाद शासन करनेवाला हुष्क ई० स० की प्रथम शताब्दी के लगभग हुआ था ऐसा ऐतिहासिक विद्वानों का मत निश्चित हो चुका है परन्तु कल्हण ने ई० स० के ११८२ वर्ष

पूर्व उसका समय निर्दिष्ट किया है इसलिए सच्चे इतिहास के समय से कल्हण के समय का ११०० वर्ष का अन्तर अक्षम्य त्रुटि है।

इसी प्रकार मिहिरकुल के विषय में भी जो गोनन्द-कुल (प्रथम गोनन्द के वंश) में उत्पन्न हुआ था १२०० वर्ष का अन्तर पड़ता है क्योंकि चीन देश के सिक्के, शिलालेख आदि प्रमाण मिहिरकुल को ई० स० की छठी शताब्दी का बतलाते हैं और कल्हण के मत से उसका काल ईसवी सन् के पूर्व करीब ६३४ वर्ष का सिद्ध होता है।

इसी प्रकार प्रथम तरंग के एक राजा के विषय में जो तृतीय गोनन्द से उन्नीसवें राजा गोकर्ण का पुत्र नरेन्द्रादित्य नामक था—बड़ी गड़बड़ी की गई है क्योंकि वह ईसवी सन् के छठे शतक में हुआ था ऐसा एक चांदी के सिक्के से सिद्ध हो चुका है परन्तु कल्हण ने उसका शासनकाल ईसवी सन् के आरंभ से २५० वर्ष पूर्व का माना है। इसी प्रकार हर्ष विक्रमादित्य, तथा प्रवरसेन के समय में भी कल्हण ने बहुत गड़बड़ी की है। अस्तु लेखविस्तार के भय से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पाठकों के सम्मुख रखकर इस प्रस्तावना को समाप्त करते हैं सम्पूर्ण कालगणना का निष्कर्ष निम्नलिखित तीन सिद्धांतों में प्रगट हो सकता है :—

१—प्रथम तरंग में की गई कल्हण की कालगणना विश्वसनीय नहीं है क्योंकि वह केवल पौराणिक दंतकथा और काल्पनिक आधारों पर निर्भर है यही हाल दूसरे तथा तीसरे तरंग का भी है।

२—चतुर्थ तरंग के कर्कोटक वंशीय राजाओं के शासन की कालगणना में २५ वर्ष का अंतर पड़ता है परन्तु वह यथा कथंचित् क्षम्य है।

३—पंचम तरंग से लेकर अष्टम तरंग पर्यन्त के राजाओं के शासन की कालगणना क्रम पूर्वक एवं विश्वसनीय है। बस इतना ही पर्याप्त है। इति *

---

* इस प्रस्तावना के लिखने में श्री० आर. एस. पंडित की प्रस्तावना, तथा सर ओरेलस्टीन का उपोद्घात और माधव व्यंकटेश लेले की मराठी प्रस्तावना से सहायता ली गई है तदर्थ लेखक उक्त सज्जनों का कृतज्ञ है।

—अनुवादक

शुद्धि पत्र

(प्रथम तरंग)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१४	छ विल्लाकर	छविल्लाकर
४	२१	नानारत्नालंकृत	यह नगर नानारत्नालंकृत
६	१३	राजाओं की भुजारूपी	राजाओं के भुजारूपी
६	१	विष उत्पन्न हुआ	विघ्न उत्पन्न हुआ
१०	६	चंचल काकपक्ष धारी	चंचल-काकपक्ष-धारी
१०	२०	दानकर	दान कर
११	२१	तपस्संतुष्ठ	तपस्संतुष्ट
१७	११	शैव श्रेष्ठ परम धनाढ्य	शैवश्रेष्ट एवं परमधनाढ्य
१६	८	षंडह द्वनवासी	षडर्हद्वनवासी
१६	१६	नील मत पुराण	नीलमतपुराण
२३	६	कहा-धिक	हा धिक् !
२५	२	चिन्ता की आग	चिता की आग
२६	७	जामातुर-सरोवर	जामातृसरोवर
३०	१६	कर दी थी	कर दिया था
३३	२२	उसके	उसने
३४	८	प्रायश्चित	प्रायश्चित्त
३५	१०	माखा	मखा
३५	२२	प्रजा	प्रजा
३८	४	नरेद्रादित्य	नरेन्द्रादित्य
३६	११	लगा	लगे
४०	५	सामान	समान

(द्वितीय तरंग)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२	१६	मनोज्ञपति	मनोज्ञ पति
४३	२०	दम्पति	दम्पती
४५	६	उदरं भरिता	उदरंभरिता
४५	११	पितापुत्र की	पिता पुत्र की
४६	१३	निवात निश्चल उन्मुख	निवातनिश्चल एवं उन्मुख
४८	१६	अनन्य भक्त	अनन्यभक्त
४६	४	सवस्व	सर्वस्व
५०	८	शोकशङ्क	शोकशङ्क
५१	५	वेष्टित चरण	वेष्टितचरण
५५	१५	प्रति दिन	प्रतिदिन

(तृतीय तरंग)

६४	८	सुयुक्ति विषयक	सुयुक्तिविषयक
६४	१०	समुद्रवेला वन के प्रदेश	समुद्रवेला के वनप्रदेश
६८	२१	रत्नाकर शेखर	रत्नाकरशेखर
६८	२१	नाना रत्नाकर	नानारत्नाकर
७१	१०	चित्त वृत्ति	चित्तवृत्ति
७२	२१	प्रवसेन	प्रवरसेन
७६	११	प्रगट	प्रगट
७६	५	निधन	निर्धन
७६	२२	क्रान्ति	कान्ति
८२	२०	सर्पभोगी	सर्प भोगी
८४	१६	अनज्वाला	अनलज्वाला
८६	१२	उसके	उसने
६१	१	उपलक्ष मिला	उपलक्ष में मिला
१०५	५	अखित	अखिल

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०५	७	द्यतकारों	द्यूतकारों
११४	४	प्रजा वात्सल्य	प्रजावात्सल्य
११६	८	अघटित घटना पटीयसी	अघटित-घटना-पटीयसी
११६	८	महा महिमता	महामहिमता
११८	१६	अन्याय	अन्यान्य
१२०	१४	राजजमाता	राजजामाता

(चतुर्थ तरंग)

१२२	१५	मल्हण स्वामी	मल्हणस्वामी
१३१	८	के शव	केशव
१३१	१६	राजकाय	राजा के
१४४	२२	समुग्रशायी	समुद्रशायी
१५०	३	एक लक्ष पात्र एकाधिक	एकाधिक एक लक्ष पात्र
१५५	२२	शलाका रुपेण	शलाकारूप से
१५६	१८	सलिल	सलील
१५६	१	राज सेवक	राजसेवक
१६२	१६	मिष्ठान्न	मिष्टान्न
१७०	३	साधने	साधन के
१७२	२०	रखता	रख
१७३	२२	आये हुए उन सब	आए हुए उसने उन सब
१८४	१७	दो-तीन ठहर कर	दो-तीन दिन ठहर कर
१६३	१७	काय	कार्य
१६५	१२	स्वप्न में	सप्न में भी
२०४	११	भ्राताओं को	भ्राता ओं के
,,	१८	सप्तर्शिक के	सप्तर्षिशक के

(पंचम तरंग)

२१०	२०	संकल्प को	संकल्प का

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२२	१७	सुरुप	सुरूप
२३२	१४	अपना	अपने
२५०	१३	वे श्याविषयक	वेश्याविषयक
,,	१७	चक्ष	चक्षू
२५२	४	दस	दस
२५८	१८	कर्म-जनक	कर्म-जनित
२६१	१२	नहा	नहीं
,,	१८	कुछ क्षण जिसे	कुछ क्षण पूर्व जिसे

(षष्ठ तरंग)

२६६	१७	इसवाद	इस वाद
२७१	१५	को उच्छिष्ट	के उच्छिष्ट
१७६	२१	शरीर स्थिति-नश्वर	शरीर स्थिति को नश्वर
२८३	६	श्राजयेन्द्र	श्रीजयेन्द्र
२८८	६	राजभवन	राजभवन में
२६०	२१	रक्क से	थक्कन से
३०३	४	दिद्दारानी विप्लव	दिद्दारानी ने विप्लव
३०५	२२	लोभ	लोम

(सप्तम तरंग)

३०७	३	जयाकुसुम	जपाकुसुम
३३२	२१	श्वेतच्छत्ररूपी	श्वेतच्छत्ररूपिणी
३३५	१	फिर	फिरसे
३४०	४	घृणित मोरी-नाली के समान	मोरी(नाली) के समान घृणित
३५१	११	चाहत	चाहता
३६०	३	प्रशस्त्र	प्रशस्त
३७६	१	रत्नों क	रत्नों के
,,	४	वीरमल्ल	वीर मल्ल

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३८१	६	जाने के वहां से	जाने के लिए वहां से
३९१	९	मारा गया	मारे गए
३९२	१२	राज	राजा
३९९	१३	राजकुमार का	राजकुमार को
४००	१६	उसके	उसके द्वारा
४०२	२२	विजयपर्णोत्स	विजयमल्ल पर्णोत्स
४१०	१४	निस्सयत्न	निस्सपत्न
४२३	१६	राज्यवैभय	राज्यवैभव
४२५	१२	कर लें तो	कर लेतीं तो
४२७	२	दोपहर सो लेता	दोपहर के समय सो लेता
४२८	१४	दोनों को	दानों को
४३७	१२	गुप्तचर्या	गुप्तरूप से चर्चा
४४६	२	पारिषघों	पारिषद्यों
४४८	९	लीलानिकेतन-गज-कमलों	लीलानिकेतन गज कमलों
४४९	११	नायकों	नायकों को
४५४	१६	चारित्र विप्लव	चारित्रविप्लव

शीघ्र ही ग्राहक बनिए

राजतरंगिणी

(हिन्दी अनुवाद सहित)

द्वितीय खंड के छपने में भी हाथ लग गया

प्रथम खंड ३)

तीनों खंड का ७॥), अभी से ६) भेजकर ग्राहक बनने वालों को सभी खंड बिना किसी खर्च के उनके पास छपते ही पहुँच जायँगे। विवरण मँगाइए—

सोल एजेंट— **पुस्तक-भवन, बनारस।**

राज-तरंगिणी

प्रथम तरंग

आभूषण-भूत सर्पों के फण-मण्डल-स्थित रत्नों की कान्ति-च्छटा से सुशोभित तथा मुक्तजन-सेवित शिवरूपी कल्पवृक्ष को मेरा प्रणाम हो ॥१॥ तृतीय नेत्रस्थ वह्निज्वाला अथवा केसर-तिलक से भूषित ललाटवाला और क्रीड़ा करते हुए सर्पों के चञ्चल मुख अथवा दोलायमान कुण्डलों से सुशोभित कर्णयुक्त, हलाहल विष अथवा शंख की कान्ति से नील या श्वेत-कण्ठ-प्रभा-भूषित, वृषाङ्क, अर्धनारीनटेश्वर का वाम अथवा दक्षिण भाग, पाठकों के लिए कल्याणप्रद हो ॥२॥ अमृत-रस को भी तिरस्कृत करने में समर्थ, अवर्णनीय वह सुकविगुण सर्व-वन्द्य है, जिसके प्रभाव से स्वकीय तथा परकीय यशः शरीर अमरत्व को प्राप्त होता है। अर्थात् अमृतपान से केवल पानकर्ता का भौतिक शरीर अमर होता है, परन्तु कवि-गुण-जन्य काव्यामृत रसास्वादन से कवि का तथा वर्णनीय राजा आदि काव्य-गत पात्रों का कीर्तिरूप शरीर स्थिर होता है, अतः काव्य को सुधारस की अपेक्षा श्रेष्ठ कहना सर्वथा सयुक्तिक है ॥३॥ मनोहर कल्पनासृष्टि के स्रष्टा कवियों के बिना भूतकाल को कौन प्रत्यक्ष करा सकता है ? ॥४॥ यदि कवि

अपनी नवनवोन्मेष-शालिनी बुद्धि से, सुलभतया सहृदयवेद्य पदार्थों को न देख सकता, तो उसके बिना कवि की दूरदर्शिता का क्या प्रमाण हो सकता था ? ॥५॥ यद्यपि कथाविस्तार के अनुरोध से विचित्रता अर्थात् चमत्कारजनक रचना को इस ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया गया है, तथापि स्थान स्थान पर सहृदय पाठकों के लिए आनन्दप्रद कुछ इतिवृत्त अवश्य ही रखा गया है ॥६॥ राग-द्वेषरहित वास्तविक गुणयुक्त कवि ही प्रशंसनीय हैं, जिनकी वाणी सच्चे इतिहास को बतलाने में दृढ़ रहती है ॥७॥ प्राचीन लिखित इतिहास को फिर से लिखते हुए मुझ से पुनर्लेखन के प्रयोजन को जानने के पूर्व ही विमुख हो जाना सज्जनों को उचित नहीं है ॥८॥ प्राचीन इतिहास लेखकों ने राजाओं का जो इतिहास विस्तृत रूप से वर्णन किया है, उसे देखकर और उसकी सत्यता तथा असत्यता को जानकर सत्य इतिहास पाठकों के सम्मुख रखना क्या साधारण चातुर्य है ? कदापि नहीं, अतः सर्वथा त्रुटिरहित वास्तविक इतिहास को प्रगट करने के लिए ही मैंने यह उद्योग किया है ॥९-१०॥

प्राचीन इतिहास-ग्रन्थ अति विस्तृत थे, उन्हें संक्षेप में प्रसिद्ध करने के लिए सुव्रत कवि ने ग्रन्थ-रचना की है, इससे वे ग्रन्थ लुप्त हो गये ॥११॥ परन्तु कठोर-पाण्डित्य-प्रचुर सुव्रत कवि की वह शुष्क-वाणी पाठकों को यथार्थ वृत्तान्त जानने में न सहायक हुई, और न होती ही है ॥१२॥ कविवर क्षेमेन्द्र रचित नृपावलि नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ यद्यपि काव्यदृष्ट्या उच्च रचनापूर्ण है,

परन्तु असावधानता के कारण उसका कोई भी अंश निर्दोष नहीं कहा जा सकता ॥१३॥ मैंने राज-कथा विषयक प्राचीन विद्वानों के ११ ग्यारह ग्रन्थ तथा नीलमत पुराण पढ़ा है ॥१४॥ प्राचीन राजाओं के द्वारा निर्माण करवाये गये देव-मन्दिर, नगर, ताम्र-पत्र, शासन तथा प्रशस्ति-पत्र, एवं सामयिक काव्यादि ग्रन्थों के अध्ययन से मेरा भ्रम नष्ट हो चुका है ॥१५॥ इतिहास-सम्बन्धी प्रमाणों के अभाव से प्राचीन ५२ बावन राजाओं का वृत्तान्त प्राचीन ग्रन्थकारों को बिलकुल मालूम नहीं है, उनमें से गोनन्द आदि चार राजाओं का इतिहास मैंने नीलमत पुराण के आधार पर लिखा है ॥१६॥ महाव्रती अर्थात् पाशुपतव्रत दीक्षायुक्त हेला-राज नामक ब्राह्मण कवि ने १२ बारह हजार श्लोकों का "पार्थिवावलि" नामक ग्रन्थ लिखा है ॥१७॥ उसी ग्रन्थ के आधार से पद्ममिहिर कवि ने अपने ग्रन्थ में अशोक के पूर्वज लव आदि आठ राजाओं का उल्लेख किया है ॥१८॥ इसी प्रकार छ विल्हाकर नामक महाकवि ने अपने ग्रन्थ में उन ५२ बावन नरेशों में से अशोक से लेकर अभिमन्यु पर्यन्त पाँच राजाओं का उल्लेख किया है, वह यही श्लोक है—अशोकादाभिमन्योर्ये प्रोक्ताः पंच महीभुजः। ते द्वापञ्चाशतौमध्यादेवलब्धाः पुरातनैः ॥ अर्थात् अशोकादि अभिमन्यु पर्यन्त पाँच नरेन्द्र प्राचीन कवियों ने अप्रसिद्ध बावन नरेशों में से ही उद्धृत किये हैं ॥१९–२०॥

यह कथा राजाओं के देश-काल की उन्नति तथा अवनति के विषय में प्राचीन ग्रन्थों से उत्पन्न हुए भ्रम को नष्ट करने में उपयुक्त

होगी ॥२१॥ सुन्दरतापूर्ण अनेक प्राचीन व्यवहारों के वर्णन से भूषित यह ग्रन्थ कौन से सहृदय को आनन्द-प्रद न होगा ॥२२॥ प्राणियों के जीवन की क्षणभङ्गुरता को सोचने से शान्त रस को ही प्रधान स्थान देना योग्य है ॥२३॥ अतः हे सहृदयो ! उसी शान्त रस के प्रबल प्रवाह से रमणीय इस कथा को कर्ण-शुक्ति-पुट-द्वारा तृप्ति पर्यन्त पान कीजिये ॥२४॥ कल्प के प्रारम्भिक काल से ६ मन्वन्तर पर्यन्त हिमालय के अन्तर्भाग में अगाध-जल-पूर्ण सतीसर नामक महासरोवर था ॥२५॥ उसके बाद वैवस्वत नामक सप्तम मन्वन्तर में कश्यप ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं के हाथों से उस सरोवर का भेदन करवा कर उक्त सरोवर के अन्दर रहनेवाले जलोद्भव नामक असुर को मरवा डाला, और सरोवर की भूमि में काश्मीर नामक सुप्रसिद्ध मण्डल को स्थापित किया ॥२६-२७॥ यह देश वितस्ता नदी के प्रवाह रूपी दण्ड से युक्त तथा कुण्ड रूपी छत्र को धारण किये हुए नाग-राज श्री नीलनाग से पालन किया जाता है ॥२८॥ कार्तिकेय को आश्रय देने वाली और गणेश को दुग्धपान कराने वाली पार्वती कन्दराओं-से आश्रित होनेके कारण गुहाश्रिता और सर्पों को जलपान करानेके कारण नागपीतपया है, इसलिये वितस्ता रूप धारिणी होने पर उसने अपने औचित्य का त्याग नहीं किया, अर्थात् जैसे पार्वती में गुहाश्रितत्व तथा नागपीतपयस्त्व दोनों धर्म मौजूद हैं, वैसे ही वितस्ता नदी में पूर्वोक्त दोनों ही धर्म विद्यमान हैं ॥२९॥ नाना रत्नालंकृत शंख, पद्म आदि नागों युक्त कुबेर के नगर के सदृश सुशोभित है ॥३०॥

यह नगर गरुड़ के भय से शरण में आये हुए सर्पों की प्राण-रक्षा के लिए प्राकार-रूपी भुजाओं को पर्वत के समान उन्नत कर उद्युक्त सा हो रहा है ॥३१॥ यहाँ पाप सूदन तीर्थ में विराजमान काष्ठरूप उमेश के दर्शन तथा स्पर्शन से भोग तथा मोक्ष दोनों ही फलों की प्राप्ति होती है ॥३२॥ यहाँ निर्जल पर्वत पर संध्या देवी पाप और पुण्य का निर्णय जल रूप से करती है, अर्थात् पुण्यात्माओं को जल मिल जाता है और पापियों को नहीं मिलता ॥३३॥ पृथ्वी में से स्वयं निकलती हुई आग ज्वाला-रूपी भुजाओं से होता गण द्वारा समर्पित हव्य को ग्रहण करती है ॥३४॥ यहाँ गंगा के प्रादुर्भाव से पवित्र भेड़ पर्वत पर सरोवर में हंस-रूप-धारिणी श्री शारदा दीखती है ॥३५॥ यहाँ आज भी नन्दिक्षेत्र के शिवालय में देवार्पित पूजा के चन्दन बिन्दु दीख रहे हैं ॥३६॥ जहाँ श्री शारदा के दर्शन-मात्र से कवि सेवित मधुरवाणी तथा मधुमती नदी दोनों की प्राप्ति होती है ॥३७॥ इस चक्रधर, विजयेश, आदि-केशव, ईशान आदि पवित्र देवालय युक्त काश्मीर देश का कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जिसको तीर्थ नहीं कह सकते ॥३८॥ इस देश की विजय पुण्य-बल से ही की जा सकती है, शस्त्र-बल से नहीं, अतः काश्मीर-वासी परलोक सेही डरते हैं, शत्रुओं से नहीं ॥३९॥ यहाँ शीत-काल में स्नान करने के योग्य नदी-तट हैं, जहाँ स्नानागारों में गरम जल मिलता है और उष्ण-काल में स्नान करने योग्य तथा जल-जन्तु-भय-रहित शीतल-जल-युक्त नदी-तट भी हैं ॥४०॥

यहाँ सूर्य अपने पिता कश्यप द्वारा निर्माण किये गये इस काश्मीर देश को कठोर उष्ण-किरण-समूह से तपाने के अयोग्य समझकर गौरव-पूर्ण हृदय से ग्रीष्म में भी तीव्रता प्रगट नहीं करता है ॥४१॥ यहाँ बड़े बड़े विद्या-भवन तथा हिम-सम शीतल जल एवं सुधामधुर द्राक्षा फल आदि स्वर्ग-दुर्लभ पदार्थ भी साधारण गिने जाते हैं ॥४२॥ त्रैलोक्य में भूलोक श्रेष्ठ है और भूलोक में उत्तर दिशा की शोभा अवर्णनीय है, और वहाँ भी हिमालय पर्वत अतिशय प्रशंसनीय है, और हिमालय पर्वत पर भी काश्मीर देश परम रम्य है ॥४३॥ कलियुग में इस देश में कौरव-पाण्डव के समकालीन तृतीय गोनन्द तक ५२ बावन नरेन्द्र हो गये हैं ॥४४॥ परन्तु उन नरेशों के दुर्दैव से उस समय कीर्ति देह के निर्माता कवि-स्रष्टाओं का अभाव था ॥४५॥ महा प्रतापशाली जिन राजाओं की भुजारूपी वन की छाया में यह समुद्रवेष्टिता भूमि सर्वथा निर्भय थी, ऐसे राजाओं का भी नाम जिनके अनुग्रह के विना याद तक नहीं आता है, उस स्वाभाविक महत्वशालिनी कवि कृति को मैं सादर प्रणाम करता हूँ ॥४६॥ जिनके चरण हाथियों के गण्डस्थलों पर रखे जाते थे और जो अखण्ड साम्राज्य लक्ष्मी का उपभोग करते थे, जिनके गगन-चुम्बी प्रासादों में दिन में भी चमकने वाली चन्द्रिका के समान सुन्दरी युवतियाँ स्वच्छन्द विहार करती थीं, उन भूपालों को यह संसार जिस कवि-कृति के विना स्वप्न में उत्पन्न हुए भी नहीं मान सकता, अतः हे भ्रातः ! कवि-कृत्य ! हम आपके गुण कहाँ तक वर्णन करें, बस, इतना ही

कथन पर्याप्त है कि आपके बिना यह संसार अन्ध है ॥४७॥ कलि-युग में गोनन्द आदि ५२ राजाओं ने २२६८ वर्ष पर्यन्त काश्मीर देश का शासन किया। "महाभारत युद्ध द्वापरयुग के अन्त में हुआ" ऐसी मिथ्या वार्ताओं से भ्रान्तचित्त अनेक ऐतिहासिक इस काल-गणना को गलत मानते हैं ॥४८-४९॥ परन्तु काश्मीर के राज्यासन को भूषित करने वाले नरेन्द्रों का शासन-काल तथा भुक्त कलिकाल बराबर ही हैं ॥५०॥

कलियुग के ६५३ वर्ष व्यतीत होने पर कौरव-पाण्डव हुए हैं ॥५१॥ आजकल शककाल के २४वें लौकिक वर्ष में १०७० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं ॥५२॥ प्रायः तीसरे गोनन्द के समय से आज तक २३३० वर्ष बीत गये हैं ॥५३॥ उन ५२ बावन राजाओं का शासन काल १२६६ वर्ष ऐतिहासिक सम्मति से सिद्ध है ॥५४॥ "चित्र शिखण्डि अर्थात् सप्त-ऋषि गण एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र पर १०० वर्ष में संचार करते हैं" ऐसा ज्योतिष संहिताकारों का मत है ॥५५॥ जब राजा युधिष्ठिर पृथ्वी पर शासन करते थे, तब सप्तर्षि मघा नक्षत्र पर थे। युधिष्ठिर का शक-काल २५५६ माना गया है ॥५६॥ चञ्चल गंगा प्रवाहरूपी शुभ्र वस्त्र को धारण कर, कैलाश पर्वत की धवलिमा का उपहास करती हुई उत्तर दिशा महाप्रतापी काश्मीर शासक राजा गोनन्द (प्रथम-गोनन्द) की सेवा में सर्वदा सन्नद्ध रहती थी ॥५७॥ विष से डरकर पृथ्वी शेषनाग के मस्तक को त्याग कर इन्द्रनीलरत्न खचित आभूषणों से सुशोभित राजा गोनन्द की भुजाओं का आश्रय पाकर निःशङ्क-

रहने लगी ॥५८॥ भगवान् श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करने के लिये अपने मित्र जरासंध के द्वारा आमन्त्रित राजा गोनन्द ने यमुना नदी के तीर पर अपनी सेना को ठहरा कर मथुरा नगरी को चारों ओर से घेर लिया ॥५९॥ इसने यमुना के तीर पर सेना को ठहराकर अपने प्रबल आतंक से यादव रमणियों के हास्य के साथ ही वीरों के यश को भी लुप्त कर डाला ॥६०॥

युद्ध में यादवी सेना को हारते देखकर उसकी रक्षा के लिए इस वीर को बलराम ने आकर घेर लिया ॥६१॥ समान बलशाली उन दोनों वीरों के युद्ध में चिरकाल तक किसी की भी विजय को निश्चित न देखकर जयश्री के कर कमलों में रखी हुई विजय माला मलिन हो गई ॥६२॥ कुछ समय के बाद गोनन्द ने शस्त्र प्रहारों से जर्जरित कलेवर होकर पृथ्वी का आलिंगन किया और बलराम को विजयलक्ष्मी के आश्लेष का सौभाग्य प्राप्त हुआ ॥६३॥ राजा गोनन्द को वीरोचित सद्गति मिलने के बाद उसका पुत्र दामोदर पृथ्वी का पालन करने लगा ॥६४॥ सम्पूर्ण भोग-सम्पत्ति-युक्त राज्य मिलने पर भी स्वाभिमानी राजा दामोदर को पिता के बध का स्मरण करने से शांति नहीं मिलती थी ॥६५॥ गांधार देश के राजा के द्वारा अपनी कन्या के स्वयंवर में यादवों के निमन्त्रण को सुनकर दामोदर युद्ध की अभिलाषा से फड़कती हुई भुजाओं की खजुवाहट को मिटाने के लिये अश्व-खुराहत-धूलि से आकाश को आच्छादित करती हुई सेना को साथ लेकर लड़ने के लिये गया ॥६६-६७॥ उस स्वयंवर

में (कन्या के स्वयंवर में) विष उत्पन्न हुआ और आहत वीरों के साथ स्वर्गीय रमणियों का स्वयंवर होने लगा ॥६८॥ शत्रु सैन्य पर आक्रमण करने वाला वह वीरश्रेष्ठ दामोदर श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र से आहत होकर वीर-गति को प्राप्त हुआ ॥६९॥ पश्चात् यादव-कुल-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने दामोदर की गर्भवती स्त्री यशोमती देवी का ब्राह्मणों के द्वारा राज्याभिषेक करवाया ॥७०॥

इस कार्य से मन्त्री-मण्डल को रूठा हुआ देखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने "काश्मीर देश पार्वती का स्वरूप है, और वहाँ का राजा साक्षात् शिव है। इसलिये वह दुष्ट होने पर भी कल्याण को चाहने वाले विद्वानों के लिये सर्वथा मान्य है" ऐसे पौराणिक वचन का प्रमाण देकर शांत किया ॥७१-७२॥ जो लोग स्त्रियों को अपने भोग्य पदार्थ के समान गौरव-शून्य दृष्टि से देखते थे, वे ही यशोमती को माता समझकर आदर-पूर्ण दृष्टि से देखने लगे ॥७३॥ पश्चात् यशोमती को दशम मास में दग्ध वंशवृक्ष के अंकुर के समान दिव्य पुत्र उत्पन्न हुआ ॥७४॥ उस बालक का जातकर्म संस्कार राज्याभिषेक के साथ ही अनेक सामग्रियों को एकत्रित करके श्रेष्ठ ब्राह्मणों द्वारा किया गया ॥७५॥ उस बालनृपति ने राज्यश्री के साथ ही गोनन्द (द्वितीय) नाम भी प्राप्त किया ॥७६॥ उसके योग्य पोषण के लिये पयस्विनी वितस्ता नदी और सर्व संपत्प्रसू भूमि दोनों ही उप-माताओं का कार्य करने लगीं ॥७७॥ उस बालराजा के अकारण हास्य को देखकर भी उसकी प्रसन्नता को सफल बनाने के लिये सचिव लोग अनुचरों

को पारितोषिक देकर संतुष्ट करते थे ॥७८॥ उसकी अव्यक्त वाणी का आशय न समझने से आज्ञा पालन करने में असमर्थ मन्त्री लोग अपने को अपराधी समझते थे ॥७९॥ पिता के सिंहासन को अलंकृत करते हुए उस बाल नरेश के चरण पादपीठ तक नहीं पहुँच सकते थे, अतः पादपीठ की निराशा दूर नहीं होती थी ॥८०॥

चामरों की मन्द-मन्द पवन से चञ्चल काकपक्ष धारी उस बाल-नरेश को सिंहासन पर बिठलाकर मन्त्री-मण्डल राज्य-कार्य को करता था ॥८१॥ कौरव तथा पाण्डवों ने काश्मीर-शासक उस राजा को बालक समझ कर महाभारत युद्ध में सहायार्थ निमन्त्रित नहीं किया ॥८२॥ बाद में जो ३५ राजा हुए, उनका इतिहास नष्ट हो जाने से वे विस्मृति-सागर में मग्न हो गये हैं, अर्थात् उनका इतिहास न मिलने से उन्हें कोई भी नहीं जानता ॥८३॥ उसके बाद फरकते हुए यशोवस्त्र से वेष्टित जयश्री का प्रेम-पात्र भूमि-भूषण लव नामक राजा काश्मीर का शासक हुआ ॥८४॥ संसार की निद्रा का भंग करने वाले जिसके सेना-शब्द ने शत्रुओं को दीर्घ निद्रा के वशीभूत कर दिया ॥८५॥ उसने ८४ लाख पत्थर के मकान बनवाकर लोलोर अथवा लोलेर नामक नगर बसाया ॥८६॥ अखण्ड एवं निष्कलंक वीरश्री से संभूषित वह राजा लव लेहरी नदी के तट पर बसे हुए लेवर नामक ग्राम ब्राह्मणों को दानकर अन्त में स्वर्गवासी हो गया ॥८७॥ उसके पश्चात् परम प्रतापी कुशेशय नामक उसका पुत्र राज्य का अधिकारी हुआ,

और उसने कुरुहार नामक अग्रहार ब्राह्मणों को दिया ॥८८॥ उसके बाद सर्प वंश का घातक, महावीर, खगेन्द्र नामक उसका पुत्र काश्मीर देश का राजा हुआ ॥८९॥ खागि और खोनमुष नामक दो अग्रहारों को स्थापित करने वाला वह राजा खगेन्द्र भगवान् शंकर के अट्टहास के समान निर्मल सुकृत के प्रभाव से स्वर्ग को सुशोभित करने लगा ॥९०॥

उसके बाद प्रतापवान् राजा सुरेन्द्र काश्मीर देश के राज्य सिंहासन को अलंकृत करने लगा। यह खगेन्द्र का पुत्र था, इससे इन्द्र भी लज्जित होता था, क्योंकि इन्द्र 'शतमन्यु' था, वह 'शान्त-मन्यु' (शांतक्रोध) था और इन्द्र गोत्रभिद् (गोत्र नाशक) कहलाता है, और राजा सुरेन्द्र गोत्ररक्षक था ॥९१-९२॥ अखण्ड यशस्वी, परम पुण्यशाली उस राजा ने दरद देश की सीमा पर सोरक नामक प्रसिद्ध नगर बसाया। और नरेन्द्र भवन तथा सौरभ नामक दो विहार बनवाये ॥९३-९४॥ उस की मृत्यु के पश्चात् उसको सन्तान न होने से अन्यवंशी राजा गोधर पर्वत सहित पृथ्वी का पालन करने लगा ॥९५॥ परम धार्मिक वह राजा गोधर ब्राह्मणों को गोधर एवं हस्तिशाला नामक दो अग्रहार देकर स्वर्गवासी हुआ ॥९६॥ उसके पश्चात् याचकों को विपुल सुवर्ण देनेवाला तथा कराल नामक देश में सुवर्ण भीष्म कुल्या (कृत्रिम नदी) बहा देनेवाला सुवर्ण नामक उसका पुत्र काश्मीर देश का शासक हुआ ॥९७॥ उसका पुत्र जनक अपने पिता के सिंहासन का अधिकारी होकर पिता के समान प्रजा-पालन करने लगा।

उसने विहार तथा जालौन नामक अग्रहार निर्माण किया ॥९८॥ उसके स्वर्गारूढ़ होने के बाद परम क्षमाशील उसका पुत्र शचीनर सिंहासनारूढ़ हुआ। उसकी आज्ञा को कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता था ॥९९॥ शमाङ्गार और शनार नामक अग्रहारों का निर्माणकर्ता वह अपुत्र राजा कुछ समय के बाद इन्द्रासन का अर्धाधिकारी हुआ (स्वर्गवासी हुआ) ॥१००॥

पश्चात् शकुनी का प्रपौत्र परम सत्यवादी राजा अशोक पृथ्वी पर शासन करने लगा ॥१०१॥ वह बड़ा पवित्र था। उसने जैनधर्म को स्वीकार कर शुष्कलेत्र और वितस्तात्र नामक दो स्थानों में अनेक स्तूप बँधवाये ॥१०२॥ वितस्तात्रपुर के धर्मारण्य नामक विहार में उसने इतना ऊँचा चैत्य (जैन-मन्दिर) बनवाया था कि जिसकी ऊँचाई का निर्णय दर्शकों की आँखें नहीं कर सकती थीं ॥१०३॥ उस परम प्रतापी अति धनाढ्य राजा ने धनपूर्ण छानबे लाख दिव्य भवनों से भूषित परम प्रसिद्ध श्रीनगर नामक शहर बसाया ॥१०४॥ और चूने के बने हुए श्रीविजयेश्वर मन्दिर के जीर्ण प्राकार को तुड़वाकर उस स्थान पर पत्थरों का सुदृढ़ प्राकार बनवाया ॥१०५॥ तथा आलस्य-रहित उस अशोक ने विजयेश्वर के समीप अशोकेश्वर के अत्यन्त सुन्दर दो मन्दिर बनवाये ॥१०६॥ काश्मीर देश पर म्लेच्छों के आक्रमण होते देख उस राजा ने म्लेच्छों के समूल नाश करने की इच्छा से भगवान् शंकर को प्रसन्न करने के लिये उग्र तप किया। तथा तपस्संतुष्ट शंकर से प्रतापवान एवं पुण्यवान सुयोग्य पुत्र प्राप्त किया ॥१०७॥ अशोक

के पश्चात् जलौक पृथ्वी का शासक हुआ। उसने अपने धवल कीर्ति प्रभाव से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उज्ज्वल कर दिया था ॥१०८॥ उस दिव्य प्रभावशाली महात्मा के पवित्र चरित्रों को सुनकर देवता लोग भी आश्चर्य-चकित होते थे ॥१०९॥ वह कोटि वेधी रस की सिद्धि से पारदादि धातुओं द्वारा प्रभूत सुवर्ण बनाता था। जिससे समग्र ब्रह्माण्ड को भी वह सुवर्णमय बनाने की शक्ति रखता था ॥११०॥

उसने नागसरोवर का जल स्तम्भन कर नाग कन्याओं के साथ क्रीड़ा करके अपना यौवन सफल किया ॥१११॥ बुद्धिमान् तथा तेजस्वी, एवं अवधूत अनेक बौद्धों को वाद में परास्त करने वाला परम विरक्त उसका गुरु था ॥११२॥ सत्यवादी तथा परम भक्त वह राजा प्रति दिन नियम से नन्दीश क्षेत्र में स्वयंभू श्रीज्येष्ठ्येश्वर नामक शंकर की पूजा करता था ॥११३॥ उस कार्य के लिये उतनी दूर पहुँचने में एक नाग प्रतिदिन भक्ति-पूर्वक उसका सहायक होता था। अतः उसको प्रत्येक ग्राम में अश्व का प्रबन्ध करने की आवश्यकता नहीं होती थी ॥११४॥ उस समय धैर्य्यवान और परम वीर उस राजा ने सर्वव्यापी दुष्ट म्लेच्छ दल को सर्वत्र परास्त कर अपनी विजय-शील सेना की सहायता से सम्पूर्ण पृथ्वी को जीत लिया ॥११५॥ राष्ट्र पर आक्रमण करने वाले म्लेच्छ दल को उसने जहाँ से मारकर भगा दिये थे तब से उस स्थान का नाम संसार में उज्झटडिम्ब प्रसिद्ध हुआ ॥११६॥ उसने कान्य-कुब्ज आदि देशों को जीतकर वहाँ के चारों वर्णों को तथा धार्मिक

विद्वानों को काश्मीर देश में लाकर बसाया और राज्य-प्रबन्ध का सुधार किया ॥११७॥ सुधार होने के पूर्व वहाँ साधारण राज्य के समान धर्माध्यक्ष, धनाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष, परराष्ट्र-सचिव, पुरोहित और ज्योतिषी ये सात अधिकारी थे॥११८-११९॥ सुधार के बाद उसने अष्टादश कर्मस्थान (कार्य्य-विभाग) स्थापित कर राजा युधिष्ठिर के समान अपने राज्य का प्रबन्ध किया ॥१२०॥

उस कुशाग्र बुद्धि राजा ने पराक्रम तथा प्रभाव से उपार्जित सम्पत्ति द्वारा वारबाल आदि अग्रहार ब्राह्मणों को दिये ॥१२१॥ उसकी पटरानी ईशानदेवी ने काश्मीर और अन्य देशों के द्वारों पर प्रभावशाली मातृचक्रों की स्थापना की ॥१२२॥ उसने व्यास के एक शिष्य से नन्दीपुराण का श्रवण किया था। अतः वह नन्दीश तीर्थ की स्पर्धा से सोदरादि तीर्थों की सेवा करने लगा ॥१२३॥ यद्यपि उसने श्रीनगर में भगवान् ज्येष्ठरुद्रेश की स्थापना की थी तथापि सोदरादि तीर्थ के बिना उसके हृदय में जागृत हुई नन्दीश-क्षेत्र-स्पर्धा को दूर करना सर्वथा असम्भव था ॥१२४॥ सोदरतीर्थ उसके निवास-स्थान से बहुत दूर था अतः वह एक दिन कार्य-व्यग्रता से वहाँ न जा सका। इसलिये उसके हृदय में बड़ा क्लेश हुआ ॥१२५॥ इतने ही में अकस्मात् भूमि के अन्दर से सोदरतीर्थ के समान निर्मल एवं मधुर जल निकलता हुआ उसे दिखाई दिया ॥१२६॥ अकस्मात् भूगर्भ में से निकले हुए उस पवित्र तीर्थोदक में स्नान करने से उस राजा को सोदरतीर्थ में स्नान करने के समान हर्ष हुआ ॥१२७॥ उसने परीक्षा के लिये सोदरतीर्थ में

एक पात्र डाल दिया था। वही पात्र दो दिन के बाद उस नवीन तीर्थ में निकला। इससे राजा को निश्चय हो गया कि यह जल सोदरतीर्थ का ही है ॥१२८-१२९॥ वह राजा अवश्य ही नन्दीश का अवतार था; अन्यथा ऐसे आश्चर्यजनक कार्य उससे कैसे होते ? ॥१३०॥

एक समय वह विजयेश्वर के दर्शन करने जा रहा था। राह में एक स्त्री ने उससे भोजन माँगा ॥१३१॥ जब राजा ने यथेष्ट भोजन देने की प्रतिज्ञा की तब उसने भयंकर रूप धारण कर नरमांस भक्षण की इच्छा प्रकट की ॥१३२॥ अहिंसा-व्रतधारी उस राजा ने जब उस स्त्री को अपने शरीर का मांस खाने की आज्ञा दे दी तब वह बोली ॥१३३॥ "राजन्! आप सच्चे व्रत के पालक बोधिसत्व हैं। हे महात्मन् ! मैंने आज आपकी भूतदया का महत्व देख लिया है ॥१३४॥ शैव होने के कारण राजा को बोधिसत्व शब्द का अर्थ ज्ञात नहीं था; इसलिये उसने पूछा कि हे भद्रे ! तू मुझे बोधि-सत्व शब्द से संबोधित करती है उसका अर्थ क्या है ? ॥१३५॥ उसने कहा महाराज सुनिये—मैं आदितः सब वृत्तान्त आपसे कहती हूँ। मुझे आप से परास्त किये गये बौद्धों ने यहाँ भेजा है ॥१३६॥ हम लोकालोक पर्वत के समीप रहनेवाली कृत्या हैं। लोकालोक पर्वत के समीप का प्रदेश अन्धकारमय है। वहाँ हम अपने किये हुए दुष्कर्मजन्य पापों से मुक्त होने के लिये बोधि-सत्वों पर दृढ़ विश्वास रखकर उनकी सेवा में रहा करती हैं ॥१३७॥ बोधि-सत्वों में सर्व-प्रथम भगवान् बुद्ध से लेकर आज तक जो

महात्मा अविद्या, अस्मिता आदि क्लेशों से मुक्त हैं वे बोधि-सत्व कहलाते हैं ॥१३८॥ बोधि-सत्व अपराधियों पर क्रुद्ध नहीं होते; उनके अपराधों को क्षमा कर देते हैं, उपकार करते हैं। संसार का कल्याण करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं ॥१३९॥ एक बार विहार में बजाये गये वाद्यों से आपकी निद्रा भंग हो गयी थी। इससे आपने कतिपय दुष्टों की प्रेरणा से क्रुद्ध होकर सम्पूर्ण विहारों को नष्ट भ्रष्ट कर डाला था ॥१४०॥

इस कार्य से क्रुद्ध हुए बौद्धों ने मुझे आपका नाश करने के लिये यहाँ भेजा है। आते समय बोधि-सत्वों ने कहा—"हे कल्याणी! वह राजा महाशाक्य है। अतः तू उसे पीड़ा नहीं दे सकती। उसके दर्शन से तेरे पातकों का अन्त होकर तुझे सद्गति मिलेगी। कुछ दुष्टों ने उसके चित्त में मालिन्य उत्पन्न कर रक्खा है। तू उसे अपने पास का संचित असंख्य सुवर्ण देकर हमारी आज्ञा से फिर से विहार बनवाने की सूचना देना। इससे उसके तथा विहारध्वंस का अनुमोदन करनेवाले दुष्टों के पापों का प्रायश्चित्त हो जायगा ॥१४१-१४२-१४३-१४४॥ अतः मैंने भोजन माँगकर आप के सत्व की परीक्षा की है। मेरा पाप नष्ट हो चुका। आपका कल्याण हो! मैं जाती हूँ ॥१४५॥ ऐसा कहकर और विहार बनवाने के लिये राजा की प्रतिज्ञा को सुनकर वह कृत्या अदृश्य हो गयी ॥१४६॥ बाद राजा ने वहाँ कृत्याश्रम नामक विहार बनवा कर उस निष्पाप कृत्यादेवी की आराधना आरम्भ की ॥१४७॥ और नन्दी-क्षेत्र में भगवान् भूतेश का पाषाणमय

सुदृढ़ मन्दिर बनवाकर नाना प्रकार के रत्नों से उनका पूजन किया ॥१४८॥ उसने भगवान् ज्येष्ठेश की पूजा के समय नृत्य-गीत-कुशल अन्तःपुर की सौ स्त्रियों को नृत्य करने के लिये नियुक्त किया था ॥१४९॥ और चीरमोचन तीर्थ में ब्रह्मासन लगाकर तथा ध्यानमग्न होकर कई दिनों तक तपश्चर्य्या करते हुए राजा ने कनकवाहिनी के हृदय से नन्दीश के स्पर्श की उत्कण्ठा को कुण्ठित कर दिया था। इस प्रकार अपनी धर्मपत्नी के साथ वह राजा चीरमोचन तीर्थ में अपना शरीर त्याग कर शिवस्वरूप में लीन हो गया ॥१५०-१५१-१५२॥

उसके बाद अशोक वंशोत्पन्न अथवा अन्य वंशीय राजा दामोदर काश्मीर का शासक हुआ ॥१५३॥ शैव श्रेष्ठ परम धनाढ्य उस तेजस्वी राजा का आश्चर्यकारक प्रभाव आज भी संसार-प्रसिद्ध है ॥१५४॥ शंकर के कृपापात्र एवं सच्चरित्र प्रिय उस राजा के साथ स्वयं कुबेर ने भी मित्रता की थी ॥१५५॥ कुबेर के समान राजाओं में श्रेष्ठ उस भूपति ने अपने आज्ञाकारी यक्षों को नियुक्त कर गुड्ड नामक एक सेतु बनवाया ॥१५६॥ उसने दामोदरसूद नामक प्रदेश में एक नगर बसाया था वहाँ उस सेतु द्वारा वह जल पहुँचाना चाहता था ॥१५७॥ लोगों के कल्याण के लिये लोकातिशय कार्य करनेवाले उदार पुरुषों के कार्यों में मनुष्यों के पुण्यों की अल्पता से अवश्य ही विघ्न उपस्थित होते हैं ॥१५८॥ वह राजा अपने राज्य में जल के उपद्रव को दूर करने के लिये यक्षों के द्वारा पाषाणमय दृढ़ सेतु बनवाना चाहता था ॥१५९॥ उग्र तपस्वी

महात्मा अविद्या, अस्मिता आदि क्लेशों से मुक्त हैं वे बोधि-सत्व कहलाते हैं ॥१३८॥ बोधि-सत्व अपराधियों पर क्रुद्ध नहीं होते; उनके अपराधों को क्षमा कर देते हैं, उपकार करते हैं। संसार का कल्याण करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं ॥१३९॥ एक बार विहार में बजाये गये वाद्यों से आपकी निद्रा भंग हो गयी थी। इससे आपने कतिपय दुष्टों की प्रेरणा से क्रुद्ध होकर सम्पूर्ण विहारों को नष्ट भ्रष्ट कर डाला था ॥१४०॥

इस कार्य से क्रुद्ध हुए बौद्धों ने मुझे आपका नाश करने के लिये यहाँ भेजा है। आते समय बोधि-सत्वों ने कहा—"हे कल्याणी! वह राजा महाशाक्य है। अतः तू उसे पीड़ा नहीं दे सकती। उसके दर्शन से तेरे पातकों का अन्त होकर तुझे सद्गति मिलेगी। कुछ दुष्टों ने उसके चित्त में मालिन्य उत्पन्न कर रक्खा है। तू उसे अपने पास का संचित असंख्य सुवर्ण देकर हमारी आज्ञा से फिर से विहार बनवाने की सूचना देना। इससे उसके तथा विहारध्वंस का अनुमोदन करनेवाले दुष्टों के पापों का प्रायश्चित्त हो जायगा ॥१४१-१४२-१४३-१४४॥ अतः मैंने भोजन माँगकर आप के सत्व की परीक्षा की है। मेरा पाप नष्ट हो चुका। आपका कल्याण हो! मैं जाती हूँ ॥१४५॥ ऐसा कहकर और विहार बनवाने के लिये राजा की प्रतिज्ञा को सुनकर वह कृत्या अदृश्य हो गयी ॥१४६॥ बाद राजा ने वहाँ कृत्याश्रम नामक विहार बनवा कर उस निष्पाप कृत्यादेवी की आराधना आरम्भ की ॥१४७॥ और नन्दी-क्षेत्र में भगवान् भूतेश का पाषाणमय

सुदृढ़ मन्दिर बनवाकर नाना प्रकार के रत्नों से उनका पूजन किया ॥१४८॥ उसने भगवान् ज्येष्ठेश की पूजा के समय नृत्य-गीत-कुशल अन्तःपुर की सौ स्त्रियों को नृत्य करने के लिये नियुक्त किया था ॥१४९॥ और चीरमोचन तीर्थ में ब्रह्मासन लगाकर तथा ध्यानमग्न होकर कई दिनों तक तपश्चर्य्या करते हुए राजा ने कनकवाहिनी के हृदय से नन्दीश के स्पर्श की उत्कण्ठा को कुण्ठित कर दिया था। इस प्रकार अपनी धर्मपत्नी के साथ वह राजा चीरमोचन तीर्थ में अपना शरीर त्याग कर शिवस्वरूप में लीन हो गया ॥१५०-१५१-१५२॥

उसके बाद अशोक वंशोत्पन्न अथवा अन्य वंशीय राजा दामोदर काश्मीर का शासक हुआ ॥१५३॥ शैव श्रेष्ठ परम धनाढ्य उस तेजस्वी राजा का आश्चर्यकारक प्रभाव आज भी संसार-प्रसिद्ध है ॥१५४॥ शंकर के कृपापात्र एवं सच्चरित्र प्रिय उस राजा के साथ स्वयं कुबेर ने भी मित्रता की थी ॥१५५॥ कुबेर के समान राजाओं में श्रेष्ठ उस भूपति ने अपने आज्ञाकारी यक्षों को नियुक्त कर गुड्ड नामक एक सेतु बनवाया ॥१५६॥ उसने दामोदरसूद नामक प्रदेश में एक नगर बसाया था वहाँ उस सेतु द्वारा वह जल पहुँचाना चाहता था ॥१५७॥ लोगों के कल्याण के लिये लोकातिशय कार्य करनेवाले उदार पुरुषों के कार्यों में मनुष्यों के पुण्यों की अल्पता से अवश्य ही विघ्न उपस्थित होते हैं ॥१५८॥ वह राजा अपने राज्य में जल के उपद्रव को दूर करने के लिये यक्षों के द्वारा पाषाणमय दृढ़ सेतु बनवाना चाहता था ॥१५९॥ उग्र तपस्वी

ब्राह्मणों के तप की विभूतियाँ अवर्णनीय हैं। क्योंकि ब्राह्मण लोग उसके समान प्रभावशाली राजा के प्रभाव का भी नाश कर सकते हैं ॥१६०॥

शत्रु द्वारा हरण की गयी राज-लक्ष्मी किसी समय फिर भी मिल सकती है, परन्तु ब्राह्मणों के अपमान से नष्ट हुई सम्पत्ति पुनः दुर्लभ है ॥१६१॥ किसी समय श्राद्ध के निमित्त वह राजा वितस्ता नदी के तट की ओर स्नानार्थ जा रहा था इतने ही में बहुत से बुभुक्षित ब्राह्मण उसके समीप आकर स्नान करने के पूर्व ही भोजन माँगने लगे ॥१६२॥ जब राजा ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया तब उन्होंने अपने तपोबल से वितस्ता नदी को उसके सन्मुख लाकर रख दी ॥१६३॥ और कहने लगे—"राजन् यही वितस्ता नदी है। इसे देखकर हमें भोजन दीजिये।" इतना कहने पर भी राजा ने इस घटना को जादू समझा ॥१६४॥ और कहा कि मैं स्नान किये बिना आपको भोजन नहीं दे सकता। आप यहाँ से चले जाइये। तब ब्राह्मणों ने राजा के तिरस्कार पूर्ण बचनों को सुनकर क्रोध से शाप दिया कि तू सर्प होगा ॥१६५॥ फिर राजा की नम्र प्रार्थना को सुनकर उन्होंने एक दिन में सम्पूर्ण रामायण सुनने से तुम्हारी मुक्ति होगी" इस प्रकार शाप का प्रतिकार बतलाया ॥१६६॥ आज भी शापग्रस्त वह राजा दामोदर सूद में प्यास से घबड़ाकर इधर-उधर घूमता हुआ लोगों को दिखलाई देता है ॥१६७॥ उसके बाद हुष्क, जुष्क और कनिष्क नामक तीन राजा हुए। उन्होंने अपने नाम के अनुसार हुष्कपुर, जुष्कपुर

तथा कनिष्कपुर नामक तीन पुर बसाये ॥१६८॥ जुष्क ने जुष्कपुर तथा जयस्वामिपुर में बहुत से विहार बनवाये ॥१६९॥ वे तीनों तुरुष्क होते हुए भी बड़े पुण्यात्मा थे। उन्होंने शुष्कलादि क्षेत्र में मठ एवं चैत्यों का निर्माण किया ॥१७०॥

उस समय धन-धान्य परिपूर्ण उस काश्मीर देश में सन्यासाश्रम के तेज से जाज्वल्यमान बौद्धभिक्षुओं का बोलबाला था ॥१७१॥ उस वक्त शाक्यसिंह (भगवान् बुद्ध) के निर्वाण को डेढ़ सौ वर्ष बीत चुके थे ॥१७२॥ और इस देश में षंडङ् द्वन-निवासी नागार्जुन भी सर्वेश्वर और बोधिसत्व माना जाता था ॥१७३॥ उसके पश्चात् इन्द्र के समान तेजस्वी तथा निष्कंटक और निर्भय अभिमन्यु नामक राजा काश्मीर देश का शासन करने लगा कण्टकोत्स नामक अग्रहार ब्राह्मणों को दिया ॥१७४॥ ऐश्वर्य्य सम्पन्न उस राजा ने अपने नाम से अभिमन्युपुर बसाकर उसमें भगवान् शंकर का मन्दिर भी बनवाया ॥१७५॥ चन्द्राचार्य्य आदि महापण्डितों ने लुप्तप्राय व्याकरण महाभाष्य का उसकी आज्ञा से पुनः प्रचार किया और अपने नाम से भी चान्द्र व्याकरण की रचना की ॥१७६॥ बोधिसत्व नागार्जुन के द्वारा पालन किये गये बौद्ध उस देश में उस समय अत्यन्त प्रबल हो रहे थे ॥१७७॥ उन आगमद्वेषी बौद्धों ने शास्त्रार्थ के द्वारा बड़े बड़े वादियों को परास्त कर नील मत पुराण के सिद्धान्तों को उच्छिन्न कर डाला था ॥१७८॥ उस सदाचार शून्य देश में बलिदान पूजा आदि शास्त्रोक्त कर्मों के लुप्त होने से क्रुद्ध होकर नागों ने बर्फ बरसाते हुए प्रजा का संहार करना प्रारंभ

किया ॥१७६॥ तब वह राजा शीतकाल में छः महीने तक दर्वाभिसार प्रान्त में रहने लगा। वहाँ भी बड़े जोरों से बौद्धों का नाश हो रहा था ॥१८०॥

ऐसे समय भी बलिदान एवं होमादि धार्मिक कार्य्य करने वाले ब्राह्मणों को सत्कर्म के प्रभाव से थोड़ा भी त्रास नहीं होता था। केवल बौद्ध ही मरते थे ॥१८१॥ काश्यप गोत्री चन्द्रदेव नामक ब्राह्मण काश्मीर देश के रक्षक नील नामक नागराज को प्रसन्न करने के लिये तपश्चर्य्या करने लगा ॥१८२॥ तप से संतुष्ट होकर नीलनाग ने उसको प्रत्यक्ष दर्शन दिया और हिम के उपद्रव को शान्तकर नीलमत पुराणोक्त विधि का उपदेश दिया ॥१८३॥ पहले विद्वान चन्द्रदेव ने यक्षों का उपद्रव शान्त किया था और इस दूसरे चन्द्रदेव ने भी बौद्ध भिक्षुओं का उपद्रव शान्त किया ॥१८४॥ उसके बाद तृतीय गोनन्द काश्मीर का शासक हुआ। उसने पूर्ववत् नागपूजन, नागयज्ञ, नाग-यात्रा आदि उत्सव प्रारम्भ कर दिये ॥१८५॥ राजा के द्वारा नीलमत पुराणोक्त विधि के अनुसार धार्मिक कार्य्यों के प्रारम्भ करने से बौद्ध-दोष और हिम-दोष दोनों ही नष्ट हो गये ॥१८६॥ समय समय पर ऐसे पुण्यात्मा राजा उत्पन्न हो जाते हैं। जिनके प्रभाव से प्रजा के कष्ट नष्ट हो जाते हैं ॥१८७॥ जो राजा प्रजा को कष्ट देते हैं वे परिवार सहित नष्ट हो जाते हैं। और जो बिगड़े हुए राष्ट्र में सुख-शान्ति-स्थापना करते हैं उनकी कई पीढ़ियों तक राज-लक्ष्मी स्थिर रहती है ॥१८८॥ इस प्रकार काश्मीर के प्राचीन राजाओं के वृत्तान्त से उनकी विशे-

षता को समझकर भावी राजाओं के सद्सद्भाग्य का निर्णय विद्वानों को कर लेना चाहिये। नवीन सभ्यता के प्रचार से देश का उद्धार करने वाले उस राजा गोनन्द के वंशज प्रवरसेन आदि राजाओं ने अपने सत्कर्मों के प्रभाव से बसुन्धरा के ऐश्वर्य्य का चिरकाल तक उपभोग किया ॥१८९-१९०॥

रघुवंशियों में रघु के समान गोनन्द वंशियों में सर्व प्रथम उस प्रतापशाली राजा ने पैंतीस वर्ष तक पृथ्वी का पालन किया ॥१९१॥ उसके बाद उसके पुत्र विभीषण ने तिरपन वष और छः महीने तक काश्मीर देश का शासन किया ॥१९२॥ उसके बाद उसके पुत्र इन्द्रजीत ने पैंतीस वर्ष तक राज्य किया। उसके पुत्र रावण ने सैंतीस वर्ष तक पृथ्वी का उपभोग किया ॥१९३॥ राजा रावण वटेश्वर नामक शिवलिंग की नित्य पूजा करता था, उस लिंग की रेखा तथा बिन्दुओं की कान्ति से भावी शुभाशुभ का ज्ञान होता था ॥१९४॥ राजा ने उस शिवलिंग को चतुःशाल मठ के अन्दर स्थापित कर सम्पूर्ण काश्मीर-राज्य उसे समर्पण कर दिया ॥१९५॥ सुदृढ़ भुजाओं वाला उसका पुत्र द्वितीय विभीषण पृथ्वी का पालन करने लगा। उसने ३५ वर्ष ६ महीने तक राज्य किया ॥१९६॥ उसके बाद उसका पुत्र किंनर काश्मीर देश का शासक हुआ। युद्ध में किये हुए उसके अद्भुत पराक्रम किन्नरों के द्वारा गान किये जाते थे ॥१९७॥ पहिले अत्यन्त सदाचारी होने पर भी वह राजा प्रजा के दुर्भाग्य से विषय लम्पट होकर अनेक अनर्थ करने लगा ॥१९८॥ किन्नरपुर के बिहार में रहने वाले एक श्रमणक

(बौद्ध भिक्षु) ने जादू से उसकी स्त्री को हर लिया था ॥१९९॥ अतः उसने क्रुद्ध होकर सैकड़ों विहार जला दिये, और उन विहारों को दिये हुए गाँव भी छीन लिये ॥२००॥

उसने दिग्विजय कर एकत्रित किये हुए धन से बड़ी बड़ी सड़कों से सुसज्जित एवं अनेक उद्यानों से भूषित एक नवीन नगर वितस्ता नदी के किनारे पर बसाया ॥२०१-२०२॥ उस नगर के किसी एक उद्यान में स्वच्छ जलपूर्ण एक सरोवर था। उसमें सुश्रवा नामक नाग रहता था ॥२०३॥ किसी दिन उस बगीचे में दोपहर के समय भ्रमण के कारण थका हुआ विशाखा नामक कोई तरुण ब्राह्मण सघन छाया में बैठने की इच्छा से सरोवर के तीर पर आकर बैठ गया ॥२०४॥ सघन वृक्ष की छाया में बैठने से उसका श्रम दूर हो गया। पश्चात् उसने हाथ मुँह धोकर सत्तू खाना प्रारम्भ किया ॥२०५॥ ज्यों ही उसने सत्तू के ग्रास से युक्त हाथ को अपने मुँह की ओर बढ़ाया त्योंहीं नीर-वासी हंस-द्वारा श्रुतपूर्व सुमधुर नूपुरों की ध्वनि उसके कर्णागोचर हुई ॥२०६॥ बाद में उसने समीप के लताकुञ्ज से निकलती हुई नील वस्त्रों से सुसज्जित सुन्दर नेत्रों से सर्वत्र देखती हुई दो अत्यन्त सुन्दर नाग कन्याएँ देखीं ॥२०७॥ कज्जल की रेखा से उनके नेत्र बड़े ही सुन्दर दिखते थे। कर्णापाश में शोभा देते हुए माणिक्यजटित आभूषण रूपी कमलों को नेत्रनिर्गत कटाक्ष मृणालनाल की शोभा से संयुक्त करते थे ॥२०८॥ मन्द मन्द पवन से हिलते हुए नेत्रांचल उनके स्कन्ध पर पताका की शोभा बढ़ाते थे ॥२०९॥ उन सुन्द-

रियों को देखकर वह तरुण ब्राह्मण मोहित हो गया और उसने भोजन करना छोड़ दिया ॥२१०॥

वे नाग कन्याएँ कच्छगुच्छ अर्थात् तृणधान्य की मंजरियाँ खाने लगीं। यह देख ब्राह्मण के मन में आश्चर्य उत्पन्न हुआ और वह मन में कहने लगा ॥२११॥ अहो इस अप्रतिम सौन्दर्य के लिये यह दरिद्र भोजन ? कहा—धिक ! बड़ी आश्चर्यजनक घटना है। पश्चात् उसने उन्हें बुलाकर थोड़ा सा सत्तू खाने को दिया ॥२१२॥ और पत्तों का द्रोण बनाकर उसमें निर्मल जल भरकर उन्हें पिलाया ॥२१३॥ पश्चात् कमल के पत्तों से उनको हवा करता हुआ बोला ।२१४॥ पूर्वजन्मों के सुकृत से आपके दर्शन को पानेवाला यह दास ब्राह्मणसुलभ चाञ्चल्य से प्रेरित होकर कुछ पूछना चाहता है ॥२१५॥ आपने अपने पवित्र जन्म से कौनसी जाति को अलंकृत किया है ? और ऐसी दरिद्र वस्तु खाने का क्या कारण है ? ॥२१६॥ ब्राह्मण के प्रश्नों को सुनकर उनमें से एक ने कहा कि हम सुश्रुवा नाग की कन्याएँ हैं। यदि अच्छा भोजन न मिले तो क्या ऐसा भी न खाया जाय ? ॥२१७॥ मेरा नाम इरावती है मुझे पिताजी ने विद्याधर चक्रवर्ती को देने का निश्चय किया है और इस मेरी बहिन का नाम चन्द्रलेखा है ॥२१८॥ फिर ब्राह्मण ने पूछा कि तुम लोग इतने गरीब क्यों हो ? नाग कन्या बोली—"इसका कारण हमारे पिता जानते हैं। आप उन्हीं से पूछिये। वे आपको बतलावेंगे ॥२१९॥ वे ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी को तक्षक नाग की यात्रा में यहाँ आवेंगे। उनके मस्तक में से सर्वदा जल-

धारा बहा करती है। इससे तुम उन्हें पहिचान सकोगे ॥२२०॥ और हमें भी उनके पास बैठी हुई देखोगे। ऐसा कहकर वे नाग कन्याएँ अदृश्य हो गईं ॥२२१॥

कुछ दिन के बाद नट चारण गायक आदि मनोरंजक पुरुषों से व्याप्त एवं प्रेक्षकों की भीड़ से परिपूर्ण तक्षक नाग का यात्रोत्सव प्रारम्भ हुआ ॥२२२॥ अतिशय कुतूहलाकृष्ट वह तरुण ब्राह्मण भी उस यात्रोत्सव में घूमता हुआ नाग-कन्याओं द्वारा कहे हुए अभिज्ञान से सुश्रवा नाग के परिचय को पाकर उसके पास आया ॥२२३॥ पास खड़ी हुई कन्याओं द्वारा ब्राह्मण के वृत्तान्त को जानकर नागराज ने भी अत्यन्त आदरपूर्वक उसका स्वागत किया ॥२२४॥ उसके पश्चात् वार्ता प्रसंग में ब्राह्मण ने उस नाग से आपत्ति का कारण पूछा—तब नाग ने दीर्घ निश्वास लेकर अपना वृतान्त कहना प्रारम्भ किया ॥२२५॥ वह बोला हे ब्राह्मण! भलाई-बुराई को सोचने वाले स्वाभिमानी पुरुषों के अनिवार्य्य दुःख किसी के भी सम्मुख प्रकट नहीं होते ॥२२६॥ दूसरों के दुःख को सुनकर सज्जन पुरुष उपकार में असमर्थ होने के कारण अतिशय हार्दिक कष्ट का अनुभव करते हैं ॥२२७॥ साधारण पुरुष उन दुखियों की करुण कथा को सुनकर अपने को उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझने लगते हैं। दया का प्रदर्शन करते हुए भी उनके क्लेश को बढ़ाने लगते हैं। उनकी निन्दा करते हैं और दुःख निवृत्ति के लिये उन्हें कुत्सित कार्यों में प्रवृत्त करते हैं। अथवा आपत्ति की स्थिरता दिखलाकर उनके क्लेश को द्विगुणित कर

देते हैं ॥२२८॥ अतएव विचारशील पुरुषों के दुःख यावज्जन्म हृदय में गुप्त रहकर अन्त में चिन्ता की आग में जल जाते हैं ॥२२९॥ गम्भीर प्रकृति के पुरुषों की आपत्तियों को कौन जान सकता है ? यदि छोटा बालक अथवा मूर्ख सेवक प्रकट न करे ॥२३०॥

इन कन्याओं के बाल-सुलभ सरल-स्वभाव से आप मेरी स्थिति को जान चुके हैं। अतः हे साधो ! मैं भी आपसे कुछ गुप्त नहीं रख सकता ॥२३१॥ हमारे हित के लिये आपसे कुछ प्रयत्न हो सकता हो तो परोपकार की दृष्टि से आप जैसे सरल-स्वभाव पुरुष को अवश्यमेव करना चाहिये ॥२३२॥ उस वृक्ष के नीचे तपस्वी के समान यह जो जटाधारी बैठा है इसी ने हमको अत्यन्त दुःखित कर रखा है ॥२३३॥ जब तक मान्त्रिक नया अन्न नहीं खाते तब तक नाग भी नवीन अन्न को नहीं खा सकते हैं। इसी कारण से हम दुःखी हैं ॥२३४॥ जैसे प्रेत नदी के स्वच्छ जल को देखकर भी मनुष्य उसे नहीं पी सकता, वैसे ही इसे खेत की रक्षा करता हुआ देखकर हम नवीन अन्न से पूर्ण खेतों को सम्मुख देखकर भी अन्न भक्षण करने में सर्वथा असमर्थ हैं ॥२३५॥ इसलिये ऐसा कोई उपाय कीजिये जिससे यह व्रती अपनी मर्य्यादा से भ्रष्ट हो। महात्मन् ! हम उपकार के उपलक्ष्य में योग्य प्रत्युपकार करना अच्छी तरह जानते हैं ॥२३६॥ "तथास्तु" ऐसा कहकर वह ब्राह्मण भी उस मांत्रिक को व्रत-मर्यादा से गिराने के लिये योग्य अवसर देखने लगा ॥२३७॥

किसी समय उस ब्राह्मण ने अवसर पाकर खेत के अन्दर रहने वाले उस मांत्रिक के अन्न पकाने के पात्र में गुप्त रीति से नवीन अन्न डाल दिया ॥२३८॥ उसके नवान्न भक्षण करने से व्रत भंग हुआ देखकर नागराज ने हिम (वर्फ) वृष्टि द्वारा उसके खेत का सब अन्न नष्ट कर दिया ॥२३९॥ दारिद्र्य-मुक्त वह नागराज ब्राह्मण के उपकार से सन्तुष्ट होकर उसे सरोवर मार्ग से अपने घर ले गया ॥२४०॥

वहाँ पिता की आज्ञा से वे दोनों नाग-कन्यायें अत्यन्त आदर-पूर्वक दिव्य उपभोगों से उस ब्राह्मण को प्रतिदिन सन्तुष्ट करती थीं ॥२२१॥ कुछ समय के बाद उस ब्राह्मण को अपने घर जाने की इच्छा हुई। जाते समय नाग ने उससे वरदान माँगने के लिये कहा—तब ब्राह्मण ने उससे उसकी कन्या चन्द्रलेखा के लिये प्रार्थना की ॥२४२॥ उसके साथ कन्या के सम्बन्ध को सर्वथा अयोग्य समझकर भी उसके उपकार को स्मरण करते हुए नाग-राज ने उसे अपनी कन्या दे दी। और साथ ही बहुत सा धन भी दिया ॥२४३॥ फिर वह ब्राह्मण नरपुर में आकर नाग की कृपा से अनेक प्रकार के सुख भोगने लगा ॥२४४॥ वह नाग-कन्या अत्यन्त रूपवती तथा सुशीला थी। उसने अपने सदा-चरणों से पति को अत्यन्त सन्तुष्ट किया ॥२४५॥ किसी समय वह भवन की अट्टालिका पर खड़ी थी। इतने ही में धूप में सूखते हुए अन्न को एक अश्व आकर खाने लगा ॥२४६॥ मकान में नौकरों की अनुपस्थिति के कारण उसने स्वयं उसे हटाने के

लिये प्रयाण किया ॥२४७॥ गिरते हुए उत्तरीय वस्त्र को एक हाथ से सँभालकर उस नाग-कन्या ने जल्दी से दौड़कर उस घोड़े के पृष्ठ-देश पर दूसरे हाथ से प्रहार किया ॥२४७॥ धान्य को छोड़कर भागते हुये अश्व की पीठ पर नाग-कन्या के हस्त का स्पर्श होते ही सुवर्णमय हस्त-चिह्न अंकित हो गया ॥२४९॥ उन्हीं दिनों में वहाँ के राजा नर ने भी अपने गुप्तचरों के द्वारा उस नाग-कन्या के सौन्दर्य्य की प्रशंसा सुनी थी। इससे राजा के हृदय में काम अंकुरित हो रहा था ॥२५०॥

लोकापवाद-जन्य भय-रूपी अंकुश निर्भय होकर भागते हुए उस राजा के अन्तःकरणरूपी मत्तगज पर अपना अधिकार नहीं जमा सकता था ॥२५१॥ राजा के हृदय में धधकती हुई कामाग्नि को दूनी करने के लिये वह अश्व-वृतान्त पवन के समान सहायक हुआ ॥२५२॥ सुन्दर अँगुलियों से सुशोभित उस स्वर्णमय हस्त चिह्न ने राजा को चन्द्रोदय-क्षुब्ध समुद्र के समान मर्य्यादा से बाहर कर दिया ॥२५३॥ वह राजा लज्जारूपी जंजीर को तोड़कर इंगितज्ञ दूतों द्वारा नाग-कन्या को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये अनेक प्रयत्न करता हुआ उसे अत्यन्त त्रास देने लगा ॥२५४॥ अपने किये गये अनेक उपायों को निष्फल होते देख उस राजाने लज्जा को तिलाञ्जलि देकर उसके पति के सम्मुख अपना मनोरथ प्रकट किया; क्योंकि कामान्धों को लज्जा नहीं हुआ करती ॥२५५॥ ब्राह्मण ने उसे बुरी तरह फटकारा। तब राजा ने क्रुध होकर बलात्कार करने की इच्छा से अपनी सेना द्वारा उसके घर को चारों

ओर से घेर लिया ॥२५६॥ सेना के द्वारा अपने घर को घिरा हुआ देखकर वह ब्राह्मण किसी दूसरे रास्ते से निकलकर नाग के पास अपनी रक्षा की इच्छा से गया ॥२५७॥ सपत्नीक ब्राह्मण को आता हुआ देखकर और उससे सब वृत्तान्त सुनकर नागराज क्रुद्ध होकर सरोवर से बाहर निकला ॥२५८॥ मेघ-गर्जन के समान फूत्कार छोड़ते हुए उसने बर्फ के बड़े-बड़े पत्थरों को बरसाकर राजा-समेत उस नगर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया ॥२५९॥ ध्वस्त प्राणिवर्ग के शरीर से निकले हुए रक्त,मज्जा, वसा तथा मांसादि के संमिश्रण से बहती हुई वह वितस्ता नदी बड़ी विचित्र दिखाई देने लगी। उसके जल में मयूर-पिच्छ के समान रंग दिखाई देने लगे ॥२६०॥

अपने प्राणों की रक्षा के लिये भगवान् चक्रधर के मन्दिर में घुसे हुए हजारों मनुष्य अन्दर ही दबकर मर गये ॥२६१॥ जैसे सृष्टि के आरम्भ में भगवान् चक्रधर विष्णु की जंघाएँ मधु और कैटभ दैत्य के रक्त से लिप्त हुई थी, वैसे ही अर्ध-नष्ट मृतकों के रक्त, मज्जा, मांस आदि से भगवान् चक्रधर की सम्पूर्ण मूर्ति लिप्त हो गयी ॥२६२॥ उस नाग की बहिन रमण्या नामक नागिनी भाई की सहायता करने के लिये पत्थरों के समूह को लेकर पर्वत-गुहा से बाहर निकली ॥२६३॥ मार्ग में ही उसे अपने भाई की विजय मालूम हो गयी। एक योजन रास्ता बाकी रह गया था तब उसने वहाँ पत्थर बरसा कर कई ग्राम नष्ट कर दिये ॥२६४॥ इससे पाँच योजन तक का प्रदेश पाषाणमय हो गया। आज भी उस

प्रदेश का नाम 'रमण्याटवी' कहलाता है ॥२६५॥ उस घोर कृत्य से तथा लोकापवाद से उद्विग्न होकर वह नाग वहाँ से चला गया ॥२६६॥ उसने वहाँ से बहुत दूर जाकर एक सुन्दर पर्वत पर रहने के लिये क्षीरसागर के समान एक भव्य सरोवर बनाया। वह सरोवर आज भी अमरेश्वर की राह में मौजूद है ॥२६७॥ श्वसुर की कृपा से नागत्व को प्राप्त हुए उस ब्राह्मण का निवास-स्थान भी जामातुर-सरोवर के नाम से उसी सरोवर के पास विद्यमान है ॥२६८॥ प्रजा के पालन के मिस से निश्शंक होकर प्रजा को कष्ट देनेवाले राजाओं का नाश करने के लिये अकस्मात् ऐसे ही कारण उपस्थित हुआ करते हैं ॥२६९॥ आज भी उस नष्ट नगर को और चक्रधर मन्दिर के समीप उस सरोवर को देखते ही प्रेक्षकों के हृदय में इस वृत्तान्त का स्मरण हो आता है ॥२७०॥

"राजा का उस ब्राह्मण-पत्नी पर अनुराग होना कोई बड़ी बात नहीं थी। ऐसे अत्यल्प कारण से सम्पूर्ण नगर का नाश कर दिया गया; इतने छोटे अपराध का इतना अधिक दण्ड कहीं भी नहीं देखा गया है"—इस प्रकार बहुत से संकुचित बुद्धिवाले मनुष्य कहते हैं ॥२७१॥ वस्तुतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि पतिव्रता स्त्री और देवता तथा तपस्वी ब्राह्मण के क्रोध से त्रैलोक्य का भी विप्लव हो सकता है ॥२७२॥ इस राजा ने उनचालीस वर्ष तथा नौ मास तक राज्य किया और अपने दुष्कृत्य से उसका इस प्रकार अन्त हुआ ॥२७३॥ अनेक अटारियों से एवं प्राकारों से सुसज्जित वह नरपुर गन्धर्व-नगर के समान देखते-देखते नष्ट हो

गया ॥२७४॥ ऐसे भयंकर अनर्थ के समय में भी उस राजा का एक पुत्र अपनी उपमाता के साथ भाग्यवशात् विजयेश्वर को यात्रा के लिये विजयक्षेत्र गया हुआ था। अतः वह जीवित रहा ॥२७५॥ उसका नाम सिद्ध था वही राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसने दावानल-दग्ध भूमि में नववृष्टि-जन्य अंकुरों के समान नगर तथा प्रजा का पुनरुज्जीवन किया ॥२७६॥ वह बुद्धिशाली राजा पिता के विचित्र वृत्तान्त को सुनकर संसार की निस्सारता से पूर्ण परिचित हो गया ॥२७७॥ संसार में रहकर सुख-भोग करता हुआ भी वह राजा प्रतिमागत चन्द्र के समान विषय-पंक से सर्वथा निर्लिप्त रहता था ॥२७८॥ प्रायः नरेश अपने पराक्रम के उन्माद से सर्वदा उन्मत्त रहते हैं। परन्तु वह राजा शान्तचित्त होकर भगवान् चन्द्रशेखर के ध्यान में सर्वदा मग्न रहा करता था ॥२७९॥ रत्नों को तृण के समान देते हुए उस गुणवान् राजा ने भगवान् शंकर के नित्य पूजन को अपना अमूल्य तथा अखंड आभूषण समझा ॥२८०॥

उसी राजा की राज्यलक्ष्मी उसके साथ परलोक भी गयी। क्योंकि उस चतुर ने उसे धर्म से युक्त कर दी थी ॥२८१॥ उसने साठ वर्ष तक निष्कंटक राज्य किया। पश्चात् वह कतिपय सेवकों सहित सदेह कैलास को गया ॥२८२॥ उसके बाद एक ही समय में उसके सेवकों ने तीव्र शोक का तथा उसके पुत्र ने राज्य का ग्रहण किया ॥२८३॥ भली अथवा बुरी तरह स्वामी के साथ बर्ताव करनेवाले सेवक अपने को इस लोक तथा परलोक में वन्दनीय अथवा निन्दनीय बना सकते हैं। जैसे घास की रस्सी घट के

संयोग से कूप में नीचे गिरती है और पुष्पों के आश्रय से देवताओं के मस्तक पर चढ़ती है ॥२८४॥ "सिद्धश्रेष्ठ वह राजा सिद्ध सदेह स्वर्ग को आ रहा है" इस प्रकार जयघोष करते हुए देवताओं ने हर्ष से वाद्य बजाकर सात दिनतक बड़ा उत्सव मनाया ॥२८५॥ पश्चात् कमल के समान सुन्दर नेत्रवाला उसका पुत्र उत्पलाक्ष राज करने लगा। उसने तीस वर्ष और छः महीने तक राज्य किया ॥२८६॥ उसका पुत्र हिरण्याक्ष पिता के बाद राज्याधिकारी हुआ। उसने अपने शासनकाल में अपने नाम से हिरण्याक्ष नगर बसाया और सैंतीस वर्ष ७ महीने तक पृथ्वी का राज्य किया ॥२८७॥ उसके स्वर्गवास के बाद उसके पुत्र और पौत्र हिरण्यकुल और वसुकुल ने क्रमशः साठ-साठ वर्ष तक पृथ्वी का शासन किया ॥२८८॥ पश्चात् वसुकुल का पुत्र राजा मिहिरकुल राज्य-सिंहासन पर बैठा। वह यमराज के समान प्रखर प्रतापी तथा दुष्टस्वभाव था ॥२८९॥ उसके शासन-काल में म्लेच्छ गण से उत्तर दिशा व्याकुल हो गई थी। म्लेच्छ-कुल-रूपी धूम से कलुषिता उत्तर दिशा यमपालित दक्षिण दिशा के समान भयङ्कर हो रही थी ॥२९०॥

उसके सैनिकों द्वारा मारे गये शत्रुओं के मृत शरीरों से झपटकर उत्कंठापूर्वक मांस को खाते हुए तथा उड़ते हुए काक गृध्रादि पक्षियों को देखकर लोग उसे अपने नगर के समीप आया हुआ समझते थे ॥२९१॥ रात-दिन मरे हुए हजारों मनुष्यों से वेष्टित वह राजा अन्तःपुर में भी वैताल के समान भयङ्कर

दीखता था। (अर्थात् अन्तःपुर के विलास-भवन में भी वैताल के समान उसका संहार-कार्य्य निरन्तर बड़े वेग से चालू रहता था) ॥२९२॥ उस दुष्ट के निर्दय हृदय में बालकों के लिये दया, स्त्रियों के विषय में घृणा तथा वृद्धों के प्रति गौरव अणु-मात्र भी नहीं था ॥२९३॥ किसी दिन उसने अपनी पत्नी को सिंहल द्वीप में बने हुए सुवर्णपद-चिह्नित वस्त्र की कंचुकी पहिने हुए देखा। उसे देखकर वह क्रुद्ध हो गया ॥२८९॥ और उसने सुवर्णपद-चिह्न के विषय में जाँच की, तब उससे उसके द्वारपाल ने कहा—कि सिंहल द्वीप के राजा के चरण के चिह्न से युक्त यह वस्त्र बना है। कंचुकी के वचन को सुनकर अपना घोर अपमान समझते हुए उसने बड़ी भारी सेना लेकर सिंहल नरेश से युद्ध करने को प्रस्थान कर दिया ॥२९५॥ उसकी सेना के सहस्रशः मदोन्मत्त हाथियों के कपोलों से बहते हुए मद से बढ़ा हुआ समुद्र यमुना के आलिङ्गन-सुख को प्राप्त हुआ सा दिखलाई देने लगा ॥२९६॥ उस प्रभावशाली राजा ने सिंहलेश्वर को राज्य से और क्रोध को अपने हृदय से उखाड़कर फेंक दिया ॥२९७॥ उसकी सेना को लंका के उच्च भवनों पर चढ़कर देखते हुए राक्षस रामचन्द्र के फिर से आक्रमण की शंका से काँप उठे ॥२९८॥ उसने सिंहल द्वीप के राज्य पर दूसरे राजा को बैठाकर वहाँ से सूर्य्य-प्रतिमा-युक्त यमुष देव नामक उत्तम वस्त्र ले लिया ॥२९९॥ वापस आते हुए चोल करनाट, लाट आदि देशों के राजाओं को परास्तकर राज्यच्युत कर दिये ॥३००॥

इसके जाने के बाद उन राजधानियों के अर्धभग्न प्रासाद एवं नष्टभ्रष्ट गृहश्रेणि ने अपने राजाओं को उनके पराभव का संदेश दिया ॥३०१॥ काश्मीर के प्रवेश द्वार पर आकर वहाँ की ऊँची घाटी से फिसल कर चिंघाड़ते हुए एक हाथी के आर्तनाद को सुनकर वह दुष्ट राजा मिहिरकुल हर्ष से रोमाञ्चित हो गया ॥३०२॥ और उस शब्द को सुनने की उसके हृदय में अत्यंत प्रबल उत्कंठा जागृत हो गई, इसलिये उस ने उस घाटी पर से क्रमशः सौ हाथी और गिरवा दिये ॥ ३०३ ॥ जैसे पापियों के स्पर्श से शरीर अपवित्र होता है, वैसे ही उनके कुकृत्यों के वर्णन से वाणी भी दूषित होती है, इसी लिये हमने उसके बहुत से कठोर कृत्यों का उल्लेख नहीं किया ॥३०४॥ यथेष्ट अत्याचार करनेवाले क्षुद्र पुरुषों के विचित्र कृत्यों का कौन अनुमान कर सकता है। क्योंकि उसने भी पुण्यसंचय के लिये बहुत से धार्मिक कार्य किये थे ॥३०५॥ उस दुष्ट ने श्रीनगर में मिहिरेश्वर नामक शंकर की स्थापना की, और होलडा-प्रांत में मिहिरपुर नामक नगर बसाया ॥ ३०६ ॥ उसी के समान शील गान्धार कुलोत्पन्न ब्राह्मणाधमों ने उसके दिये हुए अग्रहार ग्रहण किये ॥३०७॥ अन्धकार से युक्त वर्षाकाल सर्प को आनन्दप्रद होता है; और निर्मल शरत्काल हंस को सुख देता है, वैसे ही दाता और प्रतिग्रहीता का सम्बन्ध समान-शीलता के अधीन है ॥३०८॥ उस महाभयंकर राक्षस ने ७० वष पर्यन्त प्रथ्वी पर शासन कर सांघातिक रोग से पीड़ित होकर अपने शरीर को अग्नि में जला दिया ॥ ३०९ ॥ उसके देह-त्याग के समय "अपनी देह पर

भी दया नहीं करनेवाला तीन करोड़ प्राणियों का घातक यह मिहिर-कुल मुक्त हो गया"—इस प्रकार आकाशवाणी हुई ॥३१०॥

इस प्रकार से कहने वालों के मत से यही सिद्ध होता है कि अग्रहारादि दानों का आचरण करके उसने अपने पापों को नष्ट कर दिया था ॥३११॥ अपवित्र कार्य करनेवाले दारद, भौट्ट आदि उनको मारकर पवित्र आचार स्थापन किया ॥३१२॥ आर्य लोगों की स्थिति को सुदृढ़ करके दारुण तपश्चर्या द्वारा उसने पापों का प्रायश्चित किया और अपने शरीर तक को भस्म कर डाला ॥३१३॥ इसीलिये उसने १००० एक हजार अग्रहार गान्धार देश के ब्राह्मणों को दिये। यह दान जयेश्वर नामक तीर्थ में किया गया था ॥३१४॥ पश्चात् उसने छुरा, तलवार आदि अनेक शस्त्रों से युक्त अग्नि-तप्त लोह-फलक (लोहे के तख्ते) पर अपनी देह को रखकर जला दिया। अतः यह नरश्रेष्ठ क्रूर होने पर भी निन्दनीय नहीं हो सकता। इस प्रकार का कथन इसके पक्ष-पातियों का है ॥३१५-३१६॥ भूरिश्रवा नाग के द्वारा जब नगर जला दिया गया था, तब वहाँ खश जाति के लोगों ने अपना अधिकार जमा लिया था। उनके नाश के लिये राजा ने ऐसी क्रूरता धारण की थी—ऐसा भी बहुत से इतिहासज्ञों का मत है ॥३१७॥ चन्द्रकुल्या नदी के प्रवाह को घुमाकर लाते हुए राजा मिहिरकुल के मार्ग में एक बड़ी शिला ने प्रस्तुत कार्य में विघ्न उपस्थित किया ॥३१८॥ अतिशय प्रयत्न करने पर भी जब वह शिला हटाई नहीं जा सकी, तब राजा सचिन्त होकर तप करने लगा। एक बार उसे स्वप्न

में विदित हुआ कि इस शिला पर अति प्रबल और ब्रह्मचारी एक यक्ष बैठा है ॥३१६॥ यदि कोई पतिव्रता स्त्री इसे स्पर्श करेगी, तो वह बाधक नहीं होगा। इस स्वप्नोक्ति के अनुसार राजा ने दूसरे दिन अनेक स्त्रियों से शिला का स्पर्श करवाया ॥३२०॥

जब अनेक स्त्रियों द्वारा शिला-स्पर्श किया जाने पर भी वह शिला किंचिन्मात्र भी विचलित नहीं हुई, तब चन्द्रवती नामक किसी एक कुम्भकार की स्त्री ने शिला का स्पर्श किया और उसके स्पर्श से वह महा-शिला चलायमान हो गई ॥३२१॥ इस अपराध से क्रुद्ध होकर राजा मिहिरकुल ने पति-पुत्र-बांधव सहित तीन करोड़ स्त्रियों को मारवा डाला ॥३२२॥ ऐसी भी किंवदन्ती प्रचलित है। वास्तव में तो किसी भी कारण से की गई भयङ्कर हिंसा सर्वथा निन्दनीय है ॥३२३॥ प्रजा ने एकत्रित होकर ऐसे कुकर्मी क्षुद्र राजा को प्राणदण्ड नहीं दिया, इसका कारण ऐसे दुष्कृत्यों के करने की प्रेरणा करने वाले देवताओं ने इसकी रक्षा की, यही हो सकता है ॥३२४॥ प्रजा के प्रबल पुण्य के उदय से जब दुष्ट मिहिरकुल काल-कवलित हुआ, तब वहाँ के नागरिकों ने उसके पुत्र सदाचार सम्पन्न बक को काश्मीराधीश बनाया ॥३२५॥ स्मशान भूमि में बने हुए भव्य भवन के समान उस राजा बक के सिंहासन के आगे भी प्रजा प्राचीन संस्कार के कारण थर-थर काँपती थी ॥३२६॥ भयङ्कर एवं सन्तापकारी पिता से उत्पन्न हुआ वह राजा बक मेघाच्छन्न वर्षाकाल-जनित जलवृष्टि के समान प्रजा को अतिशय सुख-प्रद हुआ ॥३२७॥

उसके शासन-काल में जनता धर्म को लोकान्तर से वापिस आया हुआ, और अभय को दीर्घ प्रवास से वापिस लौटा हुआ, समझने लगी ॥३२८॥ उसने बकश्वभ्र में बकेश्वर का मन्दिर बनवाया, और बकवती नामक नदी बनवाकर लवणोत्स नामक नगर बसाया ॥३२९॥ पृथ्वी पर शासन करते हुए उस राजा ने ६३ वर्ष और १३ दिन व्यतीत किये ॥३३०॥

एक दिन सायंकाल को भट्टा नामक एक योगिनी सुन्दर-रमणी वेष बनाकर राजा के सम्मुख उपस्थित हुई ॥३३१॥ उसने अपने मोहक एवं मादक मधुर वचनों से राजा को मुग्ध कर यज्ञ के उत्सव में सम्मिलित होने के लिये निमन्त्रित किया ॥३३२॥ और पुत्र-पौत्र समेत यज्ञ में आये हुये उस राजा को उस योगिनी ने मातृ-चक्र के सम्मुख बलिदान कर दिया ॥३३३॥ इस कर्म से उस योगिनी को आकाश-गमन की सिद्धि प्राप्त हुई। आज भी शिला पर उस योगिनी के जानु-चिह्न दिखाई देते हैं ॥३३४॥ खेरी मठ में शतकपालेश्वर नामक शंकर की प्रतिमा तथा मातृ-चक्र एवं योगिनी-जानु-मुद्रांकित उस शिला को देखने से वह प्राचीन वृत्तान्त आज भी स्मृति-गोचर हो जाता है ॥३३५॥ देवी की कृपा से उस वंश-वृक्ष का अंकुर राज-पुत्र क्षितीनन्द इस आपत्ति से बच गया था। उसने ३० वर्ष तक राज्य किया ॥३३६॥ पश्चात् उसका पुत्र वसुनन्द राज्य का शासक हुआ। उसने काम शास्त्र का प्रसिद्ध तथा विस्तृत ग्रन्थ लिखा। उसने ५२ वर्ष तथा २ मास तक शासन किया ॥३३७॥ बाद में राजा नर राज्याधि-

कारी हुआ। उसने ६० वर्ष तक राज्य किया। उसके पश्चात् उसका पुत्र अक्ष शासन करने लगा। उसने अक्षवाल नामक नगर बसाया और ६० वर्ष तक राज्य किया। उसके बाद उसका पुत्र गोपादित्य सिंहासनारूढ़ हुआ। उसका अधिकार सप्तद्वीपा बसुमती पर अक्षुण्ण था। उसके राज्यकाल में शास्त्रानुसार वर्णाश्रम धर्म के कार्य होते थे, इसलिये प्रजा की दृष्टि में वह समय सत्ययुग-सा प्रतीत होता था ॥३३८-३३९॥ उसने खोल, खागिक, हादिग्राम, स्कन्दपुर, शमांनसा आदि अनेक प्रसिद्ध ग्राम ब्राह्मणों को दिये ॥३४०॥

और गोपाद्रि पर श्रीज्येष्ठेश्वर की प्रतिमा स्थापित की, और आर्य देशीय ब्राह्मणों को गोप नामक अग्रहार दिये ॥३४१॥ उसने लशुन-भक्षकों को भूक्षीर-बाटिका नामक ग्राम में भेज दिया। और अभक्ष्यभक्षी एवं दुराचारी ब्राह्मणों को खासटा नामक ग्राम में भेजकर, आर्यावर्त से सदाचार-सम्पन्न तथा धार्मिक एवं विद्वान ब्राह्मणों को बुलाकर उन्हें वाश्रिका आदि अग्रहार रहने के लिये दिये ॥३४२-३४३॥ उसके विषय में लिखे गये प्रशस्ति-पत्रों में उसे भुननैकपालक कहा गया है। वह यज्ञादि धार्मिक कार्यों को छोड़ अन्य कार्यों में पशु-हिंसा नहीं करने देता था म्लेच्छों के संसर्ग से भ्रष्ट हुए देश को सुधारने के लिये राजा ने ६० वर्ष और ६ दिन तक बसुमती का पालन किया और उज्ज्वलतम पुण्य के प्रभाव से स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥३४४-३४५॥ उसके बाद उसका पुत्र गोकर्ण पृथ्वी पर शासन करने

लगा। उसने गोकर्णेश्वर की स्थापना की। उसने ५७ वर्ष और ११ मास तक राज्य किया ॥३४६॥ पश्चात् सूर्य तुल्य तेजस्वी उसका पुत्र राजा खिंखिलान्य काश्मीर का राज्याधिकारी हुआ। उसे नरेन्द्रादित्य भी लोग कहा करते थे। उसने भूतेश्वर का मन्दिर बनवाया। बहुत से अन्नक्षेत्र भी खोल दिये ॥३४७॥ देवी के अनुग्रह का पात्र एवं महान् प्रभावशाली उग्र राजा का गुरु था। उसने उग्रेश तथा मातृ-चक्र की स्थापना की ॥३४८॥ उसने ३६ वर्ष ३ मास तथा १० दिन तक पृथ्वी के ऐश्वर्य का उपभोग कर अन्त में पवित्र लोक प्राप्त किये ॥३४९॥ उसके पश्चात् युधिष्ठिर नामक उसका पुत्र शासक हुआ, और सूक्ष्मनेत्र होने के कारण उसकी अन्ध युधिष्ठिर नाम से ख्याति हुई। ३५०॥

उसने कुछ समय तक अपनी प्राचीन पद्धति के अनुसार परम्परा-प्राप्त राज्य का कार्य अच्छी तरह से किया ॥३५१॥ कुछ दिन बीतने के बाद दुर्भाग्यवशात् धन के उन्माद से राजा युधिष्ठिर कुमार्गगामी हो गया ॥३५२॥ उसने अनुग्राह्य जनों पर अनुग्रह करना त्याग दिया। वह बुद्धिमान् पुरुषों का संग्रह नहीं करता था। सेवकों का हृदय से भी उसके विषय का प्रेम हट गया ॥३५३॥ उसके यहाँ विश्व-विख्यात विद्वानों का मूर्खों के समान तिरस्कार होने लगा, इसी से विद्वानों ने उसे त्याग दिया ॥३५४॥ प्राणि-मात्र में समदर्शिता योगियों के लिये भूषण एवं गुण है; और यही बात राजाओं के लिये अपकीर्ति का प्रधान कारण है, महान् दोष है ॥३५५॥ गुणों को दोष एवं दोषों को गुण बतलाते हुए धूर्तों

के चंगुल में फँसकर वह प्रतिभा-शून्य हो गया और स्त्री-भक्त भी हो गया ॥३५६॥ वह मर्म स्पर्शी वचन कहता था, और चापलूस लोगों के साथ हास्य-विनोद करता था, इसलिए उसकी क्रीड़ाएँ भी राजा के लिए अयोग्य एवं भयोत्पादक होती थीं ॥३५७॥ वह प्रत्यक्ष में कपट से गुणों की प्रशंसा करने लगता था, और परोक्ष में निन्दा करने लगता था, इसी लिए उस राजा से सब सेवक द्वेष करने लगे थे ॥३५८॥ इस प्रकार असावधानता के कारण गिरते हुए उस राजा की राज्य-स्थिति उच्छृङ्खल हो गई ॥३५९॥ सज्जनों के द्वारा उपेक्षित उस चंचल राजा के राज्य पर उसके द्रोही मन्त्रियों ने बलिष्ठ बनकर अपना अधिकार कर लिया और वे उसके नाश का प्रयत्न करने लगा ॥३६०॥

उन्होंने समीपस्थ राजाओं को राज्य पर आक्रमण करने के लिए उत्साहित किया ॥३६१॥ और उन विरक्त सचिवों द्वारा उत्साहित किये गये वे राजा लोग भी बाज पक्षियों के समान राज्य-रूपी मांस को खाने के लिये झपट पड़े ॥३६२॥ जैसे यन्त्र से निकले हुए पत्थर को शिल्पकार पीछे नहीं घुमा सकता है वैसे ही वह राजा बिगड़ी हुई राज्य-स्थिति को नहीं सुधार सका ॥३६३॥ चिरकाल से बिगड़े हुए राज्य को सुधारने के लिये उस राजा को एक भी उपाय नहीं सूझा ॥३६४॥ राजा हमारे दोषों को अच्छी तरह से जानता है, अतः राज्य में स्थिर-शान्ति स्थापित होते ही हमें अवश्य दण्ड देगा—ऐसा सोचकर उसके मन्त्रियों ने राजा के सामयुक्त वचनों पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया ॥३६५॥ बाद

में शत्रुओं ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया, और चारों ओर से उसे घेर लिया। घबड़ाकर कोलाहल मचाते हुए लोगों की आवाज उनके रणवाद्य की प्रचण्ड ध्वनि से दब गई। बड़े बड़े हाथियों के ऊपर फहराती हुई ध्वजाओं से सूर्य का प्रकाश आच्छादित हो गया और कृष्ण पक्ष की रात्रि के सामान दिन में भी अन्धकार छा गया ॥३६६॥ शत्रुओं ने उस राजा को रण छोड़ कर पलायन करने की सुविधा दे दी। वह भाग्यहीन अन्ध युधिष्ठिर उस अवसर को पाकर राज-भवन तथा नगर छोड़कर भाग गया। अन्तःपुर में परदे में रहने वाली राज-रमणियों को धूल के अन्दर भागते देखकर दुःखित हृदय नागरिकों ने अश्रुविन्दुओं के मिस से लाजा वृष्टि की ॥३६७॥ राज्यच्युत वह अन्ध युधिष्ठिर भयङ्कर जंगलों में तथा पहाड़ों में फिरते-फिरते श्रान्त हो गया। उसके शत्रुओं ने उसका धन तथा कतिपय अन्तःपुरीय ललनाओं को मार्ग में ही छीन लिया। जैसे वृक्ष से गिरे हुए लता, पुष्प तथा फलों को गण्डशैल हर लेते हैं ॥३६८॥ वह भागते भागते थककर वृक्षों की छाया में विश्राम करता था, वहाँ कुछ उसे शान्ति मिलती थी। वहाँ भी क्षुद्र-स्वभाव पर्वतीय जनों के कोलाहल से व्याकुल होकर पर्वतीय नदियों के समान शोकरूपी गर्त में डूबने लगता था ॥३६९॥ उसकी पत्नियाँ नाना विध तृणधान्य एवं सुगन्धि द्रव्य से व्याप्त अरण्य भूमि तथा बड़ी-बड़ी शिलाओं से टकराकर रुकते हुए दुर्गम प्रवाह वाली वन नदियों का उल्लंघन करने से थककर मूर्छित हो गईं ॥३७०॥

सीमा पर्वत के तट से अपनी मातृ भूमि की ओर चिरकाल तक सस्नेह देखकर और श्रद्धापूर्वक पुष्पाञ्जलियाँ अर्पण कर जब राज-पत्नियाँ ठहर गईं, तब अपने-अपने घोंसलों में बैठे हुए पक्षियों ने भी अत्यन्त खेदपूर्वक अपने पंखों को फैलाकर और मस्तक नवाकर करुण क्रन्दन किया ॥३७१॥ मस्तक से स्रस्त (गलित) वस्त्र से स्तन युगल को आच्छादित कर, पीछे की ओर घूमकर दूर से अपने देश को देखती हुईं, हस्तकमल से मस्तक को स्पर्शकर रोती हुईं राज पत्नियों के आँसुओं से मार्ग में झरना बहने लगा ॥३७२॥ ऐसी विपन्न अवस्था में वह राजा पर-राष्ट्र में पहुँच गया; हाँ उसके दीन वचनों को सुनकर अत्यन्त सज्जन राजा एवं राजकर्मचारियों के हृदय में करुणा का स्रोत उमड़ आया, और वे निष्कपट प्रेम से उसका आदर-सत्कार कर राज्य-भ्रंश-जनित खेद को विस्मृत करने का प्रयत्न करने लगे ॥३८३॥

इस प्रकार ३८ राजाओं ने १००० एक सहस्र १४ चौदह वर्ष ९ नौ दिन राज्य किया।

इतिश्री काश्मीरिक महामात्य चम्पक प्रभु पुत्र
महाकवि श्रीकल्हण कृत राजतरंगिण्यां
प्रथमस्तरंगः समाप्तः।

द्वितीय तरंग

अज तथा गौ के शृङ्ग से निर्मित धनुष को धारण करने वाला और गणेश तथा गजचर्म से युक्त एवं अनेक वैचित्र्य-सम्भूषित तथा स्त्री एवं पुरुष भाग से विभक्त भगवान् शंकर का शरीर विजयी हो ॥१॥ पश्चात् उस अन्ध युधिष्ठिर ने वार्धक्य से और मुनिजनों के उपदेश से फिर से राज्य प्राप्त करने का उद्योग छोड़ दिया ॥२॥ उस परम-जितेन्द्रिय ने शब्द स्पर्श आदि पाचों विषयों को अपने चित्त से दूर कर दिया था ॥३॥ "वह अन्ध युधिष्ठिर पुनः राज्य की प्राप्ति के लिए इधर-उधर घूमता फिरता था। उस समय उसी के मन्त्रिमण्डल ने श्रीनगर की दुर्गा गलिका में उसे पकड़ कर बाँध लिया"—ऐसा भी कतिपय इतिहासज्ञों का कथन है ॥४॥ पश्चात् सचिव वर्ग ने विक्रमादित्य के सम्बन्धी प्रतापादित्य को देशान्तर से बुलवाकर वहाँ का शासक बनाया ॥५॥ "यह विक्रमादित्य तथा शकारि विक्रमादित्य दोनों एक ही हैं" ऐसा कतिपय भ्रान्त लेखकों का मत है ॥६॥ इस काश्मीर देश में पारस्परिक वैमनस्य राजा प्रतापादित्य के शासन-काल तक विद्यमान था। परन्तु वह वैमनस्य हर्ष आदि विदेशी राजाओं की अधीनता के कारण नष्ट हो गया। कुछ दिनों तक उनका यहाँ अधिकार रहा ॥७॥ यद्यपि यह राज्य राजा प्रतापादित्य का पारस्परिक राज्य नहीं था, तथापि, मनोज्ञपति नव-पाणिग्रहोता का जिस प्रकार प्रेम पूर्वक लालन करता है वैसे ही उसने भी पृथ्वी का पालन बड़ी

योग्यता से किया ॥८॥ ३२ वर्ष तक पृथ्वी का शासन कर राजा प्रतापादित्य के स्वर्गवास के बाद उसी का पुत्र राजा जलौक राज्य करने लगा ॥९॥ सूर्य से प्रभा को प्राप्त करने वाले चन्द्र के समान उसने भी अपने पिता से प्राप्त हुए राज्य का प्रजा का कल्याण करते हुए ३२ वर्ष तक पालन किया ॥१०॥

पश्चात् उसका पुत्र तुजीन भाग्यवती महारानी वाक्पुष्टा के सहित प्रजा को अपने सुशासन से सन्तुष्ट करने लगा ॥११॥ चन्द्र-कला तथा गंगा से शंकर का जटा-जूट शोभायुक्त होता है, वैसे ही राजा तुंजीन और देवी वाक्पुष्टा से सम्पूर्ण काश्मीर चमकता था ॥१२॥ जैसे विद्युत् और मेघ से विविधरंग-रंजित इन्द्र-धनुष धारण किया जाता है, वैसे ही राजा तथा राजपत्नी के द्वारा सम्पूर्ण काश्मीर-मण्डल का पोषण किया जाता था ॥१३॥ उन परम भाग्यशाली दम्पती ने भूमि को भूषित करने वाले तुङ्गेश्वर नामक शिव-मन्दिर का निर्माण करवाया और कतिका नामक नवीन नगर बसाया ॥१४॥ किसी समय में मार्तण्ड के प्रचण्ड किरणों से सन्तप्त मरुभूमि के समान शुष्क मंडव देश में बीज बोते ही उनके पुण्यप्रभाव से सद्यः फल लग गये थे ॥१५॥ महा-राजा तुञ्जीन के शासन समय में श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास मुनि का अंशावतार नाटक कर्ता चन्दक नामक महाकवि हुआ था ॥१६॥ किसी समय में उन दम्पति के पुण्यप्रभाव की परीक्षा करने के लिए प्रजा में अकस्मात् एक दुःसह दैवी आपत्ति उत्पन्न हो गई ॥१७॥ भाद्रपद मास में जब खेतों में शालिधान्य पक रहा था उस समय

में दैववशात् बहुत जोरों से बर्फ बरसने लगा ॥१८॥ विश्व-विनाशक काल के अट्टहास के समान उस भयंकर हिमवर्षा से प्रजा की जीवनाशा के साथ ही शालियाँ भी रसातल में चलीं गईं ॥१९॥ क्षुधा से पीड़ित होकर मरते हुए सहस्रशः प्रेतों से युक्त वह दुर्भिक्ष विप्लव का समय नरक के प्राकार के तुल्य दीखने लगा ॥२०॥

उस दुष्काल में क्षुधा-पीड़ित जन समूह उदरं भरिता का सहारा लेकर पत्नी-प्रेम, पुत्रवात्सल्य तथा पितृभक्ति को भूल गया था ॥२१॥ क्षुधा के कष्ट से लोक-लज्जा, स्वाभिमान तथा कुलीनता आदि सद्गुणों को भूलकर धनिकवर्ग केवल भोजन मिल जाने के अहंकार से ग्रस्त होकर मिथ्यागर्व दिखाने लगे ॥२२॥ भूख से घबड़ाते पुत्र को देखकर भी पितापुत्र की पर्वाह न कर अपना उदरपोषण करता था, और पुत्र भी क्षुधाग्रस्त पिता की ओर ध्यान न देकर अपना पेट भर लेता था ॥२३॥ प्रेतों के समान अस्थिमात्रावशिष्ट देहधारी रङ्क मनुष्यों का भोजन के लिए युद्ध होने लगा ॥२४॥ रूक्ष वचनों को कहते हुए क्षुधा-पीड़ित होकर चारों तरफ देखकर प्रत्येक प्राणी अपने-अपने पोषण की इच्छा करते थे ॥२५॥ उस अत्यन्त भयङ्कर दुष्काल के समय में उस परम दयालु राजा में ही दयार्द्रता दीखती थी ॥२६॥ उस राजा ने अपने द्वारपालों को ड्योढ़ी पर से हटा दिया, और रत्न-रूपी औषधि से युक्त दर्शन मात्र से दीनों के दारिद्र्य रोग का नाश कर दिया ॥२७॥ सपत्नीक राजा ने अपने कोश के धन से और मन्त्रियों की सम्पत्ति से अन्न खरीदकर दीन जनता का पालन करना प्रारंभ

किया ॥२८॥ उस राजा ने जंगलों में, स्मशानों में, गलियों में और बाजारों में घूमते हुए किसी भी भूखे मनुष्य की उपेक्षा नहीं की ॥२९॥ इस प्रकार दान करने से अन्त में उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति खर्च हो गई, और देश भर में अन्न का कण भी न रहा, उस समय दुःखित होकर राजा ने रात को अपनी पत्नी से कहा ॥३०॥

देवि ? हमारे किसी अज्ञात दुष्कृत से इन निरपराध प्राणियों पर ऐसी दुस्तर आपत्ति आई है ॥३१॥ मेरे-जैसे भाग्यहीन को धिक्कार है; जिसकी क्षुधित प्रजा किसी भी संरक्षक को न पाकर देखते-देखते मर रही है ॥३२॥ इस भयंकर दुष्ट समय में पारस्परिक बन्धु-भाव को त्याग कर अशरण इस दीन प्रजा को रक्षा करने में असमर्थ मेरे-जैसे मनुष्य के जीवन से क्या प्रयोजन है ॥३३॥ आज दिन तक मैंने यथाकथंचित् इस दीन प्रजा का पालन किया, इसी से आज तक इनमें से कोई भी दुःखी नहीं हुआ ॥३४॥ यह पृथ्वी काल की करालता से पीड़ित होकर निष्किंचन प्रभाव-शून्य और गौरवहीन हो गई है ॥३५॥ अब इस दारुण दुःखसागर में डूबी हुई इस प्रजा का उद्धार कौन से उपाय से हो सकेगा ॥३६॥ दुर्दिन से सूर्य नहीं दीखता। सर्वत्र अन्धेरा छा रहा है। सम्पूर्ण संसार चारों ओर से काल-रात्रियों से घिरा हुआ सा प्रतीत होता है ॥३७॥ हिम-समूह से पर्वतीय मार्गों के अवरोध के कारण यह दुःखित प्रजा पंजरबद्ध विहंगों के सामान अत्यन्त विवश हो गई है ॥३८॥ शूर-वीर, बुद्धिमान और विद्वान् सबके सब इस काल के दौरात्म्य से बुद्धिहीन तथा निष्प्रभ हो गये

हैं ॥३९॥ इस भूमण्डल में कौन-सी दिशा सुवर्ण-पुष्प की कलिकाओं से शून्य है। अथवा कौनसा प्रदेश सौजन्यामृतवर्षी धनिक जनों से अपूर्ण। अपनी योग्यता तथा सेवा से प्रसिद्धि पाने वाले ऐसे कौन मनुष्य हैं, जिन्हें अपनी उन्नति का मार्ग नहीं दीखता हो। परन्तु इस देश के सभी गुणवान् अपने दुर्दैव के चक्र में फँसकर प्रतिभाहीन हो गये हैं ॥४०॥

अब मैं निरुपाय हो गया हूँ, इसलिये अपनी देह को अग्नि में हवन करूँगा, क्योंकि मैं नष्ट होती हुई अपनी प्रजा को देख नहीं सकता ॥४१॥ वे नरेश धन्य हैं, जो अपनी सन्तान के समान आनन्द से सोई हुई प्रजा को देखकर सुख से रात में सोते हैं ॥४२॥ ऐसा कहकर करुणार्द्र हृदय उस राजा ने वस्त्र से अपने मुँह को ढँक लिया और शय्या पर सोकर पड़े पड़े रोने लगा ॥४३॥ निर्वात निश्चल उन्मुख दीपकों के द्वारा कौतुकपूर्वक देखी गई राजपत्नी उस राजा से कहने लगी ॥४४॥ राजन्, प्रजा के दुर्भाग्य से आपकी बुद्धि में यह विपर्यय (विपरीत विचार) कैसे उत्पन्न हो रहा है, जिससे आप धीर होकर भी अधीर पुरुष के समान विचार प्रकट करने लगते हैं ॥४५॥ यदि पीड़ितों की पीड़ा को दूर करने का उपाय बड़े लोग न करें, तो फिर बड़ों की बड़ाई भी क्या रहेगी ॥४६॥ सत्यसंध नरेन्द्रों की आज्ञा के सम्मुख इन्द्र, ब्रह्मा और बेचारा यम क्या चीज है ॥४७॥ पतिभक्ति ही स्त्रियों का असाधारण व्रत है, द्रोह को त्याग कर, प्रजा के व्यवहारों का विचार करना ही मन्त्रियों का व्रत है। अन्य कार्यों को छोड़

कर प्रेम सहित प्रजा का पालन करना राजा का परम कर्तव्य है ॥४८॥ हे महाव्रतिन्, उठिये। मेरा वचन क्या कभी असत्य हो सकता है। हे प्रजापालक! आपकी प्रजा को क्षुधाजन्य भय नहीं होगा ॥४९॥ इस प्रकार उस राजपत्नी वाक्पुष्टा ने देवताओं का स्मरण करके संरम्भ से जब ये वचन कहे तभी प्रत्येक घर में बहुत से मरे कबूतर आकाश से गिरे ॥५०॥

प्रातःकाल में राजा ने यह देखकर मरने का विचार त्याग दिया और प्रजा भी प्रतिदिन आकाश से गिरे हुए कबूतरों से अपनी क्षुधा शान्त करने लगी ॥५१॥ उस पतिव्रता ने अपने प्रभाव से किसी दूसरी वस्तु को प्रजा की रक्षा के लिए कबूतर बना दिया था। वे वास्तविक कबूतर नहीं थे ॥५२॥ क्योंकि बिना किसी स्वार्थ के प्राणि-मात्र पर दया करने वाले अहिंसा-प्रेमी महात्माओं को कदापि हिंसा का कलंक नहीं लगाना चाहिये ॥५३॥ उस देवी के पवित्र कृत्योंसे क्रमशः आकाश निर्मल होने लगा, और राजा के शोक के साथ ही दुर्भिक्ष भी शान्त हो गया ॥५४॥ उस निष्पाप पतिव्रता ने कतीमुष और रामुष नामक ऐश्वर्य-सपन्न दो अग्रहार ब्राह्मणोंको दिये ॥५५॥ ३६ वर्ष राज्य करने के पश्चात् जब उसके पतिका स्वर्गवास हो गया, तब उसने जाज्वल्यमान चिंतारूपी कमल-शय्या पर अपने विरहज्वर के ताप को शान्त किया ॥५६॥ पवित्र-चरित्रवती उस सती ने जिस स्थान पर पतिदेव की चिता में शरीर भस्म किया था, उस स्थान का परिचय आज तक "वाक्पुष्टाटवी" इस नाम से दिया जाता है ॥५७॥ उत्तमचरित्रा

वाक्पुष्टादेवी के द्वारा स्थापन किये अन्नक्षेत्रों में आज भी अनेक अनाथ आगन्तुक भोजन करते हैं ॥५८॥ उनके समान भाग्यशाली तथा उत्तम कार्य करने वाले दम्पती कहीं-कहीं उत्पन्न होते हैं, तो इनसे अधिक कार्य करने की शक्ति किसकी हो सकती है, इस प्रकार सोचकर सच्चे परीक्षक विधाता ने इनको निःसन्तान रखा ॥५९॥ ब्रह्मा सच्चा परीक्षक इसलिए कहा जाता है, कि उसने इक्षु को अत्यन्त मधुर जानकर फल नहीं दिये। उसे इस बात का पूर्ण ज्ञान था कि अमृत रस से भी श्रेष्ठ इस इक्षु की अपेक्षा अब कौन-सी श्रेष्ठ वस्तु हो सकती है ? ॥६०॥

कई इतिहासज्ञों का ऐसा मत है कि उस वाक्पुष्टादेवी ने "मेरे अज्ञातपातक से राज्य में दुर्भिक्ष आदि उपद्रव हुए हैं" ऐसा निश्चय कर अग्नि में प्रवेश किया था ॥६१॥ उसके बाद अन्यकुल में उत्पन्न हुए राजा विजय ने आठ वर्ष तक राज्यासन को अलंकृत किया। उसने विजयेश्वर का मन्दिर बनवाकर उसके चारों तरफ 'विजय नगर' नामक शहर बसाया ॥६२॥ पश्चात् उसका पुत्र राजा जयेन्द्र शासन करने लगा। वह राजा पृथु के समान प्रतापी तथा आजानुबाहु था ॥६३॥ स्थिरतर कीर्ति-परम्परारूपी पट से अलंकृत उसका भुजदण्ड जयश्री-रूपी पुत्तलिका का आधाररूप था ॥६४॥ परमनीतज्ञ, पवित्रचरित्र तथा अनन्य भक्त सन्धिमति नामक उसका मन्त्री था ॥६५॥ परन्तु मन्दोन्मत्त राजा तथा हाथियों के चञ्चल कर्णों को स्थिर करने का इस संसार भर में कोई उपाय नहीं है ॥६६॥ क्योंकि "यह मन्त्री अत्यन्त बुद्धिशाली है, इसलिए

आपको इससे डरते रहना चाहिये" ऐसी धूर्तों की वाणी को महत्व देकर राजा जयेन्द्र उस बुद्धिमान् मन्त्री से द्वेष करने लगा ॥६७॥ उसको राज-भवन में आने के लिए निषेध कर दिया गया, और उसका सवस्व छीन कर उसे जन्म भर के लिए दरिद्री बना दिया ॥६८॥ राज-रोषरूपी ग्रीष्म-ताप में सूखते हुए उस बेचारे मन्त्री को कोई भी राजभृत्य संतोष-प्रद वचन तक नहीं कहता था ॥६९॥ विचारशील राजा किसी की भी बात पर एकदम विश्वास नहीं करते, किन्तु गम्भीर विचार करने पर विश्वास करते हैं, और अविचारी राजा सिर्फ पर्वत के समान प्रतिध्वनि कर सकते हैं अथात् सेवकों की सभी बातें बिना सोचे सत्य मान लेते हैं ॥७०॥

निर्विघ्नता-पूर्वक भगवान् शंकर की भक्ति से प्रसन्न चित्त वह मन्त्री राजरोष तथा दारिद्र्य से किंचिन्मात्र भी व्यथित नहीं हुआ ॥७१॥ कुछ समय के बाद भावी प्रबलता से प्रत्येक देव-मन्दिर में "सन्धिमान को राज्य मिलेगा" ऐसी आकाश-वाणी होने लगी ॥७२॥ राजा ने आप्तजनों से आकाश-वाणी के वृत्त को सुनकर भय से उस मन्त्री को कारागार में बन्द कर दिया ॥७३॥ हथकड़ी-बेड़ी पहिनकर जेल में सड़ते हुए उसको दस वर्ष बीत गये, और राजा के जीवन का अन्त भी निकट आ गया ॥७४॥ वह मुमूर्षु राजा रोग-जनित वेदना से तथा उस मन्त्री की चिन्ता से अन्तःकरण में जलने लगा ॥७५॥ रात-दिन हृदय में जलती हुई विद्वेषाग्नि से संतप्त वह राजा मन्त्रिवध को ही भवितव्यता का प्रतिकार समझने लगा ॥७६॥ मूर्ख लोग भवितव्यता के रोकने का

जो उपाय करते हैं, वही उपाय भवितव्यता के लिए खुला द्वार बन जाता है ॥७७॥ बुझे हुए कोयलों के अन्दर किंचिन्मात्र चमकते हुए सूक्ष्मतर अग्निकण को यदि दैव बलात्कार से बढ़ाना चाहता हो तो उसको बुझाने का प्रयत्न करने वाले पुरुषों की दृष्टि में तप कर पिघला हुआ समीपस्थित घृतकुम्भ जलकुम्भ दीखने लगता है ॥७८॥ पश्चात् वधिकों ने रात में राजा की आज्ञा से सन्धिमान को सूली पर चढ़ाकर मार डाला ॥७९॥ उसको सूली देने की बात सुनकर राजा के हृदय से शोक-शङ्क तथा प्राण साथ ही निकल गये ॥८०॥

उसने ३७ वर्ष तक राज्य किया। उसको सन्तान न होने से कुछ समय तक वहाँ अराजकता का साम्राज्य बना रहा ॥८१॥ पश्चात् परम-प्रिय शिष्य संधिमति को मरा हुआ सुनकर उसके गुरु ईशान जितेन्द्रिय होने पर भी अत्यन्त दुःखी हुए ॥८२॥ यह संसार कोमल शिरीष पुष्प के समान सरलता से उच्छिन्न किया जा सकता है। केवल दयालुता ही वृन्त के समान इसकी रक्षा करती है ॥८३॥ अतः वह योगी ईशान अपने शिष्य सन्धिमति का अन्तिम संस्कार करने के लिए स्मशान में गया, क्योंकि सन्धिमति अत्यन्त विनयशील तथा अनाथ था ॥८४॥ ईशान ने उसके मृत देह को शूल से निकालने की इच्छा से देखा, शृगालों ने शव की बड़ी दुर्दशा की थी, शरीर की केवल हड्डियाँ बाकी रह गई थीं वह नरकंकाल सूली के अग्रभाग में अटका हुआ था ॥८५॥ उसके मस्तक में छिद्र द्वारा वायु प्रवेश के कारण शोक-क्रन्दन के समान

ध्वनि हो रही थी ॥८६॥ उसे देखकर "हा वत्स ! तुम्हारी इस अवस्था को देखने के लिए ही मैं जी रहा हूँ" इस प्रकार वह विलाप करने लगा। पश्चात् उसने उसके मृत देह को सूली से निकाला, और वहाँ से जाने लगा ॥८७॥ धूलिधूसरित शव केशों से वेष्टित चरण वह योगी भौंकते हुए कुत्तों को हटाकर उस नर कंकाल को लेकर जाने लगा ॥८८॥ उसका शास्त्रोचित अन्तिम संस्कार करने के लिए उक्त योगी ने उसके मस्तक पर लिखी हुई विधाता की लिपि अर्थात् विधाता द्वारा लिखा गया श्लोक पढ़ा ॥८९॥

"यावज्जीवं दरिद्रत्वं दशवर्षाणि बन्धनम्।
शूलस्य पृष्ठे मरणं पुना राज्यं भविष्यति ॥"

अर्थात् यावज्जन्म दारिद्र्य तथा दस वर्ष तक बन्धन और सूली पर चढ़कर मरण-प्राप्ति पश्चात् फिर से राज्य मिलेगा ॥९०॥ उस योगी ने उक्त श्लोक के तीन चरणों का अर्थ तो अच्छी तरह से देख ही लिया था, अब चतुर्थ चरण के अर्थ का अनुभव प्राप्त करने की उसे उत्कट उत्कंठा होने लगी ॥९१॥ आश्चर्य-युक्त होकर वह सोचने लगा कि यह कैसे होगा। चिरकाल तक सोचकर वह अपने मनमें कहने लगा कि विधि की शक्ति अचिन्त्य है ॥९२॥ प्रत्येक व्यक्ति अनेक कार्यों द्वारा दैव-घटित भवितव्यता का हठात् प्रतिरोध करना चाहता है, परन्तु वहाँ भी अघटित-घटना-संघटक विधि का विलक्षण आश्चर्यकारी प्रभाव बेरोक-टोक अपना काम कर ही देता है ॥९३॥ मणिपुर में आश्चर्यमय दैव ने नागकन्या के

प्रभाव से मरे हुए पार्थ को पुनर्जीवित किया था ॥९४॥ अश्वत्थामा के शस्त्र से माता के गर्भ में मरे हुए परीक्षित को भगवान् श्रीकृष्ण के प्रभाव से विधि ने पुनर्जीवित किया था, इसी लिए विधि का अधिकार सर्वत्र अक्षुण्ण है ॥९५॥ दैत्यों के द्वारा भस्मी-भूत कच को तथा गरुड़-भक्षित सर्पों को विधि के बिना कौन पुनर्जीवित कर सकता था ? ॥९६॥ ऐसा कहकर भावी कार्य की सिद्धि को देखने की अभिलाषा से वह योगी वहीं रहकर उस नर-कंकाल की रक्षा करने लगा ॥९७॥ पश्चात् उसी आश्चर्यमय भविष्य को जानने की प्रबल चिन्ता से निद्रा-रहित वह योगी आधी रात के समय किसी दिन दिव्य सुगन्ध का प्रत्यक्ष करने लगा ॥९८॥ तथा भयंकर घण्टा-घोष एवं प्रचण्ड तथा घघर डमरु ध्वनि भी उस योगी को सुनाई देने लगी ॥९९॥ उसने आँख खोलकर देखा, तब उसे उस स्मशान-भूमि में तेजःपुञ्ज के मध्य में बहुत-सी योगिनियाँ दीखने लगीं ॥१००॥

उन्हें कोलाहल-पुरस्सर उस कंकाल का हरण करते हुए देखकर आश्चर्यमग्न वह योगी हाथ में खड्ग लेकर उनके पीछे-पीछे जाने लगा ॥१०१॥ फिर एक वृक्ष की ओट खड़ा होकर तमाशा देखने लगा। योगिनियों ने नर-कंकाल को चारों ओर से घेर लिया, और सब मिलकर उसके अवयवों को जोड़ने लगीं ॥१०२॥ उन्होंने पद्यपान किया था, अतः उनको वर-संभोग की इच्छा उत्पन्न हुई थी। किसी वीर-वर के न मिलने से उन्होंने उस कंकाल का अपहरण किया ॥१०३॥ थोड़े ही समय में उसके प्रत्येक अवयव

के स्थानों पर अपना एक एक अवयव जोड़कर और कहीं से भी पुरुष-चिह्न लाकर उसे पूर्णांग बना दिया ॥१०४॥ पश्चात् उन महायोगिनियों ने इधर-उधर तथा शरीरांतर में अप्रविष्ट उस संधिमति के लिंग शरीर को खोजकर उसे जीवित कर दिया ॥१०५॥ सोकर उठे हुए के समान उस संधिमति के शरीर में दिव्य लेपन लगाया गया, और उन योगिनियों ने अपने मण्डल का नायक बनाकर उसके साथ यथेष्ट संभोग किया ॥१०६॥ "ये योगिनियाँ इसे पूर्ववत् बना कर चल देंगी" ऐसा सन्देह रात के बीतने के समय ईशान के मन में होने लगा ॥१०७॥ और उसकी रक्षा करने के लिए गर्जना करता हुआ वह ईशान योगी उन योगिनियों की तरफ दौड़ा। तब वह योगिनी-मण्डल शीघ्र ही अदृश्य हो गया ॥१०८॥ पश्चात् उनके वचन सुनाई दिये कि "हे ईशान, तुम मत डरो। इसके सब अवयव पूर्ण हैं। इस विषय में किसी प्रकार का धोखा नहीं है ॥१०९॥ हमारे प्रभाव से दिव्य देहधारी यह संधिमान अपनी श्रेष्ठता से इस पृथ्वी पर आर्यराज नाम से प्रसिद्ध होगा ॥११०॥

पश्चात् दिव्य-वस्त्र-धारी तथा दिव्य-मालालंकृत एवं दिव्य-भूषण-भूषित वह संधिमान पूर्वस्मृति के कारण नम्रता-पूर्वक प्रणाम करने लगा ॥१११॥ ईशान ने भी स्वप्न में भी दुर्लभ उस प्रिय शिष्य को उठाकर प्रेमपूर्वक हृदय से लगाया। उस समय उसकी क्या स्थिति थी इस बात का वर्णन कौन कर सकता है ॥११२॥ संसार की असारता तथा विचित्रता का विचार करते हुए उन दोनों को

विवेकयुक्त तथा शान्तरस-पूर्ण परस्पर बातचीत होने लगी ॥११३॥ कहीं से भी इस वृत्तान्त को सुनकर तुरन्त ही मन्त्रिगण सहित आबालवृद्ध-नागरिक वहाँ एकत्रित हो गये ॥११४॥ लोगों के मन में "यह वास्तव में संधिमान ही है, अथवा उसके समान आकारवाला कोई अन्य व्यक्ति है" ऐसी शंका उत्पन्न हुई थी, उसे उसने प्रतिप्रश्न द्वारा प्राचीन वृत्तान्त को सूचित करते हुए निर्मूल कर दिया ॥११५॥ उस निस्पृह संधिमान ने गुरु की आज्ञा से उस अराजक राष्ट्र के शासन करने की प्रार्थना को अत्यन्त कष्ट से स्वीकार किया ॥११६॥ पश्चात् दिव्यदेहधारी संधिमान को ब्राह्मणों ने समीप के उपवन में ले जाकर राज्याभिषेक-संबंधी मंगल स्नान करवाया ॥११७॥ उसे राज्य-शासन का अनुभव पहले से ही था, इसलिए नवीन शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं पड़ी। अनुभव के कारण वह सब कार्यों को ठीक तरह से कर सका ॥११८॥ उसने बड़े समारोह से नागरिकों एवं सैनिकों के साथ नगर में प्रवेश किया। प्रवेश के समय बहुत बड़ी भीड़ थी, और लोग अपने-अपने मकानों की छतों पर से लाजा-वर्षा कर रहे थे ॥११९॥ उस निष्पाप राजा के शासनकाल में प्रजा को दैवी एवं मानवी किसी भी आपत्ति का सामना नहीं करना पड़ा ॥१२०॥

उस परम-विरक्त राजा को शृङ्गारचेष्टा-प्रदर्शन-चतुर नितम्बवती ललामभूत ललनाएँ आनन्द-प्रद नहीं होती थीं, किन्तु पक्षियों के कलरव से गुंजित पर्वत-शिखर तथा शान्तिमय अरण्यस्थली ही उसके मन को प्रसन्न करतीं थीं ॥१२१॥ कर्पूर-धूप से

सुगन्धित शरीर वह राजा वन्य-कुसुमों से सुगन्धित ऋषियों के करों से स्पृष्ट होकर अत्यन्त सन्तुष्ट होता था ॥१२२॥ भूतेश, वर्धमानेश तथा विजयेश के दर्शन के अतिरिक्त समय में वह राज्य-कार्य करता था ॥१२३॥ शिव-मन्दिर की सीढ़ियों के धोने के समय पवन में जो जल के तुषार उड़कर आते थे, उनके स्पर्श से उसके शरीर को बड़ा ही आनन्द होता था ॥१२४॥ प्रथम-पूजा के समय समर्पण किये गये पुष्प-माला आदि पूजा सामग्री-समूह दूर करने के पश्चात् आडम्बर-शून्य तथा अभिषेक-निर्मल श्रीविजयेश्वर की मूर्ति को देखना वही जानता था अर्थात् शृंगारादि बाह्याडम्बर-रहित शंकर के दर्शन से वह अतिशय सन्तुष्ट होता था ॥१२५॥ मृदंग वीणा आदि वाद्यों से द्वेष करनेवाले उसको शिवबाण पर गिरती हुई जलधारा की मधुरध्वनि सोने के समय भी अच्छी लगती था ॥१२६॥ उस राजा की सभा भस्म, रुद्राक्ष-माला, जटा आदि शैव-चिह्नधारी तपस्वियों से भगवान् शंकरजी की सभा के समान सुशोभित होती थी ॥१२७॥ प्रति दिन एक सहस्र शिवलिंग स्थापित करने का उसका व्रत कदापि भंग नहीं होता था ॥१२८॥ एक दिन प्रमाद से पृथक् शिवलिंग स्थापित नहीं हुए, इसलिए शिल्पियों ने एक बड़ी शिला पर एक हजार शिवलिंग बनाये थे। वह शिला आज तक मौजूद है ॥१२९॥ उसने पुण्यरूपी कमलों के जन्म के लिए प्रत्येक स्थानों की वापियों में शिवलिंग रूपी कमल-बीज बो दिये थे ॥१३०॥

और अनेक नदियों में शिवबाण स्थापित कर उसने उन नदियों

को नर्मदा के तुल्य शिवलिंगमय बना दिया था ॥१३१॥ उसने शिव मन्दिरों की पूजा के लिए जो ग्राम दिये थे, काल की महिमा से आज भी उन ग्रामों का उपभोग पर्षद के कार्यकर्ता ब्राह्मण लोग कर रहे हैं ॥१३२॥ उस महाशैव ने बड़े-बड़े शिवमन्दिर तथा बड़े-बड़े शिवलिंग एवं विशाल नदियाँ और अनेक त्रिशूल-चिह्न स्थापित कर काश्मीर देश को अत्यन्त पूज्य बना दिया था ॥१३३॥ जिस स्मशान में योगिनियों ने उसके शरीर का संधान किया था, वहाँ संधीश्वर तथा अपने गुरु के नामानुसार ईशानेश्वर नामक दो शिव लिंग स्थापित किये ॥१३४॥ उसने थेदा नामक स्थान में तथा भीमा देवी आदि अनेक स्थानों में मठ, प्रतिमा, शिवलिंग स्थापित कर और अनेक हर्म्य बनवाकर सौन्दर्य बढ़ाया ॥१३५॥ स्वयंभू शिव-लिंग एवं विविध तीर्थों से पवित्र काश्मीर-मण्डल का उपभोग करना वही भक्तराज जानता था ॥१३६॥ वह वसन्त में वन में रहकर पर्वतीय झरनों के निर्मल जल में स्नान कर ऋतुकालोत्पन्न पुष्पों से शिवलिंगों की पूजा करता था ॥१३७॥ इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में वह राजा देव-दुर्लभ काश्मीर के पर्वतीय वनों में रहकर बर्फ के शिव-बाणों की पूजा-कर अपने समय को सफल करता था ॥१३८॥ लक्ष्मी-पति वह राजा असंख्य-विकसित-विमल-कमल विराजित सरोवर के तीर पर पहुँचकर वहाँ शशि-खण्ड-मण्डन का ध्यान करता था ॥१३९॥ अगस्त्योदय से निर्मल तथा नीलकमल विभूषित वापियों में स्नान कर शिवपूजन के शुभ-कार्य में शरद् ऋतु व्यतीत करता था ॥१४०॥

तपस्वियों के साथ रात्रि-जागरण महोत्सव को मनाते हुए उस राजा के लिए माघ मास की रात्रियाँ अत्यन्त पुण्यप्रद थीं ॥१४१॥ इस प्रकार अद्भुत रीति से पाये हुए राज्य को सफलतापूर्वक उस कृती ने ४७ वर्ष तक भोगा ॥१४२॥ उस राजा के शान्तिप्रिय एवं राज्यकार्य विरक्त स्वभाव से प्रजा विरक्त हो गई थी ॥१४३॥ प्रजा राज्य-कार्य के संचालन के लिए किसी अन्य योग्य पुरुष को खोजने लगी। उस समय में अन्ध युधिष्ठिर के कुल में एक विजयाभिलाषी राजपुत्र था ॥१४४॥ गांधार देश के राजा ने काश्मीरेन्द्र को जीतने की अभिलाषा से अन्ध युधिष्ठिर के प्रपौत्र गोपादित्य का पालन किया था ॥१४५॥ वहाँ रहते हुए उस गोपादित्य को दिव्य लक्षण सम्पन्न मेघवाहन नामक पुत्र हुआ ॥१४६॥ वह मेघवाहन पिता की आज्ञा से विष्णुवंशोद्भव प्राग्ज्योतिषेश्वर की कन्या के स्वयंवर में गया ॥१४७॥ वहाँ वारुण श्वेत-छत्र की छाया में बैठे हुए मेघवाहन के कण्ठ में राजकन्या ने वरमाला डाल दी ॥१४८॥ जैसे पश्चिम की हवा से मेघोदय का निश्चय होता है, वैसे ही राजकन्या की प्राप्ति से मेघवाहन के भावी भाग्योदय का निश्चय सब को होगया ॥१४९॥ राजा नरक ने यह श्वेत-छत्र वरुण से पाया था, इससे चक्रवर्ती पर ही छाया होती थी, अन्य पर नहीं ॥१५०॥

इस प्रकार विवाह के बाद पत्नी समेत पिता के पास आये हुए मेघवाहन को काश्मीर देश के मन्त्रिगण राज्य-शासन के लिए निमन्त्रित करने लगे ॥१५१॥ आर्यराज को अपने राज्य का भेद

अच्छी तरह से मालूम हो गया था और वह उस षड्यन्त्र को नष्ट भी कर सकता था, परन्तु वह भी राज्य को त्यागने के लिए उत्सुक था ॥१५२॥ और वह मनमें सोचने लगा कि "वास्तव में भगवान् शंकर मेरे ऊपर प्रसन्न हुए हैं, इसी लिए इन गुरुतर विघ्नों को दूर करने के लिए उद्यत हैं ॥१५३॥ मुझे बहुत बड़ा कार्य करना है, अर्थात् मोक्ष प्राप्तकर मानव-जन्म को सफल करना है, मैंने राज्य-सुख भोग करने में कुछ आलस्य का सहारा लिया है तथाऽपि वर्षाकाल में भ्रमण करने वाले पथिक के सामान निद्रा से मोहित नहीं हुआ हूँ ॥१५४॥ विरक्तरक्षिता के सामान राज्यलक्ष्मी को अपनी इच्छा से ठीक समय पर छोड़ने से मुझे बलात्कार से राज्यच्युत होने की लज्जा का अनुभव नहीं करना पड़ता है ॥१५५॥ नट के समान मैंने इस राज्यरूपी रंगभूमि पर अपना अभिनय दिखाया और अधिकार चलाया है, अब मैं इन प्रेक्षकों के सम्मुख ही जवनिका से प्रच्छन्न हो रहा हूँ, यह अत्यन्त हर्ष का विषय है ॥१५६॥ और यह भी बड़े ही हर्ष की बात है, कि बार-बार मैं लक्ष्मी के विषय में वैराग्य दिखलाता हुआ त्याग-काल में भी अपने विचार पर दृढ़ हूँ। झूठी वीरता की डींग हाँकनेवाले की जैसे रण-भूमि में दुर्दशा होती है, वैसी मेरी दशा नहीं हुई है ॥१५७॥ इस प्रकार अपने मन में सोचता हुआ वह राजा मनोराज्य करनेवाले दरिद्र मनुष्य के समान प्रसन्न होने लगा ॥१५८॥ दूसरे दिन सम्पूर्ण प्रजा को राजसभा में एकत्रित कर धरोहर के समान उनका सुरक्षित राज्य वापिस लौटा दिया ॥१५९॥ प्रजा की ओर से अत्यन्त

आग्रह होने पर भी उसने त्यक्त राज्य को पुनः स्वीकार नहीं किया, जैसे सर्प छोड़े हुए कंचुक को पुनः ग्रहण नहीं करता ॥१६०॥

उसने राज्य-चिह्नों को त्यागकर धौतवस्त्र धारण कर और नित्य-पूजा के शिवबाण को हाथ में लेकर खुले शिर से पैदल ही उत्तर दिशा की ओर प्रयाण प्रारम्भ किया ॥१६१॥ नीची दृष्टि करके मौन होकर जाते हुए उस राजा के पीछे-पीछे प्रजागण भी चुपचाप आँसू गिराते हुए जाने लगे ॥१६२॥ दो कोस चलने के बाद उसने एक वृक्ष के नीचे बैठकर रोते हुए प्रत्येक मनुष्यको प्रेम-पूर्वक समझाया ॥१६३॥ रास्ते में वह प्रत्येक पर्वत के निम्न-प्रदेश में विश्राम करता था और साथ आनेवालों को परावर्तित करता था। अनेक गहन-स्थलों को जल से पूर्णकर परिमित जन-प्रवाह से ऊपर बहते हुए नद के समान वह पर्वतों पर चढ़ने लगा ॥१६४॥ पश्चात् उसने गहन अरण्य में प्रवेश किया और साथ आये हुए शोक-गद्गद् स्निग्धजनों को परावर्तित किया। पश्चात् गिरि-गुहा निवासी भूर्जपत्र की शीतल एवं मर्मर शब्दवती पवन से सुप्त-सिद्ध-जनों के आभूषण रत्नों के प्रकाश से उज्ज्वल निर्जन वन में प्रवेश किया ॥१६५॥ उसके बाद सूर्यास्त होने पर कोमल पत्तों के दोनें से जल-पान कर बाल-पल्लवों की शय्या पर शयन किया ॥१६६॥ उस समय पर्वतों के शिखरों पर सूर्य की किरणें फैल रही थीं, हरी-हरी घास के सौन्दर्य से छाया-युक्त पर्वतीय प्रदेश शबलित हो रहा था, विकसित मल्लिका-लता-कुञ्जों में गोपांगनाएँ सानन्द सो रही थीं, पर्वतीय झरनों की मधुर ध्वनि गोपगण-वादित मधुर

वंशी-रव से मिलकर सर्वत्र गूंज रही थी, इस प्रकार शोभायुक्त पर्वतों के दृश्य से उस आर्यराज को निद्राधीन होना पड़ा ॥१६७॥ पश्चात् भेरी-शब्द के समान जंगली हाथियों के भयंकर शब्दों से तथा पक्षियों की मधुर आवाज से उसे रात्रि-समाप्ति का निश्चय हुआ ॥१६८॥ उसने उठकर समीपस्थ सरोवर में स्नान कर विधि-पूर्वक प्रातः सन्ध्या आदि धार्मिक कृत्य किये, पश्चात् पूर्व-परिचित नन्दीश क्षेत्र के समीप सोदर तीर्थ को रवाना हुआ, और वहाँ पहुँच गया ॥१६९॥ वहाँ भगवान् कैलाश-पति के सम्मुख वह खड़ा रहा, उसके पूर्वचिन्तित सम्पूर्ण मनोरथ सफल हुए। लिप्त-भस्म रुद्राक्ष-माला-मण्डित एवं जटाजूटधारी उस राजा को बड़े-बड़े ऋषि-मुनि आदरपूर्वक देखने लगे ॥१७०॥

शैवव्रत-दीक्षा के कारण सर्वत्र अत्यधिक सत्कार पाता हुआ वह राजा जब भिक्षा के लिए आश्रमों में भ्रमण करता था तब ऋषि-पत्नियाँ उसे सादर भिक्षा देती थीं, परन्तु ऐसा प्रसंग उसे बहुत कम आता था, क्योंकि वृक्ष ही अपने फल-पुष्पों से उसके भिक्षापात्र को पूर्ण कर देते थे, इसलिए उसे दूसरों से प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं होती थी ॥१७१॥

(इस द्वितीय तरंग में सुप्रसिद्ध ६ राजाओं के १९२ वर्ष तक किये हुए राज्य का वर्णन है।)

इति काश्मीरिक महामात्य चम्पक प्रभु पुत्र
कविवर कल्हण कृत राजतरंगिण्यां
द्वितीयस्तरंगः समाप्तः ॥

तृतीय तरङ्ग

"भगवन्! गज-चर्म त्याग दीजिए, इसकी क्या आवश्यकता है, एवं ललाटस्थ अग्नि (तृतीय लोचन) की भी कोई आवश्यकता विदित नहीं होती" ऐसे पार्वती के प्रश्न को सुनकर "इस गज के गण्डस्थल से तुम्हारे स्तन-युगल की शोभा को बढ़ानेवाले सुन्दर मौक्तिक उत्पन्न होते हैं, और ललाटस्थ अग्नि से उत्पन्न हुए कज्जल से तुम्हारे लोचन-युगल का शृङ्गार किया जाता है" इस प्रकार उत्तर देकर सर्प-विषयक प्रश्न के उत्तर के लिए भी उद्युक्त भगवान् अधनारीनटेश्वर आपकी रक्षा करें ॥१॥ आर्यराज के महाप्रयाण के पश्चात् प्रजा-सहित मन्त्रिमण्डल ने गान्धार देश में जाकर वहाँ से परम यशस्वी मेघवाहन को लाकर उसे काश्मीर राज्य का अधिकारी बनाया ॥२॥ जैसे वस्त्र बार-बार धुलने से क्रमशः अधिकाधिक स्वच्छ होने लगता है, वैसे ही उस राजा का प्रजाविषयक प्रेम क्रमशः बढ़ने लगा। और इस बात को जानकर प्रजा भी उस पर अनुरक्त हो गई ॥३॥ उस राजा ने प्राणिमात्र पर दया करनेवाले बोधि-सत्त्वों का भी गांभीर्यभूषित उत्तम उदात्त चरित्र से उल्लंघन किया ॥४॥ उसके राजसिंहासन पर बैठते ही मन्त्रिमण्डल ने राज्य में जीवहिंसा बन्द करने की घोषणा करवा दी ॥५॥ और कसाई आदि हिंसा-जीवियों को अपने राजकोष से बहुत-सा धन देकर उन्हें निष्पाप-जीविका द्वारा जीवन व्यतीत करने के लिए बाधित किया गया ॥६॥ भगवान् जिनदेव के समान हिंसाद्वेषी उस

राजा के यज्ञों में भी सजीव पशुओं के स्थान पर पिष्टपशु एवं घृत-पशुओं से कार्य चलाया जाता था ॥७॥ उसने मयुष्ट नामक नवीन गाँव बसाया, और मेघवन नामक अग्रहार ब्राह्मणों को दिया, तथा परम पवित्र मेघमठ नामक मठ भी बनवाया ॥८॥ उसकी धर्मपत्नी अमृतप्रभा देवी ने विदेशी भिक्षुओं के निवासार्थ अमृत-भवन नामक सुभव्य एवं उच्चतम विहार बनवाया ॥९॥ उस विहार में अमृत-प्रभा के पिता का गुरु-लोह नामक सिद्ध आया था, उस सिद्ध ने वहाँ लोस्तोन्पा नामक यूप बंधवाया, उस यूप को काश्मीरवासी अपनी भाषा में स्तुन्पा कहते हैं ॥१०॥

उस राजा की दूसरी पत्नी यूकदेवी ने अपनी सपत्नी के विषय में स्पर्धा दिखलाते हुए नडवन में एक अद्भुत विहार बनवाया ॥११॥ उस विहार के एक भाग में सदाचार-सम्पन्न भिक्षुओं के रहने की व्यवस्था की गई थी और अवशिष्ट अर्ध भाग में स्त्री-पुत्र-पशु-समेत गृहस्थाश्रमी लोग रखे गये थे ॥१२॥ इसी प्रकार उसकी तृतीय पत्नी इन्द्रदेवी ने भी इन्द्रदेवी-भवन नामक चतुःशाल विहार तथा स्तूप बनवाया ॥१३॥ ऐसे ही बहुत से विहार खादना, सम्मा आदि उस राजा की पत्नियों ने भी स्वनामानुसार खादना, सम्मा आदि नाम रखकर बनवाये ॥१४॥ यद्यपि यह राजा आधुनिक था, तथापि इसका शासन-काल इतना आनन्दमय व्यतीत होता था कि उसके आगे प्राचीन प्रजा-प्रिय श्रेष्ठ राजाओं का शासन कालीन वृत्तिवृत्त तुच्छ प्रतीत होता था ॥१५॥ किसी समय वह राजा नगर के बाहर विहार कर रहा था, उस समय डरे हुए मनुष्य की "यह

चोर है" ऐसी नजदीक ही आवाज सुनाई दी ॥१६॥ तब राजा ने क्रुद्ध होकर "कौन है, पकड़ो, बांधो" ऐसी आज्ञा दी। राजा की आज्ञा सुनते ही वह शोर-गुल बिल्कुल शान्त हो गया और चोर का भी कुछ पता नहीं लगा ॥१७॥ पश्चात् दो या तीन दिन के बाद भ्रमण करते हुए राजा के सम्मुख आकर दो-तीन दिव्य अबलाएँ अभय याचना करने लगीं ॥१८॥ उस दयालु राजा ने अभय को रोककर उन्हें अभय वचन दिया, तब वे मस्तक पर अंजलि रखकर कहने लगीं ॥१९॥ "करुणानिधे ! राजन् ! दिव्य प्रभाव से संसार की रक्षा का कार्य करते हुए आपके राज्य में अन्य व्यक्ति का भय कैसे हो सकता है ॥२०॥

भगवन् ! हमारे पति नाग निर्भय होकर मेघ बनकर आकाश में भ्रमण कर रहे थे, तब शालिरक्षक कृषकों ने शालियों की रक्षा के लिये बर्फ की वृष्टि को रोकने की अभिलाषा से उन नागों को आपका कोपपात्र बना दिया, इसीलिए उन कृषकों ने हमारे पतिदेवों को चोर शब्द से सम्बोधित किया था। और आपने उन्हें पकड़कर बांधने की आज्ञा दी थी, तभी से वे बंधे हुए हैं, अतः क्षमा-प्रदानकर उन्हें बंधन-मुक्त कीजिये ॥२१-२२-२३-२४॥ उनकी नम्र प्रार्थना को सुनकर राजा ने हँसते हुए नागों के बंधन-मुक्त किये जाने की आज्ञा दी ॥२५॥ उसकी आज्ञा से वे नाग शीघ्र ही बन्धन-मुक्त हो गये, और उसके चरणों में प्रणामकर परिवार सहित आनन्दपूर्वक अपने स्थान पर चले गये ॥२६॥ निष्कपट धर्माचरण-तत्पर वह राजा सम्पूर्ण राजवृन्द से अहिंसा-व्रत का पालन

करवाने के लिए दिग्विजय करने को रवाना हुआ ॥२७॥ उसका वह पवित्रतम विजयोद्योग समस्त भूतल के प्राणिमात्र को अभय-दान द्वारा निःशङ्क करने के लिए ही था ॥२८॥ तदनुसार उसने सब राजाओं को जीतकर उन्हें अहिंसाव्रत का पालन करने के लिए बाधित किया। पश्चात् क्रमशः दिग्विजय करता हुआ वह राजा समुद्र के तीर पर पहुँचा ॥२९॥ वहाँ ताल-वृक्षों की छाया में उसके सैनिक विश्राम कर रहे थे, उसके मनमें समुद्र को लांघकर द्वीपान्तरों में भ्रमण करने के लिए सुयुक्ति विषयक विचार हो रहा था ॥३०॥

इतने ही में सहसा समुद्र-वेला वन के प्रदेश से "हाय ! महान् धार्मिक मेघवाहन के राज्य में भी निरपराध मैं मारा जा रहा हूँ" इस प्रकार किसी का आर्तनाद सुनाई पड़ा ॥३१॥ इस शब्द से राजा का हृदय द्रवीभूत हो गया। वे शब्द उसके चित्त में तप्त लोह शंकु के समान चुभने लगे। छत्र को धारण किये हुए वह राजा तत्काल उस वन की ओर चल दिया ॥३२॥ वहाँ पहुँचकर उसने एक नत मस्तक पुरुष का देवी के आगे बलिदान करने के लिए खड्ग लेकर उद्युक्त किसी एक शबर सेनापति को देखा ॥३३॥ क्रुद्ध होकर राजा ने कहा, "नीच ! इस रोमांचकारी घृणित कार्य को करते हुए तुझे लज्जा नहीं आती ? तेरे जैसे नर-राक्षसों को शतशः धिक्कार है। इस प्रकार राजा की तर्जना को सुनकर भय से काँपता हुआ वह बोला ॥३४॥ राजन्, यह मेरा शिशु सांघातिक रोग से मरणासन्न हो रहा है और इसके बचने का उपाय देवताओं

ने मनुष्य का बलिदान ही बतलाया है ॥३५॥ यदि बलिदान न किया गया, तो यह बालक अवश्य ही मर जायगा। महाराज! इसी बालक के जीवन के आधीन मेरा तथा मेरे आप्तजनों का जीवन है ॥३६॥ राजन्, जब निराश्रय होकर अरण्य में भ्रमण करनेवाले मनुष्य की आप रक्षा करते हैं, तब अनेक मनुष्यों के जीवन का आधार यह कोमल बालक आपकी दयार्द्र दृष्टि में उपेक्षा का पात्र क्यों हो रहा है? ॥३७॥ इस प्रकार शबर-सेनापति के दीन वचनों से एवं उस वध्य पुरुष की आशायुक्त कातर दृष्टि से विवश होकर वह बोला ॥३८॥ शबर! मत घबड़ाओ, अनेक-बान्धव-रक्षित तेरे पुत्र के समान इस बेचारे अबान्धव वध्य-पुरुष के जीवन की रक्षा करना भी मेरा कर्तव्य है ॥३९॥ मैं अपने शरीर का ही देवी को उपहार चढ़ाता हूँ। तू निःशंक होकर मुझ पर खड्ग प्रहार कर। मेरी इस तुच्छ देह से इन दो प्राणियों का जीवन सुरक्षित हो सके यही मेरी इच्छा है ॥४०॥

इस प्रकार उस महासत्व राजा की विलक्षण भूतदया तथा उदारता को देख वह शबर-सेनापति आनन्द तक आश्चर्य में मग्न होकर कहने लगा ॥४१॥ पृथ्वीनाथ! मुझे मालूम होता है, कि आपकी बुद्धि में दया की अत्यधिक मात्रा के कारण कुछ भ्रम-सा हो गया है ॥४२॥ आप समस्त विश्व के जीवों के प्राण-व्यय से भी रक्षा करने योग्य एवं सम्पूर्ण पार्थिव ऐश्वर्य परम्परा के उपभोग करनेवाले इस अमूल्य शरीर की उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ॥४३॥ राजा लोग अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए यश, मान, धन,

धर्म, स्त्री, पुत्र आदि की भी पर्वाह नहीं करते ॥४४॥ अतः हे प्रजानाथ, इस वध्य पर व्यर्थ कृपा मत कीजिए। आप जीवित रहें, तथा आपकी प्रजा हम और यह बालक भी जीवित रहे ॥४५॥ शबर के वचन को सुनकर उस राजा ने निर्मल हास्यरूपी जल से देवी के चरण-युगल में अर्घ्य प्रदान करते हुए अपनी देह का उपहार देने की इच्छा से कहा ॥४६॥ शबर ! जैसे मरुदेशवासी मनुष्य गंगाजल के निर्मल शीतल तथा मधुर स्वाद को तथा गंगा-स्नान के आनन्द को नहीं जान सकते, वैसे ही तुम वनेचरों को भी सदाचरण-रूपी अमृत का स्वाद कदापि विदित नहीं हो सकता ॥४७॥ हे मूढ़ ! इस अवश्यनश्वर भौतिक शरीर से अनश्वर निर्मल यश को खरीदते हुए मुझे यह तेरा दुराग्रह विघ्न-सा प्रतीत हो रहा है ॥४८॥ अब तू कुछ न कह। शान्त होकर देख। यदि तुझे मेरा वध करने में घृणा होती हो, तो क्या यह मेरी तलवार इस कार्य को नहीं कर सकती ? ॥४९॥ ऐसा कहकर उसने अपने हाथ से सिर काटने के लिए खड्ग को म्यान से निकाल कर प्रहार करने की तैयारी की ॥५०॥

उसके पश्चात् प्रहार करने के लिए उद्यत हुए उस राजा के ऊपर पुष्प-वृष्टि हुई और एक दिव्य पुरुष ने उसका हाथ पकड़ लिया ॥५१॥ पश्चात् राजा ने अपने सम्मुख किसी एक दिव्याकार पुरुष को देखा। वहाँ उसने चण्डिका, किरात, बालक तथा वध्य पुरुष किसी को भी नहीं देखा ॥५२॥ उस दिव्य पुरुष ने राजा से कहा। हे करुणानिधे, राजन्, मैं वरुण हूँ। तुम्हारे इस विलक्षण

धैर्य से चकित हो गया हूँ ॥५३॥ भूपाल-शिरोमणे, आपके पास जो श्वेतच्छत्र है, वह मेरी ही है। तुम्हारे श्वसुर वीरवर भौमासुर ने उस छत्र को मुझसे छीन लिया था ॥५४॥ वह छत्र मेरे देश रसातल का एक अमूल्य रत्न है उसके अभाव से मेरे नगर में शतशः दैवी एवं मानुषी आपत्तियाँ हो रही हैं ॥५५॥ हे दयानिधे ! उसी छत्र को आपके पास से लेने के लिए मुझे आपकी उदारता की परीक्षा करने की इच्छा से यह माया-जाल रचना पड़ा ॥५६॥ राजन् ! आप इस अपूर्व एवं विलक्षण भूतदया द्वारा अपने पूर्वज राजा मिहिरकुल के पापों का प्रायश्चित्त कर रहे हैं ॥५७॥ पृथ्वी को धारण करने के योग्य शेषनाग के शरीर में जैसे हलाहल विष तथा फणा-रत्न समूह भय एवं स्पृहा को क्रमशः उत्पन्न करते हुए देखे जाते हैं ॥५८॥ और तेज से दिगन्तर में आक्रमण करने वाले अग्नि में अन्धकार और प्रकाश के जनक धूम पुञ्ज तथा ज्वालाजाल साथ-साथ दीख पड़ते हैं ॥५९॥ सूर्य-मण्डल को अभ्र-पटल से आच्छादित करनेवाले वर्षाकाल के दिन में ग्लानि एवं शान्ति को क्रमशः उत्पन्न करनेवाले संताप अर्थात् गर्मी और जलवृष्टि दोनों उपलब्ध होते हैं ॥६०॥

वैसे ही एक ही अतिश्रेष्ठ वंश में तीन करोड़ प्राणियों की हत्या करनेवाले मिहिरकुल तथा आपके जैसे दयालु पुरुष का जन्म देखा जाता है, यह बात अत्यन्त आश्चर्यकारक है ॥६१॥ इस प्रकार वरुण के विनीत वचनों को सुनकर उस सम्राट् ने छत्र तथा स्तोत्र द्वारा प्रणामपूर्वक वरुण का सत्कार किया ॥६२॥ और उस राजा

ने प्रेम से छत्र को ग्रहण करते हुए वरुण को अभिवादन करते हुए कहा ॥६३॥ भगवन्! याचना के पश्चात् याचकों के मनोरथ को पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्ष और याचना की प्रतीक्षा के विना ही इष्ट फल को देनेवाले सज्जनों की समानता का कथन सर्वथा अयुक्त है ॥६४॥ यदि आप दुःखितों के दुःख दूर करने के लिए इस छत्र की याचना नहीं करते, तो यह मेरा छत्र इतना पुण्य-प्रद कैसे होता ॥६५॥ जैसे वृक्ष आश्रित जन को छाया द्वारा शीतल करता है तथा फल देकर तृप्त करता है, वैसे ही उदार पुरुष भी याचकों पर पूर्ण अनुग्रह करते हैं ॥६६॥ इसलिए आपकी उदारता से प्रेरित होकर यह सेवक भी आपसे कुछ वरदान मांगना चाहता है ॥६७॥ आपकी अनुकम्पा से मैंने इस सम्पूर्ण भारतभूमि को वश कर लिया है। अब समुद्र को उल्लंघन करके समुद्र-मध्यवर्ती द्वीपों को जीतने की युक्ति आप कृपाकर बतलाइये ॥६८॥ इस प्रकार याचना को सुनकर वरुण ने राजा से कहा। राजन्, जब-जब तुम समुद्र का उल्लंघन कर द्वीपान्तर में जाना चाहोगे, तब-तब मैं समुद्र के जल का स्तम्भन करूँगा ॥६९॥ राजा ने भी सन्तुष्ट होकर कृतज्ञता प्रकाशित करते हुए वरुण को धन्यवाद दिया। पश्चात् छत्र-सहित वरुण अदृश्य हो गया ॥७०॥

दूसरे दिन वरुण के प्रभाव से स्तम्भित समुद्र के जल के ऊपर से सेना-सहित वह राजा समुद्र के पार चला गया ॥७१॥ उस गुण-रत्नाकार राजा ने रत्नाकर शेखर एवं नाना रत्नाकर रोहण पर्वत पर आरोहण किया ॥७२॥ उस पर्वत पर राजा को

आज्ञा से सैनिकगण तरुवरों की शीतल छाया में सानन्द विश्राम करने लगे और लंकापति विभीषण सप्रेम राजा से आकर मिला ॥७३॥ उस समय नरराज तथा राक्षसराज के प्रेम-मिलन की शोभा अत्यन्त दर्शनीय थी। बन्दियों ने उभय-वंश-प्रशस्ति-वर्णनात्मक कर्णमधुर गीतों द्वारा उस आनन्दमय समागम को अत्यन्त मधुर बना दिया था ॥७४॥ विभीषण ने आदरपूर्वक उस राजा को लंका में ले जाकर वहाँ उसका दिव्य उपचारों से आतिथ्य किया ॥७५॥ यद्यपि राक्षसों के लिए "पिशिताशन" नाम सार्थक है, तथापि उस राजा के आदेशानुसार अहिंसा-व्रत के ग्रहण करने से वह नाम केवल रूढ़ हो गया ॥७६॥ सर्वदा के लिए नम्रता को सूचित करनेवाली शिखर प्रदेश में राक्षसों के मस्तकों से अङ्कित बहुत-सी पताकाएँ विभीषण ने राजा को समर्पित की ॥७७॥ वे पताकाएँ समुद्र के पार से काश्मीर देश में लाई गयी थीं इसी लिए उनका नाम पारध्वज रखा गया था। आज भी वे पारध्वज काश्मीर में राजा के आगे सवारी में निकाले जाते हैं ॥७८॥ इस प्रकार राक्षसों को भी अहिंसा-व्रत का आदेश देकर वह चतुर नरेश अपने देश काश्मीर को लौट आया ॥७९॥ उस दिन से उस सार्वभौम के अहिंसा-व्रत के आदेश का कोई भी उल्लंघन नहीं करता था ॥८०॥

उसके राज्य में ग्राह आदि जलचर जीवों ने तथा सिंह आदि स्थलचारियों ने और श्येन आदि आकाशचारी प्राणियों ने भी हिंसा को त्यागकर करुणापूर्ण जीवन बिताना शुरू किया ॥८१॥ कुछ समय के बाद एक ब्राह्मण अपने रुग्ण बालक को राज-द्वार

पर लाया और शोक प्रगट करता हुआ राजा से बोला ॥८२॥ श्री दुर्गा देवी ने मुझसे पशु का बलिदान माँगा है, यदि मैं दुर्गा की आज्ञा का उल्लंघन करूँगा तो मेरा यह अकेला बालक ज्वर से पीड़ित होकर मर जायगा ॥८३॥ अतः राजन्! यदि आप अपना अहिंसा का आग्रह नहीं छोड़ेंगे, तो यह मेरा बालक अवश्य ही काल का कवल बन जायगा। ऐसी स्थिति में इसकी मौत का कारण आपको छोड़कर दूसरा कौन होगा ॥८४॥ जरा सोचिये! ब्राह्मण के बालक और क्षुद्र पशु में कितना अन्तर होता है, क्योंकि आप वर्णाश्रम-गुरु कहलाते हैं ॥८५॥ हा! भगवति, वसुन्धरे! जिन राजाओं ने ब्राह्मण के प्राणों की रक्षा के लिए तप करते हुए मनुष्यों को भी मार डाला था, वे प्रजापालक इस संसार में अब नहीं रहे ॥८६॥ इस प्रकार शोक-ग्रस्त ब्राह्मण के आक्षेपयुक्त कठोर वचनों को सुनकर वह राजा अत्यन्त विचार-मग्न हो गया ॥८७॥ वह सोचने लगा कि मैंने प्राणियों का वध न करने के लिए जो प्रतिज्ञा यावज्जन्म के लिए की है उसे इस ब्राह्मण के बालक के लिए कैसे त्याग दूँ ॥८८॥ और यदि यह ब्राह्मण का बालक मेरी प्रतिज्ञा के कारण मर जायगा तब भी मेरा व्रत भंग हो जायगा ॥८९॥ इन दोनों आपत्तियों से मेरा मन दो नदियों के संगम के तरङ्गों में फँसे हुए पुष्प के सामान भ्रान्त होकर किसी भी एक पक्ष का अवलम्बन नहीं करता ॥९०॥

इसलिए मुझे अपना शरीर बलिदान-रूप में दुर्गा को अर्पण कर सन्तुष्ट करना चाहिए और प्रतिज्ञा के साथ-साथ इन दो

प्राणियों की भी रक्षा करना चाहिये ॥९१॥ इस प्रकार बहुत देर तक सोच कर शरीरदान के लिए सन्नद्ध हुए उस राजा ने "कल तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो जायगा" ऐसा कहकर उस ब्राह्मण को बिदा किया ॥९२॥ पश्चात् रात्रि के समय देवी के सम्मुख अपनी देह का बलिदान करने को उद्यत हुए उस राजा को देवी ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर उस कार्य से रोका, और ब्राह्मण के बालक का रोग भी दूर किया ॥९३॥ इस प्रकार इस आधुनिक राजा के विचित्र चरित्र का वर्णन करते हुए हमें पाठकों के हृदय में अविश्वास उत्पन्न होने के भय से लज्जित होना पड़ता है ॥९४॥ अथवा आर्षरीति से किसी भी वृत्त लिखने वाले कवि श्रोताओं की चित्त वृत्ति का अनुरोध नहीं करते ॥९५॥ उस राजा ने ३४ वर्ष राज्य किया। उसके परलोक गमन से इस संसार से एक सूर्य अस्त हो गया ॥९६॥ उसके बाद उसका पुत्र श्रेष्ठसेन सिंहासनारूढ़ हुआ। वही प्रथम प्रवरसेन और द्वितीय तुञ्जीन नाम से विख्यात हुआ ॥९७॥ उसकी भुजाओं की आश्रिता त्रैलोक्य-राज्य-लक्ष्मी उसके निष्कोश-खड्ग-रूपी मणिदर्पण में प्रतिबिम्बित होकर सुशोभित हो रही थी ॥९८॥ उसने सर्व प्रथम प्रवरेश्वर की प्रतिष्ठा करवा कर पुराणाधिष्ठान में मातृ-चक्र की स्थापना की और भी अनेक देवालय बनवाये ॥९९॥ वह सम्पूर्ण पृथ्वी को गृहाङ्गण के समान समझता था। उसने अनेक ग्राम सहित त्रिगर्त देश प्रवरेश्वर को समर्पण किया ॥१००॥

समस्त पृथ्वी को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझने वाले राजाओं का शासक होने पर भी अत्यन्त सौम्य स्वभाव वाले उस

राजा ने ३० वर्ष तक पृथ्वी पर राज्य किया ॥१०१॥ पश्चात् उसके दो पुत्र राजा हिरण्य और युवराज तोरमाण दोनों मिलकर अपने सुशासन द्वारा प्रजा को सन्तुष्ट करने लगे ॥१०२॥ तोरमाण ने "बालाहत" नामक पुराने सिक्कों की जगह अपने अधिकार से स्वनामांकित 'दीनार' नामक नवीन सिक्के चलाये ॥१०३॥ इस व्यवहार से उसके ज्येष्ठ भ्राता हिरण्य ने क्रुद्ध होकर "इसने मेरा अनादर कर स्वयं को राजा समझते हुए यह धाष्टर्य किया है" ऐसा सोचकर उसे कारावास का दण्ड दिया ॥१०४॥ बहुत दिनों तक कारावास का अनुभव करने से तोरमाण अपनी दुःखमय अवस्था को भूल गया था। इक्ष्वाकु वंशीय वज्रेन्द्र राजा की कन्या तोरमाण की पत्नी अंजना देवी उस समय में सगर्भा थी ॥१०५॥ जब वह आसन्न-प्रसवा हुई, तब पति की आज्ञा से कारावास छोड़कर एक सज्जन कुंभकार के यहाँ रहने लगी। वहाँ उसे पुत्र हुआ ॥१०६॥ जैसे काक-पत्नी कोकिल-सन्तान को प्रेम पूर्वक पालती है, वैसे ही उस कुम्भकार की स्त्री ने अपनी सन्तान के समान उस बालक का लालन पालन किया, और वह बालक भी क्रमशः बड़ा होने लगा ॥१०७॥ इस बात को उस बालक की माता अंजना देवी तथा उस कुम्भकार की स्त्री दोनों ही जानती थीं, क्योंकि पृथ्वी में छिपी हुई रत्न-निधि को रत्नसू वसुंधरा तथा रत्न-रक्षिका नाग-पत्नी ही जान सकतीं हैं ॥१०८॥ रानी की आज्ञा से उस बालक को उसके पितामह के नामानुसार कुम्भकार-पत्नी ने प्रवसेन नाम से प्रसिद्ध किया ॥१०९॥ बढ़ता हुआ वह बालक अपने नीच कुलोत्पन्न

सहवासियों के सहवास को पसन्द नहीं करता था, जैसे कमल सूर्य से प्रेम करता है, वैसे ही वह बालक भी तेजस्वि-मैत्री-रसिक होनेसे नीच संपर्क को नहीं चाहता था ॥११०॥

लोग कुलीन, शूर तथा विद्याप्रेमी बालकों के साथ खेलते हुए उस बालक को विस्मित होकर देखते थे ॥१११॥ जैसे सिंह के बच्चे को वन में क्रीड़ा करने वाले बालमृग अपना राजा मानते हैं, वैसे ही उन सब बालकों ने उस तेजस्वि को अपनी मण्डली का नायक बना लिया ॥११२॥ वह बालक उपलब्ध वस्तु को अपने साथियों में बाँट देता था, और वह सब मित्रों पर अनुग्रह-पूर्ण दृष्टि रखता था। उसने उन बालकों को अपने वश करलिया था। और जो कार्य राजपुत्र के लिए अनुचित दिखाई दे, ऐसे कार्य को वह कदापि नहीं करता था ॥११३॥ गृह स्वामी कुम्भकार कुम्भ बनाने के लिए जो मृत्तिका तैयार करता था, उससे वह बालक भगवान् शंकर के पार्थिव-बाण बनाकर पूजा करता था ॥११४॥ एक दिन आश्चर्य-चरित्र-शाली उस बालक को खेलता हुआ देख कर उसके मातुल जयन्त ने प्रेमपूर्वक उसका अभिनन्दन किया ॥११५॥ उस बालक ने अपने निकटवर्ती मित्रों से जयेन्द्र का परिचय सुनकर जयेन्द्र की ओर राजकुमार के समान प्रौढ़ दृष्टि से देखा ॥११६॥ जयेन्द्र ने उस बालक की प्रौढ़ता को देखकर उसे उच्च कुलीन समझा और अपने भगिनीपति (बहनोई) के समान उस बालक की मुखाकृति को देखकर उसे अपना भागिनेय (भानजा) मान लिया ॥११७॥ उस रहस्य को शीघ्र जानने की इच्छा से जयेन्द्र

उस बालक के पीछे पीछे कुम्भकार के घर में गया और वहाँ उसने अपनी बहन को देखा ॥११८॥ दोनों बड़ी देर तक परस्पर देखते हुए दीर्घ-निश्वास लेकर आँसू बहाते रहे ॥११९॥ जब उस बालक ने कुम्भकार की स्त्री से पूछा, कि माताजी ! ये कौन हैं, तब उसने कहा, वत्स ! यह तेरी माता है, और ये तेरे मातुल (मामा) हैं ॥१२०॥

पिता के कारावास के वृत्तान्त से क्रुद्ध हुए बालक को छोटी अवस्था के कारण प्रतीकार करने में असमर्थ जानकर राजा जयेन्द्र ने समझाया और वह अपने कार्य के लिए चला गया ॥१२१॥ कुछ समय के बाद प्रवरसेन ने राजा हिरण्य को परास्त करने के लिए षड्यन्त्र रचना आरम्भ किया। उसी समय में राजा हिरण्यक ने तोरमाण को अपनी इच्छा से बन्धन-मुक्त कर दिया, परन्तु दुर्दैव से वह नृसूर्य तोरमाण शीघ्र ही अस्त हो गया ॥१२२॥ प्रवरसेन पितृ-मरण-जनित निर्वेद से खिन्न होकर, असह्य वैधव्य-क्लेश से पीड़ित होकर प्राण-त्याग के लिए उद्यत हुई माता को सान्त्वना द्वारा रोक कर उसके सहित तीर्थ यात्रा के लिए चल दिया ॥१२३॥ निस्सन्तान वह राजा हिरण्य भी ३० वर्ष २ मास तक राज्य करने के पश्चात् स्वर्गवासी हुआ ॥१२४॥ उन दिनों में उज्जैन में श्रीमान् विक्रमादित्य चक्रवर्ती जिसका दूसरा नाम हर्ष था राज्य करता था ॥१२५॥ उस समय में लक्ष्मी चारों समुद्र तथा भगवान् विष्णु की चारों भुजाओं को त्यागकर उस अद्भुत भाग्यशाली राजा की अनन्य प्रेमिका हो गई ॥१२६॥ उस गुणज्ञ ने लक्ष्मीरूपी साधन से गुणों

को वृद्धिंगत किया था, अतएव आज भी गुणी पुरुष धनिकों के सम्मुख अपना मस्तक ऊँचा करके ही रहते हैं ॥१२७॥ जिसने शकों का पराभव करके म्लेच्छों के उच्छेद के लिए पृथ्वी पर अवतार लेनेवाले भगवान् कल्कि के कार्य-भार को पहिले ही से हलका कर दिया था ॥१२८॥ वह राजा दिगन्त-प्रसिद्ध था। उसके पास गुणवान् पुरुष बे रोक-टोक पहुँच सकते थे। इसी लिए उसके पास मातृगुप्त नामक एक महाकवि रहता था ॥१२९॥ उस मातृगुप्त ने विक्रमादित्य के यहाँ आने के पूर्व बहुत-सी राजसभाओं में अपनी योग्यता के प्रभाव से सम्मान प्राप्त किया था। वह राजा विक्रमादित्य की गम्भीरता तथा अद्भुत महानुभावता आदि सद्-गुणों को सोचकर ही इसके पास रहने लगा और वह अपने दिल में सोचता था कि मैंने इस गुणज्ञ राजा को अपने जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य से पाया है। इसके पहले मैंने जिन राजाओं की सेवा की है, उनकी स्थिति को सोचने से इसकी श्रेष्ठता स्पष्ट विदित होती है ॥१३०-१३१॥

इसके दरबार में विद्वान् एवं गुणवानों को मान तथा धन पाने के लिए बहुत देर तक हाथ जोड़कर प्रार्थना नहीं करना पड़ता है ॥१३२॥ इसके सम्मुख अपने हार्दिक-विचार आलङ्कारिक भाषा में प्रकट करने के लिए अपनी बुद्धि को कुलवधू के समान लज्जित नहीं होना पड़ता है ॥१३३॥ दुष्टों के प्रलाप की ओर ध्यान न देनेवाले तथा युक्तायुक्त-विचारपरायण इस राजा की सेवा करने से अपना कोई भी सद्गुण निरर्थक नहीं होता है ॥१३४॥ इसकी

सम्मुख विद्वान् तथा मूर्ख की समानता न होने से विद्वान् को मरण-तुल्य कष्ट कदापि नहीं उठाना पड़ता है ॥१३५॥ यह राजा अत्यन्त चतुर है, इसलिए इसके पास योग्य सम्मान की आशा से आये हुए बड़े बड़े विद्वानों को कदापि निराश होकर जाने का मौका नहीं आता है ॥१३६॥ प्रत्येक के गुणों के तारतम्य को जान कर यह राजा उनकी योग्यता के विषय में ठीक परामर्श करके यथायोग्य सत्कार द्वारा उनके उत्साह को बढ़ाता है ॥१३७॥ इसके सेवकों को इसे प्रसन्न करने के लिए जो कष्ट उठाने पड़ते हैं, उससे इस राजा के चित्त में दुःख होता है, सेवकों को नहीं होता, क्योंकि उनका प्रयत्न हिमालय पर हिमविक्रय के समान व्यर्थ नहीं होता ॥१३८॥ इसके आप्त मिथ्या-गुणों को प्रगट नहीं करते हैं। इसके सचिव और सेवक कलह-प्रिय तथा असत्यभाषी नहीं हैं ॥१३९॥ इसके दासजन परस्पर अश्लील-भाषण करनेवाले तथा हास्य द्वारा मर्म-भेदक वाक्यों के कथन में निपुण और दूसरों को राजगृह में प्रवेश करने में बाधक एवं संहत अर्थात् आपस में मिलकर एक गुट्ट बनाकर प्रजा को क्लेश देनेवाले नहीं हैं ॥१४०॥

यह राजा अपनी हाँ में हाँ मिलानेवाले एवं आत्मप्रशंसक और आपको सर्वज्ञ मानकर अभिमान से अन्ध हुए मनुष्यों का मुख देखना नहीं चाहता ॥१४१॥ इसके साथ वार्तालाप करने के समय मूर्खों को बीच-बीच में मुँह मारकर चाञ्चल्य करने का अवसर नहीं मिल सकता ॥१४२॥ पूर्व-जन्म के सुकृत से दोष-हीन तथा सेवायोग्य ऐसा राजा मुझे मिला है अब मेरा स्वार्थ शीघ्र ही सिद्ध

होगा ॥१४३॥ सेवाजन्य कष्ट से भीत न होकर इस गम्भीर, गुणज्ञ तथा स्थिरमति राजा की सेवा करना चाहिए ॥१४४॥ अन्य राजाओं के समान इसको भी प्रसन्न कर पारितोषिक पाने के बाद दूसरे की सेवा में उपस्थित होना योग्य नहीं है, क्योंकि इससे उत्तम सेव्य नहीं मिल सकेगा ॥१४५॥ ऐसा दृढ़ निश्चय करके उसने राज-सभा को नवीन समझ कर गुणवानों की गोष्ठी में सम्मिलित होकर मनोरंजन करना प्रारम्भ किया ॥१४६॥ राजा ने उसके बर्ताव से यह समझ लिया कि यह पुरुष विशिष्ट योग्यता प्रदर्शित करने के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है ॥१४७॥ राजा अपने मन में सोचता था, कि यह केवल गुणवान् ही नहीं है, अपितु अत्यन्त उच्च-हृदय है, इसका गांभीर्य इसकी उदात्तता एवं सत्कार-योग्यता को सूचित करता है ॥१४८॥ ऐसा सोचकर राजा ने भी उसकी बुद्धिमत्ता की परीक्षा करने के विचार से योग्य सत्कार नहीं किया ॥१४९॥ मातृगुप्त ने राजा के इस व्यवहार से राजा की सत्यप्रियता को पहिचान कर सस्नेह सेवा करना प्रारम्भ किया ॥१५०॥

क्रमशः बढ़ते हुए मातृगुप्त के सेवाभ्यास से राजा को किंचिन्मात्र भी उद्वेग नहीं हुआ ॥१५१॥ वह मातृगुप्त शरत्काल की रात्रि के समान राजा के पास अति विशेष समय तक तथा अतिशय अल्प समय तक नहीं रहता था, इसी लिए मध्यम स्थिति से उसने राजा को प्रसन्न कर लिया था ॥१५२॥ वह अन्तःपुर के सेवकों की कुचेष्टाओं से, द्वारपालों के चाञ्चल्यपूर्ण विचित्र व्यवहारों से तथा

विटों की मिथ्या प्रशंसा आदि आश्चर्यमय दृश्यों से अल्पमात्र भी विचलित नहीं होता था ॥१५३॥ राजा के प्रसन्नता युक्त भाषण को सुनकर भी वह छाया-मध्यस्थ ग्रह के सामान स्थिर रहता था और उसकी अवज्ञा से भी क्षुद्र पुरुष के तुल्य क्रुद्ध नहीं होता था ॥१५४॥ समय के महत्व को जाननेवाले उस कवि ने राजदासियों की ओर देखना तथा राजा के द्वेषियों के साथ बैठना एवं राजा के सम्मुख नीचे दर्जे के लोगों से बातें करना इत्यादि कार्य नहीं किये ॥१५५॥ राजा की अनुपस्थिति में राज-सेवकों के हृद्गत अभिप्राय को जानने की इच्छा से उनके सम्मुख राजा की निन्दा करनेवाले खुगलखोरों ने मातृगुप्त के मुख से राजा की निन्दा कभी भी नहीं सुनी ॥१५६॥ "राज सेवा में तत्पर होकर अपने शरीर को कष्ट देना व्यर्थ है" इस प्रकार विपरीत उपदेश देनेवाले धूर्तों के कथन से वह मातृगुप्त अपनी सेवा-तत्परता में कदापि न्यूनता नहीं आने देता था ॥१५७॥ उसने प्रसंगवशात् परगुण प्रशंसा तथा दुराग्रह त्याग एवं आत्मगुण-प्रकाशन इत्यादि सद्गुणों से सम्पूर्ण सभासदों को सन्तुष्ट कर रखा था ॥१५८॥ इस प्रकार निरालस्य होकर उस राजा की सेवा करते हुए मातृगुप्त ने छ ऋतु अर्थात् एक वर्ष बिता दिया ॥१५९॥ किसी समय बाहर जाते हुए राजा ने अत्यन्त दुर्बल तथा मलिन-वस्त्र एवं मलिन-देह मातृगुप्त को देखकर अपने मनमें सोचा ॥१६०॥

कि इस विदेशी, गुणवान्, निःशरण तथा बान्धवों से वियुक्त बेचारे मातृगुप्त की अग्नि-परीक्षा करते हुए मैंने इसे बहुत कष्ट

दिया ॥१६१॥ ऐश्वर्य के मद से अन्ध होकर मैंने "यह कहाँ रहता है ? क्या खाता है ? और क्या पहिनता है ?" इस विषय का बिलकुल विचार नहीं किया ॥१६२॥ शीत, वात एवं आतप से सूखते हुए इस पुरुषरूपी-वृक्ष को वसन्त ऋतु के समान मैंने अद्यापि सुशोभित नहीं किया ! ॥१६३॥ इस निधन को रुग्णावस्था में औषधि, थकावट के समय विनोद इत्यादि जीवनोपयुक्त वस्तुओं का लाभ कहाँ से हो सकता है ॥१६४॥ मैंने उन्मत्त होकर जिस ढंग से इसकी परीक्षा की है, इस अत्यधिक सेवा के उपलक्ष्य में मैं इसे कौन-सा चिन्तामणि-रत्न अथवा अमृत देनेवाला हूँ ॥१६५॥ इसलिए इसकी वास्तविक योग्यता तथा दृढ़ सेवापरायणता का प्रत्युपकार कैसे कर सकूँगा ॥१६६॥ इस प्रकार सोचते हुए राजा विक्रमादित्य की दृष्टि में अपने सेवक के लिए अपनी प्रसन्नता के योग्य कोई भी सत्कार नहीं दिखाई दिया ॥१६७॥ कुछ समय के बाद ओस के चंचल बिन्दुओं से युक्त शीतलतम पवन के स्पर्श से शरीर की त्वचाको रूक्ष करनेवाला शिशिर समय आ गया ॥१६८॥ तीव्रतर-शीत से जड़ी-भूत सकल दिशाएँ रात्रि के निबिड़ अन्धकार-रूपी नीलवस्त्र से अपनी देह को आच्छादित करती-सी सुशोभित होने लगीं ॥१६९॥ भगवान् सूर्य शीत के भय से सागरस्थ वड़वानल का आश्रय प्राप्त करने की अभिलाषा से शीघ्र ही समुद्र में प्रविष्ट होंगे, इस वृत्त की सूचना देते हुए-से दिन भी छोटे होने लगे ॥१७०॥

ऐसे प्रबलतर शीत समय में जलते हुए मञ्जुलतम दीपकों की मनोहर क्रान्ति से उज्ज्वल एवं ज्वलित हसन्तिका (जलती-अंगीठी)-

युक्त राजभवन के शयनागार में सुखपूर्वक सोया हुआ राजा विक्रमादित्य अकस्मात् आधी रात के समय जाग उठा ॥१७१॥ उस समय राजा ने शयनागार के अन्दर प्रवेश करते हुए हेमन्त के शीतल पवन के झकोरों से दीपकों की शिखाओं को काँपते हुए देखा ॥१७२॥ उनको अच्छी तरह से प्रज्वलित करने के लिए राजा ने "द्वारपाल कौन है" ऐसी आवाज दी ॥१७३॥ उस समय सब द्वारपाल निद्रावश हो गये थे, केवल मातृगुप्त जाग रहा था, राजा की आवाज को सुनकर मातृगुप्त ने कहा—महाराज, मैं आपका सेवक मातृगुप्त हूँ ॥१७४॥ तब राजा ने उसको अन्दर आने के लिए कहा और वह आज्ञानुसार उस उदार शयनागार में जाकर दीपकों को ठीक तरह से प्रज्वलित करने की आज्ञा पाकर आज्ञानुसार कार्य करने के बाद जब वह बाहर आने लगा, तब राजा ने कुछ देर तक वहीं ठहरने को कहा ॥१७५-१७६॥ मातृगुप्त पहिले ही शीत से काँप रहा था, अब राजा की आज्ञा सुनकर भय से उसका वह कम्पन द्विगुणित हो गया और "राजा क्या कहेगा" इस प्रकार सोचता हुआ अपने प्रभु के नजदीक ही पृथ्वी पर बैठ गया ॥१७७॥ बाद राजा ने उससे पूछा कि रात कितनी बाकी है, तब उसने कहा—महाराज, अभी डेढ़ पहर रात बाकी है ॥१७८॥ तब राजा ने कहा—तुझे निश्चित समय कैसे मालूम है? क्या तुझे निद्रा नहीं आती? ॥१७९॥ राजा के वचन को सुनकर मातृगुप्त ने सोचा कि, "अपनी करुण कथा कहने का यह अच्छा अवसर मिला है" बाद उसने आशा अथवा दीनता से छुटकारा पाने का

दृढ़ निश्चय करके तत्काल अग्रिम श्लोक द्वारा अपनी दरिद्रावस्था का चित्र खींचा है ॥१८०॥

"शीतेनोद्धृषितस्य माषशिमिवच्चिन्तार्णवे मज्जतः,
शांताग्निं स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षाम-कण्ठस्य मे।
निद्रा काप्यवमानितेव दयिता संत्यज्य दूरं गता,
सत्पात्र-प्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयतेशर्वरी॥"

माष की फली के समान शीत से पीड़ित, चिन्तामग्न और शान्त अग्नि को शीत से फटे हुए ओष्ठ से फूँकते हुए तथा क्षुधा से सन्तप्त मेरी निद्रा अपमानित दयिता की तरह मुझे त्याग कर दूर चली गई और सत्पात्र को दी हुई पृथ्वी के समान रात्रि अभीतक समाप्त नहीं होती ॥१८१॥ राजा ने उस कवि के वचन को सुनकर साधुवाद के द्वारा उसके परिश्रम की सराहना करते हुए उसे अपने स्थान पर जाने को कहा ॥१८२॥ कवीन्द्र के जाने के बाद राजा सोचने लगा, कि मुझे धिक्कार है जो कि इस खिन्नचित्त विद्वान् के मुख से ऐसे दुःखमय वचनों को सुनकर भी मैं अभी तक तटस्थ के समान बैठा हूँ ॥१८३॥ साधारण मनुष्य के समान मेरे प्रशंसा-वचनों को भी निरर्थक समझ कर मेरे हृदय की बात को न जानता हुआ यह कवि बाहर दुःखी हो रहा है ॥१८४॥ चिरकाल से इसकी योग्यता के अनुरूप सत्कार को खोजते हुए इतने दिन बीत गये, परन्तु इसके योग्य कोई बहुमूल्य पारितोषिक मेरे ध्यान में नहीं जँचता ॥१८५॥ अथवा इसी के सुभाषित ने मुझे स्मरण दिलाया है, कि— आजकल काश्मीर देश का कोई

राजा नहीं है ॥१८६॥ यद्यपि बहुत से राजा लोग काश्मीर देश के शासक बनने की लालसा से कई बार प्रार्थना कर चुके हैं, तथापि उनकी प्रार्थना को ठुकराकर स्वर्गोपम काश्मीर-भूमि इसे देना ही होगा ॥१८७॥ इस प्रकार रात में ही राजा ने सुदृढ़ निश्चय कर काश्मीर के मन्त्रि-मण्डल के पास अपने गुप्त दूत भेज दिये ॥१८८॥ और उनके द्वारा यह सन्देश भेजा कि—मातृगुप्त नामक जो पुरुष आपको मेरा आज्ञापत्र दिखलावेगा उसे निश्शङ्क काश्मीर राज्य का शासक मानकर राज्याभिषेक कर दीजिये ॥१८९॥ इस सन्देश के भेजने के पश्चात् तत्काल राजा ने शासन-पत्र लिखा और अपने को कृतकृत्य मानते हुए वह रात आनन्द से व्यतीत की ॥१९०॥

उधर वह बेचारा मातृगुप्त भी राजा के साथ की गई बात-चीत को निष्फल समझकर निराशा का अवलम्बन कर अपने को भारमुक्त-सा मानने लगा ॥१९१॥ और दिल में सोचने लगा कि मैं आज अपना कर्तव्य कर चुका, अब मेरा संशय दूर हो गया आज मुझे आशा-रूपी डाइन से मुक्ति मिल गई, अब मैं स्वतन्त्र होकर सुख से विचरूँगा ॥१९२॥ मैंने भी गतानुगतिकता के जाल में फँसकर साधारण सेवकों के सामान भ्रान्त-चित्त होकर इस राजा को सेव्य मान लिया था। वाह! मेरी बुद्धि को भी कैसे विचित्र भ्रम ने आ घेरा है ॥१९३॥ ठीक भी तो है केवल हवा खाकर समय बितानेवाले सर्पभोगी कहलाते हैं, कल-गुञ्जन करते हुए मधुकरों को कर्णों से ताड़न कर दूर हटानेवाले उन्मत्त गज विस्तृत-कर्ण कहे जाते हैं, अन्दर आग को धारण करनेवाला वृक्ष

शमी वृक्ष कहा गया है, इस अनर्गल-प्रलापी संसार ने सम्पूर्ण वस्तुओं को विपरीत रूप से प्रसिद्ध कर रखा है ॥१९४॥ तथापि इस राजा ने अपने कृपा-पात्रों को धन-धान्य से समृद्ध किया है। इसके पास प्रत्येक मनुष्य जा सकता है ॥१९५॥ इसमें इस निष्कलंक त्यागशील नरेश का क्या दोष है। मेरा ही अदृष्ट पाप भाग्योदय का प्रतिबन्धक बन रहा है ॥१९६॥ रत्नों से उज्ज्वल तरंगों को इतस्ततः संचालित करनेवाला समुद्र रत्नाकर कहलाता है, परन्तु यदि विपरीत पवन के वेग से ग्राहक रत्नों को न ले सकते हों, तो उनके भाग्य का ही दोष है क्योंकि याचित वस्तु के लाभ में दाता की अपेक्षा याचक का भाग्य ही अधिक उपयुक्त होता है ॥१९७॥ उत्कृष्ट फल को प्राप्त करनेवालों के लिए राज-सेवक ही अच्छे होते हैं राजा लोग नहीं, क्योंकि वे बड़ी कठिनाई से फलप्रद होते हैं ॥१९८॥ देखिए ! शंकर के चरणों में रहनेवालों को भस्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलता, और नन्दिकेश्वर के भक्तों को सर्वदा सुवर्ण मिलता है ॥१९९॥ अच्छी तरह से सोचने पर भी मुझमें ऐसा कोई भी दोष नहीं दीख पड़ता, जिससे इतनी सेवा करने पर भी यह राजा सन्तुष्ट न हुआ ॥२००॥

अथवा इन गतानुगतिक राजाओं से वह पुरुष आदर नहीं पा सकता, जो कि दूसरे स्थानों से सत्कृत होकर न आया हो ॥२०१॥ समुद्र अपने अन्तर्गत जल का आदर नहीं करता, परन्तु जब मेघ उस जल को पी जाते हैं और फिर बिन्दुशः गिराने लगते हैं, तब वही समुद्र उन बिन्दुओं को उज्ज्वल मौक्तिकों के आकार में परि-

णत करता है। इसी प्रकार साधारण मनुष्य भी यदि अन्यत्र सम्मान पा जाता है, तो राजा लोग भी उसका सम्मान करने लगते हैं ॥२०२॥ इस प्रकार सोचते हुए उस मातृगुप्त के हृदय में उस सेव्य भूपति के लिए अनादर के भाव उत्पन्न होने लगे, क्योंकि बुद्धिमान पुरुष भी हताश होकर भ्रान्ति-ग्रस्त हो जाते हैं ॥२०३॥ प्रातःकाल होते ही राजा सभा भवन में गया और मातृगुप्त को बुलवाने के लिए उसने द्वारपाल को आज्ञा दी ॥२०४॥ उसके बाद अनेक द्वारपालों के द्वारा प्रवेशित वह निराश मातृगुप्त राजा के पास गया ॥२०५॥ प्रणाम करने के पश्चात् उसको राजा के भ्रूसंकेतानुसार अधिकारी ने आज्ञापत्र दिया ॥२०६॥ खुद राजा ने भी कहा—भाई! क्या? तुम काश्मीर देश को जानते हो। वहाँ जाकर वहाँ के अधिकारियों को यह मेरा आज्ञापत्र दे देना ॥२०७॥ इसको मार्ग में खोलकर पढ़नेवाले को मेरी शपथ है। तुम्हें इस बात को कदापि नहीं भूलना चाहिए ॥२०८॥ राजा के हार्दिक अभिप्राय को न जानता हुआ क्लेशाङ्कित वह मातृगुप्त उस राजाज्ञा को रत्न-किरण-शोभा न समझकर अनज्वाला समझने लगा ॥२०९॥ राजा की आज्ञा को स्वीकार कर जब मातृगुप्त वहाँ से काश्मीर को चल दिया, तब राजा भी पूर्ववत् गर्व-रहित होकर अपने आप्तों के साथ बात-चीत करने लगा ॥२१०॥

इस प्रकार राजा की आज्ञा को सुनकर क्लेश सहने में सर्वथा अयोग्य, दुर्बल तथा पाथेय-रहित उस बेचारे मातृगुप्त को जाते हुए देखकर सब लोग राजा की निन्दा करने लगे ॥२११॥ बड़े

आश्चर्य की बात है कि यह राजा बिना सोचे-समझे काम कर बैठता है। क्योंकि यह आदरणीय व्यक्तियों को भी साधारण सेवकों के करने लायक कार्य में नियुक्त कर देता है ॥२१२॥ इस अज्ञानी राजा ने झूठी आशा से क्लेशों को सहकर रात दिन सेवा करते हुए इस मातृगुप्त को इस तरह के क्लेश सहने योग्य ही समझा है ॥२१३॥ सेवक जिस उपाय को राज-परिचय का साधन समझ कर राजा की सेवा करने लगता है, सेवकों के तारतम्य से सर्वथा अनभिज्ञ अज्ञानी राजा उस सेवक को उसी कार्य के योग्य समझ लेता है ॥२१४॥ शेषनाग ने गरुड़ के भय से मुक्त होने के लिए अपना शरीर शय्या के रूप में विष्णु को अर्पण कर अपने को दुःखी बना लिया, क्योंकि—विष्णु ने शेष को देह-भार-धारण-समर्थ जानकर उस पर सम्पूर्ण पृथ्वी का भी भार सर्वदा के लिए रख दिया ॥२१५॥ वैसे ही इस मातृगुप्त ने राजा के अन्य सेवकों की अपेक्षा स्वयं को अधिक गुणवान् समझ कर इसका आश्रय किसी विशेष आशा से ग्रहण किया ॥२१६॥ ऐसे गुणी पुरुष का इस प्रकार सम्मान करनेवाले इस राजा से बढ़कर संसार में गुणग्राही कौन होगा ? ॥२१७॥ "चमकीले पदार्थों से प्रेम करनेवाला यह मेघ निस्सार इन्द्रधनु को देख कर ही आनन्दित हो जाता है, तब अनेक रंगों को धारण किये हुए मेरे पंखों को देख अवश्य ही सन्तुष्ट होकर अनेक प्रिय कार्यों से मुझे आल्हादित करेगा।" ऐसा सोचकर मयूर अपने पंखों को फैला कर बादल के सम्मुख नृत्य करने लगता है परन्तु एक या दो पानी की बूँदें गिरा

कर उसे निराश करनेवाले उस बादल से अधिक कौन हृदय-शून्य होगा ॥२१८॥ दैन्य को त्याग कर प्रसन्नता-पूर्वक काश्मीर को जाने वाले मार्ग के पथिक मातृगुप्त के मन में भावी भाग्योदय के माहात्म्य से किसी तरह के भी संकल्प-विकल्प नहीं उत्पन्न होते थे ॥२१९॥ मार्ग में एक से एक बढ़कर शुभ शकुन मातृगुप्त को दीखते गये और वह उन्हीं के भरोसे पर विश्राम के लिए कहीं भी न ठहरा ॥२२०॥

उसने मार्ग में सर्प के फण पर बैठे हुए खञ्जन पक्षी को देखा और जहाज पर बैठकर समुद्रोल्लंघन करने का स्वप्न भी देखा ॥२२१॥ इन शुभ-शकुनों को देखकर शास्त्रज्ञ मातृगुप्त ने सोचा कि—यह राजाज्ञा मेरे लिए अवश्य ही लाभप्रद है ॥२२२॥ यदि मुझे काश्मीर में थोड़ा भी लाभ हुआ, तो भी उस अनर्घ (अत्युत्तम) देश के महात्म्य से अनेक उत्तम फलों की सम्भावना की जा सकती है ॥२२३॥ रास्ते में जाते हुए मातृगुप्त को चलने में अधिक कष्ट नहीं हुआ और आतिथ्य-निपुण सद्गृहस्थों के द्वारा प्रत्येक स्थान पर सत्कार-पूर्वक उसकी पूजा की गई ॥२२४॥ इस प्रकार मार्ग को उल्लंघन करने के बाद वायुवेग से चञ्चल वृक्ष तथा हरित-तृणों से सुशोभित मांगलिक दधि-पूर्ण-पात्र के समान सुशोभित हिमालय पर्वत उसे दृष्टिगोचर हुआ ॥२२५॥ वहाँ गंगा के शीतल जल-कणों से युक्त तथा देवदारु वृक्षों के संसर्ग से सुरभित काश्मीर पवन ने भावी भूपाल मातृगुप्त का प्रथम स्वागत किया ॥२२६॥ वह क्रमावर्त नामक प्रदेश में पहुँच कर कांबुक

नामक घाटी के द्वार पर गया जिसे आजकल शूरपुर कहा जाता है ॥२२७॥ उन दिनों में किसी आवश्यक कार्य से काश्मीर का अमात्य मण्डल वहाँ आया था और बहुत से विदेशी लोग भी वहाँ एकत्रित हुए थे। यह सब वृत्त मातृगुप्त ने सुन लिया था॥२२८॥ इसलिए उसने अपने मलिन वस्त्र उतार डाले और धुले हुए स्वच्छ वस्त्र पहिन लिये और विक्रमादित्य का आज्ञा-पत्र उनको देने के लिए वह उनके निकट गया ॥२२९॥ जब वह मार्ग में जा रहा था उस समय उसे जो शुभ-शकुन हुए उनसे उसका भावी भाग्योदय स्पष्ट सूचित हो रहा था, इसी बात को देखने के कौतुक से कई पथिक रास्ते में से ही उसके साथ आये थे ॥२३०॥

उसके वहाँ पहुँचते ही द्वारपालों ने विक्रमादित्य के दूत के आने की खबर मन्त्रियों को दी ॥२३१॥ आइये! आइये! इस इस प्रकार सत्कार-पूर्वक बुलवाये जाने पर वह बेरोक-टोक उनके पास चला गया ॥२३२॥ मन्त्रियों ने अपनी योग्यता के अनुसार उसका स्वागत किया और उसे उच्चतम सिहासन पर बैठाया ॥२३३॥ यथोचित सत्कार करने के बाद मन्त्रियों ने विक्रमादित्य के आज्ञा-पत्र के विषय में उससे पूछा, तब उसने शर्माते शर्माते वह पत्र उनको दिया ॥२३४॥ उन्होंने उस पत्र को आदरपूर्वक लेकर एकान्त में पढ़ा और फिर नम्रतापूर्वक मातृगुप्त से कहा ॥२३५॥ क्या आपका ही शुभ नाम मातृगुप्त है? हँसते हुए मातृगुप्त ने उत्तर दिया कि—हाँ, मेरा ही नाम है ॥२३६॥ ऐसा उत्तर सुनते ही तुरन्त "यहाँ कार्य करनेवाले कितने हैं" ऐसी आवाज से वह

स्थान गूंज उठा और तत्काल वहाँ राज्याभिषेक की सामग्री एकत्रित होने लगी ॥२३७॥ उसके बाद वह प्रदेश बहुत से लोगों के एकत्रित होने से कोलाहल के कारण थोड़ी ही देर में क्षुब्ध महासागर के समान प्रतीत होने लगा ॥२३८॥ फिर मातृगुप्त को पूर्वाभिमुख सिंहासन पर बिठालकर सब मन्त्रियों ने मिलकर उसका राज्याभिषेक किया ॥२३९॥ उस समय उसके विशाल वक्षस्थल से बहता हुआ अभिषेक जल विन्ध्याचल के तट से सशब्द बहते हुए नर्मदा नदी के प्रवाह के समान शोभायमान हो रहा था ॥२४०॥

स्नान के पश्चात् उसके भव्य शरीर पर दिव्य गन्ध का अनुलेपन किया गया और बहुमूल्य वस्त्र तथा आभूषण धारण कर सिंहासन पर बैठे हुए उसे राजा मानकर प्रजा ने प्रार्थना की ॥२४१॥ हमने इस काश्मीर देश की रक्षा के लिए महाराज विक्रमादित्य से प्रार्थना की थी, तदनुसार उन्होंने आपको अपने समान योग्य मानकर इस कार्य के लिए नियुक्त किया है, अतः आप इस देश पर शासन कीजिए ॥२४२॥ प्रभो ! इस काश्मीर देश के शासक बनने से प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न देशों पर अधिकार प्राप्त करने का अवसर मिलता है, अतः इस राज्य को किसी अन्य के द्वारा प्राप्त मत समझिये ॥२४३॥ अपने पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार जन्म लेनेवाले प्राणी के जैसे माता-पिता केवल जन्म के निमित्त-मात्र होते हैं, वैसे ही अपने सुकृत के प्रभाव से राज्य पानेवाले राजा के लिए भी दूसरे लोग केवल प्रवर्तक होते हैं ॥२४४॥ ऐसी स्थिति

में "मैं आपका हूँ" इस प्रकार कहकर आप स्वयं को तथा राज्य और हमको नीचा न मानिये ॥२४५॥ ऐसे उन मन्त्रियों के सत्य वचन सुनकर भी अपने स्वामी विक्रमादित्य के द्वारा किये गये सत्कार को याद करता हुआ वह मातृगुप्त हँसने लगा ॥२४६॥ नवीन राज्य की प्राप्ति के महोत्सव के अनुरूप दानों से उस मांगलिक दिन को सफल करता हुआ वह उस दिन वहीं रहा ॥२४७॥ दूसरे दिन नगर में प्रवेश करने के लिए मन्त्रियों की प्रार्थना को सुनकर उसके पूर्व ही अपने राज्य-दाता विक्रमादित्य के पास उसके अद्भुत उपायन (भेंट) सहित दूत भेजा ॥२४८॥ देश को उन्नति के अनुसार श्रेष्ठ उपहारों को विक्रमादित्य की सेवा में भेजते समय अपने को स्पर्धा करता हुआ समझ कर वह अपराधी के समान लज्जित होने लगा ॥२४९॥ उसके दूसरे सेवकों को बुलवाकर अपने स्वामी की सेवा का स्मरण तथा कृतज्ञता प्रकाशन के लिए अल्प-मूल्य होने पर भी लाभप्रद उपायन उसने विक्रम के पास भेजे ॥२५०॥

और उसके असाधारण गुणों का स्मरण कर आँसू बहाते हुए मातृगुप्त ने स्वयं एक श्लोक लिखकर भेज दिया ॥२५१॥ हे राजन्! आप आकार से तथा गर्वयुक्त भाषण से दान की इच्छा को प्रगट किए बिना ही दे दिया करते है। शब्द-रहित मेघ के द्वारा की गई वृष्टि के समान आपकी प्रसन्नता फल से ही जानी जाती है ॥२५२॥ पश्चात् उसने क्षितिज पर्यन्त फैलनेवाले सैनिकों के साथ बड़े समारोह से नगर में प्रवेश किया और पारम्परिक राज्य के समान

बड़ी चतुरता से राज्य का पालन करना प्रारम्भ किया ॥२५३॥ उसने उदारता तथा शूरता में किसी प्रकार से भी कार्पण्य नहीं दिखलाया ॥२५४॥ यद्यपि वह उदारता के कारण दान-दक्षिणा देने की इच्छा से यज्ञ करने का इरादा करता था, परन्तु पशु-हिंसा को स्मरण करते ही करुणार्द्र हो गया और यज्ञ का विचार त्याग दिया ॥२५५॥ उसने सम्पूर्ण राज्य में हिंसा बन्द करवा दी और यज्ञ में पशु-वध के स्थान पर करम्भक नामक सुवर्ण-मुद्रा का उपयोग किया गया ॥२५६॥ जब वह राजा मातृगुप्त मुक्त हस्त से यज्ञ में दक्षिणा के रूप में करम्भक नामक सुवर्ण-मुद्रा बाँटने लगता था, तब वहाँ से कोई भी याचक सन्तुष्ट हुए बिना नहीं जाता था ॥२५७॥ सर्व-गुण-सम्पन्न एवं दारिद्र्य का अनुभवी तथा दान-शूर वह मातृगुप्त विक्रमादित्य की अपेक्षा भी याचकों के लिए अधिक सुखकर तथा लोकप्रिय था ॥२५८॥ उस राजा की अत्यन्त प्रशंसनीय विचारशीलता के कारण अत्यन्त हृदयग्राही ऐश्वर्य विद्वानों को आनन्द-प्रद होते थे ॥२५९॥ एक बार मेण्ठ नामक कवि स्वनिर्मित हयग्रीव-बध नामक नवीन काव्य उसके सम्मुख पढ़ने लगा। अन्त तक पढ़ा जाने के पहले राजा ने उसके विषय में एक अक्षर भी नहीं कहा ॥२६०॥

जब वह उस पुस्तकको समेट कर बाँधने लगा, तब राजा मातृगुप्त ने टपकता हुआ काव्यामृत-रस पृथ्वी पर गिरने न पाये, ऐसी अभिलाषा से उस पुस्तक के नीचे सुवर्ण-पात्र रखवा दिया ॥२६१॥ राजा के द्वारा किये गये ऐसे आदर से सन्तुष्ट

कवि को उस रचना के उपलक्ष मिला हुआ बहुमूल्य पारितोषिक व्यर्थ-सा प्रतीत होने लगा ॥२६२॥ उस मातृगुप्त ने स्वनामानुसार मातृगुप्त स्वामी का मन्दिर बनवाया और उसमें मधुसूदन भगवान् की स्थापना की। उसके नित्य-पूजन के लिए कुछ ग्राम भी दिये, जिन्हें कुछ काल के बाद मम्म ने अपने मन्दिर के लिए ले लिया ॥२६३॥ इस प्रकार राज्य करते हुए उसको चार वर्ष नौ मास तथा एक दिन व्यतीत हो गया ॥२६४॥ उसी समय काश्मीर के प्राचीन राजवंश में उत्पन्न हुआ प्रवरसेन नामक राज-पुत्र पितृ-मरण से उद्विग्न होकर अपनी माता अंजना के साथ पितरों के उद्धार के लिए तीर्थ-यात्रा कर रहा था, तीर्थाटन करते हुए उसने अपने देश में मातृगुप्त के शासक होने का वृत्तान्त सुना ॥२६५॥ उसका पितृ-मरण जनित प्रबल शोक तात्कालिक तीक्ष्ण-क्रोध के वेग से सूर्य की तीक्ष्ण-धूप से रात में गिरे हुए ओस के जल के समान सूख गया ॥२६६॥ श्री-पर्वत पर रहनेवाला पाशुपत-व्रतधारी अश्वपाद नामक सिद्ध आगन्तुक प्रवरसेन को भोजनार्थ कन्द-मूल अर्पण कर कहने लगा ॥२६७। हे राजपुत्र ! मैं पूर्वजन्म में सिद्ध था और तू मेरा शिष्य था। सिद्धि-प्राप्ति के बाद मैंने तुझसे तेरी अभिलाषा पूछी थी और तब तुझे राज्य पाने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित जानकर मैंने तेरी इच्छा को पूर्ण करने का वचन दिया था तेरे मनोरथ को पूर्ण करने के हेतु मुझे सयत्न देख भगवान् शंकर ने मुझे दर्शन देकर कहा ॥२६८–२६९॥ यह तेरा शिष्य मेरा गण है और मैं स्वयं इसकी अभिलाषा को आगामी जन्म में सफल करूँगा

॥२७०॥ अतः हे प्रवरसेन तुम्हारी आकांक्षा को भगवान् शंकर स्वयं पूर्ण करेंगे, ऐसे वचन कहकर वह सिद्ध अन्तर्धान हो गया ॥२७१॥

साम्राज्य-प्राप्ति की अभिलाषा से वर्षभर तपस्या करने के बाद, अश्वपाद की सूचना से भगवान् शंकर ने उस राजकुमार प्रवरसेन को दर्शन दिया ॥२७२॥ सन्यासी के रूप में आये हुए तथा वांछित फल देने को तत्पर शंकर से उसने जगद्विजय से सुशोभित साम्राज्य की याचना की ॥२७३॥ तब शंकर ने उसकी परीक्षा करने के इरादे से कहा—हे राजकुमार ! अविनश्वर मोक्ष-सुख को छोड़कर तू इस क्षणनश्वर राज्य-सुख की क्यों इच्छा करता है ॥२७४॥ यह सुनकर, कुछ रुष्ट होकर उसने कहा—महात्मन् ! मैंने आपको यतिवेषधारी शंकर समझकर अपनी इच्छा प्रगट की। परन्तु आप वास्तविक शंकर नहीं हैं ॥२७५॥ महापुरुष थोड़ा माँगने पर भी अधिक दे देते हैं। जल की याचना करने पर प्यासे उपमन्यु को भगवान् भव ने क्षीरसमुद्र दे दिया था ॥२७६॥ मोक्ष को प्राप्त करने की लालसा इस जन के चित्त में किंचिन्मात्र भी नहीं है। केवल गत वैभव के लाभ से ही मेरी मर्म-व्यथा कारक अभिभूति अर्थात् पराभव दूर होगा, इस बात को क्या आप नहीं जानते ? ॥२७७॥ इस वचन से सन्तुष्ट होकर जगन्नायक श्रीशंकर ने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया और उसको इच्छानुरूप वरदान दिया और कहने लगे ॥२७८॥ जब तू राज्य-सुखों के जाल में फँस जायगा तब मेरी आज्ञा से अश्वपाद नामक सिद्ध योग्य समय पर सायुज्य प्राप्ति के लिए सावधान होने का संकेत कर देगा ॥२७९॥ ऐसे

वचन कह कर भगवान् शंकर के अन्तर्धान होने के बाद उस प्रवरसेन ने व्रत समाप्त कर पारणा की और अश्वपाद से आज्ञा लेकर अभीष्ट प्रदेश को रवाना हो गया ॥२८०॥

उसके मन्त्रियों ने उसे काश्मीर का सब वृत्त कहा, उसे सुनकर मातृगुप्त पर आक्रमण करने को उद्युक्त हुए सचिवों को रोककर कहा ॥२८१॥ उस उद्दण्ड विक्रमादित्य को पराजित करने की मेरी इच्छा है मैं इस बेचारे मातृगुप्त को किंचिन्मात्र भी कष्ट देना नहीं चाहता ॥२८२॥ क्लेश सहने में असमर्थ कोमल शत्रुओं को पीस देने में क्या महत्त्व है? हाँ जो उनका ध्वंस करने में समर्थ हों उनको जीतने की इच्छा रखना ही वीरों के लिए शोभास्पद है ॥२८३॥ कमल चन्द्रमा के उदय से द्वेष रखते हैं, परन्तु चन्द्र उनको नष्ट नहीं करता, किन्तु उनके नाशक हाथियों को भग्नदन्त करना ही योग्य समझता है। बड़े लोग हीन शत्रुओं को कष्ट देने की अपेक्षा उनसे अधिक बलिष्ट श्रेष्ठ शत्रु को पद-दलित कर संसार को अपनी वीरता का परिचय देते हैं अर्थात् बड़ों के क्रोध का शिकार बड़ा ही होता है ॥२८४॥ पश्चात् उसने सेना एकत्रित करके दिग्विजय का प्रारम्भ किया। त्रिगर्त देश को जीतकर आगे बढ़ते हुए प्रवरसेन को विक्रमादित्य का मरण-वृत्त विदित हुआ ॥२८५॥ उस दिन राजा प्रवरसेन ने शोकपूर्ण उष्ण-निश्वास लेते हुए न तो स्नान किया, न भोजन किया और न वह सोया ही, सिर्फ नीचा सिर करके बैठा रहा ॥२८६॥ दूसरे दिन काश्मीर के राज्य का त्याग कर जाते हुए मातृगुप्त को अपने समीप के प्रदेश में ठहरा सुनकर

वह शङ्कित हुआ कि कहीं मेरे पक्षपातियों ने इसे कष्ट देकर राज्य-च्युत तो नहीं कर दिया ! ऐसा सोचकर वह थोड़े से आप्तजनों को साथ लेकर उसके पास गया ॥२८७-२८८॥ मातृगुप्त ने प्रवरसेन का यथोचित सत्कार किया, बाद में सुखपूर्वक बैठे हुए मातृगुप्त से प्रवरसेन ने विनयपूर्वक राज्य-त्याग का कारण पूछा ॥२८९॥ उसने कुछ क्षण मौन रहकर दीर्घ निश्वास लेते हुए हँसकर कहा—राजन्, जिस पुण्यात्मा के प्रताप से हम लोग राजा बने थे, वह आज इस संसार को त्यागकर चला गया ॥२९०॥

जब तक भगवान् सूर्य की किरणावली दिशाओं को विद्योतित करतीं हैं, तभी तक सूर्यकान्त मणि चमकता है, अन्यथा क्या वह पाषाण नहीं हो जाता ? ॥२९१॥ तब प्रवरसेन बोला राजन् आपको किसने कष्ट पहुँचाया है ? जिससे आप इतने उद्विग्न होकर उस विक्रमादित्य को स्मरण कर रहे हैं ॥२९२॥ मातृगुप्त ने कुछ क्रुद्ध होकर हँसते हुए कहा, राजन्, हमें कोई भी विशेष शक्तिशाली सता नहीं सकता ॥२९३॥ परन्तु उस विशेष गुणज्ञ राजाने मेरा जो बहुमान किया है; वह भस्म में घृत का हवन नहीं किया है अथवा ऊसर भूमि में बीज नहीं बोया है ॥२९४॥ अचेतन पदार्थ भी उपकर्ताओं के उपकारों का स्मरण रखकर उनको नष्ट हुए देख खुद भी उनका अनुसरण करते हैं ॥२९५॥ सूर्य अस्त होनेपर सूर्यकान्त शान्तिधारण कर लेता है और चन्द्र के साथ ही चन्द्रकान्त भी सूख जाता है ॥२९६॥ अब मैं मोक्षपुरी श्रीकाशी में जाकर ब्राह्मण धर्मानुसार सन्यास ग्रहण करूँगा और शान्ति-

पूर्वक अपनी अवशिष्ट आयु को व्यतीत करूँगा ॥२९७॥ इस पृथ्वी के रत्न-दीपक के समान उस राजा विक्रमादित्य के अभाव से सर्वत्र अन्धकारपूर्ण इस भूमि को देखते ही मेरा हृदय भयभीत होने लगता है, ऐसी स्थिति में राज्य-सुख की क्या कथा ? ॥२९८॥ इस प्रकार उस महापुरुष के त्यागयुक्त वचनों को सुनकर परम बुद्धिमान् प्रवरसेन आश्चर्यान्वित होकर गम्भीर वचन कहने लगा ॥२९९॥ राजन्, आपके समान निरपेक्ष, धर्मात्मा एवं कृतज्ञ पुरुषों के जन्म से सुशोभित यह वसुन्धरा सचमुच ही रत्नसू है ॥३००॥

आपके सदृश गुणवान् पुरुष की परीक्षा करनेवाले विक्रमादित्य के अतिरिक्त इस जड़ संसार में किसकी गुणग्राहकता प्रशंसनीय हो सकती है ॥३०१॥ यदि इस भूमि पर आपके समान कृतज्ञता के मार्गदर्शक उत्पन्न न होते तो कभी से कृतज्ञता की राह बन्द हो जाती ॥३०२॥ आज कल किसी सामान्य मनुष्य पर यदि कोई दयालु उपकार करता है तो उस उपकृत पुरुष को यह अभिमान हो जाता है कि—यह मेरे पूर्वजन्म के सुकृतों का फल है। अन्यथा इसने मुझपर कुछ समय पूर्व उपकार क्यों नहीं किया, अथवा इस उपकार में उपकर्ता का कुछ न कुछ स्वार्थ अवश्य होगा, अन्यथा यह अपने दीन बान्धवों पर उपकार क्यों नहीं करता, या मैं इसकी सब गुप्त बातें जानता हूँ इसलिए मुझे दे रहा है, नहीं तो इस लोभी से ऐसी आशा कहाँ हो सकती है ॥३०३॥ अत्युत्तम गुणवानों पर पुण्यात्मा पुरुषों द्वारा की गई उपकृति उर्वर-भूमि में लगाई गई

लता के अल्प होने पर शीघ्र पल्लवित एवं पुष्पित होकर शतशाखा-मय हो जाती है ॥३०४॥ इसलिए हे राजन्, आप परीक्षित रत्न के समान श्रेष्ठ तथा धन्य हैं एवं सर्वथा माननीय हैं ॥३०५॥ मुझ पर कृपा करके आप इस राज्य का त्याग मत कीजिए। मेरी गुणि-जन पक्षपातिता इस संसार में प्रगट होने दीजिए ॥३०६॥ प्रथम विक्रम द्वारा समर्पित और पश्चात् मेरे द्वारा पुनः समर्पण किये गए इस राज्य को सनाथ कीजिए ॥३०७॥ इस प्रकार प्रवरसेन के निष्कपट तथा उदार वचन सुनकर मन्द स्मित पूर्वक मातृगुप्त बोला ॥३०८॥ जिन अक्षरों को कहे वगैर मनुष्य अपने हार्दिक भावों को व्यक्त कर ही नहीं सकता, उनको कहने में मर्यादा का उल्लंघन लाचार होकर करना पड़ रहा है ॥३०९॥ अतः अब मुझे आपसे कुछ कटु वचन कहना है। सभ्यता के लक्षण अव्याज माधुर्य का तिरस्कार करना पड़ता है ॥३१०॥

प्रत्येक व्यक्ति अपनी अवनत अवस्था की लघुस्थिति का स्मरण उस अवस्था में जैसे रखता है, वैसे ही उन्नत अवस्था में भी गौरव युक्त स्थिति का स्मरण तथा ज्ञान उसे रहता ही है ॥३११॥ आपको तथा मुझे अपनी-अपनी पूर्व स्थिति का स्मरण इस समय भी बना है, इसी से मोहित होकर हम दोनों अपने अभिप्राय को परसस्पर समझ नहीं सकते ॥३१२॥ राजा होकर मेरे जैसा पुरुष दूसरे की दी हुई सम्पदा को कैसे स्वीकार कर सकता है और एक क्षण में मनुष्यता को कैसे भुला सकता है ॥३१३॥ मेरे जैसे कृतज्ञ मनुष्य उस राजा विक्रमादित्य की उदारता की असाधारण महिमा

को भोग तृष्णा के वश होकर साधारण श्रेणी में कैसे रख सकता है ॥३१४॥ राजन्, यदि मेरे हृदय में भोग तृष्णा ही होती, तो मैं अपने स्वाभिमान को कायम रखकर सुख भोग सकता था। मुझे कोई नहीं रोक सकता था ॥३१५॥ उसने मुझ पर उपकार किया है, यदि मैं उसका प्रत्युपकार नहीं करूँगा तो वह मुझमें ही जीर्ण हो जायगा ॥३१६॥ मुझे उसका अनुसरण कर संसार के सम्मुख उसकी सत्पात्रपरीक्षा की प्रौढ़ता को प्रसिद्ध करना चाहिये ॥३१७॥ इतने कर्तव्य को समाप्त कर समग्र सांसारिक-विषय सुखों को त्याग कर कीर्तिमात्रावशेष राजा विक्रमादित्य के अनुसरण द्वारा मैंने सत्य-संध होने का निश्चय किया है ॥३१८॥ इस वचन को सुन कर प्रवरसेन ने कहा, कि—आपके जीवन पर्यन्त मैं काश्मीर राज्य की सम्पत्ति को नहीं ग्रहण करूँगा ॥३१९॥ उसके बाद उस धर्मात्मा मातृगुप्त ने सब त्याग कर काशी में संन्यास दीक्षा ग्रहण कर गेरुए वस्त्र धारण कर लिये ॥३२०॥

राजा प्रवरसेन भी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार काश्मीर की वार्षिक आय को प्रति वर्ष मातृगुप्त के पास भेजता था ॥३२१॥ भिक्षा से अपना जीवन व्यतीत करते हुए मातृगुप्त ने भी अनायास प्राप्त सम्पत्ति का याचकों को दान देकर सदुपयोग करते हुए दस वर्ष व्यतीत किये ॥३२२॥ परस्पर यथोचित स्वाभिमान रखने वाले तथा उदार हृदय विक्रमादित्य, मातृगुप्त और प्रवरसेन इन तीनों राजाओं की कथा त्रिपथगा गंगा के समान परम पवित्रतम हैं ॥३२३॥ राजा प्रवरसेन ने भी अपने प्रखर प्रताप से

राजाओं को पादाक्रान्त कर अपना सुयश दसों दिशाओं में फैला दिया ॥३२४॥ समुद्र-शोषक तथा विन्ध्याचल को लाँघनेवाले महर्षि अगस्त्य के प्रताप से जैसे जल निर्मल होता है वैसे ही राजा प्रवरसेन के प्रचण्ड प्रताप से सर्वभुवन प्रसन्न थे ॥३२५॥ उसकी सेना ने समुद्र-तट प्रान्त के तमाल, ताल आदि वृक्षों के पत्रों को गिरा दिया और उसी के प्रभाव से शत्रुओं की स्त्रियों के भाल-स्थल से तमाल तिलक तथा कर्ण-युगलों से ताटङ्क-युग्म-गलित हो गये ॥३२६॥ उसकी सेना के सहस्रशः मदोन्मत्त हाथियों के कपोलों से बहते हुए कालेरंग के मदजल से गंगा से मिले हुए पूर्व समुद्र को यमुना संगम की अभूतपूर्व शोभा प्राप्त हुई ॥३२७॥ उसके दिग्विजयी सैनिकों ने पश्चिम समुद्र-तीर के सौराष्ट्र देश पर आक्रमण कर वहाँ के राजाओं का समूल नाश कर डाला ॥३२८॥ यशमात्र के अभिलाषुक तथा रागद्वेष शून्य राजा प्रवरसेन की दिग्विजय धर्मविजय थी ॥३२९॥ उसने शत्रुओं द्वारा राज्यच्युत किये गये विक्रमादित्य के पुत्र शिलादित्य अथवा प्रतापशील को फिर से सहायता देकर उज्जयिनी का शासक बना दिया ॥३३०॥ और जो सिंहासन विक्रमादित्य के जमाने में काश्मीर से उज्जैन मँगवा लिया था, उसे वह वहाँ से फिर काश्मीर ले आया, क्योंकि वह सिंहासन इसके पूर्वजों का था ॥३३१॥

उसने बार बार किसी न किसी बहाने से पराजय को अस्वीकार करते हुए राजा मुम्मुनि को क्रमशः सात बार जीतकर छोड़ दिया ॥३३२॥ जब आठवीं बार भी कुछ बहाना बनाकर वह

उद्धतता दिखलाने लगा, तब प्रवरसेन ने आज्ञा दी कि इस पशु को बाँधकर मार डालो ॥३३३॥ तब वह हे वीर, मैं पशु होने से अवध्य हूँ ऐसा कहकर राजसभा में मयूरके समान नृत्य करने लगा ॥३३४॥ मयूर के समान केका तथा नृत्य करते देख राजा प्रवरसेन ने उसे अभय तथा बहुत सा धन दिया और नट के पहिनने योग्य वस्त्र तथा नृत्य-गायनोपयुक्त बहुत सी वस्तुएँ भी दीं ॥३३५॥ इस प्रकार संसार को जीतकर अपने पितामह के नगर में राज्य करते हुए प्रवरसेन के मन में अपने नाम से नगर बसाने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई ॥३३६॥ उसके लिए उपयुक्त उत्तम स्थल तथा शुभ मुहूर्त को खोजने की इच्छा से सूर्य-तुल्य तेजस्वी वह राजा रात को वीरचर्या के लिए निकला ॥३३७॥ उस समय जाते हुए राजा के किरीट-रत्नों में प्रतिबिम्बित तारक-वृन्द रक्षासर्षपों की शोभा को धारण कर रहे थे ॥३३८॥ भ्रमण करता हुआ वह एक नदी के किनारे पर पहुँचा, वहाँ बहुत सी चिताएँ धधक रहीं थीं और उनके प्रकाश में वहाँ के वृक्ष बड़े ही डरावने मालूम होते थे ॥३३९॥ उसको नदी के उत्तर तीर पर ऊर्ध्वबाहु होकर गरजता हुआ एक भयङ्कर पिशाच दीख पड़ा, उस पिशाच की आँखों में से आग की लपटें निकल रही थीं और उन ज्वालाओं से वह राजा उल्का-ज्योति से घिरे हुए कुल पर्वत के समान दीख रहा था ॥३४०–३४१॥

उसके बाद भयङ्कर गर्जना की प्रतिध्वनि से सम्पूर्ण दिशाओं को प्रतिध्वनित करता हुआ वह पिशाच हँसकर उस निर्भय प्रवर-

सेन से बोला ॥३४२॥ राजन्, सत्त्वशाली राजा शूद्रक और महाराज विक्रमादित्य तथा आपको छोड़कर किसी के भी हृदय में इतना दृढ़ धैर्य नहीं देखा गया ॥३४३॥ भूपते आप इस नदी के सेतु को लाँघकर इस पार आ जाइये मैं आपके मनोरथ को पूर्ण करता हूँ ॥३४४॥ ऐसा कहकर उस राक्षस ने अपना पैर नदी पर फैला दिया, उस सेतु से नदी का जल दो भागों में विभक्त हो गया॥३४५॥ उस वीर प्रवरसेन ने राक्षस के पैर से बनाए गये सेतु को देखकर म्यान से छुरी निकाल ली ॥३४६॥ उस छुरिका से राक्षस के पैर के माँस को काट काटकर सीढ़ियों के समान रास्ता बना लिया और उसी राह से पार चला गया। उस स्थान को क्षुरिकाबल कहते हैं ॥३४७॥ राजा को अपने पास खड़ा देखकर पिशाच ने उसे शुभलग्न बताकर कहा कि—मेरे लगाये सूत्रपात के अनुसार तू अपना नगर बसाना ऐसा कहकर वह गुप्त हो गया ॥३४८॥ बाद प्रातःकाल में वह सूत्रपात शारोटक नामक ग्राम के पास राजा ने देखा, वहाँ शारिकादेवी तथा अह नामक यक्ष के मन्दिर थे ॥३४९॥ वहीं राजा ने भक्तिपूर्वक प्रवरेश्वर नामक लिंग को स्थापित करने का उपक्रम किया, इतने में ही शिव-स्थापना के लिए बनाये गये यन्त्र का भेदन कर जयस्वामी नामक विष्णु उस पर बैठे हुए दीख पड़े ॥३५०॥

राजा ने बैताल द्वारा बतलाए गये शुभलग्न को जाननेवाले जय नामक शिल्पकार के नाम से उस विष्णु-प्रतिमा को जयस्वामी नाम से प्रसिद्ध किया ॥३५१॥ उस राजा की भक्ति से प्रसन्न होकर

भीम स्वामी नामक गणेश ने राजा के नगर से विपरीत न रहने की इच्छा से पश्चिमाभिमुखता को त्याग कर पूर्वाभिमुखता का स्वीकार किया ॥३५२॥ इन्द्रतुल्य तेजस्वी प्रवरसेन ने उस नगर में सद्भाव श्री इत्यादि श्री शब्दयुक्त नामवाले देवताओं के मन्दिर बनवाये॥३५३॥ वितस्ता नदी पर नौकाओं का एक बड़ा भारी पुल बनवाया। उसी समय से नौकाओं के पुल बनवाने की योजना संसार में प्रारम्भ हुई ॥३५४॥ प्रवरसेन के मातुल जयेन्द्र ने मन्दिर बनवा कर उसमें बुद्ध भगवान् की मूर्ति स्थापित की, तथा जयेन्द्र-बिहार बनवाया ॥३५५॥ उसका मोराक नामक मन्त्री सिंहल आदि द्वीपों पर शासन करता था, उसने अपने नाम से अत्यन्त सुन्दर मोराक-भवन नामक प्रासाद बनवाया ॥३५६॥ उस नगर की सीमा पर विश्वकर्मा और वर्धमान स्वामी का मन्दिर था। ऐसी किंवदन्ती है कि किसी समय उस नगर की गृह संख्या ३६ छत्तीस लाख थी ॥३५७॥ वह नगर वितस्ता नदी के दक्षिण-तट पर बसा था, उसमें अनेकशः शोभापूर्ण बाजार वितस्ता के तीर पर लगे थे ॥३५८॥ उसमें गगनचुम्बी प्रासाद बने थे, उनके अत्युन्नत शिखरों पर चढ़कर निदाघ के अन्त में वृष्टि-स्निग्ध-हरित-तृण-संकुल तथा चैत्र में विकलित-कुसुम-पुञ्ज-रमणीय मैदानों की शोभा देखी जाती थी ॥३५९॥ इस पृथ्वी पर उस नगर के अतिरिक्त कहाँ बाजार तथा उद्यानों के मार्गों पर दोनों तरफ सुन्दर तथा निर्मल जलपूर्ण नहरें बहती हुई दीख सकती थीं ॥३६०॥

इस नगर को छोड़कर दूसरे कौन से शहर के ठीक मध्य भाग

में क्रीड़ा-पर्वत विद्यमान है। जिसके शिखर पर से नगर के सम्पूर्ण गृहों की अद्भुत छटा विहंगम दृष्टि से देखी जाती हो ॥३६१॥ वहाँ के रहनेवालों को गर्मी के दिनों में बर्फ के टुकड़ों से युक्त वितस्ता का शीतल जल बिना किसी प्रयत्न के पीने को मिलता था, ऐसा सुख दूसरी जगह कहाँ मिल सकता है ॥३६२॥ काश्मीर के शासक राजाओं ने प्रत्येक देवायतन में जो धन खर्च किया था वह इतना था कि हजारों बार उतने धन से समुद्र-वलयांकित वसुन्धरा खरीदी जा सकती है ॥३६३॥ उस नगर में विधाता का अनुसरण करते हुए, नव-सृष्टि-निर्माण-रसिक राजा प्रवरसेन ने साठ वर्ष साम्राज्य-लक्ष्मी के उपभोग में व्यतीत किये ॥३६४॥ शंकर के त्रिशूल से अंकित उस राजा के भव्य ललाट पर सिर पर से फैलते श्वेत केशों को देख प्रत्येक दर्शक के मन में गंगा-प्रवाह-विभूषित एवं भव्य जटा-जूट-धारी भूत-भावन भगवान् शंकर का भ्रम होता था ॥३६५॥ पश्चात् अश्वपाद ने शंकर की आज्ञा से काश्मीरवासी जयन्त नामक ब्राह्मण को अपने पास आया देख उससे कहा ॥३६६॥ हे पथिक, तुम थके-से दीख रहे हो। तुम्हारा कार्य अन्यत्र सिद्ध नहीं होगा। तुम इस पत्र को राजा प्रवरसेन के निकट पहुँचा दो, वहीं तुम्हारा कल्याण होगा ॥३६७॥ ऐसा कहकर पत्र देते हुए अश्वापाद से वह ब्राह्मण बोला—महात्मन् मैं घूमते घूमते थक गया हूँ। अब मुझसे इतनी दूर का प्रवास नहीं हो सकेगा ॥३६८॥ इसके उत्तर में अश्वपाद ने 'मैं कापालिक हूँ, और आपने ब्राह्मण होकर मेरा स्पर्श किया है, इसलिए स्नान कीजिए' ऐसा कहकर

उसे नजदीक के कुण्ड में फेंक दिया ॥३६९॥ जब उसने आँख खोलकर देखा तो खुद को अपनी मातृभूमि काश्मीर में खड़ा पाया और राजा के सेवकों को पूजा-सामग्री एकत्रित करने में व्यग्र देखा ॥३७०॥

बाद में उसने पूजा के लिये नदी से लाए गये स्नान-कलश के जल में बड़ी होशियारी से वह पत्र डाल दिया ॥३७१॥ राजा ने प्रवरेश्वर को स्नान कराते समय वह पत्र देख लिया और उसे पढ़कर जयन्त को अपने पास बुलवाया ॥३७२॥ उस पत्र में लिखा था कि—"राजन्, आपने जो कुछ करना था वह कर लिया। देना था, सो दे दिया। सांसारिक विषय सुख भी भोग लिया, अब जवानी भी आपको त्याग कर चली गई, अब क्या करना है। आओ अब कैलास चलें" ॥३७३॥ उस लेख से शंकर के सन्देश को जानकर ब्राह्मण को यथेष्ट द्रव्य से सन्तुष्ट कर योगबल से उस पाषाणमय प्रासाद की छत फोड़कर राजा ने निर्मल आकाश में प्रवेश किया ॥३७४॥ आकाश मार्ग से कैलास-विभूषित उत्तर दिशा की ओर जाते हुए राजा को सब लोगों ने निर्मल नभ में द्वितीय सूर्य के समान चमकता हुआ देखा ॥३७५॥ जयन्त ने इस अद्भुत घटना द्वारा पाई हुई सम्पदा को पाकर अग्रहार निर्माण आदि शुभकृत्यों से उसका सदुपयोग किया ॥३७६॥ इस प्रकार वह राजा प्रवरसेन पृथ्वीलोक के अनन्त ऐश्वर्य को भोगकर इसी देह से कैलास पहुँच गया और वहाँ भगवान् भूतेश की सभा को सम्भूषित करने लगा ॥३७७॥ आज भी सिद्धिक्षेत्र में श्रीप्रवरेश्वर

के मन्दिर में उस राजा का गमनद्वार स्वर्गद्वार के समान विद्यमान है ॥३७८॥ प्रवरसेन की पत्नी रत्नप्रभा देवी से उत्पन्न हुए राजा युधिष्ठिर ने ३९ वर्ष और ३ मास तक काश्मीर देश का शासन किया ॥३७९॥ सर्वरत्न, जय, स्कन्दगुप्त नामक राजमन्त्रियों ने विहार, चैत्यादि उत्तम स्थानों का निर्माण किया ॥३८०॥

चैत्य आदि शुभ स्थानों से युक्त भवच्छेद नामक ग्राम को बसाने वाला राजा जयेन्द्र का पुत्र वज्रेन्द्र भी युधिष्ठिर का मंत्री था ॥ ३८१॥ दिग्ललनाओं के मुखारविन्दों को कीर्तिरूपी चन्दन से अलंकृत करने वाले कुमारसेन आदि उस राजा के प्रधानमंत्री थे ॥३८२॥ उसके बाद उसकी पत्नी पद्मावती देवी का पुत्र नरेन्द्रादित्य अथवा लखण काश्मीर का शासक हुआ। उसने नरेन्द्र स्वामी की स्थापना की ॥३८३॥ वज्रेन्द्र के पुत्र वज्र और कनक उसके मन्त्री थे और उसकी पत्नी का नाम विमलप्रभा था ॥३८४॥ उसने लेखों को सुरक्षित रखने के लिए एक नवीन विभाग (महकमा) स्थापित किया था। १३ वर्ष राज्य करने के बाद वह स्वर्गवासी हो गया ॥३८५॥ पश्चात् उसका कनिष्ठ भ्राता रणादित्य काश्मीर के राज्यासन का अधिकारी हुआ। लोग उसे तुञ्जीन भी कहा करते थे ॥३८६॥ शङ्ख-मुद्राङ्कित उसका विलक्षण मस्तक सूर्यमण्डल मिश्रित चन्द्र-बिम्ब के समान सुशोभित था ॥३८७॥ उस रणादित्य के खड्ग का तीक्ष्ण प्रहार शत्रुओं की कण्ठाटवी पर लगते ही उनकी पत्नियों के नेत्रकुण्ड जलपूर्ण हो जाते थे ॥३८८॥ उसका विलक्षण प्रतापाग्नि शत्रुओं के देशों में प्रवेश करते ही

रिपुनारि-नेत्रों में अश्रुजल-तरङ्ग तथा रिपुराज-भवनों पर नवीन हरित तृणाङ्कुर उत्पन्न कर देता था ॥३८९॥ उसके हाथों में तलवार लेने पर समर-भूमि में शत्रु-पक्ष में से कबन्धों के अतिरिक्त कोई भी नृत्य नहीं कर सकता था ॥३९०॥

उसकी पत्नी रणरम्भा देवी अखित माहात्म्य धारण करने वाली साक्षात् वैष्णवी शक्ति थी ॥३९१॥ वह राजा पूर्वजन्म में पक्का द्यूतकार (जुआरी) था। वह अपने प्रतिपक्षी द्यूतकारों से सर्वस्व-हरणपूर्वक परास्त कर दिया गया, इससे उसके मन में निर्वेद उत्पन्न हो गया ॥३९२॥ फिर भी कट्टर द्यूतकार मरते-मरते भी स्वार्थ साधन का विचार नहीं छोड़ते। अतः उसने भी प्राण-त्याग द्वारा स्वार्थ-साधन का विचार किया ॥३९३॥ वरदान प्राप्त करने की इच्छा से उसने अपने जीवन की पर्वाह न कर अमोघ-दर्शना भ्रमरवासिनी विंध्यवासिनी देवी के दर्शन का निश्चय किया ॥३९४॥ भ्रमरवासिनी के मन्दिर का मार्ग पाँच योजन लम्बा तथा बड़ा भयानक था। वज्र के समान तीखे डंकवाले भौंरों से उस मार्ग में जाने वाले मनुष्य का शरीर छेद दिया जाता था, इसलिए वह मार्ग सर्वथा दुर्लंघ्य था ॥३९५॥ उस बुद्धिमान ने देह-त्याग को आवश्यक समझकर वज्र के समान डंकवाले भ्रमरों से बचने का उपाय दुष्कर नहीं माना ॥३९६॥ उसने सर्व प्रथम लोहकवच से शरीर को आच्छादित किया, और उस पर भैंसे का चमड़ा मढ़ा, बाद उसपर गोबर में मिट्टी मिलाकर लेपन कर दिया ॥३९७॥ उसको धूप में सुखाकर चलते-फिरते मिट्टी के पुतले-सा वह दीखने

लगा ॥३९८॥ उसने सरल मार्ग को त्यागकर अपने जीवन की पर्वाह न करते हुए घने अन्धकार से व्याप्त भयानक गुहा में प्रवेश किया ॥३९९॥ वहाँ मृत्यु के वाद्यों की भयानक आवाज के समान शब्द-युक्त पक्षों से कर्णों को पीड़ा देनेवाले भयंकर भ्रमर उड़ने लगे ॥४००॥

उन्होंने राजा के शरीर पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया परन्तु सूखे हुए मृत्तिका के लेप की धूल से उनकी आँखों में पीड़ा होने से वे सहसा आक्रमण में सफल न हुए और उसे अधिक कष्ट न पहुँचा सके ॥४०१॥ परन्तु जो धूल से अन्ध हो गये थे, वे तो चले गये और जो नए नए आने लगे उन भ्रमरों ने उसके मृत्तिका के लेपन को नष्ट करना शुरू किया ॥४०२॥ उन भयंकर भ्रमरों के आक्रमण को सहन कर तीन योजन के मार्ग को उल्लंघन करते हुए उसका वह कवच खंडित हो गया ॥४०३॥ उसके बाद वे भ्रमर फिर से उसके महिषचर्म के कवच पर आक्रमण कर प्रहार करने लगे और उन प्रहारों से चट चट शब्द होने लगा ॥४०४॥ चतुर्थ योजन के आधे हिस्से को अतिक्रमण करने के बाद उसे मालूम हुआ कि उन भ्रमरों ने महिषचर्म के कवच को काटकर लोहमय कवच पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया ॥४०५॥ अत्यन्त वेग से दौड़ते हुए उसके लोहमय कवच ने भी भ्रमरों से खंडित होकर उसका साथ छोड़ दिया किन्तु धैर्य ने उसका पूरा साथ दिया ॥४०६॥ जब देवी का मन्दिर केवल दो कोस दूर रह गया तब तो उस धैर्यशाली ने अपने दोनों हाथों से भ्रमरों को उड़ाते हुए दौड़ना शुरू

किया ॥४०७॥ पश्चात् भ्रमरों के प्रहार से स्नायु तथा अस्थिमात्र शेष शरीरधारी उसने हाथों से आँखों को बचाते हुए देवी-मंदिर में प्रवेश किया ॥४०८॥ भ्रमरों के उपद्रव के शान्त होने के बाद उसने प्रकाश का दर्शन किया और घबड़ा कर देवी के चरणों पर गिर पड़ा ॥४०९॥ उसके बाद देवी ने मनोहर रूप धारण कर उस अल्पावशेष प्राणधारी भक्त को आश्वासन देने के लिए अपने हाथ से उसके शरीर को स्पर्श किया ॥४१०॥

उस अमृतवर्षी दिव्य करस्पर्श से शीघ्र ही पूर्ववत् स्वास्थ्य प्राप्त कर उसने चारों तरफ देखना प्रारंभ किया ॥४११॥ प्रवेश करते समय जिस भयंकर आकार वाली सिंहवाहिनी देवी की मूर्ति को उसने देखा था, वह मूर्ति इस समय उसके सम्मुख न रही ॥४१२॥ उसने सरोवर के तीर पर उद्यान में लता मण्डप के भीतर क्रीड़ा करती हुई कमल नयनी के दर्शन किये ॥४१३॥ यौवन मुक्ताहार रूपी अर्घ्य से एवं कान्तिरूपी कुसुमों से उसके शरीर की पूजा कर रहा था ॥४१४॥ उसके यावकाहारी चरण स्तनों की ओट छिपे हुए मुख के दर्शन के लिये कृच्छ्रचारी होकर मानों तप कर रहे थे ॥४१५॥ उसके ओष्ठ बिम्बफल के समान रक्त-वर्ण थे। केशपाश भ्रमरों के समान कृष्णवर्ण था। पूर्ण चन्द्रतुल्य मुख एवं सिंह के समान पतली कमर थी। उसकी वह भव्य मूर्ति सर्वदेवमयी सी प्रतीत होती थी ॥४१६॥ सर्वावयवसुन्दर तथा यौवन विकसित कमनीय स्वरूप को देखकर उस द्यूतकार का मन कामदेव के वशीभूत हो गया ॥४१७॥ उसकी दृष्टि में रूप एवं

माधुर्य की छटा से सुशोभित वह देवी के रूप में प्रतीत नहीं हो रही थी। वह तो उसे अप्सरा के रूप में देख रहा था ॥४१८॥ देवी ने कृपा पूर्वक उससे कहा कि हे वत्स, तुझे मार्ग में दारुण-तम कष्ट उठाने पड़े हैं, अतः क्षण भर विश्राम लेकर योग्य वरदान माँग ॥४१९॥ उसने कहा कि-आपके दर्शन से मेरा श्रम दूर हो गया है। परन्तु आप देवी तो नहीं हैं इस लिए वरदान कैसे दे सकेंगी ॥४२०॥

देवी ने कहा भद्र मैं देवी होऊँ या न होऊँ परन्तु तुझे यह भ्रम क्यों हुआ कुछ भी हो मैं तुझे तो वरदान दे सकती हूँ ॥४२१॥ इस प्रकार पूर्णरूप से आश्वासन पाते ही उसने सब मर्यादाओं को त्यागकर वर माँगा कि मैं तुम्हारा प्रणयसंगम चाहता हूँ ॥४२२॥ तब देवी ने कहा हे दुर्बुद्धे यह क्या विचित्रता कर रहा है दूसरा वरदान माँग मैं ही भ्रमर वासिनी देवी हूँ ॥४२३॥ देवी के वचनों से पूर्ण निश्चय होने पर भी उसने उस बात पर ध्यान देकर अपना निश्चय नहीं बदला ठीक भी है क्योंकि जन्मांतरीय वासनाओं को कौन रोक सकता है ॥४२४॥ उसने देवी से कहा, कि आप यदि अपने वचनों को सत्य प्रमाणित करना चाहतीं हों तो मुझे मुँह माँगा वरदान देने की कृपा करें क्योंकि मैं और कुछ नहीं चाहता ॥४२५॥ प्राणियों के जन्मान्तरीय पूर्व संस्कार या संमोह शरीर पर दीखने वाले तिलचिन्ह के समान आगामी जन्मान्तर में भी कायम रहते हैं ॥४२६॥ उसने कहा कि आप देवी हो या साधारण स्त्री हों या कोई भयंकर हों अथवा कोई भी और कैसी भी हों

मुझे तो पूर्ववत् दीख रही हो ॥४२७॥ इस प्रकार बारबार कहने से उसे दृढनिश्चयी समझ कर देवी ने कहा कि तेरे आगामी जन्म में ऐसाही होगा ॥४२८॥ क्योंकि दिव्य देहधारी जीव मनुष्यों को स्पर्श करना नहीं चाहते हैं अतः हे क्रूरसंकल्प ! तू यहाँ से चला जा ऐसा कह कर देवी गुप्त हो गई ॥४२९॥ आगामी जन्म में मुझे देवी के प्रणय का सौभाग्य प्राप्त होगा ऐसी आशा से उसने प्रयाग में जाकर अक्षयवट की शाखा से कूद कर प्राण त्याग कर दिया ॥४३०॥ वही राजा रणादित्य हुआ, और देवी रणरंभा नामक राज कन्या हुई। देवी को अपने पूर्व जन्म का स्मरण था ॥४३१॥

समुद्र की पूजा करते हुए चोल देश के राजा रतिसेन को रत्न राशि के समान सागर तरंगों में से वह मिली थी ॥४३२॥ उसमें बचपन से ही दिव्य चिन्ह झलकते थे, और जब वह तरुणावस्था को अलंकृत करने लगी तब बहुत राजाओं ने याचना करना प्रारंभ किया परन्तु राजा रतिसेन ने उन राजाओं की माँग स्वीकार नहीं की ॥४३३॥ राजा रणादित्य का मन्त्री भी रतिसेन के निकट याचना के लिये दूत बन कर आया। राजा ने उसे भी इन्कार करने का विचार किया किन्तु रणरम्भा ने उसी के साथ विवाह करना योग्य समझा और राजा से कह भी दिया ॥४३४॥ कि रणादित्य के लिए ही उसने जन्म लिया है। इस वृत्तान्त को सुन कर राजा ने शीघ्र ही अपने मित्र कुलुत देश के राजा के पास उस कन्या को भेज दिया ॥४३५॥ रणादित्य ने भी प्रसन्न होकर दूर देश स्थित उस राजकन्या से विवाह कर अपने अन्तःपुर की

अधिष्ठात्री देवी बनाया ॥४३६॥ वह राजपत्नी होने भी मनुष्य के स्पर्श से डर कर उसे माया से मोहित बनाकर स्पर्श नहीं करती थी ॥४३७॥ प्रतिदिन राजा की शय्या पर माया के बल से अपने समान सौन्दर्ययुक्त एक ललना को रख भ्रमरी का रूप धारण कर रात्रि में भ्रमणार्थ बहिर्दे जाती थी ॥४३८॥ उस राजा ने अपने और रणरम्भा के नाम से एक सुयोग्य शिल्पी द्वारा दो सुन्दर मन्दिर बनवाकर उनमें स्थापन करने के लिए दो शिव के बाण भी बनवाये ॥४३९॥ और उनकी प्रतिष्ठा के नियत किये दिवस के एक दिन पूर्व किसी विदेशी ज्योतिषी ने उन दोनों शिव लिंगों की बड़ी आलोचना करते हुए सिद्धकर दिया, कि ये दोनों बेजोड़ हैं ॥४४०॥ तथा अनुभव द्वारा विश्वास उत्पन्न कराते हुए उसने कहा, कि इनके अन्दर समण्डूक अश्मखंड विद्यमान हैं ॥४४१॥

इस प्रकार की विचित्र घटनासे प्रतिष्ठा में विघ्न उपस्थित होनेसे वह राजा व्याकुल होकर किंकर्तव्यता मूढ़ हो गया। तब दिव्यदृष्टि महादेवी रणरम्भा ने राजासे कहा ॥४४२॥ आर्यपुत्र, प्राचीन समय में पार्वतीजी के विवाह के शुभ अवसर पर ब्रह्माजी को पुरोहित का कार्य करना पड़ा था। उस वक्त उन्होंने अपनी पूजा सामग्री में से एक विष्णु मूर्ति को निकाल कर वहाँ रख दिया ॥४४३॥ परन्तु शंकर ने उसको "यद्यपि यह विष्णुमूर्ति शक्तिरूप है, तथापि शिवके बिना शून्य है" इस विचार से अपूर्ण समझा ॥४४४॥ और विवाहोत्सव में आये हुए देवता तथा असुरों के द्वारा उपहार में अर्पण

किये गए रत्नों को एकत्रित करके उनका एक शिवलिंग बनाया गया, और उस जगत्पूज्य शिवलिंग की स्थापना की गई ॥४४५॥ और विष्णु प्रतिमा तथा शिवबाण साथही पूजे गये। पश्चात् काल की महिमा से [illegible] वह लिंग तथा वह प्रतिमा रावण को मिली ॥४४६॥ [illegible] में उन दोनों को स्थापित कर कई वर्षों तक उनकी पूजा की। उसके बाद बानरों ने लंका से उसका हरण किया ॥४४७॥ वानर तो पशु ही ठहरे, इस लिये उन्होंने स्वभावानुसार हिमालय पर्वत के उत्तर मानस सरोवर के तीर पर क्रीड़ा करते हुए उन दोनों देव प्रतिमाओं को सरोवर में डाल दिया है ॥४४८॥ मैंने पहिले से ही उत्तम शिल्पियों द्वारा उन्हें सरोवर से निकलवाने का प्रबन्ध कर लिया है। कल प्रभात में वे दोनों प्रतिमाएँ यहाँ पहुँच जावेंगी और अवश्य ही आप देख सकेंगे ॥४४९॥ आप उनकी प्रतिष्ठा कीजिएगा, ऐसा कह कर वह देवी अन्तःपुर में चली गई, और वहाँ जाकर उसने आकाशचारी सिद्धों का स्मरण किया ॥४५०॥

देवी के ध्यान-मात्र से वे वहाँ उपस्थित हुए तथा उसके आदेश से मानस-सरोवर के जल में से उन प्रतिमाओं को निकाल कर राज-भवन में ले आये ॥४५१॥ दूसरे दिन प्रातःकाल में दिव्य पुष्पों से युक्त उन हरि-हर प्रतिमाओं को देख लोग अत्यन्त आश्चर्यान्वित हो गये ॥४५२॥ राजा रणादित्य परम माहेश्वर था, इस लिये उसने शुभ मुहूर्त में रणेश्वर नामक शिव लिंग की स्थापना का विचार किया था ॥४५३॥ इतने में ही रणरम्भा के अद्भुत

प्रभाव से सब को चकित करती हुई रणस्वामी नामक विष्णु की प्रतिमा उस यन्त्र को भेदन कर स्वयं प्रगट होगई ॥४५४॥ उसके प्रभाव को व्यक्त करने के लिये रणरम्भा ने बहुत सी सम्पति मन्दिर को समर्पण की। उस सम्पत्ति में से रणस्वामी के भक्तों को अनेक अग्रहार दिए ॥४५५॥ वहाँ ब्रह्म नामक एक सिद्ध पानी लाने वाले ब्राह्मण के रूप म रहता था। महारानी ने उसकी वास्तविकता को पहिचान कर उसके द्वारा उन दोनों देवताओं की प्रतिष्ठा करवाई ॥४५६॥ रणेश्वर की प्रतिष्ठा करते ही उसने अपनी सिद्धता को प्रगट हुई देख कर शीघ्र ही आकाश मार्ग से प्रयाण किया, और गुप्त रूप में रह कर रणस्वामी को प्रतिष्ठा करवाई ॥४५७॥ इस सिद्ध के विषय में लोगों का यही मन्तव्य है, कि वह सिद्ध स्वयं ही उस पीठ पर मूर्ति रूपेण अवतरित हुआ था, और यह प्रवाद आज भी जनता में प्रचलित है ॥४५८॥ उस देवी ने परम ब्रह्मज्ञानी उस सिद्ध के नाम पर बहुत द्रव्य व्यय से ब्रह्म-मण्डप नामक भवन बनाया ॥४५९॥ इसी प्रकार उन दोनों ने रण-रम्भा स्वामी तथा रणरम्भादेव के दो मन्दिर बनवाये और पाशुपत यतियों के निवासार्थ प्रद्युम्न शिखर पर एक मठ भी बँधवाया ॥४६०॥

रोगियों को निरोग करने के हेतु एवं सेनामुखी नामक राजपत्नी के भय को दूर करने के लिये उस राजाने एक उत्तम आरोग्य-शाला स्थापित की ॥४६१॥ और सिंहरोत्सिका नामक ग्राम में रणपुरस्वामी के नाम से विख्यात श्री सूर्यनारायण का भव्य मन्दिर

बनवाया ॥४६२॥ उसकी द्वितीय पत्नी अमृतप्रभा ने रणेश्वर के दक्षिण पार्श्व में अमृतेश्वर की स्थापना की ॥४६३॥ और उसी अमृतप्रभा ने मेघवाहन राजा की भिन्ना नामक पत्नी के द्वारा बँधवाये प्राचीन बिहार में भगवान बुद्ध की एक सुरम्य मूर्ति को स्थापित किया ॥४६४॥ रणरम्भा देवी पर राजा अत्यन्त अनुरक्त था, इसलिये रणरम्भा ने अपने मिलन को अव्यर्थ सिद्ध करने के लिये और राजा को पाताल-वासियों पर भी अधिकार जमाने के लिये हाटकेश्वर-मन्त्र प्रदान किया ॥४६५॥ उसने भी उस मन्त्र के साधन में कई वर्ष व्यतीत कर दिये ॥४६६॥ उसने प्रथम इष्टिका पथ नामक स्थान में जाकर कठोर तपश्चर्या की। फिर नन्दिशिला को गया; वहाँ उसको अनेक वर्ष पर्यन्त उस सिद्ध मन्त्र का आनन्द मिला ॥४६७॥ शुभ स्वप्न तथा दैवी चमत्कारों से दृढ़ निश्चय कर के वह राजा चन्द्रभागा नदी के प्रवाह में प्रविष्ट होकर नमुचिदैत्य की गुफा में पहुँच गया ॥४६८॥ इस प्रकार बिल के मार्ग के खुलने पर इक्कीस दिन में अपने नगर वासियों को भी वहाँ ले गया, और उन्हें वहाँ अनेक दैत्य सुन्दरियों के सम्भोग का आनन्द प्राप्त हुआ ॥४६९॥ इस प्रकार उसने ३०० वर्ष तक पृथ्वी पर राज्य किया, उसके पश्चात् पाताल के ऐश्वर्य का उपभोग कर अन्त में निर्वाण-पद प्राप्त किया ॥४७०॥

वह वैष्णवी शक्ति रणरम्भा देवी भी राजा रणादित्य के रसातल प्रयाण के बाद श्वेतद्वीप को चली गई ॥४७१॥ अनेक प्राचीन राजवंशों में केवल दो ही राजवंश श्रेष्ठ हुए। एक तो

रघुवंश, और दूसरा गोनंदवंश; उनमें भी रघुवंश में भगवान् रामचन्द्र और गोनन्दवंश में राजा रणादित्य इन दोनों ने अपने साथ अपनी प्रजा को भी स्वर्गसुख का आनन्द दिखाया, इसी लिए इन दोनों वंशों का प्रजा वात्सल्य अप्रतिम सिद्ध हुआ ॥४७२-४७३॥ रणादित्य के बाद उसका पुत्र विक्रमादित्य काश्मीर देश का शासक हुआ। उसने त्रिविक्रम भगवान् के समान अपने विक्रम से सम्पूर्ण विश्व पर अधिकार कर लिया था, और विक्रमेश्वर नामक शंकर की स्थापना की ॥४७४॥ उस वासव समान राजाने ब्रह्म तथा गलून नामक दो मन्त्रियों की सहायता से ४० चालीस वर्ष तक पृथ्वी का पालन किया ॥४७५॥ ब्रह्म नामक मन्त्री ने ब्रह्ममठ का निर्माण किया; एवं परम पवित्र गलून मन्त्री ने अपनी पत्नी रत्नावली के नाम से एक विहार निर्माण किया ॥४७६॥ राजा विक्रमादित्य के बाद उसका छोटा भाई बालादित्य वहाँ का शासक हुआ। उस बलशाली राजा से शत्रुजन काँपते थे ॥४७७॥ उसका प्रताप क्षार समुद्र के जलपान से तृषाधिक्यको धारण करता हुआ-सा शत्रुललनाओं के अश्रुयुक्त मुखकमलों का सेवन करता था ॥४७८॥ उसके द्वारा निर्माण किये जयस्तम्भ पराजित शत्रुओं के हार्दिक दुःखों के मानदण्डों के समान आज भी पूर्व समुद्र के तीर पर खड़े हैं ॥४७९॥ उसने अपने प्रतापरूपी अंकुश से बंगाल देश को जीत कर वहाँ काश्मीर वासियों के निवास के लिये कोलम्ब्य नामक स्थान का निर्माण किया ॥४८०॥

इसी प्रकार उस राजा ने काश्मीर में भी मण्डलराज्यान्तर्गत

सुसमृद्ध भेडर ग्राम ब्राह्मणों को अग्रहार दिया ॥४८१॥ बिम्ब फल के समान ओष्ठ वाली उसकी पत्नी महारानी बिम्बा ने अरिष्टोत्सादन नामक स्थान में जनता के अरिष्टों को नष्ट करने वाले भगवान् बिम्बेश्वर का मन्दिर बनवाया ॥४८२॥ खंख, शत्रुघ्न एवं मालव नामक राजमन्त्रियों ने क्रमशः मठ, मन्दिर तथा सेतु का निर्माण किया ॥४८३॥ उसके यहाँ अद्भुत विलासविभूषिता एवं शृङ्गार समुद्र को तरंगित करने वाली अनंगलेखा नामक कन्या हुई ॥४८४॥ एक समय राजा के पास बैठी हुई उस मृगनयनी को देखकर एक सत्यवादी दैवज्ञ ने राजा से स्पष्ट शब्दों में कहा ॥४८५॥ राजन्, गोनन्द वंश के साम्राज्यभोक्ता अन्तिम पुरुष आप ही हैं। आपके बाद आपके जमाता इस राज्यसिंहासन के अधिष्ठाता होंगे ॥४८६॥ इस प्रकार दैवज्ञ के वचन को सुनकर राजाने अपना साम्राज्य कन्या के आधीन होना सर्वथा अयोग्य समझकर भाग्य को पुरुषार्थ से जीतने का निश्चय किया ॥४८७॥ और सोचा, कि "यदि इसे किसी राजवंश में न देकर साधारण वंश के युवक को दिया जाय तो इसे साम्राज्य का अधिकार नहीं मिलेगा" ऐसा सोचकर किसी राजकुमार के साथ उस कन्या का विवाह नहीं किया ॥४८८॥ और अत्यंत सुन्दरता को महत्त्व देकर सामान्य कुल में उत्पन्न हुए दुर्लभवर्धन नामक अश्वघास कायस्थ के साथ अनंगलेखा का विवाह कर दिया ॥४८९॥ उस राजा को यह बात मालूम नहीं थी, कि स्नान करती हुई दुर्लभवर्धन की जननी के साथ कर्कोटक नाग

ने संभोग किया था, और उसीसे दुर्लभवर्धन का जन्म राज्यसुख को भोगने के लिए ही हुआ था ॥४९०॥

पण्डितम्मन्य लोग हठात् जिसे अयोग्य ठहराते हैं, दैव भी उन्हें मूर्ख सिद्ध करने के लिए उसी व्यक्ति को भाग्यशाली तथा सुपात्र ठहराता है ॥४९१॥ अस्ताचल-गामी सूर्य सब ग्रहों का तिरस्कार कर अपना तेज अधिक योग्य समझ कर अग्निको प्रदान कर देता है और हास्यास्पद बनता है। क्योंकि उसे दैव की अघटित घटना पटीयसी महा महिमता का पता नहीं रहता। बाद में अग्नि तो दूर रहा, परन्तु छोटे २ दीपक भी जो कि अग्नि-जनित हैं—अपनी ज्योति से सूर्य को भुला सकते हैं ॥४९२॥ पश्चात् वह दुर्लभवर्धन भाग्यानुगामिनी बुद्धिके प्रभाव से नीतियुक्त आचरण करता हुआ लोक प्रिय हो गया ॥४९३॥ बुद्धिसे चमकते हुए उसको राजा बालादित्यने प्रज्ञादित्य नामसे सम्मानित कर कुबेर के समान धनाढ्य बना दिया ॥४९४॥ माता-पिता को अत्यन्त प्रिय होनेसे उद्धत तथा यौवन-मद से मत्त राजकन्या अनङ्गलेखा उसके साथ उचित व्यवहार नहीं करती थी ॥४९५॥ स्वैरिणी समागम, स्वर्गदुर्लभ सुखोपभोग, तरुण पुरुष-सहवास, पिता का गृह तथा पति की सौम्यता आदि शील से च्युत करने वाली सभी सामग्रियाँ उसके लिए उपस्थित थीं ॥४९६॥ अतः वह अनङ्गलेखा नित्यमिलन, अन्योन्यावलोकन आदि उत्तेजक कारणों से राजमन्त्री खंख पर आसक्त हो गई ॥४९७॥ उस राजकन्या को गुप्त प्रेम समागम के सुख का अनुभव होने से

कुलकन्योचित लज्जा, भय, सम्भ्रम आदि गुणों को छोड़कर धृष्टता-पूर्वक प्रेम का अभ्यास हो गया, और वह क्रमशः तन्मय हो गई ॥४९८॥ खंख ने अंतःपुर में अपने प्रभाव से तथा धन देकर दास-दासियों को वश में कर लिया था। और राजकन्या के साथ स्वच्छन्द विहार प्रारम्भ किया था ॥४९९॥ उस परम-चतुर दुर्लभवर्धन ने भी अनङ्गलेखा के तिरस्कर सूचक रूक्ष व्यवहार से उसके शीलभ्रंश का रहस्य जान लिया था ॥५००॥

वह एकान्त में सखियों में हँसा करती थी, और पति को देखते ही विषण्णवदना हो जाती थी। अकस्मात् उठकर हँसती हुई मार्ग की ओर देखने लगती थी ॥५०१॥ पति को क्रुद्ध देखकर उसकी पर्वाह न करके खुद भी अपनी भृकुटि को टेढ़ा कर लेती थी। पति की ओर आँखें मिचकाने लगती थी तथा चिबुक हिलाती थी। उसके अप्रिय भाषण को सुन कर हँसने लगती थी ॥५०२॥ उसके समान गुणों में वैराग्य प्रगट करती थी, उसके प्रतिस्पर्धियों की प्रशंसा को बड़े प्रेम से सुनती थी, उसकी प्रेम-लालसा को देख कर वह उधर से अपना ध्यान हटाकर सखियों से प्रेमालाप करने लगती थी। ५०३॥ उसे चुम्बनोद्यत देख वह अपना सिर नीचा कर लेती थी और आलिंगन के समय शरीर को शिथिल कर देती थी, सम्भोग के समय दुःखित होती, तथा निद्रा का बहाना करती थी ॥५०४॥ ठीक भी तो है कि—जार को प्रेम तथा देह अर्पण करने वाली स्त्री के शरीर में रहने वाली अनीति-रूपिणी पिशाची का प्रभाव प्रगट हुए बिना नहीं रहता ॥५०५॥ इस प्रकार अनङ्गलेखा

के दुःसह गुप्त दुराचरणों से खिन्न होकर वह दुलभवर्धन प्रतिदिन दुर्बल होने लगा। दैवयोग से किसी दिन रात्रि के समय वह अन्तःपुर में गया ॥५०६॥ उसने वहाँ अनङ्गलेखा को खंख के साथ विविधरति-विलासोभोग के पश्चात् उसके शरीर पर गिरकर गाढ़ निद्रा में मग्न हुए देखा ॥५०७॥ कुचाग्र को कम्पित करते हुए श्वास से यह बात स्पष्ट विदित हो रही थी कि सम्भोग को अभी अधिक विलम्ब नहीं हुआ है ॥५०८॥ ऐसी स्थिति में उदासीन पुरुष को भी क्रोध आ सकता है, तब वह कैसे क्षमा करेगा! उस दृश्य को देख वह क्राध से अग्नि के समान जलने लगा ॥५०९॥ और म्यान से तलवार निकाल कर प्रहार करने को उद्यत हुआ; परन्तु विवेक ने उसे उस कार्य के करने से रोका। इस प्रकार प्रहार करने की इच्छा करता था और रुक जाता था ॥५१०॥

उसके बढ़ते हुए क्रोधरूपी समुद्र को विवेकरूपी वेला ने रोक दिया ॥५११॥ उस महापुरुष को प्रणाम हो और उससे बढ़कर कौन जितेन्द्रिय हो सकता है, जिसने ईर्ष्या, क्रोध आदि विष-विषूचिकाओं को जीत लिया है ॥५१२॥ उसने सोचा कि मनो-विकारों के वश में रहनेवाली ये स्त्रियाँ बड़ी बुरी हैं, इन्हें विवेक से किञ्चित् भी स्नेह नहीं होता। ये अपने साथ पुरुषों को भी नरक में घसीट ले जाती हैं ॥५१३॥ अन्याय इन्द्रिय-भोग्य-विषयों के समान स्त्री भी किसी एक इन्द्रियके लिए उपभोग्य-विषय हैं; अतः इनके विषय में संयमी पुरुषों को क्रोध नहीं करना चाहिए ॥५१४॥ स्त्री जाति स्वभाव से ही चपल है, अतः इसका नियन्त्रण कौन

कर सकता है; और नियन्त्रण करने पर भी सज्जनों को स्मरण करने योग्य कौन-सा बड़ा लाभ होता है ॥५१५॥ एक कुतिया के पीछे घूमते हुए बहुत से कुत्तों के समान एक स्त्री पर लुब्ध होनेवाले दो पुरुषों के पारस्परिक संघर्ष को यदि मान कहा जाय, तो अवमान किसे कहना चाहिए ? ॥५१६॥ ज्ञानवान् पुरुष के हृदय में मृग-नयनियों के विषय में ममता अथवा स्नेह क्यों होना चाहिए; क्योंकि अपने ही शरीर पर प्रेम अथवा अभिमान करना सर्वथा व्यर्थ अथच अयोग्य है, तो अन्यत्र कैसे योग्य हो सकता है ? ॥५१७॥ मैं क्रोध एवं उद्वेग के वशीभूत होकर इस ललना को वध्य समझता हूँ किन्तु उद्वेग के प्रधान हेतु राग को भी मुझे नहीं भूलना चाहिए ॥५१८॥ इस प्रेमतरु का मूल सप्त पातालों को भेदन कर नीचे तक चला गया है, उसको नष्ट करने के लिए उसके आधार भूत-द्वेष को नष्ट करना अत्यावश्यक है ॥५१९॥ जिसने विवेकबल से द्वेषरूपी प्रबल शत्रु को जीत लिया है, वह क्षणार्ध प्रेम को भी निश्शेष कर सकता है ॥५२०॥

इस दैवी कृपा से प्राप्त औषधि से प्रथम ईर्ष्या को प्रश्चात् राग को जीतने से आशाएँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं ॥५२१॥ पश्चात् वह खंख के वस्त्र पर "खंख तू सर्वथा वध्य है, परन्तु मैं दयाकर तुझे छोड़े देता हूँ" ऐसा लिखकर वहाँ से चुपचाप चल दिया ॥५२२॥ इस प्रकार गुप्तरूप से दुर्लभवर्धन के जाने के बाद जागृत हुए खंख ने उन वचनों को पढ़ कर सोचा ॥५२३॥ आज उस उदार-हृदय दुर्लभवर्धन की कृपा से ही मेरे प्राण बचे हैं। और उसी क्षण से

अनंगलेखा से प्रेम करना छोड़कर उसके प्रत्युपकार की चिन्ता करने लगा ॥५२४॥ उस दिन से उसका मन प्रत्युपकार की चिन्ता से विदीर्ण होने लगा, न कि कामदेव के बाणों से। और उसकी दृष्टि उन्निद्रता से व्याप्त रहती थी, न कि राजकन्या से ॥५२५॥ उज्ज्वल सत्कर्म करनेवाला वह बालादित्य ३६ वर्ष तथा ८ मास राज्य कर सुकृत के प्रभाव से कैलासवासी हुआ ॥५२६॥ वही गोनन्दवंश का अन्तिम पुरुष था। उसके पूर्व ही निकट सम्बन्धियों के यहाँ भी पुरुष-सन्तान नष्ट हो चुकी थी। जैसे कोई मस्त हाथी सरोवर में प्रवेश कर कमलों को नष्ट कर देता है, फिर महापूर के आने से सब मृणालनाल तथा कमलकन्द नष्ट हो जाते हैं उसी तरह गोनन्दवंश भी दुःखद स्थिति में पहुँच चुका था ॥५२७॥ उसके बाद प्रत्युपकार की प्रबल अभिलाषा से प्रेरित होकर उस खंख मन्त्री ने अन्य मन्त्रियों के मतभेद को अपनी प्रबल बुद्धि के प्रभाव से दूर कर राजजमाता दुर्लभवर्धन को राज्याधिकारी बना दिया और यथाविधि कनक-कलशों से उसके मस्तक पर अभिषेक किया गया ॥५२८॥ कर्कोटक नाग-कुलोत्पन्न, मुकुट-मौक्तिकों की किरणावली से समुज्ज्वल फणांकुर के समान शोभायमान दीर्घबाहु-युगलविभूषित वह राजा दुर्लभवर्धन अपने वंशज के राज्याधिकार से प्रसन्न हुए शेषनाग के हर्षोत्फुल्ल द्विसहस्र-नयन-पल्लवों के समूह की सुवर्ण कमल-मालिका से विभूषित होने लगा ॥५२९॥ जिस प्रकार भगवती गंगा ने अपने आकाश-मार्ग को त्यागकर त्रैलोक्यपति भगवान् शंकर के जटाजूट का आश्रय ग्रहण किया, उसी प्रकार

काश्मीर-भूमि ने भी विशुद्ध गोनन्दवंश को त्यागकर विमलतर कर्कोटक वंश का आश्रय ग्रहण किया ॥५३०॥

इस तरंग में १० दस राजाओं ने ५१७ वर्ष और ४ चार मास तक राज्य किया।

इतिश्री काश्मीरिक महामात्य चम्पक प्रभुपुत्र
महाकवि श्रीकल्हण कृत राजतरंगिण्यां
तृतीयस्तरङ्गः समाप्तः।

चतुर्थ तरङ्ग

श्री शैल-सुता के अर्धांग से युक्त तथा निर्विघ्न सिद्धि-प्रद एवं त्रिकालाबाध्य वह भगवान् शंकर का शरीर आपके कल्याण को वृद्धिङ्गत करे; जिसमें नाग-वधू के शरीर के समान कुटिल तथा श्यामल कान्तिवाली गिरजा की वेणी से वेष्टित जटा-जूट-स्थित सर्प की देह भी अपनी अर्धाङ्गी से युक्त-सी सुशोभित हो रही है ॥१॥

उस राजा दुर्लभवर्धन को एक ही गोनन्दवंश से पृथ्वी तथा राजकन्या दोनों का लाभ हुआ था, पश्चात् शनैः २ नानाविध रत्न तथा अनेक पुत्रों की प्राप्ति उन दोनों के योग से हुई ॥२॥ अनंग-लेखा के पति दुर्लभवर्धन ने उसका एक भी अवगुण जनता के सम्मुख प्रगट नहीं किया, इसलिए उसकी प्रतिष्ठा तथा सौभाग्य विश्व विख्यात हो गये, उस राजबल्लभा ने अनंग भवन नामक विहार बनवाया ॥३॥ उस राजा के मल्हण नामक पुत्र को दैवज्ञों ने अल्पायु बतलाया था, इसलिए छोटी अवस्था में ही उसके द्वारा मल्हण स्वामी का मन्दिर बनवाया गया ॥४॥ इस राजा ने कतिपय विद्वान् तथा सत्पात्र ब्राह्मणों का सत्कार कर उन्हें परिविशोक नामक दुर्ग के पास चन्द्रग्राम तथा अनेक ग्राम दिये ॥५॥ और श्रीनगर में भी दुर्लभ स्वामी नामक विष्णुकी प्रतिष्ठा की। इस प्रकार ३६ छत्तीस वर्ष पृथ्वी पर शासन कर वह राजा स्वर्गवासी हुआ ॥६॥ पश्चात् अनंगलेखा से उत्पन्न हुआ इन्द्र के

समान प्रतापशाली उसका पुत्र दुर्लभक राज्य करने लगा ॥७॥ उसकी माता अनंगलेखा ने दौहित्र समझकर उसे बालादित्य का उत्तराधिकारी बनाया था, इसलिये उसे परम्परा गत राज्य प्राप्त हुआ, और वह प्रतापादित्य नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥८॥ ऊड के पुत्र हनुमान नामक उसके मन्त्री ने कुबेर से प्राप्त हुए धन से पुण्य प्राप्ति के हेतु अनेक अग्रहार स्थापित किये ॥९॥ प्रताप से शत्रुओं को संतप्त करने वाले इस राजा ने अमरावती से स्पर्धा करने योग्य प्रतापपुर नामक उत्तम नगर बसाया ॥१०॥

उसके देश में अनेक देशों से अनेक श्रीमान् व्यापारी साहूकार लोग आकर रहा करते थे, उन व्यापारियों में रोहीतदेश वासी नोण नामक व्यापारी भी रहता था ॥११॥ उसने रोहीतदेश में उत्पन्न होने वाले ब्राह्मणों के रहने के लिए नोणमठ नामक एक उत्तम मठ बनवाया ॥१२॥ एक समय राजाने उस नोण को आदर के साथ राज भवन में बुलवाया, और राजोचित रीति से आदरातिथ्य करके उसे एक दिन के लिए वहीं रख लिया ॥१३॥ दूसरे दिन प्रभात में राजाने नोण से पूछा, कि कहिये महाशय, रात में निद्रा तो आराम से आई थी ?, तब उसने कहा, कि राजन्, दीपकों के कज्जल से सारीरात मुझे शिरोवेदना ने कष्ट दिया ॥१४॥ कुछ समय के बाद उसने राजा को अपने घर निमन्त्रित किया, वहाँ रहते हुए राजा ने उसके घर में रत्नमय दीपकों का प्रकाश देखा ॥१५॥ उसकी विलासिता तथा अपार सम्पत्ति को देखकर राजा आश्चर्य-मग्न हो गया, और उसके अत्याग्रह

से दो तीन दिन और भी वहाँ रह गया ॥१६॥ वहाँ रहते हुए राजा ने चन्द्रमा के समान मुखवाली एवं अत्यंत सुरूपा उसकी पत्नी नरेन्द्रप्रभा को देखा ॥१७॥ कुच-रूपी कलश-युगल से युक्त एवं सुन्दर जंघा से सुशोभित वह ललना उस गृह तथा अनंग के दुर्वाअंकुर युक्त मनोरम कलश सहित मंगल तोरण के समान चमक रही थी ॥१८॥ वह उस घर में एकान्त होने के कारण निश्शंक विहार कर रही थी। उस सुन्दरी को देखकर राजा मोहित हो गया ॥१९॥ उसने भी सखियों के द्वारा दिखाये गये राजा को कर्णान्तायत दृष्टि से अत्यन्त कौतुक से देखा ॥२०॥

जन्मान्तरीय प्रेम के बन्धन से अथवा कामदेव के अलंघनीय आदेश से उस कोमलांगी ने केवल दृष्टिमात्र से राजा के मन को अपनी ओर खींच लिया ॥२१॥ उसका स्पर्श न होने पर भी राजा को उस सौभाग्यसुधामयी के आलिंगन का भ्रमात्मक आनन्दानुभव होने लगा ॥२२॥ स्तम्भ की ओट अपने शरीर को छिपाकर और मुखारविन्द को कुछ घुमाकर राजा को बार-बार देखती हुई वह वहाँ से चली गई ॥२३॥ इस थोड़े से विभ्रम से राजा के चित्त को उसने हर लिया था। वह राजा भी अपना हृदय उसे देकर चिन्ताग्रस्तनयन होकर अपनी राजधानी को चला गया ॥२४॥ वहाँ उसका हृदय रात-दिन उस ललना की सौन्दर्यमयी मूर्ति के ध्यान में तल्लीन रहता था। और उसका शरीर अन्तःपुरस्थ रमणियों के स्नेह के साथ दुर्बल होने लगा ॥२५॥ राजा सोचने लगा, कि इस मेरे पवित्र मानसोद्यान में कामानुराग-

रूपी विषवृक्ष उत्पन्न हो गया, यह महान् अनर्थ हुआ है ॥२६॥ इस आश्चर्यकारक रागवृत्तिने मेरे अन्तःकरण की विचारधारा में सहायता करनेवाले विवेक आदि सद्गुणों को हृदय से निकाल कर दूर फेंक दिया है ॥२७॥ मैंने राजा होकर भी आज तक सभ्यता-विरोधक सब प्रकार के अविचारों का स्पर्श भी नहीं किया है और उनसे डरता हूँ फिर मेरे मन में अनर्थकारी दुराचरणों की भावना क्यों उत्पन्न हो रही है ॥२८॥ यदि राजा ही प्रजा की स्त्रियों को अपनी कामवासना का लक्ष्य बनावेगा, तो अधर्माचरण करनेवाले परदारगामियों का शासन कौन करेगा इस प्रकार सोचने पर भी वह राजा न तो सदाचार को भूलता था, और न उस वामनयना को भूल सकता था ॥३०॥

उस परम सज्जन नोण को भी लोगों के कहने से राजा के अस्वास्थ्य का कारण मालूम हो गया, इसलिए वह राजा के पास आकर एकान्त में उससे कहने लगा ॥३१॥ महाराज, आपकी अत्यन्त शोचनीय दशा हो गई है। इस समय आपको धर्माधर्म की समस्या में नहीं पड़ना चाहिए। प्राणान्तिक समय में प्राणरक्षा के निमित्त करा गया कोई भी कर्म अधर्म नहीं कहलाता ॥३२॥ जिन संयमी महापुरुषों के वचनों को हम प्रमाणरूपेण स्वीकार करते हैं, उन्होंने भी संकट के अवसरों पर निर्वाह न होते देख अपने संयम को तिलाञ्जलि दे दी है ॥३३॥ स्वामिन्, केवल यश के लिए देह की उपेक्षा करना अयोग्य है। क्योंकि दिगन्तप्रसृत कीर्ति भी मरने बाद किसके कर्णों को अमृत के समान आप्यायित

(तृप्त) करेगी अर्थात् मृत्यु के बाद हम अपना यश कानों से नहीं सुन सकते ॥३४॥ मेरे विषय में शंकित होकर आप स्वहित से पराङ्मुख मत होइये मैं आपके हित के लिए अपने प्राणों की भी महत्ता नहीं समझता, तो इस यः कश्चित् इन्द्रिय-भोग्य पदार्थ का क्या महत्त्व हो सकता है ? ॥३५॥ इतने पर भी आपको यदि उसको स्वीकार करने में आपत्ति हो, तो मैं उसे देवमन्दिर में नृत्य-गान के लिए देवदासी के रूप में अर्पण कर देता हूँ और आप वहाँ से उसे बिना किसी आपत्ति के ले सकते हैं ॥३६॥ इस प्रकार उस सज्जन व्यापारी के आग्रह से तथा कामदेव की प्रबल प्रेरणा से उस राजा ने प्रथम किंचित् लज्जित होकर उस वामलोचना को यथा कथञ्चित् स्वीकार किया ॥३७॥ इस कार्य से उस नरेन्द्रप्रभा के चरित्र में कुछ कलंक अवश्य लगा, परन्तु उसने औदार्य आदि सद्गुणों के प्रभाव से उसे क्षालन कर डाला, और राजमहिषी नरेन्द्रप्रभा ने नरेन्द्रेश्वर नामक शंकर की स्थापना की ॥३८॥ फिर कुछ समय के बाद जैसे वसुन्धरा से अमूल्य रत्ननिधि का लाभ होता है, वैसे ही प्रजा के पुण्य से उस राजपत्नी नरेन्द्रप्रभा के उदर से चन्द्रापीड नामक पुत्र-रत्न प्रगट हुआ ॥३९॥ जैसे खनिजरत्न निकष पर घिसने से निर्मल हो जाते हैं, तथैव उस बालक का उत्पत्ति-विषयक दोष भी उसके उज्ज्वलतम सुगुणों से नष्ट-सा हो गया ॥४०॥

अत्यन्त मलिन धूप से बना हुआ काले-काले बादलों का समूह निर्मल जल को बरसाता है और अनघड़ पत्थरों से परिपूर्ण पर्वत

से तीक्ष्ण लोह निकलता है, तथा अत्यन्त जड़ एवं शीतल जल से प्रज्ज्वलित बड़वानल की उत्पत्ति होती है, वैसे ही श्रेष्ठ एवं भाग्यशाली पुरुषों के स्वभाव उनके उत्पत्ति-स्थान के अवलम्ब पर नहीं रहते ॥४१॥ पश्चात् क्रमशः उसके तारापीड, मुक्तापीड तथा अविमुक्तापीड नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए ॥४२॥ प्रतापादित्य के ये तीनों पुत्र कुछ समय के बाद क्रमशः वज्रादित्य, ललितादित्य तथा उदयादित्य नाम से संसार में विख्यात हुए ॥४३॥ इस प्रकार ५० वर्ष तक राज्य-भोग कर वह राजा दुर्लभक अपने पुण्यकर्मरूपी सोपानों से स्वर्ग को चला गया ॥४४॥ उसके स्थान पर राजचूड़ामणि चन्द्रापीड सिंहासनारूढ़ हुआ। चन्द्र की कान्ति को लज्जित करनेवाली कीर्ति के द्वारा उसने कलियुग को अत्यन्त पीड़ित किया ॥४५॥ प्राचीन नरेशों ने समस्या के समान धर्म का अन्तिम केवल एक चरण सुरक्षित रख दिया था, उस पवित्र यशस्वी राजा ने उसके साथ पहिले तीन चरण जोड़कर धर्म को चतुष्पाद अर्थात् चारों चरणों से युक्त कर दिया ॥४६॥ दिव्य आराम की अविरुद्ध ऋतुओं के समान परस्पर विरुद्ध क्षमा, पराक्रम आदि गुण अविरुद्ध होकर उस राजा की सेवा करने लगे ॥४७॥ जिस प्रकार उद्यान में बहती हुई नहर स्थान-स्थान पर खड़े हुए प्रत्येक पादप को तृप्त करती है, उसी प्रकार उस राजा की सम्पत्ति भी स्थान-स्थान पर प्रत्येक अनुजीवी (आश्रित अथवा शरणागत) को सन्तुष्ट करती थी ॥४८॥ जैसे नदियाँ अपने अन्दर के कूड़े कर्कट को पीछे के पर्वतों पर छोड़ कर और निर्मल बन समुद्र से मिलती हैं, वैसे ही लक्ष्मी ने

भी अपने सम्पूर्ण अवगुण अन्य राजाओं के पास छोड़ कर स्वयं निर्दोष-रूप धारण कर उस राजा का आश्रय लिया ॥४९॥ वह राजा अत्यन्त कायपटु होने से भविष्य में चिंताजनक कार्य कदापि नहीं करता था, प्रत्युत उत्तम कार्यों के उपलक्ष में जनता द्वारा की गई अपनी प्रशंसा से लज्जित भी होता था ॥५०॥

वज्र सम्पूर्ण रत्नों का भेदन कर सकता है, परन्तु वज्र का भेदन कोई भी रत्न नहीं कर सकता, वैसे ही वह राजा सब मंत्रियों को राजनीति सिखा सकता था, परन्तु उसे किसी से भी राजनीति सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी ॥५१॥ जिस प्रकार वज्र के भय से गरुत्मान् (गरुड़) ने निज पक्ष का त्याग किया, उसी प्रकार वह राजा भी धर्म संशय में अधर्म के भय से आत्म-पक्ष का त्याग कर देता था ॥५२॥ जैसे सूर्य उदय के समय सन्देह नामक राक्षसों का नाश करते हैं, वैसे ही वह राजा भी न्याय मार्ग से चल कर प्रति-दिन व्यावहारिक संशयों को नष्ट करता था ॥५३॥ हम अब कथा-विच्छेद के भय से उसके गुणों का इतना ही वर्णन कर अग्रिम वृत्त लिखते हैं, अतः पाठकों को यह न समझना चाहिये, कि उसमें इतने ही गुण थे ॥५४॥ एक बार उसकी आज्ञा से त्रिभुवन स्वामी का मंदिर बन रहा था। और उस मंदिर की सीमा में एक चर्मकार की कुटिया थी। मन्दिर की हद में होने के कारण उसे लेना अत्यावश्यक था; परन्तु वह चर्मकार अपनी कुटी को नहीं देता था ॥५५॥ मन्दिर के कार्य में नियुक्त नवीन कर्मचारीगण बार-बार उसे समझाते थे, उसका मूल्य देने को भी तैयार

थे, परन्तु अत्यन्त आग्रह करने पर भी वह स्वीकार कर लेता था और नहीं देता था ॥५६॥ तब उन कर्मचारियों ने यह बात राजा से कही। राजा ने उन कर्मचारियों को ही अपराधी ठहराया, न कि उस चर्मकार को ॥५७॥ राजा ने कहा, कि तुम लोगो ने उसकी अनुमति के बिना ही मन्दिर का कार्य क्यों प्रारंभ किया, तुम सब विचारशून्य हो। तुम्हें धिक्कार है ॥५८॥ या तो काम बन्द कर दो, या किसी दूसरी जगह पर प्रारंभ करो। दूसरे की भूमि का अपहरण कर अपने सुकृत को कौन कलङ्कित करेगा ॥५९॥ धर्माधर्म के विचारक हम लोग भी यदि ऐसे अधर्मकर्म करने में प्रवृत्त होने लगेंगे, तो न्याय मार्ग से कौन चलेगा ॥६०॥

राजा के ऐसे वचन सुन कर मन्त्रि-परिषद् ने उस पादुकाकार के पास दूत भेजा, और वह दूत उसके निकट से वापस आ कर बोला कि ॥६१॥ वह महाराज से मिलना चाहता है, और कहता है, कि यदि मैं राज-भवन में न आसकूँ, तो महाराज जब कहीं अन्यत्र जायँगे तब सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा ॥६२॥ दूसरे दिन उस चर्मकार को बाह्यप्रदेश में दर्शन देकर राजा ने कहा, कि तू हमारे पुण्य कार्य में विघ्नरूप क्यों हो रहा है ? ॥६३॥ यदि तुझे वह घर ही अच्छा लगता हो, तो मैं उससे उत्तम भवन तुझे देता हूँ, और धन की इच्छा हो, तो धन भी पर्याप्त मात्रा में दिया जायगा ॥६४॥ ऐसा कहकर राजा जब चुप होगया तब चर्मकार अपने दन्तकिरणरूपी सूत्र से राजा के सत्व को नापता सा प्रार्थना करने लगा ॥६५॥ महाराज, मैं अपने मन की बात

आपसे निवेदन करता हूँ इसमें यदि कटु सत्य वचन कहे जावें तो आपको गर्व से अथवा आवेश से रुष्ट न होना चाहिये ॥६६॥ श्रीमान, मैं कुत्ते की अपेक्षा कथमपि न्यून नहीं हूँ, और आप राजश्रेष्ठ काकुत्स्थ से अधिक नहीं हैं। तब ये आप के सभ्य हमारे पारस्परिक भाषण को सुन कर क्यों क्षुब्ध हो रहे हैं ॥६७॥ इस संसार में उत्पन्न प्राणियों का यह नश्वर शरीररूपी कञ्चुक अहंतत्त्व और स्वाभिमान रूपी दो शंकुओं पर ही अवलंबित है ॥६८॥ अंगद, कंकण एवं हार आदि रमणीय आभूषणों से भूषित आपके जैसे राजाओं को जिस प्रकार स्वाभिमान है, उसी प्रकार मेरे जैसे दरिद्र मनुष्य को भी ॥६९॥ आपको जैसे अपना भव्य भवन प्यारा है, वैसे ही मुझे भी फूटे घड़े के गवाक्ष-वाली मेरी जीर्ण कुटी प्यारी लगती है ॥७०॥

मैं जिस दिन उत्पन्न हुआ, उसी दिन से आजतक मेरी माता के समान सुख-दुःख की साक्षिणी इस कुटी को नष्ट होते हुए नहीं देख सकता ॥७१॥ मनुष्यों को घर के अपहरण का जो कष्ट होता है, उसका अनुभव दो ही कर सकते हैं एक तो राज्य से भ्रष्ट हुआ राजा और दूसरा विमान से गिरा हुआ मनुष्य ॥७२॥ इतने पर यदि आप मेरे घर पर आकर मुझसे उसकी याचना करें तो शिष्टाचार के अनुरोध से मुझे अपनी कुटी आपको देना उचित है ॥७३॥ इस प्रकार उसके उत्तर को सुनकर राजा उसके घर पर गया और मूल्य देकर उससे कुटी ले ली, क्योंकि कल्याणेच्छुकों को मिथ्याभिमान नहीं होता ॥७४॥ पश्चात् वह चर्मकार हाथ जोड़

कर राजा से कहने लगा। राजन्, आपकी यह धर्म-परतन्त्रता सर्वथा उचित है ॥७५॥ प्राचीन समय में जैसे कुत्ते के वेष में धर्म ने युधिष्ठिर के धार्मिकत्व की परीक्षा की थी, उसी प्रकार इस अस्पृश्य मैंने आपकी धार्मिकता की परीक्षा की है ॥७६॥ महाराज, आपका कल्याण हो और आप इसी प्रकार धार्मिकों से श्रद्धेय पवित्र आचरण-पद्धति को प्रदर्शित करते हुए चिरकाल-पर्यन्त राज्य करते रहें ॥७७॥ इस प्रकार निष्पाप आचरण करनेवाला वह राजा त्रिभुवनस्वामी के शव की प्रतिष्ठा से पृथ्वी की पवित्रता को वृद्धिंगत करने लगा ॥७८॥ उसकी पत्नी प्रकाशदेवी ने प्रकाश के आश्रयभूत निर्मल आकाश के समान उज्ज्वल कर्मों से संसार को प्रकाशमय कर दिया और प्रकाशिका-विहार का निर्माण किया ॥७९॥ उस राजा का गुरु मिहिरदत्त उत्तम गुणों से परिपूर्ण था, उसने गम्भीरस्वामी नामक विष्णु की स्थापना की ॥८०॥

और छलितक नामक नगरपाल (कोतवाल) ने छलितस्वामी का मन्दिर बनवाया ॥८१॥ किसी समय एक ब्राह्मणी ने प्रायोपवेशन किया था, तब राजकाय अधिकारियों ने उसे धर्मासन पर बैठे हुए राजा के सन्मुख ले जाकर प्रायोपवेशन का कारण पूछा, तो वह राजा से कहने लगी ॥८२॥ राजन्, इस पृथ्वी पर आपके न्यायपूर्ण शासन के समय में भी किसी ने सुख से सोये हुए मेरे पति का वध कर डाला ॥८३॥ सदाचारी राजा के लिए यही बात सबसे अधिक लज्जाजनक है कि उसके राज्य में प्रजा की इस प्रकार अपमृत्यु होती हैं ॥८४॥ इसे हम कलिकाल का दोष भी

कह सकते हैं। फिर भी ऐसे अत्यन्त पापमय कार्य होने पर भी आप उदासीन क्यों होते हैं ॥८५॥ खूब सोचने पर भी मुझे अपने पति का कोई शत्रु नहीं दीख पड़ता; क्योंकि वह निर्दोष, सच्चा प्रेमी तथा परम शान्तिप्रिय था। उस के लिए सर्वत्र सद्भावना का साम्राज्य था ॥८६॥ वह द्वेष एवं गर्व से सर्वथा शून्य था, मधुर भाषी, गुणवत्सल तथा पूर्वभाषी एवं निर्लोभ था, इसलिए उससे कोई भी वैर नहीं रखता था ॥८७॥ इस विषय में मेरा एक व्यक्ति पर सन्देह है। वह बाल्यावस्था से ही बुद्धिहीन सहाध्यायी होने के कारण मेरे पति से द्वेष करता था। वह मान्त्रिक है और मान्त्रिक स्वामी के पास रहता है ॥८८॥ गुणहीन क्षुद्र पुरुष सज्जनों से सर्वदा द्वेष करते हैं, क्योंकि वे उनकी बराबरी नहीं कर सकते; इसी कारण उन्हें नींद तक नहीं आती; और वे अपने से श्रेष्ठ सत्पुरुषों को कष्ट देने का प्रयत्न करते रहते हैं। कभी-कभी तो उनके प्राणों की भी हानि कर देते हैं ॥८९॥ इस संसार में वेश्यापुत्र के सिवा दुःशील कौन होगा? और दोषी हुए बिना सर्वदा शंकाशील कौन बना रहेगा? वाचाल के सिवा और कौन मिथ्या भाषण करेगा, तथा कायस्थ के बिना कृतघ्न कौन होगा? ॥९०॥

अनुदार पुरुष के पुत्र को छोड़कर कृपण कौन होगा? तथा स्पर्धाशील पुरुष के अतिरिक्त कौन निरन्तर दुःखी होगा? एवं स्त्रीजित के सिवा संसार में हास्यास्पद कौन हो सकता है? और वृद्धों के बिना निरन्तर मधुर भाषी कौन होगा? ॥९१॥ जारज ही पिता का द्रोह करेगा और कामुक ही निर्लज्ज होगा, और क्षुद्र

विद्यावान् ही पापी होगा यही सच्चा सिद्धान्त है ॥९२॥ ब्राह्मणी के ये वचन को सुनकर उसने उस शंकास्पद मान्त्रिक ब्राह्मणको बुलवाकर उसे उस पर लगाये गये कलंक का उत्तर पूछा, और कहा कि तुम किसी दिव्य कर्म से अपने को निर्दोष सिद्ध करो ॥९३॥ तब उस ब्राह्मणी ने राजा से कहा – देव यह मान्त्रिक है, इसलिए मन्त्र के प्रभाव से यथेष्ट दिव्यकृत्य करके दिखला सकता है ॥९५॥ यह सुनकर राजा ने खिन्न मुद्रा से कहा, कि जिसका अदृष्ट दोष सिद्ध नहीं होता; उसे हम कैसे दण्ड दे सकते हैं ॥९५॥ अपराध प्रमाणित हुए बिना साधारण पुरुषों को दण्ड नहीं दिया जाता; फिर यह तो ब्राह्मण है। अपराध सिद्ध होने पर भी हम इसे प्राणदण्ड नहीं दे सकते ॥९६॥ राजा के वचन सुनकर वह विप्र-पत्नी कहने लगी। राजन् मुझे अनशन करते हुए चार दिन बीत चुके हैं ॥९७॥ इस खून के प्रतिशोध की इच्छा से मैंने सती न होकर अपने को जीवित रखा है, यदि घातक को दण्ड नहीं दिया जायगा, तो मैं अनशन द्वारा प्राणत्याग कर दूँगी ॥९८॥ ब्राह्मणी की इस प्रतिज्ञा को सुनकर राजा ने भी त्रिभुवनस्वामी के सम्मुख प्रायो-पवेशन प्रारम्भ किया ॥९९॥ तीन दिन बीतने के बाद चौथे दिन भगवान् विष्णु ने स्वप्न में दर्शन देकर कहा ॥१००॥

राजन्, इस कलियुग में सत्य की खोज के लिए इस प्रकार हठ करना सर्वथा अनुचित है। रात में कौन सूर्योदय कर सकता है ॥१०१॥ फिर भी तेरे प्रभाव के अनुरोध से एक बार दिव्य चमत्कार दीख पड़ेगा। मेरे इस मन्दिर में शालिचूर्ण (चावल का

आटा) फैला देना ॥१०२॥ उस पर उस अपराधी से तीन प्रदक्षिणा करवाना। यदि उसके चरणचिह्न के पीछे-पीछे ब्रह्म-हत्या के भी चरण चिह्न दीखने लगें ॥१०३॥ तो उसे अवश्य अपराधी समझ कर उचित दण्ड देना। यह कार्य रात्रि में करना, क्योंकि दिन में भगवान् सूर्य सर्वविध पातकों का नाश करते रहते हैं ॥१०४॥ तदनुसार राजा ने उस ब्राह्मण की परीक्षा की और वह सदोष सिद्ध हुआ, परन्तु ब्राह्मण होने से उसे प्राणदण्ड के अतिरिक्त दण्ड दिया गया ॥१०५॥ पश्चात् उस सत्यवती द्विजजाया ने राजा के द्वारा किये गये इस दण्ड विधान से सन्तुष्ट होकर कहा ॥१०६॥ राजन् इस जगतीतल पर इतने असंख्य भूमिपाल हो चुके हैं, उनमें इस प्रकार के गुप्त अपराधों का पता लगाकर शासन-विधान या तो राजा कार्तवीर्य के राज्यकाल में होता था या आपके शासन-काल में हुआ है ॥१०७॥ आपके समान दण्डधारी शासक जब तक पृथ्वी को सनाथ कर रहा है, तब तक इस भूमि पर किसी को उत्कट स्नेह अथवा वैर का योग्य फल मिले बिना नहीं रह सकता ॥१०८॥ उस राजा का शासन-काल अत्यन्त अल्प था; तथापि उसके अनेक सत्कार्यों से सतयुग का स्मरण होता था ॥१०९॥ ब्रह्मा की बुद्धि में निरन्तर कमलासन पर बैठने से अत्यन्त जाड्य उत्पन्न हो गया है ऐसा प्रतीत होता है ॥११०॥

अन्यथा वह सदाचार द्वारा वर्णों की शोभा बढ़ाने वाले ऐसे उत्तम शासक चन्द्रापीड़ को वर्ण-शोभायुक्त इन्द्र-धनुष के समान क्षणदृष्टनष्ट क्यों बनाता ॥१११॥ उस राजा चन्द्रापीड़ को उसके

अनुज दुष्ट तारापीड़ ने दण्डविधान से रुष्ट हुए उस मान्त्रिक द्वारा अभिचार करवा कर कीर्तिशेष कर दिया ॥११२॥ पापात्मा लोग दुष्कर्म से प्राप्त दुर्भग भोगों को भोगने के लिए उन्नतगुण-शाली पुरुष को नष्ट कर देते हैं, जैसे ऊँट काँटों के वृक्ष को भक्षण करता हुआ केतकी वृक्ष को भी समूल नष्ट कर देता है ॥११३॥ उसी दिन से इस राज्य में राज्यलोभी राजवंशजों द्वारा अपने से बड़े अधिकारियों की अभिचारों द्वारा हत्या होने लगी ॥११४॥ राजरत्न श्रीचन्द्रापीड़देव की अत्यधिक क्षमाशीलता का स्मरण होते ही किसका शरीर हर्ष से पुलकायमान न होगा ॥११५॥ क्योंकि आसन्न मृत्युस्थिति में उस ब्राह्मण द्वारा किए हुए अभिचार का पता रहते हुए भी "दूसरे की प्रेरणा से इसने यह कर्म किया है" ऐसा सोचकर राजा चन्द्रापीड ने उसका वध नहीं किया ॥११६॥ ब्रह्मा राजा चन्द्रापीड को सत्ययुग के राजाओं में रखना भूल गए थे, इसलिए इस गलती को सुधारने के लिए काक-पद-चिह्न लगाकर कलियुग की राजपरम्परा में इसे रख दिया ॥११७॥ इस राजा ने आठ वर्ष और आठ मास राज्य करके स्वर्ग में तथा सत्पुरुषों के अन्तःकरण में सर्वदा के लिए प्रवेश किया ॥११८॥ उसके पश्चात् भ्रातृद्रोही दुष्ट तारापीड को उसके पाप का फल राज्य मिला। वह अत्यन्त भयङ्कर तथा क्रूरकर्मी था ॥११९॥ उसने नवीन राज्य-वैभव पाने के बाद शत्रुओं का शिरश्छेद करते हुए अपने प्रताप रूपी शिशु के जन्म के समय कबन्धों का नृत्य करवाया ॥१२०॥

अत्यन्त दुष्ट स्वभाव एवं दुष्कर्मशील उस राजा की चमकती

हुई लक्ष्मी स्मशानस्थ अग्नि की दीप्ति के समान उद्वेगजनक थी ॥१२१॥ ब्राह्मण लोग मन्त्रों के प्रभाव से देवताओं को प्रसन्न कर लेते हैं—ऐसा सोचकर उसने देवद्वेष एवं ब्राह्मणदमन प्रारम्भ कर दिया ॥१२२॥ गुरुद्रोह से पुण्यक्षय होने से वह केवल चार वर्ष २४ दिन राज्य कर पाया ॥१२३॥ उसके बाद ब्राह्मणों द्वारा गुप्त अभिचार से भ्राता के समान उसे भी मृत्यु प्राप्त हुई, परन्तु वैसी सद्गति नहीं मिली ॥१२४॥ मनुष्य दूसरों का नाश करने के लिए जिस उपाय की शरण लेता है; उसी से उसका भी विनाश होता है। अग्नि दूसरों के नेत्रों को अन्ध करने के लिए धूम्र उत्पन्न करता है; परन्तु वही धूम मेघ का रूप धारण कर जलवृष्टि द्वारा अग्नि को शान्त कर देता है ॥१२५॥ तारापीड के बाद उसका कनिष्ठ सहोदर ललितादित्य काश्मीर-शासनपदारूढ़ हुआ। विधाता ने तो उसे माण्डलिक राजा ही बनाया था; परन्तु वह विधाता की बुद्धि से परे (अगोचर) होकर सार्वभौम हुआ ॥१२६॥ वस्त्रों को सुगन्धित करनेवाले चूर्ण के समान अपने प्रताप के किरणों की छटाओं के समूहों से जम्बुद्वीपरूपी गजेन्द्र को राजा ललितादित्य ने अलंकृत कर दिया था ॥१२७॥ इस पराक्रमी राजा ने दिग्विजय के समय युद्ध में राजाओं की प्रणामाञ्जलियों को देखकर क्रोध त्याग दिया और उन पर दया प्रगट कर युद्ध की अभिलाषा को छोड़ दिया ॥१२८॥ उसके रणदुंदुभि के भयङ्कर शब्द से डरकर भागती हुई शत्रुनागरिक प्रजा नगरियों के गर्भपात के समान दीखती थीं ॥१२९॥ उसने अपने शत्रुओं की

पत्नियों के स्वेदबिन्दु से बहते हुए तिलकयुक्त (तिलक और तिल) एवं नेत्रोदक सहित मुखों से अपने मृत-भर्ताओं को तर्पणाञ्जलि दान करवाया ॥१३०॥

प्रति दिन पृथ्वी की प्रदक्षिणा करते हुए सूर्य के समान उस राजा की सम्पूर्ण तरुणावस्था दिग्विजययात्रा में ही व्यतीत हो गई ॥१३१॥ प्रतापरूपी अग्नि की सन्निधि में पूर्व दिशा का कर ग्रहण करता हुआ एवं यशरूपी उष्णीष (पगड़ी) से सुशोभित वह राजा अन्तर्वेदी में प्रकाशित हो रहा था (पूर्व दिशा की विजय करते समय गंगा-यमुना के मध्यवर्ती अन्तर्वेद प्रदेश के राजाओं को जीतकर उसने उनसे कर वसूल किया और अपने प्रखर प्रताप का आतंक उन पर पूर्णरूपेण जमा दिया) ॥१३२॥ जिस गाधिपुर में वायुदेव ने प्राचीन समय में कन्याओं को कुब्जा (कूबड़ा) कर दिया था; उसी गाधिपुर में राजा ललितादित्य ने वीर योद्धाओं को कुब्ज बना दिया ॥१३३॥ यशोवर्मा रूपी पर्वत से उत्पन्न हुई सेना-सरिता क्षणमात्र में सुखा देने के कारण वह ललितादित्य ही प्रतापादित्य बन गया अर्थात सूर्य के समान प्रखर प्रतापशाली हो गया ॥१३४॥ यशोवर्मा ने अर्थात कान्यकुब्ज नरेश ने सूर्य के समान प्रतापशाली राजा ललितादित्य से युद्ध-पराङ्मुख होकर सन्धि करने का विचार करके अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया ॥१३५॥ परन्तु उस राजा ललितादित्य के कर्मचारीगण उसकी अपेक्षा भी अधिक स्वाभिमानी थे; क्योंकि वसन्त की अपेक्षा भी मलय-पवन अधिक सुगन्धयुक्त होता है ॥१३६॥ अतः यशोवर्मा

की ओर से लिखे गये सन्धिपत्र को देखकर राजा ललितादित्य का सांधिविग्रहिक मन्त्री मित्रशर्मा उसमें की गई अवहेलना को क्षमा न कर सका ॥१३७॥ उस संधिपत्र में "यह संधिपत्र यशोवर्मा एवं ललितादित्य की अनुमति से लिखा गया है" ऐसे लेखन द्वारा यशोवर्मा का प्रथम नामोल्लेख कर ललितादित्य का गौणत्व बतलाया गया था—यह बात मित्रशर्मा को अच्छी नहीं लगी ॥१३८॥ यद्यपि यह बात युद्ध से थके हुए सेनापतियों को फिर से युद्ध के प्रारम्भ होने के दुःख से बुरी लगती थी; तथापि राजा ललितादित्य को उसके मन्त्री की दूरदर्शिता से अत्यन्त सन्तोष हुआ ॥१३९॥ राजा ने प्रसन्न होकर मित्रशर्मा को पाँच महाविरुदों का अधिकारी बना दिया और यशोवर्मा को परास्त कर राज्यच्युत कर दिया ॥१४०॥

उस दिन से प्राचीन अष्टादश कार्य-स्थानों पर जो कि पहले से चले आ रहे थे, ये पाँच महाविरुदें प्रधानरूपेण नियुक्त की गई ॥१४१॥ महाप्रतिहारपीड़ा, महासन्धिविग्रह, महाश्वशाला, महाभाण्डागार और महासाधनभाग नामक पाँच विरुदें नवीन निर्माण की गईं; इनके कार्यकर्ता शाहीवंश के लोग ही होते थे ॥१४२-१४३॥ वाक्पतिराज, भवभूति आदि महाकवि-सेवित कवि यशोवर्मा उस दिन से स्वयं ललितादित्य राजा का स्तुतिपाठक हो गया था ॥१४४॥ यमुना नदी के उत्तर तीर से लेकर कालिका नदी के तीर पर्यन्त का सम्पूर्ण कान्यकुब्ज देश ललितादित्य के लिए गृहांगण के समान सुगम्य हो गया था ॥१४५॥

हिमालय पर्वत के समान मार्ग में विघ्नरूप यशोवर्मा को लाँघकर गङ्गासदृश विस्तृत ललितादित्य की सेना पूर्वसागर के निकट पहुँच गई ॥१४६॥ उस सेनाके असंख्य गजों ने अपनी जन्मभूमि कलिंग देश को देखकर वहीं रहने की अभिलाषा प्रकट की, परन्तु महावतों ने बड़ी कठिनता से उन्हें वहाँ से आगे चलने को बाध्य किया ॥१४७॥ आकर्षण की गई लक्ष्मी के पर्यङ्कस्थ गज की मित्रता के कारण आये-से गौड़देशीय सम्पूर्ण गज उस राजा ललितादित्य के सैन्य में सम्मिलित हो गये ॥१४८॥ उसकी सेना के अग्रभाग में चलते हुए हाथियों के समूह की शुण्डाओं द्वारा समुद्र के तरङ्ग रूपी केशों का आकर्षण हुआ-सा प्रतीत होने लगा ॥१४९॥ वहाँ से उसने समुद्रवेला के निबिड अरण्यमार्ग से दक्षिण दिशा के लिए विजयप्रयाण किया; और उसके शत्रुओं ने उसकी तलवार से दक्षिण दिशा की ओर प्रयाण किया अर्थात् युद्ध में मरकर यमराज की दिशा को गये ॥१५०॥

उन्नतजटाजूटधारी कर्णाटकदेश-वासियों ने सुवर्ण-केतकी-रूपी केश-भूषणों को त्यागकर राजा ललितादित्य के चरणों में नत-मस्तक होकर उसके प्रताप को ही अपना अवतंस बना लिया ॥१५१॥ उस समय दक्षिणापथ-देश में कर्णाटक देशोद्भवा रट्टा नामक रानी राज्य करती थी; उसने दुर्गादेवी के समान अपने तीक्ष्ण प्रभाव से विन्ध्यवन के सम्पूर्ण मार्ग को निष्कंटक कर दिया था। वह चंचल-नयनी अत्यन्त धनाढ्य थी ॥१५२-१५३॥ राजा ललितादित्य को प्रणाम करते समय राजा के चरणनखरूपी दर्पण में अपने

प्रतिबिम्ब को अंकित हुआ देखकर वह रानी अत्यन्त सन्तुष्ट हुई ॥१५४॥ वहाँ ललितादित्य के सैनिकों ने ताड़वृक्षों की छाया में नारिकेल फलों के सुमधुर जल को पीकर कावेरी नदी के शीतल, मन्द एवं सुगन्ध पवन का सेवन करते हुए अपने श्रम को दूर किया ॥१५५॥ चन्दनवृक्षों की शाखाओं को त्यागकर सरकते हुए कृष्ण सर्प उस राजा के भय से मलय-पर्वतस्थ चन्दनवृक्षों द्वारा उठाई गई तलवारों के समान शोभायमान हो रहे थे ॥१५६॥ जैसे कृत्रिम नदी का उल्लंघन करते समय उसके अन्दर के पत्थरों पर पैर रखकर चला जाता है, वैसे छोटे-छोटे द्वीपों को लाँघता हुआ वह राजा समुद्र के द्वीपों में सरलतापूर्वक आवागमन करने लगा ॥१५७॥ सामुद्रिक महातरङ्गों के गम्भीरघोषरूपी जयशब्द तथा मंगलगायन से आनन्दित होकर वह राजा पश्चिम की ओर रवाना हुआ ॥१५८॥ जैसे भगवान् सूर्य का प्रखर प्रताप सप्त अश्वों पर आक्रमण करता हुआ सातों द्वीपों पर फैल जाता है, वैसे ही उस राजा ललितादित्य का प्रताप कोङ्कण आदि सात देशों पर आक्रमण करने से सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया ॥१५९॥ प्रबल पवन के वेग से क्षुब्धतरङ्गयुक्त पश्चिम समुद्र में दीखती हुई द्वारका नगरी में प्रवेश करने के लिए उसके सैनिक अत्यन्त उत्कण्ठित होने लगे ॥१६०॥

उसकी सेना के पादाघातों से उड़ी हुई पृथ्वी तथा आकाश को एक कर देनेवाली गैरिकादि धातुओं की रेणु से विन्ध्याचल क्रोध से रक्तनेत्र होकर फिर से अपनी मर्यादा को उल्लंघन करने

के लिए उद्युक्त-सा दीखने लगा ॥१६१॥ अवन्ती नगरी (उज्जयिनी) में प्रवेश करते हुए राजा ललितादित्य की सेना के हाथियों के दाँत श्रीमहाकाल के किरीटस्थित चन्द्र की ज्योत्स्ना से खण्डित होने लगे ॥१६२॥ पश्चात् उस राजा ने सब दिशाओं के राजाओं को जित-प्राय देखकर सुविस्तीर्ण उत्तरापथ में प्रवेश किया ॥१६३॥ वहाँ उसको पैर-पैर पर अत्यन्त क्रूर स्वभाववाले राजाओं से युद्ध करना पड़ा। उस युद्ध को देखकर पक्षच्छेदोद्यत इन्द्र के साथ पर्वतों के तुमुल युद्ध का स्मरण हो जाता था ॥१६४। काम्बोज देश के राजा की अश्वशून्य वाजिशालाएँ अन्धकारयुक्त होने से महिषों द्वारा आक्रान्त-सी दीखने लगीं ॥१६५॥ तुःखार लोग उसके भय से अपने अश्वों को छोड़कर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर चले गये, और वहाँ अश्वमुखी किन्नरों को देखकर अपने अश्वों से हताश हो गये ॥१६६॥ मुम्मुनि नामक राजा को तीन बार परास्त कर राजा ने उसे पूर्णतया परास्त समझा; क्योंकि सच्चे वीरों को एक बार किया गया शत्रुपराभव आकस्मिक तथा घुणाक्षर न्याय से हुआ-सा प्रतीत होता है ॥१६७॥ स्वाभाविकश्वेत भूटानवासियों के मुख पर उसके भय का असर नहीं दीखता था। वानरों के मुख स्वभाव से ही पिंगल अथवा रक्त होते हैं, इसलिए उन्हें क्रोध आने पर भी कौन-सा नवीन चिन्ह दीख सकेगा ? ॥१६८॥ जैसे उदयकालीन प्राभातिक सूर्य पर्वतीय गुफाओं के अन्दर चमकती हुई औषधि की किरणों को सहन नहीं करता, वैसे ही राजा ललितादित्य को भी दरद-देशवासियों का निरन्तर मद्यपान सह्य नहीं

हुआ ॥१६९॥ कस्तूमृगों की नाभियों के संसर्ग से सुशोभित तथा केसरकुसुमों से सुवासित उत्तम मारुत चतुर सेवक के समान उसकी सेना सीमन्तिनियों को अलंकृत करता था ॥१७०॥

उसने जनशून्य प्राग्ज्योतिषपुर में वन में जलते हुए कालागुरु चन्दन के धूप का सुवास ग्रहण किया ॥१७१॥ मृगतृष्णा-रूपी जल के भ्रम को उत्पन्न करनेवाले उत्तरापथ के बालुकासमुद्र में उसके प्रचण्ड गजेन्द्र ग्रहों के समान दीखते थे ॥१७२॥ स्त्रीराज्य में उसके वीर सैनिकों को स्त्रीजनों ने उत्तुङ्ग स्तनकुम्भों के प्रभाव से धैर्यहीन कर दिया था, न कि हाथियों के कुम्भों से ॥१७३॥ स्त्री-राज्य की देवी (रानी) जब राजा के सम्मुख उपस्थित हुई थी, उस समय होनेवाले कम्प आदि विकार भयजनित थे, या प्रेमाभिलाषजनित थे, इसका कोई भी निर्णय नहीं कर सका ॥१७४॥ उत्तरकुरुदेश-वासी राजा लोग, गरुड़ के भय से बिलों में छिपे हुए सर्पों के समान, विपत्ति में आश्रय देनेवाले जन्मभूमि के वृक्षों में छिप गये ॥१७५॥ जिस प्रकार हाथियों को मारकर सिंह अपने नखों में गजमुक्ताओं को धारण कर गुहा में प्रवेश करता है, वैसे ही वह राजा ललितादित्य भी विजयोपार्जित धन लेकर अपनी राजधानी काश्मीरमण्डल में गया ॥१७६॥ वहाँ पहुँच कर उसने अपने सेवकों को पारितोषिक के रूप में जालन्धर, लोहर आदि अनेक प्रान्त देकर उन्हें भी राजशब्द से विभूषित कर दिया ॥१७७॥ उस उग्रस्वभाव राजा ललितादित्य ने पराजित राजाओं को पराजय के सूचक चिह्नों को धारण करने की आज्ञा दी थी, वे उन्हें आज

भी निरभिमान होकर धारण करते हैं ॥१७८॥ तुरुष्क लोग उस राजा की आज्ञा से बन्धनमुद्रा को सूचित करने के लिए अपने दोनों हाथ पीठ पर रखते हैं, आधा सिर मुँड़वाते हैं ॥१७९॥ उसने दाक्षिणात्यों की पशुता को सूचित करने के लिए उन्हें अपनी धोती का हिस्सा पीछे की ओर पूँछ-सा लटकाये रखने का आदेश दिया ॥१८०॥

इस पृथ्वी पर ऐसा कोई भी ग्राम, नगर, नदी, समुद्र तथा द्वीप नहीं था कि जिसमें राजा ललितादित्य ने देवमन्दिर की प्रतिष्ठा न की हो ॥१८१॥ उस स्वाभिमानी राजा ने स्थापन किये मन्दिरों को अन्वर्थक तथा समयानुकूल नामों से प्रसिद्ध किया ॥१८२॥ उसने दिग्विजय के निश्चय का स्मारक सुनिश्चितपुर बसाया और दिग्विजय-समाप्ति के बाद उसके दर्प का स्मारक दर्पितपुर बसाकर उसमें केशवदेव की स्थापना की ॥१८३॥ इसी प्रकार उसने जहाँ फल ग्रहण किये थे वहाँ फलपुर तथा जहाँ पर्ण ग्रहण किये थे वहाँ पर्णोत्स बसाया । क्रीड़ास्थल पर क्रीड़ाराम नामक विहार बनवाया ॥१८४॥ उस राजा ने स्वीराज्य में नृसिंह का मन्दिर बनवाया और उसमें मूर्ति के नीचे और ऊपर लोहचुम्बक रखकर मूर्ति को निराधार मध्यस्थ रखा गया ॥१८५॥ जब राजा दिग्विजय के लिए देशान्तरों में भ्रमण कर रहा था, उस समय उसकी अनुपस्थिति में ही उसके कर्मचारी ने राजा के नाम से ललितपुर नामक नगर बसाया और बाद में राजा के क्रोध का पात्र बना ॥१८६॥ राजा ने उस ललितपुर में आदित्य-भगवान् की स्थापना कर उसके

पूजा के प्रबन्ध के लिए उदारतापूर्वक विजय के द्वारा प्राप्त हुए कान्यकुब्ज देश के सम्पूर्ण ग्राम अर्पण कर दिये ॥१८७॥ वैसे ही उस उदारचरित्र महापुरुष ने हुष्कपुर में श्रीमुखस्वामी को स्थापित कर एक विशाल विहार तथा स्तूप बनवाया ॥१८८॥ दिग्विजय-प्रयाण के समय राजा ललितादित्य एक करोड़ दीनार अपने साथ लेकर रवाना हुआ था; पश्चात् दिग्विजयकार्य से निवृत्त होकर प्रायश्चित्तार्थ ग्यारह करोड़ दीनार भूतेश को अर्पण किये ॥१८९॥ उसने वहाँ ज्यष्ठेश का पाषाणमय मन्दिर बनवाया और वहाँ की पूजा के लिये बहुत से ग्राम तथा भूमि अर्पण की ॥१९०॥ और चक्रधर नामक स्थान पर वितस्ता नदी के किनारे पर रेहट लगवा कर ऊँचे गावों में पानी पहुँचाने का प्रबन्ध किया ॥१९१॥

उसने दृढ़तर-पाषाड़-निर्मित प्राकार से वेष्टित तथा द्राक्षालताओं से परिपूर्ण एक भव्य नगर बसाया, और उसके मध्य में आमार्तण्ड का मन्दिर बनवाया ॥१९२॥ उस विजयशील नरेन्द्र ने लोकपुण्य नामक स्थान पर एक नगर बसाकर वहाँ के विष्णुभगवान् को अनेक ग्राम तथा उपकरण अर्पण किये ॥१९३॥ देवेन्द्र तुल्य प्रताप-शाली उस राजा ने अमरावती का परिहास करने के लिए परिहास-पुर नामक नगर बसाकर वहाँके विष्णुभगवान् को अनेक ग्राम तथा उपकरण अर्पण किये ॥१९३॥ देवेन्द्रतुल्य प्रतापशाली उस राजाने अमरावती का परिहास करनेयोग्य परिहासपुर नामक नगर बसाकर वहाँ रजतमय परिहासकेशव को स्थापना की; वहाँ पर भगवान् परिहासकेशव का स्वरूप समुद्रशायी विष्णु के मौक्तिकमय

आभूषणों की किरणावली से धवल शरीर के समान चमकता था ॥१९४-१९५॥ उसने मुक्ताकेशव नामक विष्णु की मूर्ति सुवर्ण की बनवाई थी, वह मूर्ति विष्णु के नाभिकमलमध्यवर्ती किंजल्क (कमल केसर) के समान पीतवर्ण दीखती थी ॥१९६॥ और वराह भगवान् की सुवर्ण-कवचधारिणी प्रतिमा पातालस्थ घन-तिमिर को नष्ट करने के लिए देदीप्यमान सूर्यमण्डल के समान चमकती थी ॥१९७॥ इसी प्रकार उस राजा ने गोकुल की गायों के दूध से धवलशरीर श्रीकृष्ण के समान रजतमय श्रीगोवर्धनदेव की मूर्ति स्थापित की ॥१९८॥ उसने ५४ चौवन हाथ ऊँचा एक पाषाण-स्तम्भ बनवा कर उसपर श्रीविष्णुवाहन गरुड़देव की मूर्ति को स्थापित किया ॥१९९॥ उस निरभिमान राजा ने विशाल चतुः-शालाएँ तथा आयत चैत्य एवं दीर्घकाय जिनमूर्तियों से युक्त रत्नविहार नामक विहार का निर्माण किया ॥२००॥

उसने मुक्ताकेशव की प्रतिमा में ८४ चौरासी हजार तोला सुवर्ण लगा दिया था ॥२०१॥ उसी प्रकार उस पवित्रबुद्धि राजा ने परिहासकेशव की मूर्ति भी उतनी चाँदी से बनवाई थी ॥२०२॥ और गगनचुम्बक विशालतम बुद्धदेव की प्रतिमा का वजन ८४ चौरासी हजार प्रस्थ था। यह मूर्ति काँस्य की थी ॥२०३॥ इन मूर्तियों के वैसे ही श्रेष्ठ एवं विशाल एवं मनोहर चैत्य बनवाये थे इस प्रकार इसके द्वारा निर्माण किए गये पाँचों स्थानों में (परिहास-केशव, मुक्ताकेशव, महावराह, गोवर्धनधर, बुद्ध) समान द्रव्य का व्यय हुआ था ॥२०४॥ कुबेरतुल्य सम्पत्तिशाली उस राजा ने

प्रत्येक प्रधान देवप्रतिमा के दोनों पार्श्वों में उनके पार्षदों की सुवर्ण तथा रजत द्वारा निर्मित प्रतिमाओं को स्थापित किया था ॥२०५॥ उस उदार राजा ने मन्दिरों को कितने रत्न तथा ग्राम एवं सेवक अर्पण किये थे इनकी गणना कौन कर सकता है ? ॥२०६॥ इसी प्रकार राजपत्नियाँ, राजमन्त्री तथा माण्डलिक राजाओं ने भी राजा का अनुकरण करते हुए उस नगर में शतशः देवालय बनवाये थे ॥२०७॥ उसकी रानी कमलावती ने कमलाहट्ट नामक बाजार बसाया और कमलाकेशव की एक विशाल चाँदी की प्रतिमा बनवाकर स्थापित की ॥२०८॥ प्रधान मन्त्री मित्रशर्मा ने भी मित्रेश्वर नामक शंकर की स्थापना की और लाटदेश के माण्डलिक राजा कय्य ने कय्यस्वामी का मन्दिर बनवाया ॥२०९॥ और भी उसने अपने नाम से कय्यविहार भी बनवाया था, उस विहार में जिनदेव के समान शान्तस्वभाव सर्वज्ञमित्र नामक भिक्षु रहता था ॥२१०॥

तुःखार देशवासी चिंकुण मन्त्री ने चिंकुणविहार बनवा कर श्री ललितादित्य के चित्त के समान उन्नत एक स्तूप बँधवाया और सुवर्ण की जिनमूर्तियाँ बनवाकर स्थापित कीं ॥२११॥ उसकी पत्नी ईशानदेवी ने एक उत्कृष्ट कुण्ड बनवाया, उस कुण्ड का जल स्फटिक के समान निर्मल तथा सुधारस के समान मधुर था और उस जल के पीने से अनेक रोगी निरोग होते थे ॥२१२॥ राजा ललितादित्य की पत्नी श्रीमती चक्रमर्दिकादेवी ने चक्रपुर नामक नगर बसाया, उस नगर की गृह-संख्या सात हजार थी ॥२१३॥

भप्पटाचार्य ने भप्पटेश्वर की स्थापना की और भी बहुत से सज्जनों ने रक्षछटेश आदि देवताओं को स्थापना की ॥२१४॥ मुख्य मन्त्री चिंकुण ने अन्य नगर में भी एक चैत्य तथा विहार बनवाकर उदारता का परिचय दिया ॥२१५॥ इस प्रकार चिंकुण के श्यालक ईशानचन्द्र नामक वैद्य ने तक्षकनाग की कृपा द्वारा प्राप्त सम्पत्ति से एक भव्य एवं विशाल विहार बनवाया ॥२१६॥ इस प्रकार वह भूमिपाल पृथ्वी को सुवर्णमयी बनाता हुआ उदारता, शौर्य आदि सद्गुणों से इन्द्र से भी अधिक यशस्वी हो गया ॥२१७॥ उस राजा के मुख से सहज निकली हुई आज्ञा को देवता भी कभी उल्लंघन नहीं करते थे ॥२१८॥ एक बार वह राजा अपनी सेना समेत पूर्वसमुद्र के तट पर ठहरा था; वहाँ उसने अपने सेवकों को कपित्थफल लाने की आज्ञा दी ॥२१९॥ उस आज्ञा को सुनकर वहाँ कपित्थफलों का मिलना सम्भव न होने से वे सेवक किंकर्तव्यता-मूढ़ हो गए। इतने में एक दिव्यपुरुष उन फलों को लेकर राजा के सम्मुख प्रगट हुआ ॥२२०॥

राजा के संकेत से द्वारपाल ने आगे बढ़कर उससे फल ले लिये और "आप कहाँ से आ रहे हैं और किनके सेवक हैं" ऐसा उस दिव्यपुरुष से पूछा ॥२२१॥ उसने कहा कि मैं नन्दनवन का रक्षक हूँ, मुझे देवेन्द्र ने राजा के प्रिय कपित्थफल देने के लिए भेजा है ॥२२२॥ और मुझे एकान्त में महाराज से इन्द्र का सन्देश कहना है, इस वचन को सुनकर द्वारपाल ने वहाँ के सब लोगों को अन्यत्र भेजकर सभा को निर्जन (एकान्त) कर दिया ॥२२३॥

तब उस दिव्यपुरुष ने राजा से कहा—राजन्, देवेन्द्र ने आपसे कहा है कि मैं आपसे आपके हित की बात कहता हूँ। यद्यपि वह कठोर शब्दों से कही जा रही है, तथापि पथ्य है, इसलिए आप जैसे सज्जनों को क्षमा करना चाहिए ॥२२४॥ राजन्, इस कलियुग में भी हम लोग दिक्पाल होकर भी आपकी आज्ञा का नम्रता-पूर्वक पालन करते हैं—इसका कारण सुनिए ॥२२५॥ आप किसी गत जन्म में किसी अत्यन्त सम्पत्तिशाली कृषक के यहाँ हल चलाया करते थे ॥२२६॥ एक बार ग्रीष्मऋतु में आप हल चलाते चलाते थक कर किसी निर्जल अरण्यप्रान्त में पहुँच गये थे ॥२२७॥ वहाँ आपके स्वामी के घर से एक सेवक ठंडे जल की सुराही तथा अपूप लेकर आपके पास आया था ॥२२८॥ आप भी हाथ-पैर धोकर भोजन के लिए उद्यत ही थे, इतने में ही सामने क्षुधा से—जिसके प्राण निकल रहे हैं—ऐसे विप्र अतिथि को खड़ा हुआ देखा ॥२२९॥ उसने आपसे कहा—भद्र, क्षुधा से मेरे प्राण निकल रहे हैं, इसलिए आप इस अन्न को न खाकर मुझे दे दीजिए ॥२३०॥

उस समय आपने साथियों के मना करने पर भी सप्रेम मधुर भाषण करते हुए आधा भोजन तथा शीतल सुराही का जल उसे दे दिया था ॥२३१॥ इस आपत्कालिक, सप्रेम, सत्पात्रप्रदत्त दान के सुप्रभाव से आपकी १०० सौ आज्ञाएँ अखण्डित रूप से स्वर्ग में पालन की जावें ऐसा देवों द्वारा निश्चय किया गया ॥२३२॥ उस समय के जलदान के प्रभाव से मरुभूमि में भी आपकी इच्छा

के अनुसार सुखदायिनी महानदियाँ प्रगट हो जाती हैं ॥२३३॥ सत्पात्र रूपी सुक्षेत्र में लगाया गया तथा मधुर भाषणरूपी आलवाल से सुवेष्टित और निर्मल अन्तःकरणप्रसादरूपी जल से सींचा गया यह छोटा दानरूपी वृक्ष समयानुसार दाता को अभीष्ट फल देकर कल्पवृक्ष आदि प्रसिद्ध दानकर्ताओं को भी तिरस्कृत करता है ॥२३४॥ राजन्, वे आपकी आज्ञाएँ अलंघ्य होकर भी परिमित हैं। आज तक आपने उन आज्ञाओं का अविचारपूर्वक उपयोग किया है। अब वे बहुत थोड़ी रह गई हैं ॥२३५॥ आपके समान विचारशील राजा के हृदय में साधारण अल्पज्ञ राजाओं के तुल्य विचारशून्य भाव क्यों उत्पन्न होते हैं ? ॥२३६॥ राजन्, ये फल काश्मीर देश में भी वर्षाऋतु में कुछ ही दिनों तक मिलते हैं, तब यहाँ पूर्व समुद्र के तीर पर और शिशिरऋतुमें कैसे मिल सकेंगे ॥२३७॥ आप जिस-जिस दिशामें जाएँगे, उस-उस दिशा के दिक्पाल को उस दान के प्रभाव से आपकी आज्ञा को मानना पड़ेगा ॥२३८॥ इस समय माहेन्द्री (पूर्व) दिशा में आए हुए आपकी इस स्वल्प आज्ञाका भी अकुण्ठितशक्तिशाली देवेन्द्र ने पालन किया है ॥२३९॥ इसलिए आपको बिना किसी महत्त्व-पूर्ण कार्य के उन आज्ञाओं का उपयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि अब वे बहुत थोड़ी रह गई हैं ॥२४०॥

ऐसा कहकर उस दिव्य पुरुष के अन्तर्धान होने के बाद वह उदारहृदय राजा ललितादित्य दान की महिमा को देखकर अत्यन्त विस्मित हुआ ॥२४१॥ उस दिन से उसने दान द्वारा अनंत पुण्य

प्राप्त करने के लिए परिहासपुर में एक बड़ा वार्षिक महोत्सव प्रारंभ कर दिया ॥२४२॥ उस उत्सव में ब्राह्मणों को तण्डुलपूर्ण तथा दक्षिणायुक्त एक लक्ष पात्र एकाधिक दिये जाते थे, उस उत्सव का नाम सहस्रभक्त रखा गया था ॥२४३॥ इसी अभिप्राय से उसने ऊसर प्रदेशों में नगर बसाकर उन्हें आबाद कर दिया, कि कोई प्यासा पथिक यहाँ आएगा, तो यहाँ जल मिल सकेगा ॥२४४॥ जिस प्रकार पवन अनेक वृक्षों से विकसित कुसुमों को एकत्रित करता है, उसी प्रकार उस गुणग्राही राजाने देशान्तरों से बुलवाकर सुयोग्य विद्वानों का संग्रह किया था ॥२४५॥ उसने भुःखार देश से कंकणवर्ष नामक महान् रासायनिक के अत्यंत गुणसम्पन्न सहोदर भ्राता चंकुण को बुलवा कर रखा था ॥२४६॥ वह रासायनिकप्रयोग से सुवर्ण निर्माण कर राजा के कोश को सुवर्णपूर्ण रखता था; अतः कमल के लिए तड़ाग के समान राजा के लिए अत्यंत हितकर था ॥२४७॥ एक समय सेनासहित वह राजा पंचनद (पंजाब) देशमें दुस्तर नदियों के संगमोंसे तीर पर रुक जाने से चिन्ता मग्न हो गया ॥२४८॥ और मन्त्रियों से पार जाने का उपाय सोचने के लिए कह रहा था; उस समय किनारे पर खड़े हुए चंकुण ने उस अगाध जल में एक मणि डाल दिया ॥२४९॥ उस मणि के प्रभाव से नदी का जल दो हिस्सों में बँट गया, और वह राजा अपनी सेनासमेत शीघ्र ही नदी के पार चला गया ॥२५०॥

चंकुण ने भी दूसरे मणि से उस मणि को नदी में से निकाल

लिया। मणि के निकलते ही नदियों का जल पूर्ववत् हो गया ॥२५१॥ राजा ने उन रत्नों के ऐश्वर्यकारी प्रभाव को देखकर प्रेम के साथ चंकुण से उन दोनों रत्नों को माँगा ॥२५२॥ वह हँस कर राजा से बोला, कि महाराज ये मणि मेरे पास रहने से ही इस कार्य को करते हैं; इसलिए इनको लेने से आपको क्या लाभ होगा ? ॥२५३॥ उत्तम वस्तु को विशिष्ट योग्यता तभी तक मिल सकती है कि जब तक वह सामान्य वस्तुओं में रहे; और अनेक उत्तम वस्तुओं के समूह में उसका क्या महत्त्व हो सकता है ॥२५४॥ चन्द्रकान्त मणि जब तक समुद्र से दूर रहता है; तभी तक उसके झरने का महत्त्व है; और यदि समुद्र में झरेगा तो उसका कुछ महत्त्व नहीं होगा ॥२५५॥ उसके इस कथन से आश्चर्ययुक्त होकर राजा ने कहा कि क्या मेरे पास इनसे भी उत्कृष्ट वस्तुएँ हैं ॥२५६॥ यदि ऐसा आपका दृढ़ सिद्धान्त हो, तो आप मेरे पास से उस वस्तु को लेकर उसके बदले में ये दोनों मणि मुझे दे दीजिए ॥२५७॥ तब चंकुण ने कहा—महाराज, आप मुझ पर बड़ा अनुग्रह कर रहे हैं। ये दोनों मणि आपकी सेवा में मेरी ओर से सादर समर्पित हैं; और इनके बदले में मेरी प्रार्थना आपको स्वीकार करनी पड़ेगी ॥२५८॥ देव, आपके पास मगधदेश से हाथी पर रखकर जो बुद्ध भगवान् की मूर्ति आई है, वह मूर्ति मुझे दे दीजिये ॥२५९॥ संसार सागर को पार करने का परम साधन वह बुद्ध प्रतिमा मुझे देकर लौकिक जलसंतरणसाधन ये रत्न आप ले सकते हैं ॥२६०॥

इस प्रकार उसकी सयुक्तिक प्रार्थना से सन्तुष्ट होकर राजा ने उसे बुद्ध प्रतिमा दे दी। क्योंकि योग्य एवं वक्तृत्व पूर्ण प्रार्थना को कौन टाल सकता है ॥२६१॥ उस मूर्ति को चंकुण ने अपने विहार में स्थापित किया; उस प्रतिमा का रंग भिक्षुओं की कौपीन के समान गेरुआ और चमकीला था ॥२६२॥ आज भी आयस (लोहे के) कटकों से वेष्टित उस प्रतिमा का सिंहासन उसकी गज-स्कन्ध-स्थिति को सूचित करता है ॥२६३॥ यह भगवती वसुन्धरा महाप्रभावशाली राजर्षियों के इच्छानुसार प्रियकार्य करने के लिए सर्वदा सन्नद्ध रहती है ॥२६४॥ एक बार अश्वशास्त्रनिष्णात वह राजा एक अशिक्षित अश्व को शिक्षा देने के लिए अरण्य में अकेला गया था ॥२६५॥ उस निर्जन वन में दूर से एक सुन्दरी ललना को गाते हुए और दूसरी को नृत्य करते हुए देखा ॥२६६॥ राजा वहाँ अपने अश्व को दौड़ा रहा था। कुछ समय बाद नृत्य गीत समाप्त कर उस स्थान को प्रणाम करके उन ललनाओं को जाते हुए उसने देखा ॥२६७॥ फिर वह राजा कौतुकवशात् प्रतिदिन वहाँ जाने लगा। और उसी प्रकार उनको देखने लगा। तब एक दिन अश्व से उतर कर राजा ने उनका परिचय पूछा ॥२६८॥ तब उन्होंने कहा—महाराज हम देवदासी नर्तकी हैं। यहाँ से कुछ ही दूर पर शूरवर्धमान नामक ग्राम हमारा निवास स्थान है ॥२६९॥ यहाँ की जीविका का उपभोग करनेवाली अपनी माताओं के आदेश से हमारे कुल की नर्तकी प्रतिदिन यहाँ नृत्य करती है ॥२७०॥

यह रूढ़ि हमारे वंश में परम्परा से चलती आ रही है और

इसका कारण हमको या और किसी को भी मालूम नहीं है ॥२७१॥ इस प्रकार के वचनों से राजा को आश्चर्य हुआ और दूसरे दिन उसने उन गायिकाओं द्वारा दिखलाई गई भूमि को बहुत से मजदूर लगवाकर खुदवा डाला ॥२७२॥ बहुत खोदकर वहाँ की मिट्टी हटाने से अन्दर दो मन्दिर निकले, उनके द्वार बन्द थे, मन्दिर अत्यन्त जीर्ण थे ॥२७३॥ राजा ने उनके द्वार खुलवा कर भीतर जाने के बाद वहाँ केशवस्वामी की दो प्रतिमाएँ देखी। उनके सिंहासन पर खुदे हुए शिलालेख से स्पष्ट विदित हो गया कि ये प्रतिमाएँ श्रीराम और लक्ष्मण द्वारा स्थापित की गई हैं ॥२७४॥ राजा ने परिहासकेशव के मन्दिर के पास उत्तम पाषाणमय देवालय बनवाकर उसमें रामस्वामी की मूर्ति को स्थापित किया ॥२७५॥ इसी प्रकार उसकी पत्नी चक्रमर्दिकादेवी ने राजा को प्रसन्न कर उससे दूसरी लक्ष्मणस्वामी की मूर्ति को लेकर उसे चक्रेश्वर के पास नवनिर्मित देवालय में स्थापित किया ॥२७६॥ एक बार वह राजा हाथी पर सवार होकर दिग्विजय के लिए जा रहा था। तब उसे मार्ग में एक पुरुष सम्मुख खड़ा दिखाई दिया, "उसको किसी ने दण्ड दिया है" ऐसा स्पष्ट दीखता था ॥२७७॥ उसके कटे हुए नाक, कान आदि अवयवों से रक्तबिन्दु गिर रहे थे और वह आत्मरक्षा के लिए राजा से प्रार्थना कर रहा था, उसकी दुर्दशा को देख राजा ने दयार्द्र होकर उसका वृत्तान्त पूछा ॥२७८॥ उसने अपने को सिकतासिन्धु के पास के एक राजा का हितैषी तथा विश्वासपात्र सचिव बतलाया ॥२७९॥ और कहा कि महाराज, मैंने

अपने स्वामी से कहा था कि "आप श्रीललितादित्य महाराज से युद्ध करने का विचार त्याग कर उनकी अधीनता स्वीकार कर लीजिए, इसी से आपका कल्याण होगा" इस हित-वचन के कहने से उसने मुझे यह दण्ड दिया है ॥२८०॥

राजा ने भी उसके स्वामी को इस अपराध के उपलक्ष में योग्य दण्ड देने की प्रतिज्ञा कर औषधि द्वारा उसके व्रणों का उपचार करने की व्यवस्था कर दी और उससे उसके व्रण ठीक हो गए ॥२८१॥ और उसे साथ लेकर ललितादित्य ने भी अपने सैन्यसहित आगे चलना शुरू किया। एक समय एकान्त में उस सचिव ने राजा से कहा ॥२८२॥ महाराज, मैंने उस दुष्ट राजा से इसका बदला लेने की आशा से ही इस छिन्न-भिन्न शरीर की रक्षा करने की विडम्बना को स्वीकार किया है ॥२८३॥ मैं इस कार्य से निवृत्त होते ही सुखएवं दुःखों को अपने अश्रुजल से तिलाञ्जलि देकर इस अपमानित शरीर को शीघ्र ही निश्चयपूर्वक त्याग दूँगा ॥२८४॥ जैसे पर्वत अपने ऊपर चढ़कर चिल्लानेवाले की चिल्लाहट का द्विगुणित प्रतिध्वनि से उत्तर देता है, वैसे ही शत्रु द्वारा किए गये छोटे से अपकारों का बदला उनको जबरदस्त नुकसान पहुँचा कर चुकाना चाहिए ॥२८५॥ राजन्, यहाँ से उसके राज्य में पहुँचने के लिए तीन मास का रास्ता है, तब वहाँ कैसे शीघ्र पहुँच सकते हैं। यदि तीन मास में पहुँचने का ही निश्चय रखा जाय, तो वहाँ पहुँचने पर आपको शत्रु अपने स्थान पर नहीं मिलेगा ॥२८६॥ इसलिए मैं आपको १५ पन्द्रह दिन का मार्ग

बतलाता हूँ, परन्तु उस मार्ग में पानी नहीं मिलता है, इसलिए साथ में पानी लेकर जाना चाहिए जिससे सेना को जल का कष्ट न हो ॥२८७॥ उस मार्ग में मेरे आप्तजन रहते हैं, वे आपका आगमन वृत्तान्त उस राजा से नहीं कहेंगे, इससे आप आकस्मिक आक्रमण से राजा, मन्त्री, रानियों तथा कोश आदि को अनायास से प्राप्त कर सकेंगे ॥२८८॥ इस प्रकार के विश्वासोत्पादक वचनों से उसने राजा को सिकतासिन्धु के मार्ग का पथिक बना दिया। पन्द्रह दिन उस मार्ग में निरन्तर चलने के बाद उसके साथ का जल समाप्त हो गया ॥२८९॥ फिर भी राजा ने दो तीन दिन तक बिना जल के ही चलना जारी रखा। अन्त में सेना को तृषा से खिन्न देखकर राजा ने उस मन्त्री से कहा ॥२९०॥

महाशय आपके कथनानुसार पन्द्रह दिनसे भी अधिक बीत चुके हैं, और सैनिक प्यास से मर रहे हैं, अब कितना मार्ग बाकी है ॥२९१॥ तब वह सचिव हँसकर बोला—जिगीषो, आप रिपु के नगर का मार्ग पूछ रहे हैं, या यम के नगर का ? ॥२९२॥ मैंने अपने स्वामी-हित के लिए ही अपने प्राणों की भी पर्वाह न करते हुए आपको सेना समेत मृत्यु के मुख में ढकेल दिया है ॥२९३॥ यह केवल मरुभूमि ही नहीं है, किंतु बड़ा भयंकर सिकता-सिन्धु है। यहाँ जलकण का भी दर्शन नहीं हो सकता। अब आपकी कौन रक्षा करेगा ? ॥२९४॥ इस कर्णकठोर वचन को सुनकर सम्पूर्ण सेना हताश एवं निर्जीव-सी होगई। जिस प्रकार बर्फ गिरने से फलशून्य हो कर शलाकारुपेण दृश्यमान शालि-

क्षेत्र शून्य-सा दीखता है, उसी प्रकार वह शून्य सी हो गई ॥२९५॥ जीवन की आशा को त्याग कर करुणक्रन्दन करते हुए सैन्य को सांत्वना कर राजा ने हाथ उठा कर कहा ॥२९६॥ महाशय, आपने यह कार्य स्वामिभक्ति से प्रेरित हो कर किया है, इसलिए मैं नितान्त सन्तुष्ट हूँ। इस हर्ष से इस शुष्क भूमिमें भी शीत प्रदेश के समान मेरा शरीर रोमाञ्चित हो रहा है ॥२९७॥ परन्तु वज्रतुल्य अभेद्य मेरे सुदृढ़ निश्चय के सन्मुख आपका यह प्रयत्न लौहघन के समान निष्फल है ॥२९८॥ रत्न समझ कर अंगार समूह को उठाने वाले अज्ञ की जब अंगुलियाँ जल जाती हैं तब उसको पश्चात्ताप होता है, वैसे ही आपको भी व्यर्थ अवयव कटवाने से पश्चाताप होगा ॥२९९॥ मेघ के गरजते ही जैसे वैडूर्यभूमि से रत्नशलाका उत्पन्न होती है वैसे ही मेरी आज्ञा के प्रभाव से इसी मरुभूमि से जलधारा का प्रादुर्भाव आपको दिखाई देगा ॥३००॥

ऐसा कहकर राजा ने पानी निकालने के लिए जमीन में भाला मारा। तत्काल ही त्रिलोचन के त्रिशूल-प्रहार से उत्पन्न हुई वितस्ता नदी के समान उन सैनिकों की जीवनाशा के साथ पाताललक्ष्मी के सलिल हास्य के तुल्य निर्मल जलपूर्ण सरिता बहने लगी ॥३०१-३०२॥ उस नदी ने राजा के सैनिकों के दैन्य के साथ ही उस नाक कान कटवानेवाले धूर्त मन्त्री को मनोरथ परम्परा का उच्छेद कर डाला ॥३०३॥ अपने प्रयत्न को निष्फल देखकर वह मन्त्री अपने स्वामी के पास भाग गया, वहाँ उस

अपशकुन स्वरूप नकटे मन्त्री के पहुँचते ही अन्तक ने भी ललितादित्य के रूप में प्रवेश किया ॥३०४॥ वहाँ पहुँचकर राजा ललितादित्य ने उस कपटी राजा को परास्त कर उसके मिथ्यावादी मन्त्री के समान दुर्गति का पात्र बनाया अर्थात् उस राजा के भी नाक कान कटवा दिये ॥३०५॥ राजा ललितादित्य ने उस मरुभूमि के मार्ग में जिन-जिन स्थानों पर जो नदियाँ उत्पन्न की थीं, उन्हें आज भी कुन्तवाहिनी कहा जाता है ॥३०६॥ इस प्रकार के सहस्रशः आश्चर्यकारी वृत्तान्त राजा ललितादित्य के प्रसिद्ध हैं, परन्तु अति प्रसंग के भय से एवं कथादैर्घ्य के भय से यहाँ नहीं लिखे जाते ॥३०७॥ निःशब्द होकर शान्ततया बहनेवाली महानदियाँ भी पत्थरों के समूहों पर प्रचण्ड शब्द करने लगती हैं; एवं स्वच्छसलिला होने पर भी वर्षाकाल में कलुषितजला हो जाती हैं वैसे ही बड़े लोग भी देश-काल के अनुसार अपने स्वभाव तथा आचरण में परिवर्तन कर देते हैं ॥३०८॥ इसे कलियुग का प्रभाव कहना चाहिए या राज्यसिंहासन का प्रभाव कहना चाहिए, जिससे कि ललितादित्य के समान सुयोग्य राजा के हाथ से भी कभी कभी भयंकर निन्द्यकार्य हो जाते थे ॥३०९॥ एक समय उस राजा ने अपनी पत्नियोंसमेत मदिरा के मद में उन्मत्त होकर मन्त्रियों से कहा ॥३१०॥

"प्रवरसेन के द्वारा बसाया गया प्रवरपुर यदि मेरे परिहासपुर के समान सौन्दर्यसम्पन्न हो तो उसे शीघ्र ही जला दिया जावे" ॥३११॥ वे उस भीषण आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते थे;

इसलिए उन्होंने वातुल नामक स्थान पर अश्वों के लिए एकत्रित घास के पुञ्ज को जलाकर राजा को सन्तुष्ट किया ॥३१२॥ राज-भवन के उत्संग से उस दृश्य को देखता हुआ वह राजा अग्नि की अतिभयंकर ज्वालाओं के प्रकाश से उज्ज्वलमुख होकर उल्कामुख पर्वत के समान अट्टहास करने लगा ॥३१३॥ जिस प्रकार तिमिर-दोष-दूषित नेत्र चन्द्रादि तेजोमय पदार्थ को द्विगुण देखते हैं, वैसे ही सत्पुरुष भी रागद्वेष के वश होकर मनुष्य को विपरीत दृष्टि से देखने लगता है ॥३१४॥ अन्यथा अनेक नगरों को बसानेवाला वह राजा उस प्रवरसेन के एकमात्र नगर को क्यों अधिक समझने लगता ॥३१५॥ पश्चात् मद्य के मद से शून्य होकर वह राजा अपने आदेश से किये गए नगरदाह-जनित पातक से अत्यन्त दुःखी हुआ। पश्चात्ताप के कारण उसके मुख से दीर्घ एवं उष्ण निश्वास निकलने लगे ॥३१६॥ जैसे कोटर-स्थित अग्नि सम्पूर्ण वृक्ष को जला देती है, वैसे ही अन्तःकरणस्थ गुप्तक्लेश मनुष्य को क्षीण कर देता है ॥३१७॥ प्रातःकाल में मन्त्रियों ने राजा की यह परम शोचनीय स्थिति देखकर उसे सच्चा वृत्तान्त सूचित किया ॥३१८॥ प्रवरपुर नष्ट न होने का वृत्तान्त सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। जैसे स्वप्नावस्था में पुत्र के खो जाने से दुःखी होकर जागने के बाद पुत्र को सम्मुख खड़ा देखकर मनुष्य को जैसी प्रसन्नता होती है; वैसी ही प्रसन्नता राजा को हुई ॥३१९॥ "मैं मदिरा के नशे में जो कुछ कहूँ वह यदि अनुचित हो तो आपको उसे नहीं करना चाहिए" इस प्रकार राजा ने उन मन्त्रियों की प्रशंसा करके आज्ञा दी ॥३२०॥

बहुत से राज सेवक केवल स्वार्थसाधन तथा सुखप्राप्ति के लिए इस पृथ्वीरूपी वारांगना का किंचित् काल उपभोग करने वाले अपने स्वामी को अयोग्य सुखाभिलाष में फँसा कर उसका पतन करा देते हैं; ऐसे नीच सेवकों को शतशः धिक्कार है। प्रत्युत अपने जीवन की उपेक्षा करके भी अपने स्वामी को कुमार्ग-सेवन से रोकने वाले विवेकशील सज्जन भृत्यों से यह पृथ्वी पवित्र मानी जाती है ॥३२१॥ इन्द्र की अपेक्षा भी अधिक प्रभावशाली उस राजा के द्वारा यःकश्चित क्षुद्र नृपति को भी लज्जित करने योग्य और भी एक अनुचित घटना हो गई ॥३२२॥ उसने गौड़नरेश को परिहासकेशव को मध्यस्थ बनाकर अभय दान देकर भी त्रिगामी नामक स्थान पर तीक्ष्णों के द्वारा मरवा डाला ॥३२३॥ उस समय गौडेन्द्र के सेवकों ने अपने दिवंगत स्वामी के लिए धैर्य के साथ युद्ध कर अपने प्राणों को न्यौछावर कर दिया और सबको आश्चर्य में डाल दिया ॥३२४॥ उन्होंने शारदा के दर्शन के मिष से काश्मीर में आकर नगर के मध्य स्थित श्री परिहासकेशव के देवालय को चारों ओर से घेर लिया था ॥३२५॥ राजा के विदेश में रहते हुए इस प्रकार देवालय में उपद्रव करने के लिए प्रवेश करते हुए उन्हें देख कर पुजारियों ने द्वार बन्दकर परिहासकेशव की रक्षा की ॥३२६॥ उन पराक्रमी गौडेन्द्र के सेवकोंने परिहासकेशव के भ्रम से रामस्वामी के मन्दिर में घुसकर उस रजतमयी प्रतिमा का ध्वंस करना प्रारंभ किया; उसको वहाँ से उखाड़ कर फोड़ डाला ॥३२७॥ और तिल

बराबर टुकड़े करके चारों ओर फेंक दिया। इस अपराध के उपलक्ष में राजा के सैनिकों ने उनका वध करना प्रारंभ कर दिया ॥३२८॥ उस समय वे रक्तलिप्त, कृष्णवर्ण गौडेन्द्रसेवक गैरिकद्रवरञ्जित अञ्जनाद्रिशिलाखण्डों के समान दीख रहे थे ॥३२९॥ उन महावीरों के रक्तप्रवाह से वसुंधरा एवं असाधारण स्वामिभक्ति दोनों ही सुशोभित होने लगीं ॥३३०॥ वज्र से (हीरे से) वज्रभीति (विद्युद्भय) नष्ट होती है, पद्मरागमणि से श्री वृद्धि होती है तथा गारुत्मरत्न से विषबाधा का नाश होता है। इस प्रकार प्रत्येक रत्न अपने नियमित प्रभावानुसार लाभप्रद होते हैं; परन्तु अपरिमित-महिमा-शालि पुरुषरत्न अपने प्रभाव से कौन सा कार्य नहीं कर सकते ॥३३१॥ उन बेचारे गौड़ सेवकों का स्वामी मारा गया था, देश वापिस जाने में बहुत लम्बा रास्ता लाँघना था, ऐसी विपत्ति में भी उन्होंने स्वामिभक्ति का जो ज्वलंत आदर्श उपस्थित किया था ऐसा उदाहरण दिखलाना विधाता को भी कठिन होगा ॥३३२॥ उस समय में राजाओं के यहाँ ऐसी अलौकिक स्वामिभक्ति को दिखलाने वाले भृत्यरत्न रहा करते थे ॥३३३॥ इस गौड़रूपी राक्षसों के उपद्रव में श्रीरामस्वामी के बलिदान से राजा के परमप्रिय श्रीपरिहासकेशव की रक्षा हो सकी ॥३३४॥ आज भी वह रामस्वामी का भग्नमन्दिर सकल वैभवरहित एवं शून्य दृग्गोचर होता है, और उन गौड़वीरों के सुयश से ब्रह्माण्ड व्याप्त हो रहा है ॥३३५॥ इस प्रकार के अनेक विलक्षण कार्य करते हुए उस राजा का अधिक समय प्रवास में

व्यतीत होता था और स्वल्प समय राज्य में बीतता था ॥३३६॥ अन्य राजाओं से अदृष्टपूर्व देश को अवलोकन करने के कौतुक से फिर से वह राजा अपार उत्तरापथ में अपनी सेना सहित प्रविष्ट हुआ ॥३३७॥ वहाँ उसके प्रभाव की परीक्षा करने के लिए कुबेरादि लोकपालों द्वारा भेजेगए अनेक रणदक्ष राक्षस मार्ग में युद्ध के लिए उपस्थित होते थे; और वह उनको परास्त करता था ॥३३८॥ जिस भूमि को सूर्य किरणों ने भी आज तक नहीं देखा था, वहाँ भी उसकी प्रबलसत्ता तथा आज्ञा अविच्छन्नरूप से मानो जाती थी ॥३३९॥ उसके मन्त्रियों को चिरकाल से उसका समाचार नहीं मिला था, इसलिए उन्होंने व्याकुल होकर उसके पास एक दूत भेजा था। कुछ समय के बाद वह दूत वापिस आकर कहने लगा ॥३४०॥

महाराज ने आप लोगों को आदेश दिया है कि—"इस देश में पहुँचने के बाद मैं शीघ्र ही वापिस चला आऊँगा, ऐसा सोचना आपका भ्रमात्मक है ॥३४१॥ मैं इधर प्रतिदिन नवीन-नवीन देशों पर आक्रमण कर विजय प्राप्त कर रहा हूँ; इस कार्य को छोड़ कर यदि मैं वहाँ आ भी गया, तो मेरे लिए वहाँ आप लोगों ने कौनसा महत्त्वपूर्ण कार्य खोज रखा है ? ॥३४२॥ अपने उद्भव से निकल कर आगे बहने वाली नदियों को अन्त में समुद्र में ही मिलना पड़ता है, उसी प्रकार प्रतिदिन विजय पाने वाले एवं भावी-विजय परंपरा के इच्छुक वीर के संचार की अवधि कैसे हो सकती है ? ॥३४३॥ इसलिए मेरी अनुपस्थिति में आप लोगों को राज्य का

शासन कैसे करना चाहिए—इस विषय में मैं अपने मुख्य-मुख्य सिद्धांत आपको सूचित कर रहा हूँ, तदनुसार निःशंक होकर शान्ति के साथ राज्य का प्रबन्ध करते रहें ॥३४४॥ इस राज्य को सुशासित तथा प्रगतिशील बनाये रखने के लिए अन्दरूनी फूट अथवा अन्तः प्रकृति प्रकोप से डरते रहना चाहिए; क्योंकि जैसे चार्वाक मतानुयायियों को परलोक का भय नहीं होता है वैसे ही राज्य-कार्य कर्ताओं को परकीय लोगों का उतना भय नहीं होता ॥३४५॥ इस राज्य में पर्वतीय प्रदेशों के दुर्गम स्थानों में रहने वालों को दुर्गाश्रय के कारण अपने वश रखना कठिन है; इस लिए वे सदोष हों या निर्दोष हों उन्हें दण्ड देते ही रहना चाहिए; अन्यथा वे संपन्न होते ही हमारे आधीन न रह सकेंगे ॥३४६॥ किसानों के पास एक वर्ष तक निर्वाह के लिए पर्याप्त अन्न और खेती के लिए पर्याप्त हों इतने ही बैल रहने देना चाहिए, अधिक नहीं, अन्यथा वे प्रबल एवं त्रासदायक डामर हो जावेंगे, और राजा की आज्ञाका उल्लंघन करेंगे, इस बात का पूरी तरह से ध्यान रखना चाहिए ॥३४७–३४८॥ यदि कृषकों को नागिरकों के समान उत्तम वस्त्र, मिष्ठान्न, सुन्दर ललनाए तथा आभूषण एवं अश्वादिवाहन मिलने लगें और राजा लोग अविचार से नितान्त-रक्षणीय दुर्गों के योग्य प्रबन्ध की ओर ध्यान न दें, और राज सेवक विवेक-शून्य होने लगें; तथा अश्वारोही पदाति आदि सैनिकगण एक ही देश के रहने वाले हों एवं अधिकारीगण परस्पर विवाहादि सम्बन्धों से बँध जावें, और राजा लोग भी कायस्थों के समान लोभी तथा प्रजा-पीड़क बनकर

अन्याय करने लग जावें, तब प्रजा के दुर्भाग्य का उदय काल जानना चाहिए ॥३४९-३५०-३५१-३५२॥

मेरे वंशजों के विषय में मैं दो शब्द कहता हूँ उन्हें ध्यान लगाकर सुनिए और उसका ठीक पता लगाकर उनके हार्दिक गूढ़ भावों को जान लेना चाहिए ॥३५३॥ बहती हुई हवा मद के गन्ध से गजेन्द्र के सान्निध्य को सूचित करती है; बिजली की चमक से बादल का पता लग जाता है, उसी प्रकार पूर्व-जन्मार्जित-संस्कार-जनित-स्वभाव का सच्चा स्वरूप विचारशील एवं सूक्ष्मद्रष्टाओं को मानव के आचरण से मालुम हो जाता है ॥३५४॥ कुवलयादित्य और वज्रादित्य दोनों मेरे ही पुत्र हैं; परन्तु मातृभेद के कारण इनका स्वभाव भिन्न है ॥३५५॥ मेरे ज्येष्ठ पुत्र को राज्याधिकारी बनाना चाहिए, परन्तु यदि वह क्रोधी तथा दुःखप्रद हो, तो आपको उसके विरुद्ध कार्यवाही करके अधिकार से वञ्चित रखना चाहिए ॥३५६॥ इससे दुःखी होकर वह यदि देशत्याग अथवा प्राणत्याग करेगा तो उसका किसी को भी शोक न करना चाहिए, यह मेरी आज्ञा है ॥३५७॥ छोटे भाई वज्रादित्य को तो राज्य देना ही न चाहिए और यदि प्रमादवश दे दिया जावे तो फिर उसकी आज्ञा का सर्वथा पालन करना चाहिए, और दुष्ट होने पर भी उसके प्राणों की रक्षा करना चाहिए ॥३५८॥ मेरे पौत्रों में सबसे कनिष्ठ जयापीड नामक जो बालक है, उसे पितामह के समान बनने का उपदेश देते रहें" ॥३५९॥ इस अर्थ गौरवयुक्त राज-सन्देश को मन्त्रियों ने हताश एवं नम्र होकर स्वीकार कर आँसू गिराये ॥३६०॥

पश्चात् प्रधान मन्त्री चंकुण ने सम्पूर्ण प्रजा को एकत्रित कर स्वामिवियोग संतप्त वसुंधरा को आंसुओं से सींचते हुए कहा ॥३६१॥ अब राज्यासन पर राजकुमार कुवलयापीड़ को अभिषिक्त करना चाहिए, क्योंकि इस दूत के कथन से स्पष्ट ध्वनित होता है कि पुण्यश्लोक महाराजा ललितादित्य स्वर्गवासी हो गये है ॥३६२॥ जिस पुण्यवान् के कोश को सुवर्ण समृद्ध बनाए रखने के लिए देवताओंने मुझे रससिद्धि प्रदान की थी, आज वह अकस्मात् नष्ट हो गई ॥३६३॥ वह भाग्यशाली पुरुष दूर रहकर भी अपने प्रबल भाग्य के प्रभाव से कठिन से कठिन कार्यों को भी सरलता पूर्वक सम्पन्न कर देते थे ॥३६४॥ भगवान् सूर्य मेघों से अन्तरित होकर भी कमलों को दूर से विकसित कर देते हैं और मेघ दूर रहकर आतप को शीतल कर देता है, वैसे ही महापुरुषों में भी कोई विचित्र शक्ति होती है जिसके प्रभाव से दूरस्थित एवं सुदुष्कर कार्य भी बिना किसी अन्तराय के सुसम्पन्न हो जाते हैं ॥३६५॥ वह ललितादित्यरूपी चंद्र ३६ वर्ष ७ मास और ११ दिन पृथ्वी को आह्लादित कर अस्त हो गया ॥३६६॥ "वह राजा आर्याणक देश में अत्यधिक वर्फ गिरने के कारण मृत्यु को प्राप्त हुआ था", इस प्रकार भी बहुत से इतिहासज्ञों का कथन है ॥३६७॥ "उसने अपने दीर्घकालसंपादित सुयश को सुरक्षित रखने के लिए अपरिहार्य आपत्ति के भय से अग्नि में प्रवेश किया था" ऐसा भी बहुतों का मत है ॥३६८॥ "मानवमात्र को दुष्प्राप्य एवं केवल देवसुलभ उत्तरापथ में वह राजा सेना सहित अदृश्य हो गया", इस

प्रकार भी कई ऐतिहासिक कहा करते है ॥३६९॥ जिस प्रकार उस राजा के अद्भुत कार्यों की कथाएँ प्रसिद्ध हैं इसी प्रकार उसकी विपत्ति की अद्भुत कथाएँ कही जाती हैं ॥३७०॥ जिस प्रकार सूर्यास्त के संबन्ध में कोई कहते हैं "सूर्य अस्ताचल को गया" कुछ लोग कह देते हैं "सूर्य सागर में डूब गया" कोई कहा करते हैं "सूर्य ने अग्नि में प्रवेश किया" बहुतों का कथन है कि "सूर्य लोकान्तर को गया", इस प्रकार महापुरुषों पर अन्तिम काल में आई हुई अज्ञात आपत्तियों के विषय में भी अद्भुत कथाएँ प्रचलित होती हैं ॥३७१॥

अदिति से उत्पन्न हुए देवेन्द्र के समान तेजस्वी श्री कमलदेवी के पुत्र कुवलयापीड ने कुवलय (भूमण्डल) पर शासन करना प्रारंभ किया ॥३७२॥ जैसे बड़े-बड़े सर्प अपने मलिन कञ्चुक को त्याग कर सतेज हो जाते हैं, वैसे ही उस राजा ने स्वभाव मलिन लक्ष्मी के मालिन्य को त्याग द्वारा सुतरां क्षालन कर उसे निर्मल कर दिया ॥३७३॥ कुछ समय तक समान तेजस्वी भ्राता के प्रभाव से जाज्वल्यमान अग्नि के सम्मुख दीप तेज के समान उसका तेज लुप्तप्राय अवस्था में रहा था ॥३७४॥ परमधूर्त एवं दोनों भ्राताओं से क्रमशः पारितोषिक प्राप्त करने की इच्छा करने वाले लोभी दरबारियों ने पारस्परिक ईर्ष्या को उत्तेजित कर उनको स्थिति को भ्रमरों से अत्यन्त पान करने से मदशून्य शुष्क गजकपोलस्थल के समान कर दिया था ॥३७५॥ पश्चात् उस चतुर राजा ने उन लोभी धूर्तों को दोनों ओर से द्रव्योपार्जन करते हुए जानकर उनके षड्यन्त्र को एवं भ्राता के प्रभाव को साथ ही निर्मूल कर डाला ॥३७६॥ इस प्रकार उसने

अपने बल से राज्य को निष्कंटक बना कर दिग्विजय के लिए सेना को सज्ज किया ॥३७७॥ उस दिग्विजय की तैयारी में एक मन्त्री ने उसके पिता की आज्ञा का स्मरण कर अथवा औद्धत्य से उसकी आज्ञा को नहीं माना ॥३७८॥ इस अपमान से रात में राजा क्रुद्ध हो शय्या पर पड़े-पड़े सोचता रहा; और चिन्ता से उसे एक क्षण के लिए नींद नहीं आई ॥३७९॥ उसने क्रोध के आवेश में उस मन्त्री के वध करने का विचार किया। उसके साथ साथ उसके आप्तों का भी वध करना पड़ेगा ऐसा विचार भी उसके मन में आया ॥३८०॥

इस प्रकार विचार-रूपी मन्दराचल से मथन किए गये उसके हृदय-सागर में से प्रथम तो क्रोध रूपी हलाहल विष का प्रादुर्भाव हुआ और पश्चात् शान्ति-रूपी सुधा का उदय हुआ ॥३८१॥ जब उसका क्रोध शान्त हो गया, तब उसने सोचा कि इतनी जबरदस्त जीवहिंसा करने का विचार मेरे मन में किस लिए उत्पन्न हुआ ? ॥३८२॥ जिसके लिए अनेक कुकर्म कर अतिघोर पातक सम्पादन किया जाता है वह देह भी तो किसका स्थिर रहता है ॥३८३॥ इस कृतघ्न एवं नश्वर देह के लिए कौन सावधान तथा स्मृतिशील पुरुष अनश्वर पुण्यमार्ग का नाश करेगा ॥३८४॥ इस कालरूपी सूद (पाचक) के द्वारा इस शरीर की प्रत्येक क्षण में कैसी-कैसी अवस्थाएँ निर्माण की जाती हैं यह बात प्राणियों की समझ में नहीं आती है ॥३८५॥ शैशव में अनिमित्त हास्य से सुशोभित कमल-कोरक-कोमल इस सुरम्य मुख को आज के कठोर

तारुण्य के कारण श्मश्रु के उद्भेद से तप्त ताम्रतुल्य तथा कल प्रभात में ही वृद्धावस्था से शुभ्र दाढ़ी तथा मूँछ आदि के प्रभाव से वृद्ध अज के समान दुर्दर्शनीय होते देख दीर्घायु विद्वान् हँसा करते हैं ॥३८६॥ इत्यादि सुविचार परम्परा द्वारा संसार को अनित्य समझकर उसने शान्ति का आदर कर राज्य को त्याग दिया और नैमिषारण्य का आश्रय ग्रहण किया ॥३८७॥ जाते समय उसने निम्नलिखित श्लोक सिंहासन पर लिखा—

गच्छ भद्र वनायैव तपस्याधीयतां मनः ।
सापायाः क्षणभङ्गिन्य एवंप्राया विभूतयः ॥३८८॥

हे भद्र ! वन को ही जाओ और तप में अपना मन लगाओ, क्योंकि इस प्रकार की सम्पत्तियाँ अपाययुक्त (दुःखमय) एवं क्षणभंगुर हैं ॥३८८॥ राज्यत्याग के समय सिंहासन पर लिखे हुए इस श्लोक से उसने अपने दृढ़तर वैराग्य को सूचित किया है ॥३८९॥ शान्तिपूर्वक प्रबल तप का आचरण कर दुर्लभ सिद्धियाँ प्राप्त की । आज भी वह श्रीपर्वत पर तथा अन्य तीर्थों में पुण्यात्मा पुरुषों को दृष्टिगोचर होता है ॥३९०॥

इस प्रकार स्वामिपुत्र को राज्यत्याग कर गया हुआ सुनकर मन्त्रिवर मित्रशर्मा तथा उसकी पत्नी ने शोकाकुल होकर वितस्ता सिन्धु-संगम पर देह-त्याग कर दिया ॥३९१॥ इस राजा ने केवल १ एक वर्ष और १५ पन्द्रह दिन राज्य कर पश्चात् मुक्तिमार्ग के आश्रय से अपने जन्म को कृतार्थ कर लिया ॥३९२॥ उसके बाद चक्रमर्दिका का पुत्र वज्रादित्य, वप्पियक एवं ललितादित्य नामक

कुवलियापीड का सौतेला भाई आसनारूढ़ हुआ ॥३९३॥ अत्यन्त क्रूर-हृदय वह वज्रापीड चन्द्र के भ्राता दुर्वासा के समान अपने भ्राता प्रजाह्लादक कुवलयापीड से अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव था ॥३९४॥ उस दुराचारी राजा ने लोभवश होकर परिहासपुर में उसके पिता द्वारा अर्पण की गई धार्मिक सम्पत्ति का बलात्कार से अपहरण किया ॥३९५॥ वह अत्यन्त क्रोधी, लोभी तथा विषय-लम्पट था, उसने अपने अन्तःपुर में अनेक ललनाओं को रखा था और वह उनके साथ अश्व के समान निरन्तर रमण करता रहता था ॥३९६॥ उसने बहुत से पुरुषों को पकड़ कर म्लेच्छों के हाथ बेंच दिया तथा म्लेच्छों के समान दुराचार सम्पूर्ण काश्मीर मण्डल में फैला दिया था ॥३९७॥ इस प्रकार वह पापी राजा सात वर्ष निरन्तर सम्भोग सुख का अनुभव कर तज्जन्य क्षयरोग से मृत्यु को प्राप्त हुआ ॥३९८॥ उसके बाद मंजरिकादेवी से उत्पन्न हुआ उसका पुत्र पृथ्व्यापीड राजा हुआ। वह प्रजा के लिए अन्तक के समान कष्टप्रद था। उसने ४ चार वर्ष और १ मास तक राज्य किया ॥३९९॥ उसे राज्यच्युत करके उसके स्थान पर मम्मादेवी से उत्पन्न हुआ बप्पिय का पुत्र प्रथम संग्रामापीड ७ सात दिन के लिए राजा हुआ ॥४००॥

जैसे हेमन्त एवं शिशिर ऋतु में सूर्यमण्डल सुशोभित नहीं होता वैसे ही उन दोनों भाइयों से राज्य सुशोभित नहीं हुआ ॥४०१॥ संग्रामापीड के शान्त होने के बाद बप्पिय का कनिष्ठ पुत्र श्रीमान् जयापीड राज्याधिकारी हुआ ॥४०२॥ "आप अपने पितामह

श्रीललितादित्य के समान होइये" इस प्रकार के मन्त्रियों के वचनों को स्मरण रखकर बड़ी भारी सेना को इकट्ठा कर दिग्विजय के लिए रवाना हुआ ॥४०३॥ बहुत से माण्डलिक राजाओं को साथ में लेकर प्रयाण करते हुए उस नीतिज्ञ राजा ने राज्य की सीमा से निकलते समय सोमारक्षक वृद्धों से पूछा ॥४०४॥ कि मेरे पितामह महाराज ललितादित्य के दिग्विजय के समय उनके साथ कितनी सेना थी—सो मुझे बतलाइए क्योंकि आप वृद्ध हैं इसलिए आपको उसकी संख्या मालूम होना चाहिए ॥४०५॥ तब उन्होंने हँसकर कहा—इस प्रकार के प्रश्न से क्या लाभ है ? क्योंकि वह समय बीत चुका अब उस पुरानी बात की कौन बराबरी कर सकता है ॥४०६॥ उनके सैन्य में कर्णीरथ (पालकियाँ) सवालाख थे और इस समय सम्पूर्ण सेना की संख्या केवल ८० अस्सी हजार है ॥४०७॥ इस वचन से जयापीड को विशेष कष्ट नहीं हुआ, क्योंकि काल की कुटिल गति के प्रभाव से इस पृथ्वी पर देखते-देखते प्रत्येक वस्तु की न्यूनता होती जा रही है ॥४०८॥ उस विजिगीषु राजा के इस सविवेक भाव को देखकर उन वृद्ध पुरुषों को राजा ललितादित्य के गूढ़स्वभावज्ञान का स्मरण आ गया ॥४०९॥ राजा जयापीड को दूरदेश स्थित जानकर उसके शालक जज्ज ने राजद्रोह करके विश्वासघात से काश्मीर को बलात्कार से अधीन कर लिया और स्वयं वहाँ का शासन करने लगा ॥४१०॥

इस घटना को सुनकर राजा के साथ सैनिक भी घर जाने

को उत्कट अभिलाषा से स्वामिभक्ति से पराङ्मुख होकर काश्मीर को वापस आने लगे ॥४११॥ राजा जयापीड ने इस बात को महत्त्व न देते हुए बिना किसी साधने अपनी शक्ति के द्वारा ही इष्ट कार्य को सिद्ध करने का गंभीर विचार कर दृढ़ निश्चय कर लिया ॥४१२॥ उसने विपरीत दैव को कुछ भी महत्व नहीं दिया, क्योंकि उस मनस्वी का स्वाभिमान अखण्ड था ॥४१३॥ उसने अपने साथी राजाओं को अपनी अपनी राजधानी में भेजकर अपनी परिमित सेना के साथ प्रयाग क्षेत्र को प्रयाण किया ॥४१४॥ वहाँ उसने अश्वों को एकत्रित कर एकोनलक्ष अश्वों का ब्राह्मणों को दान दिया और प्रत्येक अश्वके साथ पर्याप्त दक्षिणा भी दी ॥४१५॥ बाद में उसने "जो राजा एक लक्ष अश्वों का दान करेगा वह मेरी इस मुद्रा को तोड़ कर अपने नाम की मुद्रा को चला सकेगा" ऐसी शर्त रख कर "श्रीजयापीड देवस्य" इस प्रकार की मुद्रा (मुहर) बनवाकर विदेश जाने वाले गंगाजल के कलशों पर इस मुद्रा को लगाने की आज्ञादी ॥४१६-४१७॥ आज भी उस मुद्रा से चिन्हित निर्मल गंगाजल को पीते समय बड़े बड़े राजाओं के हृदय में संताप उत्पन्न हो जाता है ॥४१८॥ वहाँ से अवशिष्ट सैनिकों को भी स्वदेश गमन के लिए अपने विश्वासपात्र सेवक के द्वारा आज्ञा देकर वह अकेला ही गुप्त रीति से अन्यत्र चल दिया ॥४१९॥ वह राजा बादलों में प्रच्छन्न हो कर घूमते हुए सूर्य के समान अनेक राज्यों में क्रमशः भ्रमण करता हुआ गौड़देशाधिपति राजा जयन्त के द्वारा सुरक्षित पौंड्रवर्धन नामक नगर में पहुँच गया। वहाँ की शासन

व्यवस्था से प्रजा को धन-सुख-संपन्न देख कर उसको अत्यंत आनन्द हुआ ॥४२०-४२१॥

भरत मुनिकृत नाट्य के अध्ययन से नृत्य गीत आदि कलाओं का मर्मज्ञ वह राजा कार्तिकेय के मन्दिर में संगीत होता हुआ देखकर श्रवण करने की इच्छा से अन्दर चला गया ॥४२२॥ वहाँ देव-दर्शन के बाद देव-मन्दिर के द्वार की शिला पर क्षण भर के लिए बैठ गया.....॥४२३॥

उसके विलक्षण तेज को देख कर वहाँ के लोग चकित हो गये और उसको बैठने के लिए स्थान देकर वे कुछ दूर हट गये। वहाँ गायन करती हुई कमला नामक नर्तकी ने भी सौन्दर्य एवं कान्ति से युक्त उस राजा जयापीड को देखा ॥४२४॥ कमला ने चकित होकर उस असाधारण तेजस्वी पुरुष को बार बार अपने कन्धे पर से पीछे की ओर हाथ बढ़ाते देखा ॥४२५॥ उसने सोचा कि यह महापुरुष किसी महाकुल में उत्पन्न हुआ राजा या राजपुत्र होकर कारणवशात् गुप्तरूप से भ्रमण कर रहा है ॥४२६॥ इसको इस प्रकार स्कन्धपृष्ठ से पर्णवीटिका लेने का अभ्यास पड़ गया है, इसी लिए इसका हाथ बार बार पीछे की ओर जा रहा है ॥४२७॥ गज, मदलोलुप भ्रमरों का त्रास मिटने पर भी कर्णताड़न करता ही रहता है, हाथियों का समूह पीछे न रहने पर भी सिंह बार बार पीछे की ओर देखा करता है, मेघवृन्द से तृष्णा शान्ति की आशा नष्ट होने पर भी मयूर केकारव को नहीं छोड़ता है, क्योंकि दीर्घ-कालिक अभ्यास सहसा नहीं छूट सकता ॥४२८॥ ऐसा सोचकर

उस नर्तकी ने अपनी एक चतुर दासी को अपनी सलाह में सम्मिलित कर उस दासी के द्वारा ताम्बूलवीटिका के लिए हाथ को बढ़ाते हुए जयापीड के हाथ में शनैः ताम्बूल दे दिया और पूगखण्ड भी डाल दिये। जयापीड ने भी उनको मुख में रखते हुए घूमकर कमला की ओर देखा ॥४२९-४३०॥

आप कौन हैं और किसके हैं इस प्रकार संकेत से पूछती हुई उस कमला का वृत्तान्त ताम्बूल देनेवाली उस दासी से पूर्णतया जान लिया ॥४३१॥ उस दासी के सस्नेह मधुर वचनों से जयापीड के हृदय में उसके विषय में प्रेम तथा विश्वास उत्पन्न हो गया, और गायन के समाप्त होने के बाद वह दासी जयापीड को अपनी सखी के घर ले गई ॥४३२॥ वहाँ पर अत्यन्त सघन उस विलासिनी ने अपने चातुर्यपूर्ण भाषण से तथा निष्कपट सेवा से उसका सम्मानपूर्वक आतिथ्य किया और वह भी उसके सप्रेम वर्तन से और उत्कृष्ट आतिथ्य से विस्मित हो गया ॥४३३॥ पश्चात् चन्द्रोदय से रजनी के मुख को उज्ज्वलता प्राप्त होने पर वह चतुर नर्तकी उस नररत्न का हाथ पकड़ कर उसे प्रेम से अपने शयनागार में ले गई ॥४३४॥ वहाँ पर उसे स्वर्णपर्यङ्क पर बिठाल कर उन्मादक मदिरा के पान के बाद उस कमला ने सम्भोग की अभिलाषा प्रगट की परन्तु उसने स्वयं को विवस्त्र न होने दिया ॥४३५॥ किन्तु शरमाती हुई उस ललना को अपने हृदय पर रखता वह दीर्घबाहु उसे गाढ़ आलिंगनकर शनैः शनैः कहने लगा ॥४३६॥ कमलेक्षणे, ऐसा भ्रम मत करना कि तूने मेरे हृदय को मुग्ध नहीं

किया है किन्तु समय का अनुरोध मुझे तेरा अपराधी बना रहा है ॥४३७॥ प्रिये, तेरे इन अकृत्रिम गुणों से मैं तेरा क्रीतदास हो चुका हूँ, शीघ्र ही मेरा वृत्तान्त विदित होने से तुझे अत्यन्त हर्ष होगा ॥४३८॥ मानिनि, मैं अपने प्रारम्भ किये महत्त्वपूर्ण कार्य को समाप्त किये बिना सुखोपभोग न करने का संकल्प कर चुका हूँ ॥४३९॥ उसे ऐसा कहकर अपने अंगुलीयक युक्त कर से पर्यङ्क को बजाकर निःश्वास लेते हुए निम्नलिखित श्लोक को गाकर कहा—॥४४०॥

"असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः।
अनाक्रम्य जगत्कृत्स्नं नो सन्ध्यां भजते रविः॥"

निश्चित विजयाभिलाषा के समाप्त हुए बिना मनस्वी पुरुष को स्त्री विषयिणी चिन्ता कहाँ से होगी। सूर्य सम्पूर्ण जगत् पर आक्रमण किये बिना सन्ध्यादेवी का सेवन नहीं करता ॥४४१॥ इन वाक्यों से उसको अपना आशय प्रगट करते हुए देखकर उस परम चतुरा नर्तकी ने अन्तःकरण में पूर्ण निश्चय कर लिया कि यह कोई महापुरुष है ॥४४२॥ जब वह प्रातःकाल में वहाँ से जाने लगा तब कमला ने प्रेमवश होकर विनयपूर्वक चिरकाल तक प्रार्थना करके वहीं रहने के लिए उसे सन्तुष्ट कर लिया ॥४४३॥ एक दिन वह सायं समय में सन्ध्यावन्दन के लिए नदी के तीर पर गया था, वहाँ से लौटने में उसने विलम्ब किया, इसलिए कमला तथा उसके परिजन अत्यन्त चिन्ताकुल हो गये ॥४४४॥ आये हुए उन सब लोगोंको सचिन्त देखकर चिन्ता का कारण

पूछा, तब कमला ने स्मितपूर्वक कहा—देव उस तरफ एक भयंकर सिंह रात्रि में प्राणियों पर आक्रमण कर उन्हें मार डालता है ॥४४५॥ आपके आने में विलम्ब हुआ इसलिए भय से मैं व्याकुल हो गई थी क्योंकि उस सिंह ने प्रतिदिन नर, तुरग, गज आदि प्राणियों का संहार-क्रम जारी रखा है ॥४४६॥ यहाँ के राजा राजपुत्र तथा बड़े बड़े सरदार उसके भय से रात होते ही अपने घरों के दरवाजे बन्द कर अन्दर बैठ जाते हैं ॥४४७॥ इस प्रकार कहती हुई उस मुग्धा को हँसते हुए जयापीड ने आश्वासन दिया तथा उस सम्पूर्ण रात्रि को लज्जित-सा होकर व्यतीत किया ॥४४८॥ दूसरे दिन सूर्यास्त होते ही वह नगर से निकल कर एक महान् वटवृक्ष के नीचे खड़ा होकर सिंह के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा ॥४४९॥ कुछ समय के बाद विकसित बकुल-वृक्ष के समान कान्तिशाली तथा अन्तक के जंगम अट्टहास सदृश भयंकर सिंह को उसने दूर से देखा ॥४५०॥

मन्दगति से दूसरे मार्ग की ओर जाते हुए उस सिंह को देखकर उस राजसिंह ने मेघ के समान गरज कर उसे युद्ध के लिए बुलाया ॥४५१॥ वह सिंह भी स्तब्धकर्ण हो कराल-मुख-कन्दरा को फैलाकर आरक्त नेत्रों को चमकाता हुआ पूर्वकाय को संकुचित कर ऊँचा उठाता हुआ गरज कर उस पर झपटा ॥४५२॥ उसके आक्रमण काल में ही जयापीड ने बड़ी स्फूर्ति के साथ उसके मुख में अपना बायाँ हाथ डालकर दूसरे हाथ में रखी हुई कटार से उसका कलेजा चीर डाला ॥४५३॥ भक्षण किये मदमत्त गज

के सिन्दूर समान रक्त को बहाते हुए तथा एक मात्र प्रहार से विदीर्ण हुए उस सिंह ने तत्काल प्राणत्याग कर दिया ॥४५४॥ जयापीड ने भी बायें हाथ के घावों पर पट्टी बाँधकर उसे छिपाते हुए कमला के भवन में प्रवेश कर रात्रि में पूर्ववत् शयन किया ॥४५५॥ दूसरे दिन प्रभात में सिंह के मारे जाने का वृत्तान्त सुनकर प्रसन्न हुआ राजा जयन्त स्वयं मृत सिंह को देखने के लिए गया ॥४५६॥ उस प्रचण्डकाय एवं भयंकर स्वरूप मृगेन्द्र को एक प्रहार से मरा हुआ देखकर चकितचित्त राजा ने "इसका घातक विलक्षण शक्तिशाली कोई दिव्य पुरुष होगा" ऐसा निश्चय किया ॥४५७॥ उसके पश्चात् उस सिंह की दंष्ट्रा में से मिले हुए केयूर को लेकर राजसेवक ने राजा को दिया; उस केयूर में खुदे हुए जयापीड के नाम को पढ़कर राजा जयन्त अत्यन्त चकित हो गया ॥४५८॥ महाराजा जयापीड यहाँ कैसे होंगे, इस प्रकार कहते हुए राजा के वचनों को सुनकर सम्पूर्ण नागरिकजन भय से थर-थर काँपने लगे ॥४५९॥ इस प्रकार घबड़ाते हुए नागरिकों को देखकर वह राजा जयन्त बोला। अरे ! तुम लोग बड़े पागल हो जो कि इस हर्ष के अवसर पर भय ग्रस्त हो रहे हो ॥४६०॥ परम पराक्रमी महाराज जयापीड किसी अज्ञात कारणवशात् एकाकी भ्रमण कर रहे हैं ऐसी किंवदन्ती मेरे भी कर्णगोचर हुई है ॥४६१॥ उन्होंने अपना नाम राजपुत्र कल्लट रखा है। मुझे भी पुत्र नहीं है इसलिए मैं अपनी इकलौती कन्या कल्याणदेवी को उन्हें अर्पण करूँगा ॥४६२॥ हमें जिसको खोजना पड़ता है, वह

यदि घर बैठे हमें मिल रहा है तो रत्न-संपादन के हेतु रत्न-द्वीप के प्रवासी को अपने घरके कोने में ही रत्ननिधि की प्राप्ति के समान इस घटना को भी मानना चाहिए ॥४६३॥ सम्राट् जयापीड इसी नगर में कहीं होंगे। उनका पता लगाकर जो मुझे खबर देगा, उसे मुँह-माँगा इनाम दूँगा ॥४६४॥

उस राजा की सत्यवादिता पर विश्वास रखते हुए नागरिकों ने जयापीड को खोजकर "कमला के भवन में जयापीड ठहरें हैं" ऐसा राजा से कहा ॥४६५॥ तब वह अन्तःपुर एवं प्रधानवर्ग सहित कमला के घर पर गया और वहाँ सद्भाव से विनयपूर्वक जयन्त ने जयापीड को अत्यन्त आग्रह से अपने राज-भवन में लाकर उत्सव मनाया ॥४६६॥ उसके बाद राजा जयन्त ने अपनी पुत्री कल्याणदेवी को भावी भाग्योन्मुख जयापीड के करकमल में पुनःप्राप्त त्यक्तराज्यश्री के समान अर्पण कर दिया ॥४६७॥ राजा जयापीड ने भी आत्मशक्ति का परिचय देने के लिए बिना किसी सहायक सामग्री के गौड़ देश के पाँच राजाओं को परास्त कर उन्हें अपने श्वसुर राजा जयन्त के अधीन कर दिया ॥४६८॥ कुछ समय के बाद देवशर्मा नामक मित्रशर्मा का पुत्र जयापीड के पास आया, उसने जयापीड की आज्ञा से वापिस गये निर्नायक सैन्य को सुरक्षित रखा था ॥४६९॥ देवशर्मा की प्रार्थना को मानकर भावी विजय-लक्ष्मी तथा कल्याणदेवी और कमला को साथ लेकर वह अपने राज्य की ओर रवाना हुआ ॥४७०॥

मार्ग में उदार पौरुष जयापीड ने कान्यकुब्जेश्वर को परास्त-

कर उसके राजचिह्न स्वरूप सिंहासन का अपहरण किया ॥४७१॥ इस प्रकार अपने पराक्रम का परिचय देते हुए वह विजयी जयापीड सैन्य समेत अपने राज्य में पहुँचता है, इतने में ही जज्ज भी युद्ध के लिए सज्ज अपने सैन्य को लेकर सम्मुख उपस्थित हुआ ॥४७२॥ शुष्कलेत्र नामक ग्राम के निकट उसके साथ जयापीड का कई दिनों तक दारुण संग्राम होता रहा ॥४७३॥ राजा जयापीड प्रजा को अत्यन्त प्रिय लगता था। जज्ज के शासन-काल में अत्याचारों से पीड़ित बहुत से कृषक तथा जङ्गली लोग भी जयापीड के अनुयायी हो गये थे ॥४७४॥ उस युद्ध में ग्रामीणों के साथ श्रीदेव नामक ग्राम चाण्डाल भी आया था, "कौन-सा जज्ज है और वह कहाँ है" इस प्रकार से वह योद्धाओं से पूछता था और वहाँ भ्रमण करता था ॥४७५॥ उन्होंने उसे दूर से बतला दिया, उस समय जज्ज अश्वारुढ़ था और तृषार्त होकर सुवर्ण की झारी (सुराही) से पानी पी रहा था ॥४७६॥ उस चाण्डाल ने गुम्फन घुमाकर उसके मुख पर पत्थर मारा और उस पत्थर से जज्ज को घायल होकर अश्व से गिरते देख वह चाण्डाल "मैंने जज्ज का बध किया है" इस प्रकार घोषणा करता हुआ कृतकृत्य हो गया ॥४७७॥ उसने युद्ध में आने के समय "मैं राजा जयापीड की सहायता के लिए युद्ध में जा रहा हूँ मुझे भोजन जल्दी दे दे" इस प्रकार हँसती हुई अपनी माता के आगे जो प्रतिज्ञा की थी उसे पूर्ण कर दिया ॥४७८॥ पत्थर की गहरी चोट से जज्ज का मुख विकृत तथी भयानक दीख रहा था और वह वेदना से छटपटा रहा था। ऐसी

स्थिति में पृथ्वी पर पड़े हुए उस मुमूर्षु को त्याग उसके साथी लोग भाग निकले ॥४७९॥ वह जज्ज समर्थ पुरुष श्री जयापीड के साथ विरोध कर सर्वदा अपाय की शंका से व्याकुल रहकर स्वामिद्रोह से प्राप्त किए राज्य से तीन वर्ष में ही वियुक्त हो गया ॥४८०॥

रखी हुई दूसरों की धरोहर को हजम करनेवाले वैश्य का धन तथा कामियों को ठगकर एकत्रित की गई वारांगना की सम्पत्ति एवं स्वामिद्रोह द्वारा प्राप्त की गई राज्यश्री ये तीनों अत्यन्त अस्थिर होती हैं ॥४८१॥ जज्ज के मारे जाने के बाद राजा जयापीड ने पुनः अपना राज्य स्वाधीन कर लिया और अपने सत्कृत्य से राज्यश्री तथा सत्पुरुषों के हृदय पर युगपत् अधिकार कर लिया ॥४८२॥ जिस प्रदेश में शत्रु वध द्वारा राजा का कल्याण हुआ था, वहाँ उसकी पत्नी श्रीकल्याणदेवी ने कल्याणपुर नामक नगर बसाया ॥४८३॥ राजा जयापीड ने भी मल्हाणपुर नामक नगर बसाकर वहाँ श्री विपुल केशव भगवान् की स्थापना की और कमला नामक नर्तकी ने भी कमलापुर नामक नगर बसाया ॥४८४॥ उसने कल्याणदेवी पर प्रेम तथा अत्यादर व्यक्त करने के लिए उसे महाप्रतीहारपीडा नामक बहुमान सूचक पद का अधिकार दिया ॥४८५॥ जिस प्रकार गुप्त हुई वितस्ता नदी को कश्यप महर्षि ने फिर से काश्मीर में प्रगट किया था उसी प्रकार सर्व विद्याओं के उद्भव स्थान उस काश्मीर देश में अत्यन्त लुप्तप्राय विद्याओं को उसने पुनरुज्जीवित किया ॥४८६॥ उसने स्वयं को मूर्ख कहलानेवाले अज्ञजनों को शिक्षा देने के लिए बड़े-बड़े विद्वानों को नियुक्त कर दिया था ॥४८७॥ उसने अपने

देश में उच्छिन्न हुए व्याकरणमहाभाष्य के पुनः प्रचार के लिए देशान्तरों से प्रौढ़ वैयाकरणों को बुलवाकर उसकी ओर लोगों की प्रवृत्ति को जागृत किया ॥४८८॥ उसने क्षीरस्वामी नामक महान् वैयाकरण को अपने यहाँ बुलवाकर रखा; और स्वयं भी उसके निकट महाभाष्य का यथाविधि अध्ययन किया तथा राजसभा में उत्तम-उत्तम विद्वानों का संग्रह कर उसे अत्यन्त भव्य बना दिया ॥४८९॥ वह किसी राजा को भी अपने साथ स्पर्धा नहीं करने देता था, परन्तु स्वयं विद्वानों से स्पर्धा करता था, तथा उसी में उसे गौरव तथा उत्साह का अनुभव होता था ॥४९०॥

उस जयापीड राजा को राज पदवी की अपेक्षा पण्डित-पद अधिक प्रिय था। उस पद की बड़ी प्रसिद्धि थी। काल की महिमा से उस पद के अनेक दोषयुक्त होने पर भी प्रसिद्धि में न्यूनता नहीं हुई ॥४९१॥ वह राजा विद्वानों के अधीन हो गया था इसलिए उसके दर्शन की उत्कण्ठा से आये हुए सामन्तों को विद्वानों के घर जाकर उनकी खुशामद करना पड़ता था अतः विद्वानों के घर राजाओं से व्याप्त रहते थे ॥४९२॥ उस राजा ने अत्यन्त प्रयत्न से विद्वानों की खोज कर उनको अपने आश्रय में रखना प्रारम्भ किया जिससे अन्य राजधानियों में विद्वानों का दुर्भिक्ष हो रहा था ॥४९३॥ उसके प्रधान मन्त्री शुक्रदन्त के यहाँ अन्नसत्र का अधिकारी थक्किय नामक महापण्डित था। उसे राजा ने विद्वत्ता से सन्तुष्ट होकर अधिक सम्मानपूर्वक अपना आश्रित बना लिया ॥४९४॥ उसके यहाँ प्रतिदिन १ लाख दीनार पानेवाला भट्टोद्भट नामक महापंडित

सभापति के पद को अलंकृत करता था ॥४९५॥ उसके यहाँ कुट्टिनी-मत नामक कामशास्त्रीय ग्रन्थनिर्माता दामोदरगुप्त बलिराजा के यहाँ शुक्राचार्य के समान प्रधान मन्त्री का कार्य करता था ॥४९६॥ इसी प्रकार मनोरथ, शंखदत्त, चटक एवं सन्धिमान नामक कवि तथा वामनादिक मन्त्री उसके कार्यकर्ता थे ॥४९७॥ एक दिन उसने स्वप्न में सूर्य को पश्चिम की ओर उदय होता देख मनमें "किसी श्रेष्ठ धर्माचार्य का इस राज्य में अवतार हुआ है" ऐसा दृढ़ निश्चय कर लिया ॥४९८॥ वह अत्यन्त बुद्धिमान् राजा प्रत्येक उपभोग्य पदार्थों के तत्त्व का पूर्णपरिचय होने के कारण उसे अच्छी तरह से समझता था ॥४९९॥ केवल भोजन-सामग्री के ही स्वाद को जाननेवाले एवं चित्ताकर्षक वस्तु तथा ललितसुभाषित आदि अद्वितीय सरस वस्तु पर ध्यान न देनेवाले राजा लोग वृषभ के समान अज्ञानान्ध होते हैं, उन्हें क्या ज्ञान हो सकता है ॥५००॥

चितास्थित प्रेत को सती होता हुई प्रिया के आलिंगन के समान, अधिक मूर्छा से बेहोश हुए मनुष्य को इक्षुरस के माधुर्य-मय स्वाद के तुल्य तथा मृतात्मा को सुगन्धित पुष्पमाला तथा अवतंस आदि के सौरभानुभव के सदृश असहृदय शुष्कस्वभाव के मानव के आगे सम्पूर्ण ललितपदार्थों के लावण्य का महत्त्व निरर्थक है ॥५०१॥ परस्पर सम्मुखस्थित मन्त्र एवं पराक्रम रूपी दो दर्पणों में प्रतिबिम्बित उसका एक ही स्वरूप सहस्रधा दीखता था ॥५०२॥ किसी समय उसने सम्मुख खड़े हुए दूत को लंकेश्वर के पास से पाँच राक्षसों को लाने की विचित्र आज्ञा दी ॥५०३॥ वह चतुर

दूत भी प्रवहण के द्वारा समुद्र प्रवास करते हुए समुद्रमें गिर पड़ा, वहाँ उसे महामत्स्य ने ग्रस लिया परन्तु वह मत्स्य के उदर को चीरकर बाहर आ गया और समुद्र के पार लंका में पहुँच गया ॥५०४॥ विभीषण रामभक्त होने से मनुष्यमात्र से अत्यन्त प्रेम करता था इसलिए राजा जयापीड के आज्ञापत्र को लानेवाले दूत को पाँच राक्षसों के साथ उसके देश में भेज दिया ॥५०५॥ राजा जयापीड ने उस दूत को पर्याप्त धन से सन्तुष्ट किया तथा उन राक्षसों से एक अगाध सरोवर को बन्द करवा कर उस स्थान पर स्वर्गसम सौन्दर्ययुक्त जयपुर नामक नगर बसाया ॥५०६॥ वहाँ एक बहुत बड़ा विहार बनवाकर बुद्ध की तीन मूर्तियाँ स्थापित की तथा उस पुण्यात्मा राजा ने उस नगर में जयादेवी का भी मन्दिर बनवाया ॥५०७॥ चतुरात्मा तथा शेषशायी विष्णु ने वैकुण्ठ वास के स्नेह को त्याग उसी नगर में स्थायी रूप से निवास करने का निश्चय-सा कर लिया था ॥५०८॥ यहाँ कुछ ऐतिहासिकों का ऐसा भी मत है कि राजा जयापीड ने उन लंकेश के भेजे हुए राक्षसों से तो दूसरा काम करवाया था और सरोवर को तो मजदूरों ने ही ढँक दिया था ॥५०९॥ उस राजा को कंसनिषूदन कृष्ण ने अपने लिए प्रतिद्वारका बनवाने की स्वप्न में आज्ञा दी थी, तदनुसार उसने भी जल के अन्दर प्रतिद्वारका का निर्माण किया ॥५१०॥

आज भी सब लोग प्रतिद्वारका को बाह्यकोट तथा जयपुर को आभ्यन्तरकोट कहते हैं ॥५११॥ उस राजा के महामन्त्री जयदत्त ने—जिसे पाँच महाविरुदें मिली थी—जयपुर में एक उत्तम मठ

बनवाया ॥५१२॥ राजा के प्रतीहार मथुरापति श्रीप्रमोद के जामाता आच ने आचेश्वर नामक शंकर की स्थापना की ॥५१३॥ उस राजा ने साधन-सामग्री से सज्ज होकर फिर से दिग्विजय के लिए प्रयाण किया। उसकी सेना के पर्वताकार हाथियों से वेलाद्रि बढ़े से दीखने लगे ॥५१४॥ उसकी असंख्य सेना हिमालय से प्रगट हो पूर्वसागर पहुँचकर पुनः हिमालय की ओर लौटती हुई पतित-पावनी गंगा-सी सुशोभित हो रही थी ॥५१५॥ मम्मुनि आदि सामन्त भी चिल्लाते हुए प्रचण्ड चाण्डालों के साथ-साथ उसके कटक के बहिर्देश में पहरा देते थे ॥५१६॥ उसने स्वयं "विनयादित्य" नवीन मधुर नाम स्वीकार कर उसके अनुसार विनयपुर नामक नगर बसाकर पूर्वदिग्भाग को सुशोभित किया ॥५१७॥ मर्यादा को अतिक्रमण कर शौर्याभिमान से विलक्षण साहस को करनेवाले प्रतापशाली राजाओं की राज्यश्री सन्देहदोला का आरोहण करती है ॥५१८॥ पूर्वदिग्भाग में भीमसेन नामक एक राजा था उसके दुर्गमें जयापीड (विनयादित्य) ने अपने कतिपय मित्रों सहित वैरागी का वेष धारण कर प्रवेश किया ॥५१९॥ वहाँ चिरकाल से रहते हुए जज्ज के भ्राता सिद्ध ने उसे छिद्रान्वेषण करते हुए पहिचान कर राजा को सूचना दी ॥५२०॥

राजा भीम ने भी अजगर रूपी नहुष ने जैसे भीमसेन को बाँध लिया था इसी प्रकार उस विनयादित्य को अकस्मात् बाँधकर अपने कारागार में रख दिया ॥५२१॥ उस वीर एवं पुरुषार्थियों में श्रेष्ठ राजा विनयादित्य के इस प्रकार बन्धन में फँस जाने से पौरुष-

विरोधी दैव को अवश्य ही आनन्द हुआ होगा और उसने गर्व से अपना मस्तक अवश्य ऊँचा किया होगा ॥५२२॥ परन्तु उदयोन्मुख वह जयापीड इतनी भयंकर आपत्ति में भी बिना किसी प्रकार की व्याकुलता के आत्ममुक्ति के लिए अनेक उपाय सोचा करता था ॥५२३॥ उसी अवसर में भीमसेन के राज्य में प्रजा को अत्यन्त क्लेश-प्रद तथा संक्रामक लूता रोग प्रारम्भ हुआ ॥५२४॥ उस रोग की घातकता एवं स्पर्शमात्र संक्रामकता आदि के कारण उस रोग से पीड़ित व्यक्ति को देश की रक्षा के लिए देश से निकाल दिया जाता था ॥५२५॥ यह वृत्तान्त जब राजा जयापीड को विदित हुआ तब उसने इसी रोग को अपने छूटने का साधन बनाने का निश्चय कर गुप्त रीति से अपने सेवकों के द्वारा कुछ वस्तुएँ बनवायीं ॥५२६॥ उन पित्त प्रकोपक वस्तुओं के आने से उन्हें बड़े वेग से पित्तज्वर ने आक्रान्त कर लिया, ऐसी अवस्था में वज्रवृक्ष (थोहर) के दूध को शरीर पर लगाने से उसके सम्पूर्ण शरीर पर बड़े-बड़े फोड़े निकल आये ॥५२७॥ कारागार के रक्षकों के कथन से भीमसेन ने उसे लूतारोग से ग्रस्त हुआ सुनकर "अब वह अवश्य ही मर जायगा" ऐसा सोचकर उसे अपने देश से बाहिर भेजवा दिया ॥५२८॥ इस प्रकार अपने बुद्धि कौशल से उस महान् संकट सागर को पार करते ही राजा जयापीड ने भीमसेन के उस गगन स्पर्शी दुर्ग तथा यश दोनों को एक साथ नष्ट कर दिया ॥५२९॥ मूर्ख लोग जिस शास्त्ररूपी सुवृक्ष की सर्वदा हँसी उड़ाया करते हैं क्योंकि उसके मूल, अंकुर, पुष्प एवं फल प्रत्यक्ष नहीं दीखते, परन्तु वही सद्वृक्ष

संकट के समय फली भूत होकर मनुष्य के दैन्य को तत्काल ही नष्ट कर देता है ॥५३०॥

इसी प्रकार नेपाल देश का राजा अरमुड़ी जो अत्यन्त चतुर, विद्वान् तथा पराक्रमी था वह अपने चातुर्य से जयपीड को फाँसने की तरकीब सोचा करता था ॥५३१॥ एक बार जयापीड ने उस पर आक्रमण किया तब वह जयापीड की शरण में न आकर सेना समेत अपने राज्य के सुदूरवर्ती दुर्गम प्रदेशों में भागने लगा ॥५३२॥ जयापीड ने भी हर तरह से उसको परास्त करने का दृढ़ निश्चय कर उसका पीछा करना शुरू किया और उसी कार्य क्रम के साथ मार्ग में बहुत से राजाओं को जीत लिया ॥५३३॥ वह अरमुड़ी भी कभी अदृश्य हो जाता था, कभी दीखने लगता था। जयापीड भी कबूतर के पीछे लगे बाज के समान प्रत्येक स्थान में उसे खोजता फिरता था ॥५३४॥ अब अरमुडी को आगे भागने का स्थान नहीं रहा था, इसलिए उसने समुद्रगामिनी सरिता के तीर पर सेना समेत मुकाम किया, जयापीड भी दिग्विजय करता हुआ उसी महानदी तथा सागर के संगम पर पहुँचा और अपना शिविर स्थापित किया ॥५२५॥ पश्चात् वहाँ दो-तीन ठहरकर समुद्र के पवन से फहराती हुई पताकाओं से भूषित सेना को लेकर वह पूर्व सागर की ओर बढ़ा ॥५३६॥ उस नदी के पार अरमुड़ी का भी पड़ाव था, उसमें अरमुड़ी का श्वेत-छत्र चमक रहा था ॥५३७॥ उसकी विपुल सेना तथा वीरवाद्य के घोष को सुनकर घृताहुतियों से प्रज्वलित होमाग्नि के समान जयापीड की क्रोधाग्नि धधक उठी ॥५३८॥ उस

समय उसने वहाँ की नदी के जल को घुटनों तक देखकर अनायासेन नदी के पार पहुँचने की सम्भावना से क्रोध के आवेश के वश होकर उस अपरिचित या अज्ञातपूर्व सरिता में प्रवेश किया ॥५३९॥ वह प्रवाह के मध्यभाग में जब तक पहुँचता है, तब तक तो समुद्र के उत्ताल तरङ्गों के कारण वहाँ अथाह जल भर गया ॥५४०॥

उस नदी को पार करते हुए जयापीड के हाथी, घोड़े और सिपाही एक क्षण में उस जल प्रवाह में मग्न हो गये ॥५४१॥ तरङ्गों के जोश से राजा के वस्त्र तथा अलंकार बह गये, वह अपनी प्रबल भुजाओं से तरङ्गों को चीरता हुआ तैर रहा था परन्तु जल के प्रबल वेग के कारण बहुत दूर चला गया ॥५४२॥ जयापीड के सैन्य के दुःखमय क्रन्दन तथा अरमुडी की सेना के सानन्द जयघोष तथा तरङ्गों की घोरतर ध्वनि से दसों दिशाएँ व्याप्त हो गईं ॥५४३॥ अरमुडी के सैनिक लोग हवा से फुलाई हुई मसकें लेकर सरिता के तीर पर सन्नद्ध थे। उनको स्फूर्तिशाली अरमुडी ने नदी में उतरवाकर जयापीड को पकड़वाया और उसे तीर पर लाकर बाँध लिया और विजय के उपलक्ष में बड़ा भारी उत्सव मनाया गया ॥५४४॥ दैव तथा मेघ इन दोनों को सर्वदा अनुकूल रहने का अभ्यास ही नहीं है, दैव प्रारम्भ में मनुष्य को थोड़ी-सी अनुकूलता दिखलाकर थोड़े ही समय के बाद उस पर भयंकर एवं असह्य आपत्तियाँ डाल देता है और मेघ भी ग्रीष्म के तापप्रद दीर्घ दिवसों के संताप से तप्ततरु को कतिपय शीतल बिन्दुओं से तापशमन की आशा दिखाकर शीघ्र ही बिजली गिराकर नष्टकर देते हैं ॥५४५॥

अरमुडी ने जयापीड को कालगंडिका नदी के तीर पर पाषाण निर्मित सुदृढ़ दुर्ग के भीतर परम विश्वसनीय रक्षकों के अधीन बनाकर कैद मे डाल दिया ॥५४५॥ इस प्रकार वह काश्मीर नरेश जयापीड फिर से संकट में फँस जाने के कारण किंकर्तव्यमूढ़ होकर शोक से निरन्तर जलने लगा ॥५४७॥ उस बुद्धिमान अरमुडी ने उस पर इतना सख्त पहरा रखा कि जिससे उसको तेजस्वियों में सूर्य तक का दर्शन नहीं हो सकता था तथा कलावन्तों में चन्द्र तक दृष्टिगोचर नहीं होता था ॥५४८॥ उसने कारागार के एक वातायन के पास आकर देखा तब वहाँ से नदी का गम्भीर प्रवाह दीख पड़ा वह छूटने का उपाय सोचने लगा ॥५४९॥ उस कारागार में रहते हुए जयपीड ने अपनी निराशामय स्थिति का वर्णन करते हुए कुछ श्लोक लिखे थे उन करुणपूर्ण श्लोकों को पढ़कर आज भी सहृदय विद्वान् करुणा से द्रवीभूत हो जाते हैं ॥५५०॥

इस प्रकार राजा जयापीड को कारावास-यन्त्रणा भोगते हुए सुनकर उसके स्वाभिमानी एवं चतुर मन्त्री देवशर्मा को उसके सम्मान का स्मरण करने से अत्यंत दुःख होने लगा ॥५५१॥ मित्रशर्मा के पुत्र देवशर्मा ने अपने शरीरत्याग से भी स्वामी की भलाई करने का पूर्ण निश्चय कर लिया, और चतुर एवं मधुर-भाषी दूतों को भेजकर अरमुडी को प्रलोभन देना शुरू किया ॥५५२॥ दूतों के द्वारा अरमुडी से कहा गया कि मैं जयापीड की सम्पूर्ण सम्पत्ति तथा काश्मीर-राज्य आपके आधीन करना चाहता हूँ ॥५५३॥ इसके उत्तर में अरमुडी ने भी अपने दूत भेज-

कर स्वीकृति की सूचना दे दी। इस प्रकार परस्पर विचार करने के बाद मन्त्री देवशर्मा अपनी सेना को साथ लेकर नेपाल को गया ॥५५४॥ वह सम्पूर्ण सेना को कालगंडिका नदी के इस पार छोड़कर परिमित सेवकों के सहित अरमुडी के पास उस पार गया ॥५५५॥ सामन्तों ने सम्मुख आकर उसका स्वागत किया और उसे सत्कारपूर्वक अरमुडी के पास ले गये। देवशर्मा ने अरमुडी को प्रणाम किया। उसने भी बड़े आदर के साथ स्वागत करते हुए उसे आसन पर बैठने को कहा ॥५५६॥ कुछ वार्तालाप होने के बाद राजा ने उसे मार्ग में चलने से श्रान्त-सा देख कर शीघ्र ही बिदा किया। उसने भी अरमुडी के द्वारा अर्पण किये उपहारों को स्वीकार कर वह दिन अपने निवास-स्थान पर ही बिताया ॥५५७॥ दूसरे दिन उसने अरमुडी के साथ कोशपानपूर्वक सप्रेम वार्तालाप करते हुए एकान्त में भावी कर्तव्य का निश्चय किया ॥५५८॥ पश्चात् देवशर्मा ने अरमुडी से कहा कि राजन्, जयापीड का इकट्ठा किया हुआ धन सैन्य के साथ है परन्तु उसके रखने के स्थान को जयापीड तथा उसके कतिपय आप्त ही जानते हैं ॥५५९॥ मेरी इच्छा है कि जयापीड से "यदि तुम अपना सञ्चित धन दे दोगे, तो तुम्हें इस कारावास से मुक्ति मिल सकेगी, ऐसे कथन द्वारा उस धन का स्थान पूछ लिया जाय ॥५६०॥ इसी लिए मैंने सेना को दूर रखा है क्योंकि उस धन का पता जाननेवाले उन सैनिकों को सेना में रहते हुए बन्दी बनाना अशक्य है ॥५६१॥ उनमें से एक एक को बुलाकर यदि बन्दी बनाया

जाय तो अन्य सैनिक हमारे इरादे को जान न सकेंगे और वे कुपित न होकर हमारे प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देने को तैयार हो जावेंगे ॥५६२॥ इस प्रकार मोहक वचनों से अरमुडी को उस चतुर मन्त्री ने मुग्ध बनाकर उसकी सम्मति प्राप्त करली और शीघ्र कारावास के बन्धन में पड़े हुए जयापीड के पास पहुँच गया ॥५६३॥ वहाँ पर राजा की दुर्दशा को देखकर उस स्वामिभक्त देवशर्मा के हृदय में अत्यन्त दुःख हुआ परन्तु उस दुःख को दृढ़ निश्चय तथा धैर्य से दबाकर वहाँ के लोगों को हटाकर एकान्त में वह राजा से पूछने लगा ॥५६४॥ महाराज, आपने साहस के आधारभित्तिस्वरूप अपने तेज को तो नहीं खो दिया ? क्योंकि उसी के ऊपर साहसिक कार्य रूपी चित्र को अंकित करने की कल्पना की जाती है ॥५६५॥ उसने कहा—मन्त्रिन्, तेज के रहने पर भी इस निःशस्त्र स्थिति में मैं कौन-सा अद्भुत कर्म कर सकता हूँ ॥५६६॥ मन्त्री ने कहा—राजन्, यदि आपका तेज सुरक्षित हो तो निश्चित जानिये कि आप इस आपत्ति रूपी सागर से शीघ्र ही पार हो जावेंगे ॥५६७॥ क्या आप इस वातायन से नदी के प्रवाह में कूद कर तैरते हुए पार जा सकते हैं ? क्योंकि वहाँ आपकी सेना उपस्थित है ॥५६८॥ तब राजा ने कहा—मन्त्रिन्, इस अगाध सरिता के प्रवाह में मसक के बिना यदि कूदा जाय तो अवश्य ही डूबना पड़ेगा और मसक के साथ कूदने पर भी यह अधिक ऊँचा होने से मसक भी फट सकती है ॥५६९॥ इसलिए इस उपाय से यहाँ से छूटना असम्भव है और इस प्रकार का अपमान होने पर

भी अपकारी को उचित दण्ड दिये बिना ही मरना भी अयोग्य है ॥५७०॥

उसके बाद उस मन्त्री ने अपने मन में कुछ निश्चय कर राजा से कहा—महाराज, आप किसी बहाने से दो घटिका के लिए बाहर चले जाइए ॥५७१॥ फिर अकेले आकर देखेंगे कि मैंने आपके लिए इस नदी के पार पहुँचने का उपाय ठीक कर रखा है, आप उस उपाय को निःशङ्क होकर काम में ला सकेंगे ॥५७२॥ इस प्रकार मन्त्री के वाक्य को सुनकर राजा शौच के मिस से बाहर चला गया और उसके बतलाये हुए समय को बाहर बिता दिया ॥५७३॥ फिर एकाएकी राजा ने अन्दर आकर मन्त्री को वस्त्र से फाँसी लगा कर मरा हुआ देखा ॥५७४॥ "महाराज मैं अभी मरकर आपके लिए फूली हुई होकर भी न फूटनेवाली मसक बन गया हूँ इसके आधार से आप नदी में कूदकर उस पार चले जाइये, आपकी जंघाओं को सहारे के लिए मैंने अपने उष्णीष (पगड़ी) का पट्टा कमर में बाँध रखा है उस पर पैर रखकर शीघ्र ही नदी में कूद जाइये" इस प्रकार उसने अपने रक्त से नखद्वारा उस वस्त्र के कोने पर लिख रखा था राजा ने उस सन्देश को पढ़ लिया ॥५७५-५७६-५७७॥ आश्चर्य तथा देवशर्मा के पवित्र स्नेह के अनुभव के बाद वह राजा उस मृत शरीर का आश्रय लेकर नदी में कूदा और तैरकर उस पार पहुँच गया ॥५७८॥ वहाँ अपनी सेना से मिलकर शीघ्रातिशीघ्र आक्रमण कर राजा समेत नेपाल देश का सत्यानाश कर डाला ॥५७९॥ कारागार से उसके छूटने

की खबर रक्षकों के कर्णगोचर होने के पूर्व ही उसने उस राज्य को कथावशेष कर डाला था ॥५८०॥

उस राजा जयापीड के कारावास के बन्धन से मुक्त होने के उपलक्ष में वहाँ महान् समरोत्सव हुआ, उस उत्सव में कबन्धों ने नृत्य किया तथा वीरवरण के लिए आकाश में उपस्थित हुई अप्सराओं ने माल्यवृष्टि की और रणवाद्य बजाए गये ॥५८१॥ जिस ग्रीष्म ऋतु में दावानल से अत्यन्त तापित दूसरे पर्वत दूर से त्याग करने पड़ते हैं आश्चार्य है कि उसी समय में बर्फ के जल से अत्यन्त शीतल गिरिराज हिमालय अवश्य सेव्य हो जाता है ॥५८२॥ जिस समय जज्ज-सदृश स्वामि-द्रोहियों का जन्म हुआ था उसी समय में देवशर्मा के समान सच्चे स्वामिभक्त का भी होना क्या आश्चर्यकारक नहीं है ? ॥५८३॥ मित्रशर्मा का सुपुत्र देवशर्मा तेजोमय सूर्य के पुत्र तमोमय शनैश्चर के समान अपने पिता से विरुद्ध स्वभाववाला न हुआ ॥५८४॥ रक्षारत्न के समान अत्यन्त हितकर उस सचिव की मृत्यु से प्राप्त हुई लक्ष्मी को भी राजा जयापीड ने अप्राप्त ही समझा ॥५८५॥ उस दिग्विजय के बाद राजा के हृदय से अरमुडी द्वारा किये गये अपमान से उत्पन्न हुई ग्लानि निकल चुकी थी परन्तु उस मन्त्री का उपकार उसके हृदय में चिरस्थायी हो चुका था ॥४८६॥ पश्चात् जयापीड ने सुविस्तृत स्त्रीराज्य पर आक्रमण कर उसे जीत लिया, परन्तु उस राजा के द्वारा की गई विजय के अपेक्षा तत्कृत इन्द्रियविजय को ही अन्य राजा लोग महत्त्वपूर्ण एवं आश्चर्यकारक मानते थे ॥५८७॥ उसने

विजित स्त्रीराज्य में से कर्णश्रीपट का अपहरण किया तथा उसको बाँधकर नवीन धर्माधिकरण नामक न्यायालय स्थापित किया ॥५८८॥ इसी प्रकार प्रयाण के समय अपने स्थायी कोशगृह को दूरस्थ होने से अधिक उपयुक्त न समझकर चलगञ्ज नामक विभाग स्थापित कर चातुर्यपूर्ण योजना की (इसमें हाथियों पर यथेष्ठ धन रखकर अभीष्ट स्थान पर पहुँचा दिया जाता था) ॥५८९॥ इस विश्वविजयी वीर जयापीड के विषय में अधिक वर्णन न कर इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि उसकी विशाल भुजाओं में रहनेवाली विजयश्री के लिए चारो समुद्र विलासदर्पण के समान हो गये थे ॥५९०॥

पश्चात् वह जयापीड अपने अनेक माण्डलिकों के साथ काश्मीर जाकर पराक्रमो-पार्जित महालक्ष्मी का शान्ति सहित उपभोग करने लगा ॥५९१॥ एक दिन सर्वदिग्विजयी तथा परम तेजस्वी उस राजा को स्वप्न में एक दिव्य आकृतिवाले पुरुष ने प्रणाम कर कहा ॥५९२॥ महाराज, मैं महापद्म नामक नागेन्द्र हूँ, आज तक आपके सुरक्षित राज्य में परिवार समेत सानन्द रहता था, परन्तु अब मैं आपकी शरण में आया हूँ ॥५९३॥ क्योंकि एक द्राविड़ मान्त्रिक मुझे यहाँ ले जाकर जलाकांक्षी मरुदेश में मुझे बेचकर धन कमाना चाहता है ॥५९४॥ यदि आप उस मान्त्रिक से मेरी रक्षा करेंगे तो मैं आपके महान् उपकार के उपलक्ष में आपको सुवर्ण निकलनेवाला पर्वत इसी देश में बतला दूँगा ॥५९५॥ राजा ने भी इस स्वप्न वृत्तान्त पर विश्वासकर अपने गुप्तचरों को चारों तरफ

भेजकर उस द्राविड़ मान्त्रिक का पता लगाया और उसे बुलाकर उसके इस कार्य का उद्देश्य पूछा ॥५९६॥ तब मान्त्रिक ने राजा से अभय प्राप्तकर सम्पूर्ण सत्य वृत्तान्त कहा तब राजा ने आश्चर्यान्वित होकर उससे पुनः प्रश्न किया ॥५९७॥ इतने बड़े अनेक योजन विस्तीर्ण सरोवर में से अपने प्रभाव द्वारा उस नाग को तुम कैसे आकृष्ट कर सकते हो ? ॥५९८॥ इस प्रश्न को सुनकर उसने राजा से कहा महाराज, मन्त्रों की शक्तियाँ अचिन्त्य होती हैं। यदि आप मन्त्र का प्रभाव देखना चाहते है तो शीघ्र चलकर देख लीजिए ॥५९९॥ पश्चात् वह राजा उस मान्त्रिक के साथ उस सरोवर के तीर पर गया और वहाँ उस मान्त्रिक ने मन्त्र पढ़कर बाण छोड़ना शुरू किया। उन बाणों से दिग्बन्ध करके उसने सरोवर को सुखा दिया ॥६००॥

राजा ने पङ्कावशिष्ट उस सरोवर में मनुष्य के समान मुखवाले वितस्त (द्वादशांगुल) प्रमाण नाग को देखा। और उतने ही बड़े अनेक नाग उस सरोवर में विद्यमान थे ॥६०१॥ द्राविड़ ने राजा से कहा कि मैंने मन्त्रशक्ति से इस नाग को वश कर लिया। अब इसे यहाँ से निकालकर ले जाता हूँ, परन्तु राजा ने "इसे मत पकड़ो" ऐसा कहकर उसे रोक दिया ॥६०२॥ पश्चात् राजा की आज्ञा से उस द्राविड़ मान्त्रिक ने मन्त्र के प्रभाव को हटा लिया। तत्काल ही वह सरोवर जलपूर्ण हो गया ॥६०३॥ उस द्राविड़ को राजा ने विपुल धन को देकर बिदा कर दिया और मनमें सोचा कि क्या अब भी वह नाग सुवर्णपूर्ण पर्वत को नहीं दिखावेगा ? ॥६०४॥

इस प्रकार सोचते हुए उस राजा को वह नाग स्वप्न में आकर कहने लगा, कि राजन्;—तूने मुझ पर कौन सा उपकार किया है ? जिसके उपलक्ष में मैं तुझे सुवर्ण निकलनेवाला पर्वत बतला दूँ ॥६०५॥ प्राणिमात्र के मनमें यह मेरा स्वदेश है और यह विदेश है, इस प्रकार की भावना का उत्पादक अधिक परिचय तथा अल्प परिचय ही होता है ॥६०६॥ मैं अवमान के भय से तेरी शरण में आया था। परन्तु तूने रक्षक बनकर भी स्वयं मेरे अपमान में सहयोग दिया और मुझे उसका अनुभव करना पड़ा ॥६०७॥ हमारा स्वामी समुद्र के समान अलंघ्य है, इस प्रकार के सद्भाव को अपने हृदय में रखनेवाले आश्रित जन के समक्ष में यदि स्वामी की दुर्दशा हो तो इससे बढ़कर कौन-सा लज्जाजनक अपमान होगा ? ॥६०८॥ दूसरे के द्वारा अपमानित की गई मेरी पत्नियों ने मुझे उनकी रक्षा करने में असमर्थ पाया ऐसी स्थिति में मैं उनको अपना मुख कैसे दिखा सकता हूँ ॥६०९॥ तूने हमें दीन तथा निश्शक्त जानकर हमारी ओर सदयदृष्टि से देखने की अपेक्षा हमें तुच्छ तथा हास्यास्पद बनाने का अधिक प्रयत्न किया है ॥६१०॥

अथवा सम्पत्ति के मद से अन्ध तथा अविचारपूर्ण काय करनेवाले राजा लोग इस प्रकार मनमानी करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ॥६११॥ राजा लोग उन्नत पुरुषों का अपमान करना खेल समझते हैं परन्तु स्वाभिमानोन्नत पुरुषों के लिए वह सश्वास मरण हो जाता है ॥६१२॥ राजा लोग स्वार्थ के लिए स्वाभिमान को तिलाञ्जली देना बुरा नहीं समझते, परन्तु मानधन पुरुष तो

प्राणों की भी पर्वाह न करके मानरक्षा के लिए सदा तत्पर रहते हैं ॥६१३॥ जो लोग बड़ों का अवमान करते हैं और अन्य अवमानित पुरुषों में सम्मिलित होते हैं, उनकी मनःस्थिति का ज्ञान किस को हो सकता ॥६१४॥ फिर भी आप लोगों के समान हमारा दर्शन निष्फल नहीं हो सकता, इसलिए तुम को ताम्र निकलनेवाला पर्वत दिखाया जाता है ॥६१५॥ ऐसा कहकर नागराजने स्वप्न में ही राजा को उस पर्वत की पहिचान के विशेष चिन्ह बतला दिये और अदृश्य हो गया। फिर प्रात में उठकर राजा ने शीघ्र ही उस पर्वत का पता लगा लिया ॥६१६॥ वह पर्वत-क्रम राज्य में था, वहाँ से जयापीड ने बहुत सा ताम्र निकाल कर उस ताम्र से स्वनाम-मुद्रांकित एकोन (एक कम) शतकोटि दीनार नामक सिक्के बनवाये ॥६१७॥ और भविष्य में होने वाले राजाओं के गर्व को चूर्णित करने के लिए "जो पूरे सौ करोड़ दीनार बनवायगा, वह मुझे जीत सकेगा" इस प्रकार की शर्त रख दी ॥६१८॥ इस प्रकार के अपूर्ण कार्यों द्वारा उस राजा ने अपनी बराबरी करने की इच्छा रखने वाले भावी राजाओं के लिए गर्वनाशक विकट समस्याएँ रख दी थीं ॥६१९॥ कुछ समय के बाद प्रजा के दुर्भाग्य से उस राजा ने अपने पितामह के मार्ग को त्याग कर पिता के मार्ग का अनुसरण प्रारंभ कर दिया ॥६२०॥

"महाराज, दिग्विजय आदि क्लेशों की क्या आवश्यकता है अपने मण्डल से ही द्रव्योपार्जन हो सकता है" इस प्रकार परमधूर्त कायस्थों की प्रार्थना को सुनकर उस राजा ने अपनी प्रजा को

आर्थिक दण्ड देना शुरू कर दिया ॥६२१॥ शिवदास आदि खजानचियों ने उसकी धनविषयक तृष्णा को अत्यन्त उत्तेजित कर रखा था, इसलिए वह परम लोभी बन गया ॥६२२॥ उसी समय से काश्मीर के आधुनिक राजा लोग स्वतन्त्ररूप से आज्ञा का प्रसार न कर कायस्थ कर्मचारियों का मुँह ताकने लगे ॥६२३॥ जिस जयापीड की राजसभा में बड़े बड़े राजाओं को पकड़ने का परामर्श चलता था, वहीं अपने नागरिकों को पकड़ कर कारागार में रखने का विचार होने लगा ॥६२४॥ जयापीड के जिस पाण्डित्य से सज्जन पुरुषों को शान्ति प्राप्त होती है, उसी पाण्डित्य ने जयापीड को प्रजा को कष्ट देने में दक्ष बनाकर पाप की ओर अग्रसर किया ॥६२५॥ वह सौदास राजा के समान अनेक लोगों के प्राणों का अपहरण करने लगा। उसे अनार्य कृत्यों से स्वप्न में सन्तोष या तृप्ति न होती थी ॥६२६॥ किसी भी स्वैरिणी स्त्री ने सहज कौतुकवशात् एक बार विपरीत आचरण प्रारम्भ कर दिया हो तथा किसी राजा ने एक बार क्रूरकृत्य करना शुरू कर दिया हो और फिर कारणवशात् न करने का वह कितना भी दृढ़विचार करले तथापि अत्यधिक अभ्यास के प्रभाव से उस स्त्री को नीचातिनीच पुरुष के भी साथ सम्भोग करने में तथा उस राजा को अपने पिता की भी हत्या करने में संकोच नहीं मालूम होता ॥६२७॥ इस प्रकार लोभ के वश होकर उस राजा ने तीन वर्ष तक इतना भयङ्कर अत्याचार किया कि बेचारे किसानों की सारी पैदाइश राज्य द्वारा छीन ली गई ॥६२८॥ उस लोभी राजा

को, लोगों को लूटकर प्राप्त किये धन का थोड़ा-सा हिस्सा राज्यकोष में देकर अधिकांश को स्वयं रख लेनेवाले कायस्थ सच्चे स्नेही तथा हितैषी दीखते थे ॥६२९॥ समुद्र के मत्स्य तथा राजाओं का स्वभाव एक-सा ही होता है, क्योंकि समुद्र के मत्स्य सागर से अपरिमित जल राशि का हरण कर वर्षा में कतिपय जलबिन्दुओं को गिरानेवाले जलद को महान् परोपकारी समझते हैं। वैसे ही राजा लोग भी सारी प्रजा को लूटकर अपना स्वार्थ साधन कर थोड़ा-सा द्रव्य राजकीय कोश में रखनेवाले कायस्थ कर्मचारियों को अपना हितैषी मानते हैं ॥६३०॥

ब्राह्मणों का अकुण्ठित एवं सार्वकालिक धैर्य आश्चर्यकारक है, जिसके प्रभाव से क्रौर्ययुक्त इस राजा के खड्ग का भी आतङ्क ब्राह्मणों ने नहीं माना ॥६३१॥ बहुत से ब्राह्मण तो उसके त्रास से देशान्तर को चले गये। बहुत से उसके अत्याचार से व्याकुल होकर हाहाकार मचाते हुए प्राणत्याग करने लगे, फिर भी उस राजा की तरफ से लूट-खसोट निरन्तर चलती ही रहती थी ॥६३२॥ उस क्रूरकर्मा ने अपने सेवकों को आज्ञा दे रखी थी कि यदि निन्नानवे ब्राह्मण एक दिन में मर जावें तो मुझे अवश्य सूचना देनी चाहिए अथवा जब जब निन्नानवे ब्राह्मण मरें तब तब मुझे सूचना अवश्य देना चाहिए ॥६३३॥ इस प्रकार राजा के चरित्र में विपर्यास हुआ देखकर उस समय के कविवरों ने भी उस राजा के वर्णन के लिए निर्माण किये स्तुतिपरक श्लोकों में भी परिवर्तन कर दिया ॥६३४॥ राजा की प्रशंसा के लिए जो लिखा गया था वह श्लोक निम्नलिखित है—

"नितान्तं कृतकृत्यस्य गुणवृद्धिविधायिनः।
श्री जयापीडदेवस्य पाणिनेश्च किमन्तरम् ॥"

अत्यन्तकृतार्थ तथा सद्गुणों को बढ़ानेवाले श्री जयापीड महाराज एवं कृत्यप्रत्ययों का विधान करनेवाले तथा गुण और वृद्धि के विधायक महर्षि पाणिनि में कौन-सा अन्तर है ॥६३५॥ भाष्य की व्याख्या के समय राजा की विद्वता से मुग्ध होकर उपर्युक्त प्रशंसात्मक श्लोक निर्माण किया था, उसी श्लोक में निम्न-लिखित परिवर्तन किया गया ॥६३६॥

"कृतविप्रोपसर्गस्य भूत-निष्ठा-विधायिनः।
श्री जयापीडदेवस्य पाणिनेश्च किमन्तरम् ॥"

ब्राह्मणों को कष्ट देनेवाले तथा प्राणियों की हत्या करनेवाले श्री जयापीडदेव एवं विप्र आदि उपसर्गों के प्रदर्शक तथा भूतकाल में निष्ठा प्रत्यय के विधायक महर्षि पाणिनि में क्या अन्तर है ? ॥६३७॥ चन्द्रभागा नदी के तीर पर रहकर उस राजा ने तूलमूल्य नामक ग्राम के अपहरण करने से एकोनशत (निनानवे) ब्राह्मणों के नदी में डूबकर अपने प्राण त्याग करने की खबर सुनी ॥६३८॥ उस दिन से उसने सम्पूर्ण अग्रहारों का अपहरण बन्द कर दिया, परन्तु कितने ही ब्राह्मणों की जप्त की हुई जमीन वापस न दी ॥६३९॥ राजा के निकट निवेदन करने के लिये आये हुए तूलमूल्यनिवासी ब्राह्मणों को जब राजा के प्रतिहारों ने थप्पड़ों से पीटा तब वे राजा से प्रार्थना करने लगे ॥६४०॥

राजन्! इस पृथ्वी पर मनु, मांधाता, राम आदि बड़े-बड़े

राजा हो गये हैं। परन्तु उनके राज्यकाल में भी ब्राह्मणों को इस प्रकार का अपमान नहीं सहना पड़ा था ॥६४१॥ क्रोधाविष्ट ब्राह्मण इन्द्रसमेत स्वर्ग को, पर्वतसहित पृथ्वी को तथा नागेन्द्र-युक्त पाताल को एक क्षण में भस्मसात् कर सकते हैं। इस वचन को सुनकर सामन्तों के द्वारा त्यक्त राजा जयापीड ने गर्व से भृकुटी वक्र करते हुए कहा ॥६४३॥ अरे! भिक्षान्न से उदर पोषण करनेवाले तुम्हारे जैसे शठों को इतना मद कहाँ से हो गया, जिससे तुम लोग स्वमाहात्म्य वर्णन कर महर्षियों की बराबरी करने लग गये ॥६४४॥ इस प्रकार राजा के वचन को सुनकर, उसकी भयंकर वक्र भृकुटी से भयभीत होकर, बहुत से ब्राह्मण चुप रह गये। परन्तु इट्टिल नामक महान् तपस्वी ब्राह्मण ने राजा से कहा ॥६४५॥ राजन्! प्रत्येक युग में युगधर्मानुसार जैसे आपके समान राजा होते हैं वैसे ही हमारे समान ऋषि भी हुआ करते हैं ॥६४६॥ राजा ने गर्व से उससे कहा कि, क्या तू तपोनिधि वसिष्ठ, विश्वामित्र अथवा अगस्त्य है ॥६४७॥ राजा के इस प्रकार उद्धत वचनों को सुन इट्टिल क्रोध से काँपने लगा। उस समय वह इतना तेजोमय हो गया था कि उसकी ओर देखने की किसी को हिम्मत न होती थी। उसने कुपित भुजंग के समान फूत्कार-तुल्य निःश्वास छोड़कर कहा ॥६४८॥ यदि तू हरिश्चन्द्र, नहुष अथवा त्रिशङ्कु होगा तो मैं भी विश्वामित्र, अगस्त्य और वसिष्ठ इन तीनों में से एक हूँ ॥६४९॥ राजा ने हँसकर कहा कि विश्वामित्र के कोप से हरिश्चन्द्र की दुर्दशा हो गई, अगस्त्य के कोप से नहुष को अजगर होना पड़ा

और वशिष्ठ के रोष से त्रिशङ्कु की दुर्गति हो गई; तेरे क्रोध से क्या होगा ? ॥६५०॥

तब क्रुद्ध होकर अपने करतल से पृथ्वी का ताड़न करते हुए उस ब्राह्मण ने कहा कि मेरे क्रोध से भी क्या तेरे सिर पर ब्रह्म-दण्ड नहीं गिरेगा ? ॥६५१॥ तब राजा क्रोध से रूक्ष हास्य करके बोला कि तो फिर विलम्ब क्योंकर रहा है, उस दण्ड को शीघ्र गिरने दे ॥६५२॥ "दुष्ट देख यह अभी गिरता है" इस वचन के साथ ही राजा के सिर पर छत में से टूटकर एक सुवर्णदण्ड गिरा ॥६५३॥ उससे राजा के सिर में गहरा घाव हो गया और सड़ने से उसमें कृमि उत्पन्न हो गये, तब उस अंग को शस्त्र से काटना पड़ा ॥६५४॥ कुछ दिनों तक भावी नारकीय क्लेश का उसे अनुभव करवाकर उसके प्रयाणोत्सुक प्राण शरीर को त्यागकर प्रयाण कर गये ॥६५५॥ वह अकाण्डदण्डस्रष्टा दण्डधराधिप ब्रह्मदण्डकृत दण्ड का अनुभव कर दण्डधर (यम) के समीप पहुँच गया ॥६५६॥ उस प्रतापी एवं अस्थिरचित्त राजा जयापीड ने ३१ एकतीस वर्ष तक पृथ्वी का शासन किया ॥६५७॥ राजा तथा मत्स्य धन और मलिन जल की तृष्णा से, अपनी मर्यादा का त्याग कर, कुमार्ग (बुरा मार्ग अथवा पृथ्वी का मार्ग) का अनुसरण करते हैं। उससे उनको यमदूतों के तथा धीवरों के अधीन होकर नरक तथा जाल-बन्धन की यातना का अनुभव करना पड़ता है ॥६५८॥ उस राजा को इस प्रकार पापमय मृत्यु के वश हुआ देखकर उसके उद्धार के लिए उसकी माता अमृतप्रभादेवी ने अमृतकेशव का मन्दिर बँध-

वाया ॥६५९॥ पश्चात् दुर्गा देवी से उत्पन्न हुआ जयापीड का पुत्र ललितापीड वसुमती का शासक हुआ ॥६६०॥

राज्य-कार्यों की उपेक्षा करनेवाले उस विषयलम्पट राजा का दुर्नयदूषित राज्य वारांगनाओं की सम्पत्ति हो गया था ॥६६१॥ नरकगामी पिता के द्वारा कुकर्म से एकत्रित किये हुए धन को वह ललितापीड नट, वेश्या, भांड आदि को लुटाने में खर्च करने लगा ॥६६२॥ कुलटाओं के बान्धव विट लोगों ने राजभवन में आश्रय पाकर राजा को पुंश्चली विद्याओं का अध्ययन कराना प्रारम्भ कर दिया था ॥६६३॥ उसने कटक कुण्डल आदि आभूषणों को त्यागकर, स्त्रियों के दाँतों से छिन्नभिन्न हुए केश तथा उनके नखों से चिह्नित वक्षस्थल को ही अपना मण्डन समझा ॥६६४॥ जो लोग वेश्याकथा के ज्ञाता नर्मकथाविचक्षण होते थे वे ही राजा के प्रिय कहलाते थे, उसे शूर तथा पण्डित प्रिय नहीं थे ॥६६५॥ थोड़ी स्त्रियों से तृप्त न होनेवाला वह परम कामुक राजा विजित स्त्रीराज्य को छोड़कर आनेवाले जयापीड को मूर्ख समझता था ॥६६६॥ वह गणिकाओं के साथ क्रीड़ा करने से ही सन्तुष्ट रहता था और उसे वेश्याप्रेमियों में रहना ही रुचिकर था। वह राजा दिग्विजयव्यसनी प्राचीन राजाओं की हँसी उड़ाया करता था ॥६६७॥ विट लोग मर्यादाशील वृद्धों को अपमानजनक परिहास वचनों से उद्विग्न कर राजा के पास नहीं ठहरने देते थे, इस कार्य से प्रसन्न होकर राजा उनको पारितोषिक देता था ॥६६८॥ गणिकाओं का मित्र वह राजा बाजारू नीचे दर्जे के लोगों के

समान ग्राम्य उपहास में परम निष्णात था, इसलिए अप्राकरणिक ग्राम्य उपहास द्वारा वृद्धों को लज्जित कर देता था ॥६६९॥ वह दुराचारी राजा गौरव के योग्य सचिवों को कुलटाओं की चरण-मुद्रा से अङ्कित दुपट्टे दुशाले आदि वस्त्र पहनने को देता था ॥६७०॥

इस प्रकार के दुराचरण से उसे रोकना सर्वथा असम्भव समझ कर मनोरथ नामक स्वाभिमानी मन्त्री ने उसके कार्य में हस्तक्षेप करना त्याग दिया और उससे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर डाला ॥६७१॥ दुष्कर्म, कुशलता का अभाव, नैराश्य, द्रोह करने का अभ्यास इत्यादि दुर्गुणों से युक्त राजा के लिए त्याग के अतिरिक्त दूसरी कोई भी औषधि नहीं है ॥६७२॥ उसने सुवर्णपार्श्व, फलपुर तथा लोचनोत्स नामक अग्रहार ब्राह्मणों को दिये। उस राजा ने केवल १२ बारह वर्ष राज्य किया ॥६७३॥ उसके बाद कल्याणदेवी से उत्पन्न हुआ जयापीड का पुत्र संग्रामापीड वहाँ का शासक हुआ ॥६७४॥ उसने अपना दूसरा नाम पृथिव्यापीड रखा था। वह केवल ७ सात वर्ष तक साम्राज्य के सुख का अनुभव कर सका ॥६७५॥ उसके बाद ललितापीड का अल्पवयस्क पुत्र चिप्पटजयापीड अथवा बृहस्पति राजगद्दी पर बैठा ॥६७६॥ प्रबल रागरूपी ग्रह से गृहीत राजा ललितापीड की रक्षिता कल्यपाल (कलवार) जाति की वेश्या जयादेवी से चिप्पटजयापीड का जन्म हुआ था ॥६७७॥ आखुवग्रामनिवासी उप्प नामक कल्यपाल की कन्या जयादेवी अत्यन्त रूपवती थी, इसलिए सौन्दर्य से आकृष्ट होकर राजा ललितापीड ने उसे अपने अन्तःपुर में रख लिया

था ॥६७८॥ पद्म, उत्पलक, कल्याण, मम्म तथा धर्म नामक पृथ्वी के उपभोगकर्ता पाँच मातुलों के द्वारा उस राजा का पालन किया जाता था ॥६७९॥ उत्पल ने पाँच महाधिकार स्थान अपने अधीन कर रखे थे और अवशिष्ट अधिकार अपने भ्राताओं को दे दिये थे ॥६८०॥

जब तक राज्याधिकार उन पाँचों भाइयों के आधीन था, तब तक वे अपनी बहन जयादेवी की आज्ञा का पूर्णरूप से पालन करते थे। उस राजमाता जयादेवी ने जयेश्वर का मन्दिर बनवाया ॥६८१॥ अतिशय लोभान्ध राजा के अन्यायोपार्जित धन को; उसके अवसान के बाद राज्याधिकार पाने वाला, कोई भी उत्तराधिकारी शीघ्र ही बर्बाद कर देता है ॥६८२॥ राजा जयापीड के द्वारा एकत्रित किये गये धन को उसके पुत्र ललितापीड ने खूब उड़ाया और उससे बचे हुए धन को ललितापीड के पाँचों शालकों ने खर्च कर डाला ॥६८३॥ उन भाग्यशाली पुरुषों को अपनी भगिनी के सौन्दर्यजन्य सौभाग्य से स्थायी सुख तथा वैभव के उपभोग का अवसर प्राप्त हुआ था ॥६८४॥ वे सब नीचकुलोत्पन्न थे इसलिए उनका बर्ताव कुलानुसार नीचतापूर्ण तथा निरंकुशतायुक्त था। वे डरते थे कि हमारा भागिनेय (भानजा) तरुण हो रहा है, कुछ समय के बाद वह हमारा शासक होगा; तब हम अधिकार शून्य हो जायँगे ॥६८५॥ इस प्रकार राज्य के लोभ से उन पापात्माओं ने परस्पर विचार कर अभिचारक्रिया द्वारा उस अपने स्वामी तथा भागिनेय की हत्या कर डाली ॥६८६॥ इस प्रकार १२ वर्ष

राज्य कर उस चिप्पटजयापीड के मरण के बाद पद्म आदि भ्राताओं ने पारस्परिक मत्सर तथा अहंकार के कारण किसी भी एक को राजा नहीं बनाया ॥६८७॥ स्वयं प्रमुख बने रहने की इच्छा से वे, किसी भी राजकुलोत्पन्न पुरुष को नाम मात्र का राजा बनाकर, परस्पर झगड़ते हुए राज्य-कार्य के विभागों में अपना अधिकार चलाते थे ॥६८८॥ मेघावलीदेवी से उत्पन्न हुआ वज्रादित्यबप्पिय का पुत्र त्रिभुवनापीड ज्येष्ठ होने पर भी राज्यकार्य से उदासीन रहने के कारण राज्यासन से वंचित रखा गया, किन्तु जयादेवी से उत्पन्न हुए उसके पुत्र अजितापीड को उत्पल ने जबरन राजसिंहासन पर अधिष्ठित कर दिया ॥६८९-६९०॥

उसके स्वतन्त्र व्यय की व्यवस्था शेड आदि गणना स्थान से बचे हुए पंचम गणनास्थान की आय से कर दी गई ॥६९१॥ उस बेचारे राजा को उन पाँच भाइयों के अधीन रहने से अत्यन्त शोचनीय तथा आश्चर्यमय अवस्था का अनुभव करना पड़ता था। वह उन्हें समान रूप से नहीं चाहता था, इसलिए यदि वह उनमें से किसी भी एक से प्रेमपूर्वक बातचीत करता था तो दूसरे भाई का मुँह फूलने लगता था ॥६९२॥ उस नाममात्र के शासक अजितापीड के राज्य की सम्पूर्ण आय को अपहरण कर, वे भाई नवीन नवीन नगर तथा मन्दिरों का निर्माण करने लगे ॥६९३॥ जैसे अरण्य में मरकर सड़ते हुए महिष पर परस्पर झगड़ते हुए शृगाल आक्रमण करते हैं, वैसे ही वे पाँचों भाई उस अराजक राज्य का धन हड़पने लगे ॥६९४॥ उत्पल ने उत्पलपुर नामक नगर बसाकर

वहाँ उत्पलस्वामी की स्थापना की। पद्म ने पद्मपुर बसाकर पद्मस्वामी का मन्दिर बनवाया ॥६९५॥ पद्म की गुणोज्वला पत्नी श्रीगुणादेवी ने राजधानी में तथा विजयेश्वर में एक एक मठ बनवाया ॥६९६॥ धर्म ने धर्मप्रवृत्ति से प्रेरित होकर धर्मस्वामी की स्थापना की। सत्कर्मा कल्याणवर्मा ने कल्याणस्वामी का मन्दिर बनवाया ॥६९७॥ बुद्धिमान् श्रीमान् तथा परमकुशल मम्म ने मम्मस्वामी की स्थापना की और उस मन्दिर की कलशप्रतिष्ठा के समय ८५००० पचासी हजार गोदान दिये, तथा प्रत्येक गोदान के साथ दक्षिणा के रूप में ५००० पाँच पाँच हजार दीनार दिये ॥६९८-६९९॥ उस प्रसंग में उस अकेले ने जो द्रव्य खर्च किया था उसकी गणना कौन कर सकता है। तब उन सब सम्पत्तिशाली भ्राताओं को असंख्य धन के व्यय की कल्पना करना भी कठिन है ॥७००॥

उन्हें सम्पत्ति दुष्कर्म से या सत्कर्म से या किसी भी तरह से मिली हो, परन्तु उनकी उदारता से सब सुखी होते थे ॥७०१॥ उन मन्त्रियों के बनवाये प्रचण्ड मन्दिरों के सम्मुख दूसरों के बनवाये छोटे-छोटे मन्दिर दिग्गजों के आगे हस्तिशावकों (हाथी के बच्चे) के समान दीखते थे ॥७०२॥ उनका भागिनेय राजा चिप्पटजयापीड लौकिक अथवा सप्तर्षिक के ३८८१ वें वर्ष में मरण को प्राप्त हुआ, तब से २६ वर्ष पर्यन्त उन भाइयों ने निश्शंक होकर शान्तिपूर्वक राज्य का उपभोग किया ॥७०३॥ इसके पश्चात् मम्म और उत्पलक दोनों भाइयों का घोर संग्राम हुआ। उसमें आहत हुए असंख्य वीरों के शवों से वितस्ता नदी का प्रवाह रुक

गया था ॥७०४॥ इस महायुद्ध को वर्णन करने के लिए विद्वन्मानससिन्धुशशाङ्क महाकवि शङ्कुक ने भुवनाभ्युदय नामक काव्य निर्माण किया ॥७०५॥ जैसे सूर्य नक्षत्रों के तेज को लुप्त कर देता है, वैसे ही इस युद्ध में मम्म के पुत्र यशोवर्मा ने सब वीरों के तेज को मन्द कर दिया था ॥७०६॥ पश्चात् मम्म तथा उसके पक्षपाती लोगों ने अजितापीड को राज्यच्युत कर द्वितीय संग्रामापीड के पुत्र अनंगापीड को राजा बना दिया ॥७०७॥ उत्पल के पुत्र सुखवर्मा को मम्म का उत्कर्ष सहन नहीं होता था, इसलिए वह क्रुद्ध होकर उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचा करता था ॥७०८॥ ३ वर्ष के बाद उत्पल के स्वर्गवास होने के पश्चात्, सुखवर्मा ने अजितापीड के पुत्र उत्पलापीड को राजगद्दी पर बैठाया ॥७०९॥ वे राजा लोग प्राचीन काल में आश्वयुजी पूर्णिमा को होनेवाले राजाओं के समान अस्थिर होते थे, तथापि इनके शासन-काल में भी कतिपय कार्यकुशल सचिव अपने चातुर्य से शासन तथा ऐश्वर्य का उपभोग करतेथे ॥७१०॥

उस राजा के सान्धिविग्रहिक (मन्त्री) रत्न ने उस समय में भी रत्नस्वामी का मन्दिर बनवाया ॥७११॥ इसी प्रकार नर आदि व्यापारी दार्वाभिसार नामक प्रान्त के अनेक ग्रामों को अपने अधिकार में रखकर स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करते थे। उनके पास उत्तमोत्तम अश्व थे ॥७१२॥ उस समय कर्कोटक-वंशीय राजाओं का कुल नष्टप्राय हो गया था और उत्पल वंश का उत्कर्ष हो रहा था ॥७१३॥ सुखवर्मा अपनी सामर्थ्य से दूसरा राजा ही हो रहा था, उसे उसके शुष्क नामक बान्धव ने द्वेष से मार डाला ॥७१४॥

उसके बाद शूर नामक मन्त्री ने सद्गुणशाली सुखवर्मा के सुपुत्र अवन्तिवर्मा को राज्य के योग्य समझकर उसी का पक्षपात करना प्रारम्भ कर दिया ॥७१५॥ ३१ वें वर्ष में प्रजा में होनेवाले विप्लव की शान्ति के लिए, उत्पलापीड को राज्यच्युत कर अवन्तिवर्मा को राज्याधिकारी बना दिया ॥७१६॥ जिस राज्यप्राप्ति के लिए पिता तथा पितामह प्रयत्न करने पर भी सफल न हो सके, वही सिद्धि पूर्वपुण्य के प्रभाव से पौत्र को अनायास से प्राप्त हो गई ॥७१७॥ कुम्भ समुद्र के जलको हरण करने में प्रवृत्त होकर, निरर्थक नित्यश्रम करते हैं, उनसे समुद्र रिक्त नहीं हो सकता। परन्तु आश्चर्य है कि उन्हीं कुम्भों में के एक कुम्भ से उत्पन्न हुए अगस्त्य ऋषि ने सम्पूर्ण समुद्र का अनायास से पानकर संसार को चकित कर दिया ॥७१८॥ पश्चात् अवन्तिवर्मा ने राजलक्ष्मी के कृपाकटाक्ष-स्वरूप पट्टवस्त्र को धारण किये हुए मस्तक पर सुवर्ण-कलश-मुख-निर्गत राज्याभिषेक-सलिल को शीघ्र ही धारण किया ॥७१९॥ अपने वंशज राजाओं द्वारा उपदिष्ट नवीन राज्यतन्त्र का उपदेश करने के लिए कुण्डलद्वय के व्याज से आये हुए सूर्य-चन्द्र को कर्णद्वय में धारण कर, निर्मल छत्र के मिस से लक्ष्मी के निवासस्थान कमलकी छायामें विराजमान राजा अवन्तिवर्मा चमकने लगा ॥७२०॥

इस तरङ्ग में २६० वर्ष ६ मास १० दिन में १७ राजा हुए।

इति श्री काश्मीरिक महामात्य चम्पकप्रभुसुत
कल्हणमहाकवि विरचितायां राजतरङ्गिण्यां
चतुर्थस्तरङ्गः समाप्तः।

पंचम तरंग

"तुम्हारे केशपाश की अपूर्व छटा कृष्णसर्पों के समान सौन्दर्य को दिखा रही है और देखो तुम्हारे कण्ठ से निकले हुए कोकिल की आवाज के समान मधुरतम वचनों से चक्षुःश्रवा (सर्प) के नेत्र आनन्दित हो रहे हैं" एवं "आपका इन सर्पों पर बड़ा ही विलक्षण प्रेम है और देखिये कोकिल समान आपके कण्ठतट की किरणों को देखकर चक्षुश्रवा के नेत्र प्रसन्न हो रहे हैं" इस प्रकार अभिनव-सन्धान के समय पृथक् हिलती हुई तथा समान शब्द होने पर भी क्रमशः भिन्न अर्थ को सूचित करनेवाली शिव तथा पार्वती की जिह्वा आपकी रक्षा करे ॥१॥ उस अवन्तिवर्मा ने साम्राज्य को प्राप्त कर अपने विरोधियों को नष्ट कर दिया और अपने उत्तम कृत्यों से सज्जनों के शरीर को आनन्द से रोमाञ्चित कर दिया ॥२॥ वह राजा तथा उसका अमात्य शूर दोनों आज्ञा देते समय तथा आज्ञापालन करते समय क्रमशः परस्पर स्वामी तथा सेवक बन जाया करते थे ॥३॥ कृतज्ञ तथा क्षमाशील राजा और अनुरक्त तथा विनयशील सेवक इन दोनों का अनश्वर (स्थायी) संयोग पुण्य के प्रभाव से कदाचित् ही होता है ॥४॥ उस विचारशील राजा ने राज्य मिलने के बाद राजलक्ष्मी की ओर ध्यान देकर अपनी पुरानी साधारण स्थिति को स्मरण करते हुए सोचा ॥५॥ गोभुजों (गोभक्षक अथवा पृथ्वीरक्षक) की प्रिया तथा मातंगोत् संगलालिता (चांडालों की गोद में खेली हुई अथवा

हाथियों की पीठ पर विलास करनेवाली) यह राजलक्ष्मी महात्माओं के मन में भी विकार उत्पन्न कर देती है ॥६॥ इस संसार में ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है कि जिसे नीचों की प्रीति के समान अस्थिर इस लक्ष्मी ने प्रथम अनुकूलता दिखाकर अन्त में संतप्त न किया हो ॥७॥ यह अपने पिता समुद्र के यहाँ चपल स्वभाववाली दिव्य अप्सराओं के साथ बड़ी हुई है, फिर भी इसने एकाकी होकर भ्रमण करना किससे सीखा है ॥८॥ चिर परिचित होकर भी यह स्नेहहीन लक्ष्मी पाथेयहीन तथा बान्धवहीन परलोक के पथिक किसी भी राजा के साथ न गई ॥९॥ भाण्डागार में जो सुवर्णनिर्मित भोजनपात्र आदि वस्तुएँ एकत्रित की गई हैं, उनके ऊपर परलोकगत राजाओं का अधिकार क्यों नहीं है ॥१०॥

दूसरों के उच्छिष्ट इन पात्रों में भोजन करते हुए राजाओं को लज्जा क्यों नहीं आई अथवा उन्होंने पवित्रता का विचार क्यों नहीं किया ॥११॥ नरकपाल तुल्य स्थूल राजत पात्रों में लिखे हुए मृत राजाओं के नामाक्षरों को देखकर किसके हृदय में शङ्का न होगी ॥१२॥ कालपाश में बंधे हुए मुमूर्षुओं के कण्ठ से खींचे गये अप्रशस्त एवं अपवित्र हार किसको अच्छे लगेंगे। उन्होंने जिन अलंकारों का त्याग किया था, उन्हें स्पर्श करते हुए कौन संकुचित न होगा ॥१४॥ जो लक्ष्मी निरंतर सागर के अगाध सलिल में निवास करने पर भी सर्वदा मलिन ही रहती है, वही दारिद्र्यरूपी अग्नि से पूर्ण पात्रों में डालने से अर्थात् गरीबों को देने से अग्निशौच हरिणी के समान निर्मल हो जाती है (अग्निशौच मृग अग्निस्पर्श

से निर्मल हो जाते हैं, ऐसी प्रसिद्धि है) ॥१५॥ इस प्रकार सोचकर वह राजा सुवर्ण के पात्र तथा आभूषणों के टुकड़े करवा कर, उसमें चांदी रत्न आदि मिलाकर, खिचड़ी के समान अपनी अञ्जलि भर भरकर ब्राह्मणों को देने लगा ॥१६॥ एक ब्राह्मण ने हर्ष से "साधु राजन्" कहने के स्थान पर "साधु अवन्तिन्" इस प्रकार गौरवहीन वचन कहे, इससे प्रसन्न होकर राजा ने उसे कई अञ्जलियाँ अधिक दे दीं ॥१७॥ उस पुण्यवान् राजा अवन्तिवर्मा ने लक्ष्मी को अर्थिजनों के अधीन कर, अपने लिए छत्र तथा चामर ही अवशेष रहने दिये ॥१८॥ असीमसम्पत्तिशाली बान्धवों के उपद्रव के कारण, उस राजा को प्रारम्भ में कुछ समय तक राजश्री के उपभोग करने में कुछ कठिनाई का अनुभव करना पड़ा ॥१९॥ पश्चात् उसने अपने विरोधी भाई-भतीजों को कई बार पराजित कर राज्य को निष्कण्टक कर दिया ॥२०॥

इस प्रकार राज्य-शासन को सुदृढ़ तथा निष्कण्टक बनाकर वात्सल्यशील उस राजा ने अपने बान्धवों तथा सेवकों को भी उसके हिस्सेदार बनाकर उपभोग करना प्रारम्भ किया ॥२१॥ उस बान्धव-प्रिय राजा ने अपने सौतेले भाई बुद्धिमान् शूरवर्मा को यौवराज्य पद पर अभिषिक्त किया ॥२२॥ युवराज शूरवर्मा ने खाधूय और हस्तिकर्ण नामक दो अग्रहार ब्राह्मणों को दिये एवं शूरस्वामी की स्थापना कर एक गोकुल भी बनवाया ॥२३॥ सर्वाधिकारसम्पन्न एवं प्रभावशाली तथा सुकृतकर्मठ उस शूरवर्मा ने पंचहस्ता नामक अग्रहार देकर एक मठ भी बँधवाया ॥२४॥ राजभ्राता समर ने

समरस्वामी नामक चतुरात्मा केशव की स्थापना की ॥२५॥ शूर के कनिष्ठभ्राता के पुत्र धीर तथा विपन्न नामक दो भ्राताओं ने—जो कि कोशाध्यक्ष थे—अपने नाम से दो देवालय बँधवाये ॥२६॥ यद्यपि उन दोनों की वास्तविक योग्यता पागलपन से प्रगट न होती थी परन्तु अन्त में वे दोनों सदेह कैलास को गये ॥२७॥ महोदय नामक शूर के प्रधान द्वारपाल ने महोदयस्वामी की प्रतिष्ठा की ॥२८॥ और उसने उस मन्दिर में महान् वैयाकरण रामट उपाध्याय को व्याख्याता के पद पर अधिष्ठित किया ॥२९॥ इसी प्रकार राजमन्त्री प्रभाकरवर्मा ने प्रभाकरस्वामी विष्णु का मन्दिर बनवाया ॥३०॥

उसकी प्रतिष्ठा के अवसर पर बाहर के शुकों के साथ आए हुए घर के शुक ने जो मोती अर्पण किये थे, उनसे उस मन्त्री ने प्रसिद्ध शुकावली का निर्माण किया ॥३१॥ राजमन्त्री शूर ने बड़े बड़े विद्वानों को आदरपूर्वक बुलवाकर काश्मीर देश में नष्टप्राय विद्या को पुनरुज्जीवित किया ॥३२॥ वे विद्वान् लोग सम्पत्तिशाली बनकर राजाओं के योग्य वाहनों से राजसभा में जाते थे ॥३३॥ उस सम्राट अवन्तिवर्मा के साम्राज्य में मुक्ताकण, शिवस्वामी, महाकवि आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोककर्ता) और महाकवि राजानक (हरविजय-निर्माता) इन चारों विद्वानों ने पूर्णतया प्रसिद्धि प्राप्त की ॥३४॥ राजमन्त्री शूर का आश्रित कृतमन्दार नामक बन्दी (भाट) सभा-भवन में एकत्रित हुए सभ्यों को अपने संकल्प को स्मरण रखने के लिए निम्नलिखित आर्या को सर्वदा पढ़ा करता था ॥३५॥

"अयमवसरमुपकृतये, प्रकृतिचला यावदस्ति संपदियम्।
विपदि सदाभ्युदयिन्यां, पुनरुपकर्तुं कुतोऽवसरः ॥३६॥"

जब तक यह स्वभावचञ्चला सम्पत्ति हमारे पास है, तभी तक यह परोपकार का शुभ अवसर हमको मिला है; इसके बाद चिर-स्थायिनी विपदा के उदय होने पर उपकार करने के लिए कहाँ से अवसर मिलेगा ॥३६॥ अनेक भवनों का निर्माण करनेवाले मन्त्रि-वर शूर ने शूरेश्वरीक्षेत्र में अर्धनारीनटेश्वर का सुदृढ़ प्रासाद बनवाया ॥३७॥ उस बुद्धिमान् मन्त्री ने भगवान् शूरेश्वर की स्थापना करके अपने भवन के समान उन्नत शूरमठ तपस्वियों के निवासार्थ बँधवाया ॥३८॥ उसने क्रमवर्त प्रदेश के ढक्क अथवा द्रंग (सरहद का नाका) को हटाकर स्वनिर्मित सुन्दर शूरपुर में स्थापित किया ॥३९॥ शूर के पुत्र रत्नवर्धन ने शूरेश्वरी के प्रांगण में ही भूतेश्वर की स्थापना की और शूरमठ में ही एक अन्य मठ भी बनवाया ॥४०॥

उत्तम कुल में उत्पन्न हुई शूर की पत्नी काव्यदेवी ने शूरेश्वरी-क्षेत्र में काव्यदेवीश्वर नामक शंकर की स्थापना की ॥४१॥ उस निर्मत्सर तथा उदारशील राजा अवन्तिवर्मा ने अपने भ्राता शूर तथा उसके पुत्रों को सदा के लिए राजा के समान अधिकार दे दिये थे ॥४२॥ वह राजा देवता के समान शान्त स्वभाववाले अपने भ्राता शूर को प्रसन्न रखने के लिए जन्मतः वैष्णव होकर भी ऊपर से अपने को शैव बतलाता था ॥४३॥ उस राजा ने मोक्षप्रद विश्वैक-सार नामक क्षेत्र में सर्वोपभोगसम्पन्न अवन्तिपुर नामक नगर

बसाया ॥४४॥ उसी क्षेत्र में राज्यप्राप्ति के पूर्व उसन अवन्तिस्वामी विष्णु की स्थापना की थी। बाद में राज्य मिलने के पश्चात् वहीं अवन्तीश्वर का मन्दिर बनवाया ॥४५॥ उसने त्रिपुरेश्वर, विजयेश तथा भूतेश के मन्दिरों में स्नानद्रोणी सहित चांदी के तीन सिंहासन बनवाये ॥४६॥ राजमन्त्री शूर भी राजा को अपने इष्टदेव के समान मानता था, उसको प्रसन्न रखने के लिए धर्म, प्राण तथा पुत्र को भी छोड़ने के लिए सर्वदा तत्पर रहता था ॥४७॥ एक बार वह राजा भूतेश्वर की पूजा करने के लिए गया था। वहाँ उसने अपने ऐश्वर्य के अनुसार पूजा का उपकरण अर्पित किया था ॥४८॥ परन्तु देवता के सामने के पीठ पर पुजारियों के द्वारा रखे गये उत्पलशाक नामक कडुए जंगली पत्रशाक को देखकर राजा ने उन लोगों से पूछा, तब वे पृथ्वी पर साष्टांग प्रणाम कर बोले ॥४९-५०॥

देव, लहर-प्रान्त में राजमन्त्री शूर का पुत्रसमान प्रिय सेवक धन्व नामक डामर रहता है ॥५१॥ उस अप्रतिहतशक्तिशाली डामर ने राज्य की ओर से भूतेश की पूजा के लिए अर्पण किये हुए सब गाँव दबा रखे हैं, इसलिए भूतेश को यही नैवेद्य अर्पण करना पड़ता है ॥५२॥ इस बात को सुनकर न सुनी-सी दिखाते हुए वह राजा, आकस्मिक उदरशूल के मिस से, चलती हुई पूजा को छोड़कर उठ गया ॥५३॥ मन्त्री शूर ने भी राजा के आकस्मिक पूजात्याग तथा उदरशूल को रहस्यमय समझकर गुप्तरूप से उस रहस्य का पता लगाना शुरू किया ॥५४॥ इस घटना के वास्तविक

कारण का पता लगते ही वह मन्त्री क्रुद्ध होकर भूतेश्वर के समीप मातृचक्र के मध्यवर्ती भैरव के मन्दिर में पहुँचा ॥५५॥ कतिपय आप्त सेवकों के अतिरिक्त वहाँ के प्रेक्षक जन-समूह को हटवाकर राजमन्त्री शूर ने धन्व डामर को बुलवाने के लिए बार-बार दूत भेजना शुरू किया ॥५६॥ धन्व डामर भी अपने पादचारी सैन्य के सम्मर्द से पृथ्वी को कम्पायमान करता हुआ सशस्त्र एवं निर्भय होकर मन्त्री के सम्मुख उपस्थित हुआ ॥५७॥ उसके आते ही मन्त्री द्वारा आज्ञप्त शस्त्रधारी वीरों ने भैरव के सम्मुख उस जीवित डामर का शिरश्छेद कर डाला ॥५८॥ और उसके रुधिराप्लुत शरीर को समीपस्थ सरोवर में फेंक, राजा के क्रोध का क्षालन कर, वह धैर्यवान् शूर वहाँ से रवाना हुआ ॥५९॥ मन्त्री के द्वारा किये गये पुत्रतुल्य धन्व डामर के शिरश्छेद के वृत्तान्त को सुनने से राजा का क्रोध शान्त हो गया और उसके मन की कुछ विचित्र स्थिति हो गई ॥६०॥

शूर ने आकर जब राजा के स्वास्थ्य का प्रश्न किया तब राजा ने कहा कि अब शूल नहीं रहा, फिर मन्त्री ने राजा को आग्रह-पूर्वक शयनालय से उठाकर भूतेश की अवशिष्ट पूजा को पूर्ण करवाया ॥६१॥ इस प्रकार प्रत्येक कार्य में राजा के हार्दिक भाव को समझकर वह हित को न कहकर ही, प्राणपण से उस कार्य को पूर्ण कर देता था ॥६२॥ इस प्रकार जिनके मनमें पारस्परिक क्रोध तथा मालिन्य कभी उत्पन्न न हुआ हो, ऐसे मन्त्री और राजा न तो कभी देखे गये थे और न कभी सुने गये थे ॥६३॥ राजा मेघ-

वाहन के शासन-काल के समान राजा अवन्तिवर्मा के शासन-काल में भी दस वर्ष तक सम्पूर्ण प्राणियों की हिंसा बन्द थी ॥६४॥ एक समय भयंकर जल-प्रलय के कारण अतिशय शीतल नदी के जल से उद्विग्न हुए पाठीन नामक मत्स्य—जो पवित्रतम एवं श्राद्ध में भी ग्राह्य माने गये हैं—निश्शंक होकर नदी के तट पर धूप में पड़े रहते थे ॥६५॥ अवन्तिवर्मा के राज्य-काल में लोकानुग्रह के लिए श्रीभट्ट, कल्लट, आदि सिद्ध पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे ॥६६॥ उन महात्माओं के चरित्रों का वर्णन बहुत विस्तृत हो सकता है, इसलिए उनमें से एक का प्रासंगिक एवं पवित्रतम वृत्तान्त वर्णन किया जायगा ॥६७॥ काश्मीर देश पद्मसरोवर के जल के कारण विशेषतया जलमय-सा ही है एवं नदीशबल भी है, इसलिए इस देश में अन्न की उत्पत्ति बहुत कम है ॥६८॥ राजा ललितादित्य के प्रबल उद्योग से कुछ जल बाहर निकाल दिया गया और वहाँ भी थोड़ी-सी अन्न की उपज शुरू हो गई ॥६९॥ राजा जयापीड के बाद हीनवीर्य राजाओं के होने से जल के उपद्रवों से वह भूमि फिर से जलाच्छादित हो गई ॥७०॥

उस दुर्भिक्ष-पीड़ित देश में एक खारी-परिमित अन्न का एक हजार और ५० दीनार मूल्य लगने लगा ॥७१॥ उस समय में अवन्तिवर्मा के पुण्य से प्राणियों के जीवन की रक्षा के लिए स्वयं अन्नपति ही सुय्य का रूप धारण कर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ ॥७२॥ उस महात्मा का कौन से कुल में जन्म हुआ था, इस बात का पता नहीं लगा। परन्तु वह इस चतुर्थ युग में अवतीर्ण

होनेवाला अयोनिज था, ऐसा उसके जगद्विस्मयकारक चरित्र से अनुमान हो सकता है ॥७३॥ सुय्या नामक एक चाण्डाली सड़क झाड़ रही थी, तब उसे ढँका हुआ मिट्टी का एक घड़ा मिला ॥७४॥ उसके ढँकने को हटाकर देखने से उस घट में अपनी उंगली चूँसता हुआ कमलनयन एवं प्रसन्नवदन बालक दीख पड़ा ॥७५॥ उसे देखकर "किसी भाग्यहीन माता ने इस सुन्दर बालक को त्याग दिया है" ऐसा सोचने पर स्नेह के कारण उसके स्तनों से दूध टपकने लगा ॥७६॥ उसने अपने स्पर्श से उस बालक को दूषित न कर किसी शूद्र जाति की स्त्री के घर उसे रख दिया और वहीं उसके पालन-पोषण का प्रबन्ध कर दिया ॥७७॥ उसका नाम सुय्य रखा गया, वह सुय्य बड़ा होने पर साक्षर हो गया और एक अच्छे धनिक के बालक का अध्यापक बन गया ॥७८॥ व्रत, स्नान आदि पवित्र नियमों के पालन करने से सज्जनों के हृदय को आकृष्ट करते हुए उस सुय्य की वाक्चातुरी से मुग्ध होकर बड़े-बड़े बुद्धिमान् उसके पास एकत्रित होने लगे ॥७९॥ एक बार वहाँ वे लोग जल-विप्लव की चर्चा करते हुए राज्य के प्रबन्ध की निन्दा कर रहे थे, इस कथा प्रसङ्ग में सुय्य ने कहा कि मुझमें इस उपद्रव को शान्ति करने की बुद्धि तो है, परन्तु धन न होने से मैं क्या कर सकता हूँ ॥८०॥

सुय्य उन्मत्त के समान इस प्रकार सर्वदा कहा करता है, इस बात को गुप्तचरों से सुनकर राजा आश्चर्यान्वित हो गया ॥८१॥ और राजा ने सुय्य को बुलवाकर पूछा कि तुम्हारा क्या कथन है?

तब सुय्य ने निर्भय होकर राजा से वही बात (मुझमें बुद्धि तो है परन्तु धन न होने से मैं क्या कर सकता हूँ) कही ॥८२॥ इस बात को सुनकर "यह पागल है" इस प्रकार दरबारियों के कहने पर भी, राजा ने उसकी बुद्धि की परीक्षा के लिए उसको यथेष्ट धन देने की आज्ञा दी ॥८३॥ दीनारों से भरे हुए बहुत से कलश राज्य-कोश से लेकर वह सुय्य मडव राज्य की ओर चल दिया ॥८४॥ वहाँ बाढ़ के जल में डूबे हुए मडव ग्राम में दीनारों से भरा हुआ एक कलश डालकर वह शीघ्र ही वापस चला आया ॥८५॥ इस वृत्तान्त को सुनकर, यह वास्तव में पागल है इस प्रकार सभ्यों के कहने पर भी, राजा ने उसके परिणाम देखने का विचार किया ॥८६॥ उसके बाद सुय्य ने क्रमराज्यान्तर्गत यदक्षर नामक ग्राम में पहुँचकर वहाँ अञ्जली भर भर दीनार पानी में डालना शुरू किया ॥८७॥ उस गाँव के पास नदी के दोनों तीरों पर के पत्थर नदी में गिरने से नदी का प्रवाह रुक गया था। इसलिए वितस्ता नदी का जल उलटा बहने लगा था ॥८८॥ उस समय के दुर्भिक्ष से पीड़ित ग्रामीणों ने, दीनारोंको खोजते हुए, जल प्रवाहोंमें से पत्थरों को निकाल कर वितस्ता नदी को साफ कर डाला ॥८९॥ इस प्रकार दो-तीन दिनों में उस जल को मार्ग मिल गया, फिर मजदूरों के द्वारा वितस्ता को एक तरफ बँधवा दिया ॥९०॥

उस अद्भुत कार्य करनेवाले सुय्य ने पाषाण-सेतु बँधवा कर एक सप्ताह में नील सरोवर से या नीलनाग तीर्थ से उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण वितस्ता नदी को बाँध दिया ॥९१॥ और फिर नदी के अन्दर

के सब पत्थरों को निकलवा कर नदी को साफ करवा डाला और पत्थर के बाँध बँधवा कर सेतु को भी तोड़ दिया ॥९२॥ तब बहुत दिनों के अवरोध से अत्यन्त उत्सुक-सी वह वितस्ता वेग से सागर-समागम के लिए दौड़ने लगी ॥९३॥ हरित जंबाल (घास, तृण) से अंकित तथा तड़पती हुई मछलियों से युक्त वह जलमुक्त भूमि, काले बादलों से मुक्त तथा चमकते हुए तारों से अलंकृत स्वच्छ आकाश के समान, दीखने लगी ॥९४॥ उस बाढ़ में सुय्य ने जहाँ जहाँ प्रवाह की अधिकता से नुकसान होने का सम्भव देखा, वहीं वहीं पर वितस्ता के नवीन नवीन प्रवाह-मार्ग बनवा दिये ॥९५॥ उन अनेक प्रवाहों से वह नदी, एक शरीरयष्टी पर अनेक फणों से युक्त नागिन समान, सुशोभित होने लगी ॥९६॥ त्रिग्रामी की बाईं ओर से सिन्धु नदी और दाहिनी ओर से वितस्ता आकर वैन्य-स्वामी के मन्दिर के पास पहिले मिला करती थीं ॥९७॥ अब वे दोनों नदियाँ वहाँ न मिलकर सुय्य के द्वारा निर्माण किए गए कल्पान्त स्थायी श्रीनगर के पास के नवीन-संगम-स्थान पर मिला करती हैं ॥९८॥ आज उस प्राचीन संगम के दक्षिणोत्तर दोनों तीरों पर फलपुर तथा परिहासपुर में विष्णुस्वामी और वैन्यस्वामी दोनों के मन्दिर विद्यमान हैं ॥९९॥ परन्तु इस सुन्दरी भवन के समीपस्थ नवीन समागम पर सुय्य के द्वारा पूजित योगशायी हृषीकेश भगवान् का मन्दिर सुशोभित हो रहा है ॥१००॥

आज भी वितस्ता के पुराने प्रवाहों के तटस्थ वृक्ष, नाविकों द्वारा बाँधी गई नौकाओं की रस्सी के चिह्नों से युक्त दीखते हैं ॥१०१॥

नागिन के समान लपलपाती हुई तरंगरूपी जिह्वाओं से युक्त नदियों को सुय्य ने मान्त्रिक के समान अपनी इच्छा के अनुसार अनेक मार्गों में विभक्त कर दिया ॥१०२॥ सात योजन तक वितस्ता नदी के दोनों तटों पर पाषाणमय सेतु (बाँध) बनवा कर महापद्म सरोवर के जल का नियन्त्रण कर दिया ॥१०३॥ महापद्म सरोवर का जल वितस्ता में मिलते ही धनुष से छूटे तीर के समान बड़े वेग से बहने लगता है ॥१०४॥ इस प्रकार आदिवराह भगवान् के समान पृथ्वी का जल से उद्धार कर वहाँ अनेक जनसंकीर्ण नानाविध ग्राम बसाये गये ॥१०५॥ दीवारों से पानी रोक कर जो कुण्ड के समान गोलाकार बाँध बनाये गये थे, समग्र अन्नों से समृद्ध उन स्थानों को लोग कुण्डलानी कहते हैं ॥१०६॥ आज भी शरद ऋतु में जब नदियों का जल कम हो जाता है, तब नदियों के मध्य में खड़े हुए स्तम्भ मदोन्मत्त जलहस्तियों के बाँधने के खूटों के समान दीखते हैं ॥१०७॥ उस सुय्य ने जहाँ दीनारों से पूर्ण कलश जल में डाला था वहाँ के पानी के हटने से कुछ समय बाद वह कलश सूखी जमीन पर पड़ा मिला ॥१०८॥ उसने जिन ग्रामों को पानी देने की आवश्यकता देखा वहाँ नदी की नहरों से पानी देने का प्रबन्ध कर दिया ॥१०९॥ इसके बाद गाँव गाँव से मिट्टी मँगवा कर और उसको जल से खींचकर फिर वह जितनी देर में सूखती थी वही समय उस मिट्टी के फिर से सींचने का है ऐसा निश्चय कर उसी प्रकार पानी की सुव्यवस्था करके और अन्न पकने का समय ठीक तरह से जान लेने के बाद विभाग के अनुसार प्रत्येक ग्राम

में योजना कर आनूला आदि नदियों के जल को उपयोग में लाकर चारों ओर नदियों के प्रभाव से हरे भरे अन्न से परिपूर्ण विशाल क्षेत्रों से काश्मीर देश को सुशोभित कर दिया ॥११०-१११-११२॥

जो उपकार इस देश पर कश्यप ऋषि से नहीं हो सका, जिसे बलराम भी न कर सके, वह उपकार सुय्य ने अपने अद्भुत कर्म के प्रभाव से कर दिखाया ॥११३॥ भूमि का जल से उद्धार, द्विज क्षेत्र में अर्पण, जल में पाषाणमय सेतु का निर्माण और कालिय-दमन इन महत्त्वपूर्ण चार कार्यों के लिए विष्णु भगवान् को वराह, परशुराम, राम और कृष्ण ये चार अवतार लेने पड़े थे। परन्तु उस परमपुण्यात्मा सुय्य ने एक जन्म में ही इन चारों कार्यों को अच्छी तरह से पूर्ण कर डाला ॥११४-११५॥ जिस काश्मीर देश में सृष्टि के आरम्भ काल से ही उत्तम सुभिक्ष होने पर भी एक खारी चावलों की २०० दो सौ दीनार से कम कीमत नहीं होती थी ॥११६॥ परन्तु उसी देश में उस दिन से एक खारी चावल का ३६ छत्तीस दीनार मूल्य हो गया ॥११७॥ उसने महापद्म सरोवर के जल से निकली हुई वितस्ता नदी के तीर पर अपने नाम से सुय्यपुर नामक नगर बसाया ॥११८॥ वहाँ के दिगन्तव्यापी सरोवर के तीर पर प्रलयपर्यन्त के लिए मत्स्य तथा पक्षियों की हिंसा का निषेध उस सुय्य ने कर दिया ॥११९॥ उसने ब्राह्मणों को सुय्याकुण्डल नामक ग्राम देकर उस सुय्या के नाम से सुय्यासेतु बनवाया ॥१२०॥

सुय्य के द्वारा जल से उद्धार की गई भूमि में अवन्तिवर्मा

आदि राजाओं ने जयस्थल आदि अनेक गाँव बसाये ॥१२१॥ इस प्रकार के सत्कर्मों से बार बार सत्ययुग की झलक को दिखाते हुए उस राजा अवन्तिवर्मा ने मान्धाता के समान प्रजा का पालन किया ॥१२२॥ उसके पश्चात् प्राणान्तिक रोग से ग्रस्त होने पर त्रिपुरेश पर्वत के शिखर पर के ज्येष्ठेश के समीपस्थ तीर्थ में जाकर रहने लगा ॥१२३॥ उसने बहुत दिनों से छिपाये हुए अपने वैष्णवत्व को राजमन्त्री शूर के सम्मुख प्रगट किया ॥१२४॥ अन्त में अत्यन्त भक्तिपूर्वक श्रीमद्भगवद्गीता का श्रवण करते हुए तथा वैष्णवधाम श्रीवैकुण्ठ का ध्यान करते हुए उस राजश्रेष्ठ ने प्राण-त्याग किया ॥१२५॥ आषाढ़ शुक्ल तृतीया लौकिक शक ३९५९ को वह क्षमापति अस्त हो गया ॥१२६॥ उसके शान्त होने के बाद समान सम्पत्तिशाली अनेक उत्पलवंशीयों ने राज्यप्राप्ति के लिए प्रयत्न करना आरम्भ किया ॥१२७॥ परन्तु रत्नवर्धन नामक प्रतीहार ने अनेक प्रयत्न तथा युक्तियों से अवन्तिवर्मा के पुत्र शंकरवर्मा को राज्याधिकारी बनाया ॥१२८॥ उसके प्रतिस्पर्धि विन्नप के अमात्य कर्णप ने शूरवर्मा के पुत्र सुखवर्मा को युवराज पद पर स्थापित किया ॥१२९॥ इसलिए राजा और युवराज परस्पर वैर करने लगे, अतः इस विरोध में राज्य की स्थिति दोलायमान सी होने लगी ॥१३०॥

उस समय शिवशक्ति आदि राजभक्तों ने अपने स्वामी के लिए अपने प्राणों को त्यागकर अपनी स्वामिभक्ति की सच्ची परीक्षा में उत्तीर्ण होने का सौभाग्य प्राप्त किया ॥१३१॥ स्वामी के शत्रुओं

ने उन्हें दान-मान का लोभ दिखाया था, परन्तु उन्होंने उधर ध्यान न देकर अपनी सत्यवादिता तथा मानधनता को सुरक्षित रखा ॥१३२॥ उस समय तक के राजसेवक स्वाभिमानी तथा ईमानदार हुआ करते थे, वे केवल पिण्डमात्र के लिए कुत्तों के समान दुम नहीं हिलाते थे ॥१३३॥ शंकरवर्मा ने भी बड़े प्रयत्न से उस तेजस्वी युवराज को परास्त करके अपनी विजय का महान् ओंकार प्रारम्भ किया ॥१३४॥ उस सम्राट शंकरवर्मा ने समरवर्मा आदि वीरों से अनेक बार युद्ध करके प्राप्त की हुई लक्ष्मी की अपेक्षा भी उत्कृष्ट कीर्ति को पाया ॥१३५॥ अपने दायादों को जीतने के बाद परम उद्योगी एवं जिगीषु शंकरवर्मा ने दिग्विजय की तैयारी शुरू की ॥१३६॥ उस समय काल की महिमा से उस देश में धन तथा जन दोनों की न्यूनता हो गई थी, फिर भी नगर के प्रधान द्वार से निकलते समय उसके साथ नौ लाख पदाति सैन्य था ॥१३७॥ एक समय ऐसा था कि जब उस राजा शंकरवर्मा की आज्ञा को राजधानी के द्वार के बाहर कोई भी नहीं मानता था, परन्तु आज बड़े बड़े राजा लोग उसकी आज्ञा को अपने रत्नजटित मुकुटों पर आदरपूर्वक धारण करते हैं ॥१३८॥ कवियों के द्वारा दिग्विजय वर्णन की रूढ़ि उच्छिन्न हो गई थी, उसे शंकरवर्मा ने फिर से प्रारम्भ किया ॥१३९॥ महानदी के समान विशालतम शंकरवर्मा की सेना में अन्य राजाओं की सेनाएँ कुल्याओं के समान मिलने लगीं ॥१४०॥

उस राजा की सेना के जयघोष का प्रतिनाद, भयभीत होकर

छिपे हुये दार्वाभिसार देशके राजा के द्वारा आश्रित गिरि-कन्दराओं में सुनाई देता था, शत्रुसेनाओं में नहीं ॥१४१॥ अधिक संख्यक सैन्ययुक्त हरिगणों के राजा को भय-त्रस्त होकर अपने दुर्ग में प्रविष्ट होने के पूर्व ही शंकरवर्मा ने पकड़कर दूसरे दुर्ग में (कारा-गृह में) भेज दिया ॥१४२॥ जब वह शंकरवर्मा नौ लाख पदाति, एक लाख अश्व और तीन सौ हाथियों को साथ लेकर गूर्जर प्रान्त को जीतने के लिए रवाना हुआ, तब त्रिगर्त देश के राजा पृथ्वी-चन्द्र को अज्ञानवशात् संसार के सम्मुख हास्य का पात्र बनना पड़ा ॥१४३-१४४॥ उसने अपने पुत्र भुवनचन्द्र को शंकरवर्मा के पास नीबी-(जमानत) के लिए भेज दिया था और स्वयं भी प्रणाम करने के लिए उसके पास जा रहा था ॥१४५॥ परन्तु अनेक माण्डलिक राजाओं से युक्त भयंकर समुद्र के समान गरजते हुए शंकरवर्मा के सैन्य को सम्मुख आते हुए देख कर वह पृथ्वीचन्द्र "समागम के समय शंकरवर्मा मुझे बन्दी बना लेगा" इस भय से परिवर्त्तित होकर बहुत दूर तक भाग गया इस लिए उसकी सर्वत्र हँसी हुई ॥१४६-१४७॥ यद्यपि पुराने लोग राजा शंकरवर्मा को अत्यन्त सुरुप बतलाते हैं, तथापि उसके भयसे त्रस्त हुए राजा लोग तो उसे कृतान्त के समान भयंकर देखा करते थे ॥१४८॥ उसने गुर्जराधिप अलखान से युद्ध कर उसकी बद्धमूल राजलक्ष्मी को एक क्षण में उत्पाटन कर डाला और उसे सर्वदा के लिए शोकमग्न कर दिया ॥१४९॥ तब गुर्जराधिप अलखान ने राजा शंकरवर्मा को टक्कप्रदेश भेंट के रुप में देकर अंगुलिदान द्वारा

सम्पूर्ण शरीर को सुरक्षित रखने के समान अपने मण्डल की रक्षा की ॥१५०॥

थक्किय वंश में उत्पन्न हुआ राजकुमार शंकरवर्मा के यहाँ द्वारपाल का कार्य करता था, इसलिए राजा शंकरवर्मा ने अधिराज भोज के द्वारा अपहरण किये गये राज्य को भोज से लेकर उस राजपुत्र को फिर से दे दिया ॥१५१॥ हिमालय तथा विन्ध्याचल के मध्यवर्ती आर्यावर्त देश के समान् अलखान का संरक्षक लल्लिय-शाही वनवराह एवं सिंह के समान दरद तथा तुरुष्क के मध्य में फँस गया था, उसकी राजधानी उद्भांडपुर में इधर-उधर से परास्त हुए राजा लोग आकर रहा करते थे, जिस प्रकार पक्षच्छेदन के भय से त्रस्त होकर पर्वत समुद्र का आश्रय लेकर निर्भय हो जाते हैं इसी प्रकार वे राजा लोग भी वहाँ निर्भय हो जाते थे। आकाश में चमकते हुए नक्षत्रों में सूर्यमण्डल के समान उत्तरापथ के राजाओं में उस लल्लिय की ख्याति थी। वह शंकरवर्मा का आश्रय चाहता था, परन्तु शंकरवर्मा क्रुद्ध होकर उसके साम्राज्य को छीन लेना चाहता था इसलिए उसे सेवा का अवसर नहीं दिया ॥१५२-१५३-१५४-१५५॥ इस प्रकार द्विग्विजय से निवृत्त होकर शंकरवर्मा ने पंचसत्र नामक प्रदेश में अपने नाम से शंकरपुर बसाया ॥१५६॥ चन्द्र की प्रियाराका के समान उत्तरापथ के राजा स्वामिराज की कन्या सुगन्धादेवी शंकरवर्मा की प्रिय पत्नी थी ॥१५७॥ इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली राजा शंकरवर्मा ने शंकरपुर में अपनी पत्नी तथा स्वयं के नाम से शंकरगौरीश तथा सुगन्धेश

की स्थापना की ॥१५८॥ और वहाँ उसने सरस्वती के निवास-स्थान चतुर्विद्या विशारद नायक नामक विद्वान ब्राह्मण को व्यवस्थापक बनाया ॥१५९॥ आज के समय में कवि और नृपति परकाव्य तथा परद्रव्य से अधिकांश चुरा कर अपनी कृति (काव्य या नगर) को सुशोभित करते हैं ॥१६०॥

उस अल्पसत्त्व राजा ने अपने शंकरपुर को प्रसिद्ध करने के लिये परिहासपुर की सभी उत्तमोत्तम वस्तुएँ अपहरण कर वहाँ रख दी थीं ॥१६१॥ कपड़े बुनने का कारखाना और पशुओं का क्रय विक्रय इत्यादि कार्य जो परिहासपुर के प्रसिद्धि के कारण थे, उन्हें शंकरपुर में प्रारम्भ कर दिया गया ॥१६२॥ शंकरवर्मा को राज्य दिलवानेवाले मन्त्री रत्नवर्धन ने रत्नवर्धनेश्वर नामक शंकर की स्थापना की ॥१६३॥ बड़े आश्चर्य का विषय है कि ये राजा रूपी गजेन्द्र अपने कीर्तिनिर्झर के प्रवाह में स्नानकर निर्मल शरीर होने पर भी व्यसन संगति रूपी धूलि से फिर मलीन हो जाते हैं ॥१६४॥ उसके बाद वह राजा शंकरवर्मा क्रमशः बढ़ते हुए लोभ के अभ्यास से प्रजा को कष्ट देने में प्रवीण हो गया ॥१६५॥ उसने अधिकता से प्रारम्भ किये व्यसनों से अपने कोष को रिक्त कर डाला और अनेक क्रूरयुक्तियों से देव-मन्दिर आदि धार्मिक स्थानों की सम्पत्ति को अपहरण करना शुरू किया ॥१६६॥ उसने पुर, ग्राम, गृह आदि स्थानों से द्रव्य हरण करनेवाले उस राजा शंकरवर्मा ने अट्टपतिभाग और गृहकृत्यभाग नामक दो नवीन विभाग कर वसूल करने के लिए स्थापित किए ॥१६७॥ उसी प्रकार देव-

मन्दिरों के धूप, चन्दन, तेल आदि वस्तुओं का मूल्य बढ़ाकर उनके विक्रय से प्राप्त हुए नफे को वह छल से लेने लगा ॥१६८॥ उसने चौसठ देव-मन्दिरों को जब्त किया और उनमें नवीन कर्मचारियों को नियुक्त कर उन मन्दिरों के गाँव छीन लिये और उनके स्थान पर कुछ कर देकर कृषकों के समान स्वयं उन ग्रामों की आय लेने लगा ॥१६९–१७०॥

इसी प्रकार वार्षिक वेतन का तीसरा हिस्सा सेवकों को तौल में और माप में कम किये गये एवं अधिक मूल्य बढ़ाये हुए अन्न तथा कम्बल आदि वस्त्रों के रूप में देना शुरू किया ॥१७१॥ एक बार वह किसी प्रान्त में भ्रमण करने के लिए गया था वहाँ के ग्रामीण—जो कि बेगार प्रथा के अनुसार राजा या राजकर्मचारी के यहाँ समय समय पर मुफ्त में बोझा ढोते हैं—एक वर्ष तक बोझा उठाने को नहीं आये थे इसलिए उस देश के भाव के अनुसार भार का मूल्य दण्ड के रूप में उनसे वसूल किया गया ॥१७२॥ दूसरे वर्ष में भी अपने सम्पूर्ण राज्य के निरपराध ग्रामीणों से भी वही कर वसूल किया और बेगार की रूढ़ि के स्थान पर कर लेना शुरू कर दिया ॥१७३॥ इस प्रकार बेगार के स्थान पर अत्यधिक कर वसूल करने की प्रथा तभी से काश्मीर में चल पड़ी, राजा शंकरवर्मा के द्वारा प्रारम्भ की गई इस रूढ़भारोढि नामक प्रथा ने उस देश में अच्छी तरह से दारिद्र्य का आह्वान किया इस दण्ड के १३ तेरह प्रकार थे ॥१७४॥ ग्रामस्कन्दक (जमींदार) तथा ग्रामकायस्थ (पटवारी) आदि कर्मचारियों के मासिक वेतन तथा

अनेक कष्टप्रद करों से उसने ग्रामीण जनता को अत्यन्त निर्धन बना दिया था ॥१७५॥ और तौल में न्यूनाधिक्य करके तथा ग्रामदण्ड आदि करों के द्वारा उसने गृहकृत्य विभाग में खर्च के लिए द्रव्य एकत्रित करना शुरू किया ॥१७६॥ उस विभाग में पाँच दिविर (कायस्थ, मुंशी या कारकून) नियुक्त किये गये थे और इनके अतिरिक्त छठा शकच अथवा लवट नामक गंजवर (खजानची) भी रखा गया ॥१७७॥ इस प्रकार उस मूर्ख शंकरवर्मा ने भावी राजाओं तथा कर्मचारियों के उपकारार्थ धन संचय कर स्वयं के लिए नरकप्राप्ति का समग्र साधन एकत्रित कर लिया था ॥१७८॥ उस काश्मीर देश में विद्वानों के अनादर तथा राजाओं की प्रतापहानि का उस राजा शंकरवर्मा को छोड़कर दूसरा कोई भी प्रारम्भिक कारण न हुआ ॥१७९॥ गुणवानों की द्रव्यहानि के द्वारा राजाओं के कीर्तिनाश के आदिकारण इन दुष्ट दासीपुत्र कायस्थों का महत्त्व उसी राजा के समय से प्रारम्भ हुआ ॥१८०॥

उस गड़बड़ी के कारण सम्पूर्ण राज्य कायस्थों का उपभोग्य हो गया था और उसी कारण से राजा ही प्रजा को लूट रहा है इस प्रकार उसकी अपकीर्ति सर्वत्र फैल रही थी ॥१८१॥ इस प्रकार भयंकर प्रजापीड़न को देखकर अत्यन्त दयार्द्र-हृदय युवराज गोपालवर्मा किसी समय राजा से एकान्त में निवेदन करने लगा ॥१८२॥ महाराज, आप किसी समय मुझे एक वरदान दे रहे थे, परन्तु मेरी इच्छा से वह वरदान धरोहर के रूप में आपके पास जमा रखा गया था। आप सत्यसन्ध (सत्य

प्रतिज्ञ) हैं, इसलिए मैं वह वरदान इस समय आपसे माँगता हूँ ॥१८३॥ इन कायस्थों को प्रेरणा से आपके द्वारा प्रारम्भ किये गये अनेक कष्टप्रद करों से पीड़ित प्रजा अन्तिम श्वास ले रही है ॥१८४॥ इस प्रकार प्रजा को कष्ट पहुँचाने से आपको इस लोक और परलोक में किसी प्रकार का लाभ न होगा ॥१८५॥ आगामी जन्म अथवा लोकान्तर की अप्रत्यक्ष वार्ताओं के विषय में तो कौन निश्चित विवरण प्रगट कर सकता है, परन्तु ऐहलौकिक दृष्टि से देखा जाय तो भी इस कुकृत्य से अनिष्ट के अतिरिक्त दूसरा कोई भी शुभ परिणाम नहीं हो सकता ॥१८६॥ एक ओर से तो व्याधियाँ दुर्भिक्ष आदि दैवी विपदायें प्रजा को कष्ट पहुँचा रही हैं और दूसरी ओर यह राजा की अर्थलोलुपता उसे अत्यधिक त्रास-प्रद हो रही है ॥१८७॥ जिस प्रकार भविष्य में फल की आशा से शून्य आकालिक कुसुम की शोभा का कोई भी अभिनन्दन नहीं करता, उसी प्रकार लोभी राजा की सम्पत्ति किसी को भी आनन्द-कारक नहीं होती ॥१८८॥ राजा के लिए दान तथा प्रियसत्य भाषण दोनों ही संसार को प्रसन्न करने के अमोघ उपाय हैं, परन्तु लोभ इन दोनों उपायों के नाश का प्रथम कारण है ॥१८९॥ जिस प्रकार बादल हेमन्त ऋतु के दिन के प्रताप, दैर्घ्य तथा शोभा को स्मृतिशेष कर डालता है, वैसे ही लोभ भी राजा के प्रताप, आयति (भविष्य) एवं शोभा का ध्वंस कर डालता है ॥१९०॥ खर्च के डर से साहसिक कार्य को प्रारम्भ न करनेवाले राजा के दायाद बलवान् बनकर स्थान-स्थान पर विद्रोह करने लगते हैं और

सेवक लोग भी योग्य सेवा करने पर भी उसके उपलक्ष्य में पारितोषिक-प्राप्ति की आशा न रहने से कोई भी राज-प्रिय कार्य नहीं करते तथा केवल धनसंचय करनेवाले राजा के आत्मीय जन भी द्रव्य के लोभ से प्राणों के ग्राहक बने रहते हैं। इसलिये इस लोभरूपी शत्रु से राजा की कौन-सी हानि नहीं होती ? ॥१९१॥ महाराज, यह राजसंवाह नामक नवीन कर प्रजा के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हो रहा है इसलिए मेरी यही प्रार्थना है कि आप इसे बन्द कर दीजिये ॥१९२॥

इस प्रकार युवराज के सौजन्योज्ज्वल भाषण को सुनकर किंचित् स्मित से अपने अधर को धवल करता हुआ राजा शङ्करवर्मा धीरे से कहने लगा ॥१९३॥ वत्स, तुम्हारी इस सरल आकृति के अनुरूप इस सौजन्य-कोमल भाषण को सुनकर मुझे अपनी पुरानी चित्तवृत्ति का स्मरण आ रहा है ॥१९४॥ छोटी अवस्था में मेरा भी अन्तःकरण तुम-सा ही कोमल तथा दयालु था, मेरे हृदय में प्रजावात्सल्य भी पर्याप्त रूपेण बढ़ रहा था ॥१९५॥ मुझे मेरे पिता गर्मी के दिनों में मोटे वस्त्र तथा शीतकाल में बारीक वस्त्र पहिना कर बिना पादुका के पैदल घुमाया करते थे ॥१९६॥ मृगया आदि के समय अश्वों के साथ भ्रमण करते हुए मेरे पैर कांटों से छिल जाया करते थे, उस समय मुझे आँसू बहाते देखकर साथी लोग मेरे पिताजी की शिकायत करते थे ॥१९७॥ तब वे उनसे कहा करते थे, कि मैं अत्यन्त साधारण स्थिति का अनुभव प्राप्त कर बाद में राजा

हुआ हूँ, इसलिए सेवकों के सेवा परिश्रम को भली भाँति जानता हूँ ॥१९८॥ यह भी इस प्रकार के दुःख का अनुभव प्राप्त करके दूसरों के कष्ट को अवश्य ही जान सकेगा, अन्यथा गर्भ-श्रीमान् होने के कारण ऐश्वर्य को पाते ही मदोन्मत्त हो जावेगा ॥१९९॥ इस प्रकार के उपायों से पिता द्वारा मुझे शिक्षा दी गई थी, फिर भी राज्यप्राप्ति के बाद मैंने इस प्रकार प्रजा को पीड़ा पहुँचाने के कार्य किये हैं ॥२००॥ क्योंकि जिस प्रकार प्राणी माता के गर्भ से निकलते ही गर्भवास की पीड़ा को भूल जाता है, उसी प्रकार राज्य को पाते ही राजा भी अपने पूर्वचिन्तित विषय को भूल जाता है ॥२०१॥ इसलिए मैं तेरे से ही एक वरदान माँगता हूँ कि तुझे राज्य मिलने पर इससे अधिक प्रजा को पीड़ा मत देना ॥२०२॥

इस प्रकार राजा के द्वारा तिरस्कारयुक्त वचनों से सम्बोधित किये जाने पर उस राजकुमार ने लज्जा से अपना मस्तक नीचा कर लिया और राजा के खुशामदी विट लोग आपस में देखकर मुस्कुराने लगे ॥२०३॥ वह राजा खर्च के डर से गुणिजनों के समागम से पराङ्मुख रहता था, इसलिए उस समय के भल्लट आदि कवियों को नीचे दर्जे के कार्यों से अपनी जीविका सम्पादन करना पड़ता था ॥२०४॥ उसके राज्य में कवियों को वेतन नहीं मिलता था और उसके कृपापात्र भारवाहक लवट को प्रतिदिन दो हजार दीनार मिला करते थे ॥२०५॥ वह देववाणी (संस्कृत भाषा) में बोल नहीं सकता था, किन्तु मद्यपों के समान अपभ्रंश भाषा में बात-चीत करता था, इससे उसका कल्यपाल (कलवार) के वंश

में जन्म हुआ था, इस बात को वह स्वयं प्रमाणित कर देता था ॥२०६॥ दाढ़ी और मूँछों पर वस्त्र बाँधकर और नासिका के अग्रभाग पर तर्जनी अँगुली को रख ध्यान से एकाग्रदृष्टि होकर आर्योचितवेष-धारी उसका मन्त्री सुखराज राजा के मनश्छन्द के अनुसरणार्थ नट के समान दीखता था ॥२०७-२०८॥ उस राजा ने राजद्रोह की शंका से निद्रोह दार्वाभिसार के राजा नरवाहन को सेवकों के समेत रात में धोखे से मरवा डाला ॥२०९॥ प्रजा के अभिशाप से उस दुराचारी राजा शंकरवर्मा के बीस-तीस पुत्र बिना किसी रोग के सहज ही मर गये ॥२१०॥

प्रजापीड़क राजा का कुल, सम्पत्ति, जीवन, पत्नी तथा नाम भी क्षण मात्र में नष्ट हो जाते हैं ॥२११॥ यह प्रवाद पुराने जमाने से चला आ रहा है और आज भी सत्य प्रमाणित होता है और देखिए उस दुष्ट राजा का नाम भी इस क्रूर कृत्य से संसार में न रह सका ॥२१२॥ उसने अपने नाम से शंकरपुर नामक जो नगर बसाया था, उसका वह नाम लुप्त हो गया और लोग उस नगर को पट्टण कहने लगे, इस प्रकार दूसरे कौन से राजा के नगर की दशा हुई है ? ॥२१३॥ उस राजा ने अपने मन्त्री सुखराज के भानजे को द्वाराधिप बनाया था। वह स्वयंकृत प्रमाद से वीरानक नामक स्थान में मारा गया ॥२१४॥ उससे क्रुद्ध होकर उस मदोन्मत्त राजा ने वीरानक पर आक्रमण कर उस स्थान को समूल नष्ट कर दिया और वहीं से उत्तरापथ की ओर चल दिया ॥२१५॥ उसने सिन्धु नदी के तीर के अनेक प्रदेशों को

जीत लिया, वहाँ के राजा लोग भयातुर होकर उसकी शरण में उपस्थित हुए, पश्चात् वह वहाँ से वापस रवाना हुआ ॥२१६॥ उरशा नामक ग्राम में उसके सैनिकों के पड़ाव डालने के विषय में ग्रामवासियों के साथ मारपीट हो गई ।.२१७।। उस समय पर्वत के शिखर पर खड़े हुए एक चाण्डाल के द्वारा वेग से छोड़ा गया बाण उसकी ग्रीवा में घुस गया ॥२१८॥ उससे उसकी मरणासन्न दशा हो गई, तब वह अपने सेनापतियों को सैनिकों की रक्षा का आदेश देकर स्वयं कर्णीरथ (पालकी) में बैठकर वहाँ से रवाना हो गया ॥२१९॥ उस समय उसे कुछ भी नहीं दीखता था, विलाप करती हुई महारानी सुगन्धा उसे सम्हालकर बैठी थी,—और उस की आवाज धीमी पड़ गई थी ॥२२०॥

उसने अपने अनाथ पुत्र गोपालवर्मा को रक्षा करने के लिए धरोहर के रूप में सुगन्धा के सुपुर्द किया ॥२२१॥ और लौकिक संवत्सर ३९७७ की फाल्गुन कृष्णा ७ सप्तमी को बाण के निकाले जाने से उसकी मार्ग में ही मृत्यु हो गई ॥२२२॥ सुखराज आदि मन्त्रियों ने उस विदेश में अपनी सेना को सम्हाल कर आगे चलने का प्रबन्ध किया और मार्ग में राजा के मरण-वृत्तान्त को गुप्त रखा ॥२२३॥ मार्ग में स्थान-स्थान पर प्रणाम करने के लिए आये हुए माण्डलिक राजाओं के सम्मुख राजा के निर्जीव मस्तक को सूत्र में बाँधकर कभी कभी प्रतिप्रणाम के लिए नीचा झुका देते थे ॥२२४॥ इस प्रकार छः दिन तक निरन्तर चलने के बाद द्वारवती प्रान्त के बाराहमूलसमीपस्थ बोल्यासक नामक निज राज्य की

हद में पहुँच कर उन्होंने उसका अन्तिम संस्कार किया ॥२२५॥ सुरेन्द्रवती आदि तीन राजपत्नियाँ उसके साथ सती हो गईं और कृतज्ञ वेलावित्त जयसिंह भी राजा के साथ चितारूढ़ हुआ ॥२२६॥ और इसी प्रकार राजसेवक लाड तथा वज्रसार ने भी राजा के साथ अपने प्राण दे दिये। इस प्रकार छः प्राणियों ने चिता पर बैठकर अपने शरीरों को तत्काल दग्ध कर डाला ॥२२७॥ उसके बाद सुगन्धादेवी के संरक्षण में परमधार्मिक तथा सत्यसन्ध गोपालवर्मा पृथ्वी का शासन करने लगा ॥२२८॥ दुश्चरित्र राजसेवकों के मध्य में रहकर भी तथा बाल्यावस्था में रहते हुए भी उस राजा ने उनके बुरे संस्कारों को ग्रहण नहीं किया ॥२२९॥ राजमाता सुगन्धा वैधव्य-स्थिति में भी उन्मत्त होकर अनेक प्रकार के सुखोपभोग की लालसा से वशीभूत होकर प्रभाकरवर्मा नामक राजमन्त्री से प्रेम करने लगी ॥२३०॥

उस नितान्त-संभोगसन्तुष्टा राजमाता ने उस मन्त्री को अपना प्रेम, सौभाग्य तथा बहुमान रूपी तीन मुकुट-चन्द्रकों से भूषित कर दिया ॥२३१॥ कोषाध्यक्ष पद पर भी कार्य करते हुए उस मन्त्री प्रभाकरवर्मा ने उस अनुरागवती राजमाता की अटूट सम्पत्ति को लूटकर उदभाण्डपुर के शाहिराज्य को जीत लिया ॥२३२॥ राजाज्ञा का उल्लंघन करनेवाले शाही से राज्य छीनकर लल्लिय के पुत्र तोरमाण को दे दिया और उसका कमलुक नाम रख दिया ॥२३३॥ इस प्रकार वह मन्त्री प्रभाकरवर्मा विजयोर्जित होकर शौर्य तथा शृंगार के निवास-स्थान अपने शरीर पर अभिमान करता हुआ

राजधानी में वापस आया ॥२३४॥ विजय-प्राप्ति से उन्मत्त हुए उस राजमाता के उपपति प्रभाकरवर्मा ने प्रतिदिन तिरस्कारयुक्त वचनों से वीरों का मानमर्दन करना शुरू किया ॥२३५॥ वेश्या-मन्दिर के समान उस क्षुद्र के द्वारा आक्रान्त राजमन्दिर में अन्य किसी का भी प्रवेश नहीं होता था ॥२३६॥ धीरे धीरे यह बात राजा गोपालवर्मा को विदित हो गई, तब धन तथा मान को अपहरण करनेवाला वह प्रभाकरवर्मा राजा की आँखों में अत्यन्त खटकने लगा ॥२३७॥ जब राजा ने कोष की जाँच शुरू की तब उसमें जो रकम नहीं मिली उसके लिए उस कोशाध्यक्ष ने शाहि के युद्ध में नष्ट होने का बहाना बना दिया ॥२३८॥ उसके बाद उस कोषाध्यक्ष प्रभाकरवर्मा ने राजा से भयभीत होकर खाखोंद-वासी रामदेव नामक अपने बान्धव से उस पर अभिचार करवाया ॥२३९॥ उस अभिचारक्रिया से वह अल्पवयस्क राजा गोपालवर्मा दाहरोग से पीड़ित होकर मृत्यु की शरण में पहुँच गया। उसने केवल दो ही वर्ष पृथ्वी का शासन किया ॥२४०॥

रामदेव ने भी अपने अक्षम्य अपराध के प्रगट होते ही राजदण्ड के भय से आत्महत्या कर डाली ॥२४१॥ उसके बाद गोपालवर्मा के भ्राता संकटवर्मा को रास्ते में से पकड़ कर राजगद्दी पर बैठाया, परन्तु वह केवल १० दिन तक राज्य कर मृत्युमुख में चला गया ॥२४२॥ इस प्रकार शंकरवर्मा के कुल का अन्त होने पर महारानी सुगन्धा प्रजा की प्रार्थना को स्वीकार कर स्वयं शासन करने लगी ॥२४३॥ उसने धर्म की अभिवृद्धि के लिए

गोपालपुर, गोपालमठ तथा गोपालकेशव के मन्दिरों का निर्माण किया और अपने नाम से भी सुगन्धापुर नामक नगर बसाया ॥२४४॥ पवित्र वंश में उत्पन्न होनेवाली गोपालवर्मा की पत्नी नन्दादेवी ने बालिका होने पर भी नन्दामठ तथा नन्दाकेशव की स्थापना की ॥२४५॥ उस समय गोपालवर्मा की दूसरी पत्नी जयलक्ष्मी को गर्भवती देखकर उसकी सास सुगन्धादेवी को उसकी सन्तान से आशा थी, परन्तु उसको प्रसव होने के बाद सन्तान की मृत्यु होने से उस सुगन्धा को अत्यन्त दुःख हुआ और वह किसी भी अपने वंश के पुरुष को राज्य देने के लिए उद्यत होने लगी ॥२४६-२४७॥ उस समय में राजा को निगृहीत तथा अनुगृहीत करने की सामर्थ्य रखनेवाला तन्त्री तथा पदातियों का एक पारस्परिक एकतासम्पन्न बड़ा मण्डल था ॥२४८॥ इसलिए उस सुगन्धादेवी ने उन तन्त्रियों के साथ मित्रता रखकर तथा एकांग की सहायता से दो वर्ष तक राज्य का शासन किया ॥२४९॥ पश्चात् उसने किसी योग्य पुरुष को साम्राज्य देने का विचार करने के लिए एक बार मन्त्री, सामन्त, तन्त्री तथा एकांगों को एकत्रित किया ॥२५०॥

उस समय अवन्तिवर्मा का वंश नष्ट हो चुका था, इसलिए अपने कुटुम्बी शूरवर्मा के नप्ता तथा सुखवर्मा की पत्नी गग्गादेवी के पुत्र निर्जितवर्मा को आत्मीय होने के कारण अपनी इच्छा के अनुसार चलेगा ऐसा सोचकर उसने राज्याधिकारी बनाने का विचार प्रगट किया ॥२५१-२५२॥ उसके उस कथन का "वह

अत्यन्त विषयी होने से रात भर जागता है और सारे दिन सोता रहता है इसलिए राज्य-कार्य कैसे कर सकता है वह तो पङ्गु है" इस प्रकार कतिपय मन्त्रियों ने विरोध किया था। इतने में ही तन्त्री तथा पदातियों ने मिलकर अपनी इच्छानुसार निर्जितवर्मा के पुत्र दशवर्षीय बालक पार्थ को राजा बना दिया ॥२५३-२५४-२५५॥ इस प्रकार उन लोगों ने सुगन्धा को राज्यच्युत करके कोषाध्यक्ष प्रभाकरवर्मा के द्वारा कहे गये अपमानजनक कटुवाक्यों का प्रतीकार-सा कर डाला ॥२५६॥ साम्राज्य के अधिकार से भ्रष्ट होकर वह सुगन्धा गिरती हुई आँसुओं की बूंदों को हृदय पर मुक्ताहार के समान धारण करती हुई राजधानी को त्यागकर चल दी ॥२५७॥ उसने अपने पक्षपाती क्रमागत (पारम्परिक) पुराने सेवकों को प्रतिपक्षियों में मिला हुआ पाया ॥२५८॥ लौकिक वर्ष ३९८९ में एकांग एकत्रित होकर अपनी इच्छा से निष्कपुर में जाकर वहाँ से सुगन्धादेवी को फिर से वापस लाये ॥२५९॥ उस समय चैत्र मास समाप्त हो रहा था, सुगन्धादेवी के आगमन वृत्तान्त को सुनकर पार्थराजा के पक्षपाती तन्त्री लोगों ने युद्ध के लिए प्रयाण किया ॥२६०॥

और उन्होंने पारस्परिक ऐक्य को सुरक्षित रखकर अत्यन्त सुव्यवस्थापूर्वक युद्ध संचालन किया तथा आपसी फूट के कारण विरुद्ध एकांगों को परास्तकर भागती हुई सुगन्धा को बाँध लिया, उस समय लौकिक ३९९० का वैशाख मास था ॥२६१॥ उन लोगों के द्वारा बाँधी गई रानी सुगन्धा की निष्पालक विहार के अन्दर

मृत्यु हो गई। भाग्य का व्यापार बड़ा ही विचित्र है, इसमें उन्नति तथा अवनति की अनित्यता सर्वदा अक्षुण्ण है ॥२६२॥ उसके बाद इस उत्कृष्ट एवं भाग्यशाली काश्मीर देश में धन तथा जन के नाश का कारण सर्वतोमुखी अनर्थपरम्परा का प्रारम्भ होने लगा ॥२६३॥ उस अल्पवयस्क राजा पार्थ का पिता पङ्गु निर्जितवर्मा उसका पालक बनकर मन्त्री समेत उत्कोच (उपायन, रिश्वत) लेने में तत्पर होकर प्रजा को अत्यधिक पीड़ा देने लगा ॥२६४॥ ग्राम कायस्थों के समान राजपुरुष भी तन्त्रियों को अधिकाधिक उत्कोच (रिश्वत) देकर अन्योन्य उच्चाटन करने लगे ॥२६५॥ जिस देश के शासक राजाओं ने अपने पराक्रम से कान्यकुब्ज आदि देशों के शासकों को पादाक्रान्त कर लिया था, उसी देश के राजा अपने उदर-पोषण के लिए तन्त्रियों के नाम पर हुण्डी करने लगे ॥२६६॥ मेरुवर्धन नामक मन्त्री ने पुराणाधिष्ठान में श्री मेरुवर्धनस्वामी विष्णु की स्थापना का ॥२६७॥ उसके पुत्रों ने प्रजा पर अत्याचार करके खूब धन एकत्रित किया था, वे अपने मनमें गुप्त रखे हुए राज्य-प्राप्ति के लोभ से भयंकर गुप्त षड्यन्त्र रच रहे थे ॥२६८॥ उनमें से सबसे ज्येष्ठ सहोदर शंकरवर्धन ने सुगन्धादित्य के साथ गुप्तरीति से मित्रता करके राजभवन से यथेष्ट धन लूटने का कार्यक्रम बड़े जोरों से चला रखा था ॥२६९॥ इस प्रकार अत्याचार को सहन करती हुई प्रजा के घाव पर नमक छिड़कने के समान जल-प्रलय से वर्षाकाल में उत्पन्न होनेवाले चावलों की फसल नष्ट हो गई ॥२७०॥

इसलिए लौकिक वर्ष ३९९२ में भयानक दुर्भिक्ष हुआ, उस समय एक खारी चावल का मूल्य एक सहस्र दीनार हो गया था, अतः लोग क्षुधा से पीड़ित होकर मृत्यु के मुख में जाने लगे ॥२७१॥ वितस्ता नदी का प्रवाह सड़े एवं फूले हुए, शव-समूहों से आच्छादित हो गया ॥२७२॥ और सम्पूर्ण देश यत्र-तत्र-सर्वत्र स्मशान के समान निबिड़ अस्थिमय होने से अत्यन्त भयंकर दीखने लगा ॥२७३॥ मन्त्री तथा तन्त्रियों ने अपने पास बचे हुए अन्न को अत्यधिक महँगे भाव से बेचकर खूब धन एकत्रित किया और धनोन्मत्त हो गये ॥२७४॥ तन्त्रियों के नाम से दी गई हुण्डियों को इस प्रकार दीन अवस्था में निमग्न प्रजा को देकर जो व्यक्ति अधिक से अधिक मूल्य वसूल कर सकता था, वही मन्त्रीपद पर कार्य कर सकता था ॥२७५॥ भयानक अरण्य में आकस्मिक झंझावात-सहित जलवृष्टि तथा ओलों के गिरने से त्रस्त होते हुए लोगों को देखकर जिस प्रकार उष्णतायुक्त भवन में बैठा हुआ कोई मनुष्य स्वयं को सुखी समझकर अपने भाग्य की प्रशंसा करता है ॥२७६॥ उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रजा को दुर्भिक्ष-दुःख से हाहाकार करते हुए देखकर भी राजभवन में बैठा हुआ वह कायर पङ्गु राजा अपने सुख की सराहना कर रहा था ॥२७७॥ तुञ्जीन, चन्द्रापीड आदि प्रजापालक राजाओं की प्रिय प्रजा को उस समय के राज-राक्षसों ने नष्ट कर डाला ॥२७८॥ उस समय के राजा लोग वर्षाकालिक धारासंपात से उत्पन्न हुए जल-बुद्बुदों के समान प्रायः चिरकाल तक नहीं ठहरते थे ॥२७९॥ कभी पार्थ अपने

पिता को राज्यच्युत कर तन्त्रियों की कृपा से स्वयं राज्याधिकारी बन जाता था और कभी वह पङ्गु तन्त्रियों की कृपा सम्पादन कर राजा बन बैठता था ॥२८०॥

सुगन्धादित्य रूपी बीजाश्व (अश्वाओं को गर्भाधान करनेवाला अश्व) उस पङ्गु राजा की पत्नी-रूपी अश्वाओं के मण्डल को सुरतक्रीड़ाविधि से प्रसन्न रखता था ॥२८१॥ वह बप्पदेवी नामक राज-पत्नी की कण्डूति (खजुवाहट) को निर्दय सुरतोत्सव द्वारा दूर करता था और वह बप्पदेवी भी उसकी अर्थवांछा को पूर्ण करती थी ॥२८२॥ भगिनी के सौभाग्य के प्रभाव से राज्य में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए मेरुवर्धन के पुत्रों ने जिस मृगावती को पङ्गु राजा की पत्नी बनाया था ॥२८३॥ वह भी स्वयं अत्यन्त उत्सुक होकर स्वयं प्रार्थनापूर्वक सुगन्धादित्य की कामित कामिनी बनकर उसके साथ यथेष्ट सम्भोग करती थी ॥२८४॥ जिस प्रकार दरिद्र पुरुष की दो पत्नियाँ एक ही थाल में भोजन करती हैं, उसी प्रकार वह सुगन्धादित्य पर्याय से दोनों की काम-वासना को तृप्त करता था ॥२८५॥ उन दोनों राज-पत्नियों ने अपने पुत्र को भविष्य में राज्याधिकार मिलने की अभिलाषा से उस सुगन्धादित्य को सुरत-सम्भोग का दान धन-दक्षिणा सहित अन्योन्य-स्पर्धापूर्वक देना शुरू किया था ॥२८६॥ उसके बाद ३९९७ लौकिक वर्ष में तन्त्रियों ने पार्थ को राज्य से हटाकर अपने आश्रित पार्थ के पिता पङ्गु का राज्याभिषेक कर दिया ॥२८७॥ ३९९८ लौकिक वर्ष के माघ मास में चक्रवर्मा नामक अपने शिशु-सुत को

राज्याभिषेक कर वह क्षीण पुण्य पङ्कु राजा यमलोक को चला गया ॥२८८॥ अपने पैतृक राज्य को पाने के इच्छुक राजा पार्थ के पक्षपाती तन्त्री एवं पदातियों के साथ एकाङ्गों का संग्राम होने लगा ॥२८९॥ वह शिशु राजा चक्रवर्मा कुछ समय तक रानी वप्पदेवी की देख-रेख में पाला गया था। पश्चात् क्षिप्रिका नामक अपनी मातामही के निरीक्षण में दश वर्ष तक रहा ॥२९०॥

शैशव में उसका दुष्ट स्वभाव प्रगट न होने से अण्डस्थित सर्पशिशु के लालन समान वप्पटदेवी तथा मातामही के द्वारा किया गया उसका पालन-पोषण सर्वथा निर्दोष था ॥२९१॥ पश्चात् ४००९ लौकिक वर्ष में तन्त्रियों ने चक्रवर्मा को राज्यच्युत कर उसके स्थान पर मृगावतीसे उत्पन्न हुए पङ्कु राजा के पुत्र शूरवर्मा का राज्याभिषेक किया ॥२९२॥ उस शूरवर्मा के मातुल तथा मन्त्रियों ने केवल स्वार्थ-साधन-तत्पर होकर उसके साथ स्नेह तथा सद्भाव को त्याग दिया था, इसलिए तन्त्रियों को उन्होंने धन नहीं दिया था इसी कारण से उस चक्रवर्मा को राज्यभ्रष्ट होना पड़ा ॥२९३॥ जैसे सकल-सद्गुण-सम्पन्न भी दरिद्र पुरुष वारांगनाओं को प्रिय नहीं लगता, वैसे अत्यन्त सच्चरित्र होकर भी वह शूरवर्मा विपुल धन अर्पण न करने से तन्त्रियों का कृपापात्र न हो सका ॥२९४॥ इसलिए उन्होंने द्रव्यलाभ के लोभ से शूरवर्मा को पदच्युत कर अधिक धन देनेवाले उदारस्वभाव पार्थ को फिर से राजसिंहासन पर बैठा दिया ॥२९५॥ तन्त्रियों को वशीभूत करने में परमचतुर साम्बवती नामक पार्थ राजा की परमप्रिय वेश्या ने साम्बेश्वर की

स्थापना की ॥२९६॥ चक्रवर्मा अनुकूल समय की प्रतीक्षा कर रहा था, उसने पार्थ से भी अधिक धन देने का वचन देकर तन्त्रियों की अनुकूलता से ४०११ लौकिक वर्ष के आषाढ़ मास में पुनः राज्याधिकार प्राप्त कर लिया ॥२९७॥ मेरुवर्धन के जिन धूर्त पुत्रों ने जिन पार्थ आदि राजाओं से उत्तम पद तथा जीविकाएँ प्राप्त की थीं, उन्हीं राजाओं को अनेक षड्यन्त्र रच कर बार-बार राज्यच्युत किया था ॥२९८॥ और जिन धूर्तों ने उसके पिता तथा भ्राता को राज्यभ्रष्ट किया था तथा परस्पर कन्या देकर भी जिन्होंने सम्बन्धियों से द्रोह किया था ॥२९९॥ इस प्रकार के प्रत्यक्ष दोषों को देखकर भी उस मूढ़मति राजा चक्रवर्मा ने उन मेरुवर्धन के पुत्रों को अच्छे अच्छे अधिकार समर्पित किये ॥३००॥

उसने शंकरवर्धन को अक्षपटलाधीश (गणनाधिकारी) का पद प्रदान किया तथा धूर्त एवं मिथ्यावादी शम्भुवर्धन को गृह-कृत्याधिकारी बनाया ॥३०१॥ और उसी लौकिक वर्ष के पौष मास में द्रव्याभाव से तन्त्रियों की हुण्डियों का मूल्य न देने से भयभीत होकर वहाँ से वह राजा भाग गया ॥३०२॥ उसके मडव राज्य में रहते हुए राज्यार्थी शंकरवर्धन ने अपने कनिष्ठ भ्राता शम्भुवर्धन को तन्त्रियों के पास दूत बनाकर भेजा ॥३०३॥ उस धूर्त शम्भुवर्धन ने भी वहाँ जाकर अधिक उत्कोच (रिश्वत) देने का वचन देकर तन्त्रियों को अपने अनुकूल बना लिया और अपने ज्येष्ठ भ्राता शंकरवर्धन को राज्यलाभ से वञ्चित रखकर स्वयमेव राज्याधिकारी बन बैठा ॥३०४॥ जलाशय में रहनेवाला तिमि (एक प्रकार का

मत्स्य) अपने वंशज तिमियों को खा जाया करता है और वनान्तवासी एवं मौनव्रतधारी बक उस तिमि को आकर भक्षण कर लेता है, तथा व्याध उस बक को मार डालता है। इस प्रकार इस संसार में वञ्चनाचातुरी के एक से एक बढ़कर पात्र मिल ही जाते हैं अर्थात् इस विश्व में एक वंचक को दूसरा महावंचक अवश्य ही मिल जाता है॥३०५॥ एक दिन राज्यभ्रष्ट वह चक्रवर्मा ढक्कनिवासी संग्राम नामक डामर के घर पर रात में गया ॥३०६॥ संग्राम डामर ने भी तेजोविशेष से उसे राजा समझ कर संभ्रम के साथ अपने आसन पर से उठकर उसे उसपर बैठाया ॥३०७॥ चक्रवर्मा ने अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त उस डामर से कहकर उससे सहायता की याचना की, तब उसने "विपत्ति के कारण इसका कोमल स्वभाव हो गया है" ऐसा मनमें सोचकर, नम्रतापूर्वक राजा से कहा॥३०८॥ महाराज, मेरे सम्मुख आपके तन्त्री तृण के समान निस्सार (तुच्छ) हैं. वे युद्ध में कुछ नहीं कर सकते, आपकी सेवा के लिए मुझसे कौनसा काम नहीं हो सकता ? ॥३०९॥ परन्तु राज्यैश्वर्य को पाते ही आप हमारे विरुद्ध होकर हमारा ही नाश करेंगे, क्योंकि राजा लोग कृतकृत्य होने के बाद उपकार को भूल जाया करते हैं ॥३१०॥

वृक्ष के ऊपर चढ़ते समय सीढ़ियों के समान सहायता करनेवाली डालियों को नीचे की ओर उतरता हुआ कुठारधारी पुरुष काटता चला आता है, वैसे ही अपनी उन्नति में सहायता देनेवाले पुरुष का राजा लोग उच्छेद कर डालते हैं॥३११॥ राजाओं के अभ्युदय में जिनके बुद्धि, धैर्य आदि सुगुण उपकारक होते हैं,

उनके उन्हीं गुणों पर अभ्युदय होने के बाद राजा लोग सशंक रहा करते हैं ॥३१२॥ और अभ्युदय के बाद मंगलेच्छुक मूढ़ राजा लोग आपत्ति के समय साथ देनेवाले सत्सेवक को "इसी के कारण हमारे ऊपर ऐसी आपत्ति आई थी" ऐसा सोचकर त्याग देते हैं ॥३१३॥ आपत्ति के समय उपकार करनेवाले सेवकों के उपकार को तो अभ्युदय के समय राजा लोग भूल जाते हैं, परन्तु उपकार के समय प्रमादवशात् उनसे जो भूल हो जाती है, उसे बराबर अपने मनमें याद रखते हैं ॥३१४॥ उत्कर्ष को प्राप्त हुए राजा लोग अपने रोगजन्य कष्ट, शत्रुभय, क्षुधा, तृषा आदि से उत्पन्न होनेवाले कष्टों के प्रत्यक्षद्रष्टा अपने अनुयायियों को देखकर लज्जित एवं भयभीत होते हैं इसलिए उनको नष्ट कर देते हैं ॥३१५॥ अच्छे अच्छे राजाओं को भी प्रत्यक्ष देखी हुई घटनाओं की अपेक्षा भी मिथ्यावादियों की बातों पर अधिक विश्वास होता है, क्योंकि मलिन मधुप मत्तमतंगज के कर्णों के निकट जैसे गुनगुनाते हैं वैसे ही मलिनमति मिथ्याभाषी राजा के कान भरते रहते हैं ॥३१६॥ रात्रि में स्वैरिणी के समान दिन में पिशुनों की प्रेरणा सान्निध्य के कारण राजा को सर्वदा सताया करती है, उससे प्रत्येक ईर्ष्यालु पुरुष अथवा विचारशील पुरुष को यथाशक्ति बचते रहना चाहिए ॥३१७॥ महाराज, रात्रि के समय की गुरु पत्नी जो कुछ एकान्त में उपदेश देती है उस विषय में हर तरह से सावधान रहना सर्वज्ञ पुरुष के बिना अन्य मनुष्यों के लिए शक्य नहीं॥३१८॥ कुशल मन्त्रियों द्वारा बड़े प्रयत्न से हृदय में निविष्ट किये गये उप-

देश को राजा लोग नीलगाय के समान रात में भूल जाया करते हैं ॥३१९॥ जिस प्रकार शल्यक पिपीलिकाओं (चींटियों) का ग्रास कर जाते हैं इसी प्रकार इन भूमिपालों ने अपनी स्निग्ध एवं दीर्घजिह्वा से किसका ग्रास नहीं किया है ? ॥३२०॥

बक अपने समीपस्थ मत्स्यों की हत्या कर सकता है दूरस्थों की नहीं, परन्तु द्रोही राजा समीपस्थ एवं दूरस्थ दोनों का वध कर डालता है ॥३२१॥ योग्य समय की प्रतीक्षा करनेवाला कण्टकयुक्त क्षितिपति, कण्टकों से युक्त निज शरीर को जाहक (सिड़ी) के समान सहन कर लेता है ॥३२२॥ सिंह नमते हुए, सर्प आलिंगन करते हुए, वेताल हँसते हँसते एवं राजा प्रशंसा करते हुए भी मार डालता है ॥३२३॥ इसलिए आप यदि अन्ततक हमारे से द्रोह न करने का वचन देते हों, तो मैं अपनी सेना समेत कल सबेरे ही आपके साथ चलने को तैयार हूँ ॥३२४॥ इस वचन को सुनकर वह कुछ लज्जित-सा हो गया और उसकी बुद्धि कुछ समय के लिए कुण्ठित-सी हो गई, फिर हँसकर बोला कि सर्वप्रथम मुझपर उपकार करनेवाले आपको मैं अपने प्राणों के समान रक्षणीय समझता हूँ ॥३२५॥ उसके बाद उन दोनों ने रक्त से भींगे हुए मेषचर्म पर खड़े होकर और हाथ में खड्ग रखकर कोशपानपूर्वक शपथ ग्रहण की ॥३२६॥ पश्चात् विशाल एवं भयंकर डामरसैन्य को साथ लेकर वह चक्रवर्मा तथा संग्राम डामर दोनों ही प्रभात में वहाँ से निकल कर नगर की ओर वेग से रवाना हुए ॥३२७॥ उनका सामना करने के लिए शंकरवर्धन के नेतृत्व में

तन्त्री एवं पदाति चैत्र शुक्ला ८ अष्टमी को नगर से निकले ॥३२८॥ उस समय योग्य अवसर न मिलने से चक्रवर्मा का शौर्य प्रच्छन्न था, उसे सब लोग साधारण मनुष्य समझते थे, परन्तु उसने उस समय अपना शौर्य अच्छी तरह से प्रगट किया ॥३२९॥ पद्मपुर के पास भयंकर युद्ध हुआ, उसमें चक्रवर्मा ने अपने अश्व को आगे बढ़ाकर सर्वप्रथम शंकरवर्धन का वध कर डाला ॥३३०॥

उस सेनापति के मारे जाने पर वह तन्त्रियों की सेना सागर के जल में तूफानी हवा से प्रेरित नौका के समान अस्त-व्यस्त हो गई ॥३३१॥ उनका पीछा करते हुए उस चक्रवर्मा ने अश्वों के वेग से उनकी गति का अपहरण किया अर्थात् अपने अश्वारोहियों के द्वारा उन्हें मार्ग में ही रोक लिया और तलवार से उनका शिर-श्छेद कर डाला ॥३३२॥ उस रणभूमि में संचार करते हुए (घूमते हुए) उस चक्रवर्मा के सिर पर बँधे हुए वीरपट्ट का अंचल उसकी गर्दन पर सिंहग्रीवा पर विराजमान सटा के समान सुशोभित हो रहा था ॥३३३॥ अधिक क्या कहा जावे? उस रणांगण में थोड़े से समय में तन्त्रिपक्ष के पाँच-छ-हजार सैनिक मरकर गिर गये ॥३३४॥ रण-संरम्भ से परिश्रान्त हुए उन तन्त्रियों को वीरवर चक्रवर्मा ने उस रणभूमि में गृध्रपक्षों की छाया में विश्राम लेने का अवसर दिया था ॥३३५॥ वीर शंकरवर्धन उस वीर शय्या पर अपने समान उच्चकुलीन एवं गुणवान् आश्रितों के साथ अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥३३६॥ उन तन्त्रिपदातियों के संहृत रूप में होनेवाले उदय एवं अस्त को देखकर किसे आनन्द

तथा आश्चर्य न होगा ॥३३७॥ कृष्ण सर्पों के साथ खेलकर उदर-पोषण के लिए इधर-उधर भीख माँगते हुए सँपेरों के समान उन दुष्कर्मी तन्त्रियों ने उत्तमकुलोत्पन्न, माननीय एवं अधृष्य महीपति-रूपी भुजङ्गों को वशीभूत करके, उनके पास किसी का भी प्रवेश न हो सके, इतने दुष्प्राप्य उन्हें कर दिया था और सर्वदा नवीन नवीन माँगे उनके सामने रखकर अपने उदर-पोषण के लिए उन्हें क्रीड़ापात्र बनाकर लज्जित-सा कर दिया था, इस प्रकार के उन तन्त्रियों के दुष्ट एवं अपमानजनक बर्ताव से चिढ़कर, भयङ्कर वैररूपी विषाग्नि से युक्त उस चक्रवर्मारूपी महाकृष्ण सर्प ने क्षणभर में उन्हें भस्मसात् कर डाला ॥३३८-३३९-३४०॥

दूसरे दिन शंकरवर्मा का वीर कनिष्ठ भ्राता शम्भुवर्धन पराजित होकर इधर-उधर अस्त-व्यस्त हुए तन्त्रिपदातियों का पुनः संगठन कर रहा था ॥३४१॥ इतने में ही प्रेमपूर्वक मिलते हुए सामन्त, मन्त्री तथा एकांग एवं सैनिकों से युक्त विजयोर्जित चक्रवर्मा ने नगर में प्रवेश किया, उस समय उसके क्षितिज-पर्यन्त फैले हुए सैनिक भिन्न-भिन्न मार्गों से गरजते हुए चल रहे थे और अश्वारोहियों से घिरा हुआ वह चक्रवर्मा एक उत्तम अश्व पर सवार था और वह अश्व स्वाभाविक चांचल्य से नाच रहा था। लगाम को पकड़े हुए बाँये हाथ से वह टेढ़े हुए शिरोवेष्टन को ऊपर की ओर उठाकर ठीक कर रहा था एवं उसके स्वेदयुक्त दक्षिण कर से मजबूत पकड़े हुए खड्ग से परावृत्त हुए किरणजाल से कर्णस्थित कुण्डल चमक रहे थे, उसने बहुमूल्य एवं दृढ़तर कवच शरीर

पर धारण किया था, वह कवच उसकी ग्रीवा को कष्ट दे रहा था, उसका मुख अत्यन्त तेजस्वी एवं उग्र दीख रहा था, उसकी भौंहें टेढ़ी और ललाट की ओर ऊँची चढ़ रहीं थीं, वह बाजार में लूटखसोट मचानेवाले लोगों को तिरस्कारपूर्वक डाँट रहा था और अपने मस्तक तथा नेत्रों के संकेत से भयत्रस्त नागरिकों को आश्वासन दे रहा था, उसके रणवाद्यों की भीषण ध्वनि से नागरिकों के आशीर्वाद तथा जयघोष दब जाते थे और लोगों के कान बधिर हो रहे थे ॥३४२-३४३-३४४-३४५-३४६-३४७॥ उस जयोर्जित चक्रवर्मा के सिंहासनारूढ़ होने के बाद भूभट ने कहीं से शम्भुवर्धन को पकड़कर पैरों में बेड़ियाँ डालकर राजा के सम्मुख उपस्थित किया ॥३४८॥ राजा के सम्मुख शस्त्रपात के भय से नेत्र बन्द कर खड़े हुए उस बेचारे शम्भुवर्धन को अपनी स्वामि भक्ति को प्रकट करते हुए उस पापिष्ठ चाण्डाल भूभट ने मार डाला ॥३४९॥ उस शंकरवर्धन के वध के बाद से ही धर्म-मर्यादा को त्यागनेवाले सेवकों द्वारा पितृतुल्य नरेन्द्रों की विश्वास-घात से हत्या करने का क्रम प्रारम्भ हो गया ॥३५०॥

राजा चक्रवर्मा उस निष्कण्टक राज्य को प्राप्तकर क्रमशः मदोन्मत्त होकर कुत्सित कर्म करने लगा ॥३५१॥ वह अपने पराक्रमों की पुनरुक्त प्रशंसा को सुनकर प्रसन्न होने लगा और विट, बन्दी एवं चाटुकारियों की बातों पर श्रद्धा करने लगा ॥३५२॥ उनकी स्तुति से मुग्ध होकर स्वयं को देवतुल्य समझने लगा और विवेक-विरुद्ध कार्य करने लगा ॥३५३॥ उसी अवसर में रंग नामक

डोम जाति का विदेशी गायक राजधानी में आया था, राजा ने उसे हीनजाति का होने से बाह्यमण्डप में गाने का अवसर दिया ॥३५४॥ उसके गायन को सुनने के लिए आये हुए सामन्त, मन्त्री आदि प्रतिष्ठित पुरुषों को द्वारपालों ने यथोचित स्थान पर बैठाकर राजा के सामने की बहुत-सी जगह खाली छोड़ दी थी ॥३५५॥ सभा-भवन में जगमगाते हुए अनेक दीपकों की प्रभा से तथा सभ्यों के अमल-धवल शिरोवेष्टनों से वह राजसभा फणा-मण्डल पर चमकते हुए मणियों से उज्ज्वल शेष-शय्या के समान दीख रही थी ॥३५६॥ सायंकालिक शीतल एवं मन्दसमीर राज-पत्नियों तथा अन्य ललनाओं के केशपाशस्थित पुष्पमालाओं के साथ आन्दोलनक्रीड़ा करने से घ्राणेन्द्रिय को तृप्त कर रहा था ॥३५७॥ संगीत-समारम्भ को देखने के लिए उत्कण्ठित अन्तःपुरस्थ मृगनयनियों के मधुर मद्य-सुवासित मुख-कमलों से गवाक्षावलियाँ सुशोभित हो रहीं थीं ॥३५८॥ हार, कंकण, केयूर, कटक आदि आभूषणों से अलंकृत परिवार से युक्त वह डोम गायक राजसभा में प्रविष्ट हुआ ॥३५९॥ उसके साथ में आई हुई हंसी तथा नागलता नामक दो ललितलोचना बालिकाओं ने अपने रूपलावण्य से उस सम्पूर्ण राजसभा को आश्चर्यचकित एवं चित्र-लिखित-सा बना दिया था ॥३६०॥

उन दोनों बालिकाओं के विलासवलित एवं चञ्चल कटाक्षक्षेपों से उस सभा में दूसरा पुष्पसमूह मानों विकसित हो रहा था ॥३६१॥ उनका गायन उस राजा के गुणवर्णन से पूर्ण था,

उस सभा में जय, जीव आदि शब्दों का निरन्तर कोलाहल हो रहा था ॥३६२॥ एक विशेष राग गाती हुई वे पंचम स्वर में तान ले रहीं थीं और वंशीरव उनका अच्छे ढंग से साथ दे रहा था ॥३६३॥ उन दोनों गायिकाओं के हाव-भाव, शिरश्चालन, भ्रूविलास तथा कटाक्षविक्षेप आदि विलासविशेष से एकसा संगीत सुशोभित हो रहा था ॥३६४॥ उस संगीत से त्यक्तरोमन्थ कुरंग के समान त्यक्त-ताम्बूलचर्वण वह राजा तल्लीन हो रहा था ॥३६५॥ राजा की इस अवस्था को देख उन बालिकाओं ने विशेष-विलास-स्मित-विभ्रमयुक्त मधुर एवं मोहक संगीत प्रारम्भ किया ॥३६६॥ अन्योन्य अत्यन्त अनुरक्त-हृदय उस राजा और उन दोनों बालिकाओं के स्वसंवेद्य दृष्टिव्यापारों से पारस्परिक संलाप-सा प्रारम्भ हो गया ॥३६७॥ उन बालाओं के द्वारा राजा के चित्त को हरण किया जानकर एक राजप्रिय चाटुकारी विट प्रेमवर्धक प्रसंगानुकूल वचन कहने लगा ॥३६८॥ महाराज, इन दो मनोरम बालिकाओं को प्राप्तकर यह संगीत कर्पूरपारी (कपूर की प्याली) में रखे हुए मैरेय (मद्य) के समान हृदयहारक हो गया है ॥३६९॥ इन गायिकाओं की अमल-धवल दन्तपंक्तियों में प्रतिबिम्बित चन्द्र चुम्बन करता-सा दीख रहा है ॥३७०॥

करतल पर कपोल रखकर गाती हुई ये बालिकाएँ अपने चञ्चल कटाक्षों से आकाशस्थित वैमानिक देवताओं को मोहित करती-सी दीख रहीं हैं ॥३७१॥ हम लोग उसी के विषय में चर्चा कर रहे हैं, ऐसा सोचकर ही देखिये इन दोनों में से एक बालिका

कैसा असूया एवं स्मित सहित कटाक्ष फेंक रही है ॥३७२॥ और नम्रमुख होकर गाती हुई चञ्चल-कर्णकुण्डलवाली दूसरी बालिका विपरीत रति के उद्रेक का आरम्भ करती-सी सुशोभित हो रही है ॥३७३॥ उसी पुरुष का तारुण्य सफल है, जिसके विरह में ऐसी वामलोचनाएँ औत्सुक्ययुक्त होकर निर्जन स्थान में इस प्रकार के सुमधुर स्वरों से गायन करती हैं ॥३७४॥ उपपत्ति (युक्ति) से रहित केवल शुष्कशास्त्रों के अनुष्ठान से मोहित मनुष्यों द्वारा एक साथ चलनेवाली इन बातों में से केवल एक को क्यों त्यागा जाता है ? ॥३७५॥ रूप को स्पर्श करते हुए नेत्र को एवं मधुर ध्वनि को ग्रहण करते हुए श्रोत्र को यदि पाप नहीं लगता तो इस कमनीय अङ्ग का स्पर्श करते हुए किसी के अङ्ग को भी क्यों पाप लगना चाहिए ॥३७६॥ इस प्रकार के उत्तेजक विट के वचनों से उस चपलस्वभाव राजा के हृदय का अभिलाषाङ्कुर सिक्त होकर शतशः शाखाओं से युक्त हो गया ॥३७७॥ उदय को प्राप्त हुए मेघ एवं विटों के द्वारा सिंह तथा भूपालसिंहों को विपथगामी बनाकर उनके हृदय में वर्णसंकर की रुचि उत्पन्न कर दी जाती है, सिंह मेघ की गर्जना को सुनकर जोश में भर जाता है, उसके नेत्र इन्द्रधनुष के अनेक रङ्गों के प्रकाश को देखकर प्रदीप्त हो जाते हैं और मेघ की गर्जना को सुनकर उसे किसी अन्य सिंह की ध्वनि समझकर शीघ्रता से दौड़ते हुए गिरकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कुल तथा गोत्र के विचार को त्यागकर मधुर भाषण से विट लोग राजा के मन को मोहित कर उसे विपथगामी बना-

कर नष्ट कर देते हैं ॥३७८॥ यदि, उपपत्तिहीन वस्तु को क्षणमात्र में उपपत्तियुक्त सिद्ध करने से मूढ़जनों को मोहग्रस्त करने में समर्थ, कुतर्कपथ के पथिक, विट लोग इस संसार में न होते तो अवश्य ही नरक में मृग चरने लग जाते अर्थात् नरकशून्य हो जाते ॥३७९॥ कर्ण के समान उदार होने पर भी असत्पात्र को दान देनेवाला वह राजा उस डोम को हार, केयूर तथा कुण्डल आदि अनेक आभूषण देकर अन्तःपुर में चला गया ॥३८०॥

पश्चात् उस रंग नामक डोम को इस बात का निश्चय हो गया कि "राजा चक्रवर्मा इन दो बालिकाओं में से किसी एक पर आसक्त हो गया है" तब वह आनन्द से नृत्य करके कुछ पद्य कहने लगा, और राजा को प्रसन्न करने की इच्छा से उस विषय पर कतिपय चाटुकारी मूढ़ कवियों ने प्रशंसात्मक कविताओं की भी रचना की ऐसे मूर्ख धिक्कार के पात्र हैं ॥३८१॥ वे श्याविषयक अनुराग तथा हरिद्राका रंग ये दोनों ही इन्द्रधनुष के रंग के समान क्षणिक होते हैं, इसी प्रकार हृदयहारि उपांग गोत की शोभा भी अस्थिर होती है ॥३८२॥ उस राजा का डोमकन्या-विषयक चक्षु-राग (नयनप्रीति) दर्शन के सतत अभ्यास से इतना अधिक बढ़ गया कि वह उनको देखे बिना व्याकुल हो जाता था ॥३८३॥ सोते हुए राजा के पास बैठकर गायन करती हुई उन बालिकाओं ने राजा को अपने चुम्बन का अभ्यास कराया और क्रमशः रति सुख का भी अनुभवी बना दिया ॥३८४॥ वह उनके वैयात्य से (धार्ष्ट्य) से सुशोभित नवीन समागम से हतवीर्य होने के कारण

लज्जा को धारण करने में असमर्थ हो गया अर्थात् उसे इस बात की लज्जा न रही ॥३८५॥ रति के अन्त में सुलभता से उत्पन्न होने वाले स्वेदबिन्दुओं से उसका शरीर भाग्याष्मा से शून्य होकर जड़ हो गया ॥३८६॥ उस प्रेमान्ध राजा ने हंसी नामक डोम बालिका को महारानी बनाया, इसलिए राजपत्नियों के मध्य में उस पर चामर डुलने लगे ॥३८७॥ जिन लोगों ने उसका झूठा खाया, वे चक्रवर्मा तथा उसके बाद के राजाओं के सभासद बन गये ॥३८८॥ डोमों को चापलूसी करनेवाले मन्त्रियों का अभ्युदय होने लगा और उन्हें अक्षपटलादिकों में अधिकार मिलने लगे ॥३८९॥ कतिपय मूर्ख श्वपाक (डोम) मन्त्री नहीं बने, परन्तु उनमें जो बुद्धिमान् थे, वे मन्त्री के समान राजकार्य करने लगे थे ॥३९०॥

मन्त्री चोर, महारानी श्वपाकी और श्वपच राजवल्लभ, ऐसे राजा चक्रवर्मा को अब कौनसा अलौकिक कार्य करना बाकी रहा था ॥३९१॥ वह श्वपाकी राजपत्नी ऋतुस्नान के बाद आर्तव-चिह्नित वस्त्रों को पारितोषिक रूप में देती थी और उन वस्त्रों को धारण कर बड़े अभिमान के साथ बहुत से मन्त्री राजसभा में आते थे ॥३९२॥ जिन अल्पसंख्यक राजकर्मचारियों ने राजा के रोष की भी पर्वाह न कर उस श्वपाकी का उच्छिष्ट नहीं खाया था, उन्हें यज्ञ में सोमपान करनेवाले ऋत्विजों से किसी प्रकार भी न्यून नहीं समझना चाहिए ॥३९३॥ उस समय में काश्मीर देश में प्रखरप्रभाव-शाली देवता लोग अवश्य ही न रहते थे अन्यथा

उनके मन्दिर में श्वपाकी का प्रवेश कैसे होता ? ॥३९४॥ तिल द्वादशी के दिन रणस्वामी के दर्शन को गई हुई हंसी रानी के साथ सामन्तों से भी अधिक स्वाभिमानी डामर लोग ही न गये॥३९५॥ राजकुटुम्बी होने से दप्त हुए डोमों के मुख से निकली हुई आज्ञा राजाज्ञा के समान मानी जाती थी ॥३९६॥ जब राजा ने रंग डोम को अग्रहार के समान हेलू नामक ग्राम इनाम दिया था, उस वक्त पट्टोपाध्याय दानपट्ट नहीं लिख रहा था ॥३९७॥ तब रंग डोम अक्षपल में जाकर क्रोध के आवेश से अपनी ग्राम्यभाषा में बोला कि—हे दासीपुत्र, "राजा ने रंग को हेलू ग्राम दिया" ऐसा क्यों नहीं लिखता ? ॥३९८॥ पश्चात् रंग की वक्र भ्रुकुटी से डरकर उसने वैसे ही लिख दिया क्योंकि राजा के दुश्चरित्र होने पर कौन सा नीतिविरुद्ध कार्य न होगा ॥३९९॥ उस पापिष्ट राजा ने विटों से चाण्डालीगमन का प्रायश्चित्त पूछा था, तब उन्होंने हास्यावह प्रायश्चित उससे करवाये ॥४००॥

हिम से ही हिम शान्त होता है, वैसे ही एक पाप से दूसरा पाप नष्ट होता है, इस प्रकार विटों के अनुशासन से उस राजाने अत्यन्त पारमरता का आचरण किया था ॥४०१॥ उसने अस्पृश्या (अगम्या) के स्पर्श से उत्पन्न हुए पाप के क्षालन के लिए पवित्रा के स्पर्शन को उपयुक्त समझकर एक मास पर्यन्त उपवास करने वाले ब्राह्मण की पवित्र पत्नी के साथ बलात्कार किया ॥४०२॥ ऐसे पापात्मा राजा से भी अग्रहार लेने वाले तथा उसके यहाँ भोजन करने वाले उससे भी बढ़चढ़ कर पापिष्ठ ब्राह्मण उस समय मौजूद

थे ॥४०३॥ उस पापी राजाने पाशुपत तपस्वियों के रहने के लिए एक मठ बनवाना शुरू किया था, वह उसके मरने के बाद उसकी पत्नी के द्वारा पूर्ण किया गया ॥४०४॥ उस श्वपाकी वल्लभ राजा ने डामरों के द्वारा किये गये पूर्व-उपकारों को भूल कर कतिपय निरपराध डामरों को कपट से मरवा डाला ॥४०५॥ इस घटना से उसके विश्वासभाजन कतिपय डामर-तस्करों ने कपट से उसकी हत्या करने का इरादा कर लिया और वे इस कार्य के लिए योग्य अवसर की प्रतीक्षा करने लगे ॥४०६॥ एकबार श्वपाकी के शयनालय के पास के शौचालय में शौच के लिये गए हुए उस निःशस्त्र राजा को रात में उन डामरों ने देख लिया ॥४०७॥ उसके बाद इस अवसर को पाते ही उन डामरों ने चारों ओर से उस पर तीक्ष्ण शस्त्रों का प्रहार करना प्रारंभ किया ॥४०८॥ तालाब के तीर पर सोया हुआ मनुष्य तालाब में गिर कर जैसे चिल्लाता है, इसी प्रकार निद्रा से अलसनेत्र वह राजा आकस्मिक शस्त्र-संपात से प्रबुद्ध होकर जोर से चिल्लाने लगा ॥४०९॥ निःशस्त्र वह राजा शस्त्र को खोज रहा था उसके शरीर से रुधिर के झरने बह रहे थे और उसके पीछे वे घातक लगे हुए थे, ऐसी स्थिति में वह दौड़ कर शयन-मंदिर में प्रविष्ट हुआ ॥४१०॥

उसे वहाँ शस्त्र नहीं मिला, वह श्वपाकी उसको आलिंगन करके उच्चस्वर से रोने लगी उसके उन्नत कुचों से लिपटे हुए उस राजा को उन डामरों ने वहाँ घुस कर मार डाला ॥४११॥ मरते हुए उस राजा की पत्नियों के प्रोत्साहन से उन डामरों ने उसके घुटनों

को पत्थरों से दबोच डाला ॥४१२॥ इस प्रकार लौकिक वर्ष ४०१३ के ज्येष्ठ शुद्ध अष्टमी के दिन रात में श्वपाकी के द्वारा उपभुक्त वह पापी राजा शौचालय में तस्करों के द्वारा कुत्ते की मौत मारा गया ॥४१३॥ उसके बाद शर्वट आदि मूर्ख मन्त्रियों ने पार्थ के दुष्टात्मा पुत्र उन्मत्त अवन्तिवर्मा का राज्याभिषेक किया ॥४१४॥ उस श्वपाकी कामुक राजा के चोरों द्वारा रात में मारे जाने के बाद प्रजा के आत्यन्तिक दुर्भाग्य से उस पापी से भी बढ़कर महा पापी राजा शासक हुआ ॥४१५॥ उस दुष्ट की पापमय कथा के स्पर्श से भयभीत होकर मेरी काव्य-सरस्वती स्थगित हो रही है, परन्तु मैं उसे त्रस्त अश्वा (घोड़ी) के समान यथाकथंचित् आश्वासन देकर आगे चला रहा हूँ ॥४१६॥ जिस प्रकार जल से उत्पन्न हुआ बड़वानल जल को ही खाता है, इसी प्रकार उस दुष्ट नृपराक्षस ने भी अपने पितृकुल को भक्ष्य बनाया था ॥४१७॥ चुटकियाँ बजाकर तथा नासिका से, कंधों से, काँख (बगल) से एवं सिर पर आघात करके भिन्न-भिन्न प्रकार से आवाज निकालने वाले मंत्री उसकी सभा में थे ॥४१८॥ वे निर्लज्ज मन्त्री चारण बन कर उस राजा का मनोरंजन करने लगे जो कि कालान्तर में राजा बननेवाले थे ॥४१९॥ राजसभा के मण्डप में नग्न होकर नाचनेवाला पर्वगुप्त राजा को उन सब में अधिक प्रिय लगता था ॥४२०॥

उस धूर्त पर्वगुप्त ने तन्त्रिपदातियों के विप्लव के बाद के राजाओं को कीटतुल्य निःसत्त्व देखकर स्वयं राज्यप्राप्ति का उद्यम प्रारम्भ किया ॥४२१॥ उस समय राज्य की इच्छा

को अपने मन में गुप्त रखकर शर्वट आदि पाँच मुख्य मन्त्रियों के साथ कोश-पानपूर्वक पर्वगुप्त ने मित्रता की ॥४२२॥ भूभट, शर्वट, छोज, कुगुद तथा अमृताकर नामक पाँचों मन्त्रियों ने पर्वगुप्त के साथ कोश-पानपूर्वक शपथ ग्रहण की थी ॥४२३॥ संग्राम डामर के यहाँ गवाक्ष सरोवर में श्री के प्रत्यक्ष दर्शन करने वाला प्रसिद्ध वीर रक्क नामक ब्राह्मण था ॥४२४॥ एकाकी एवं पदाति होते हुए, भी युद्ध में उसने राजा के समक्ष उत्कृष्ट शौर्य दिखाया था। वह शरीर से हृष्ट पुष्ट था, उसे राजा ने प्रधान मन्त्री के पद पर नियुक्त किया था ॥४२५॥ उस रक्कने गवाक्षसरोवर में दर्शन करते हुए जिस प्रकार श्री का स्वरूप देखा था उसी के अनुसार मूर्ति बनवाकर रक्कादेवी का मंदिर बनवाया ॥४२६॥ धूर्त पर्वगुप्त ने निष्कंटक राज्य को प्राप्त करनेकी अभिलाषा से उस राजा को प्रेरित कर राजकुल के अनेक मनुष्यों की हत्या करवा डाली ॥४२७॥ राजा ने अपने पिता पार्थ का सर्वस्व छीन लिया, तब वह परिवारसहित जयेन्द्र-विहार में जाकर रहने लगा, वहाँ उसे श्रमण लोग अन्न देते थे ॥४२८॥ उस दुष्ट राजा ने अपने कनिष्ठ भ्राता शंकरवर्मा आदि शिशुओंको कारागार में रखकर अनशन से उन्हें मारडाला ॥४२९॥ वह अपने पिता पार्थ की हत्या करने के लिए उत्सुक था और इस कार्य में जो मन्त्री सहमत थे उन्हें वह पट्टबन्ध बँधवाता था और इस कार्य के विरोधियों के पैरों में बेड़ियाँ पहनाईं जातीं थीं ॥४३०॥

पश्चात् एक बार उसकी आज्ञा से मन्त्री, सामन्त, तन्त्री,

कायस्थ आदि ने रात में जाकर पार्थ के निवासस्थान जयेन्द्र-विहार को चारों ओर से घेर लिया ॥४३१॥ उस समय मलिन, क्षीण एवं जीर्णवस्त्रधारिणी पार्थ की पत्नी को द्वार पर आकर रोकती हुई देखकर उन दुष्टों ने उसे ढकेल दिया। उसके रोते हुए बालक डर से, अपनी माता को चिपटते हुए गाय के बछड़ों के समान, उसके शरीर से लिपट रहे थे ॥४३२॥ कुमुद आदि राज-प्रिय पुरुषों ने उन सबको हटाकर अन्दर प्रवेश किया और वहाँ-से गोशाला के अन्दर से मरे ढोर के समान उस पार्थ को केश पकड़कर घसीटते हुए वे बाहर ले आये। कंकड़ों की रगड़ से उसका शरीर छिल गया था, भूख से वह अत्यन्त दुर्बल हो गया था, ऐसी कष्टमय अवस्था में पड़े हुए नग्न एवं चिल्लाते हुए उस राजपिता का उन्होंने चाण्डालों के समान कठोरता से वध कर डाला ॥४३३-४३४॥ पिता को मारा गया सुनकर राजा को कौतुक हुआ और दूसरे दिन प्रातःकाल में मन्त्रिगण सहित वहाँ जाकर प्रसन्नचित्त से उसे देखा ॥४३५॥ उस राजा के सम्मुख राजपुरुष "मैंने इस अङ्ग पर प्रहार किया था" इस प्रकार अपने पराक्रम की प्रशंसा करने लगे ॥४३६॥ उस समय राजा के द्वारा तिरस्कृत होकर फिर से अनुगृहीत हुए पर्वगुप्त ने राजा को प्रसन्न करने के लिए देवदत्त नामक अपने पुत्र को प्रेरित किया ॥४३७॥ तब उसने पार्थ के मृत शरीर में छुरा भोंक दिया, उस कार्य से प्रसन्न होकर वह राजा बहुत देरतक हँसता रहा ॥४३८॥ चक्रवर्मा के मरण के बाद डामरों ने उस देश को लूट लिया था और उस राजा ने

पापिष्ठ कायस्थों को अधिकार देकर उससे भी अधिक उस देश को दुःखी बना दिया ॥४३९॥ दुष्ट सचिवों की प्रेरणा से शस्त्र विद्या का अभ्यास करते हुए उस राजा ने नग्न स्त्रियों के स्तनों के मध्य भाग को छुरिका से चीर डाला ॥५४०॥

वह गर्भों को देखने के लिये गर्भिणी स्त्रियों के गर्भाशय को चीर डाला करता था और काम करनेवाले मजदूरों की सहन-शक्ति की परीक्षा करने की इच्छा से उनके अवयव कटवा देता था ॥४४१॥ दानप्राप्ति के उत्कट लोभ से अथवा उसके द्वारा दिये जानेवाले भयंकर मृत्युदण्ड के भय से उस अत्याचारी अधम राजा से भी ब्राह्मणों ने अग्रहार ग्रहण किये थे ॥४४२॥ उसके बाद क्रूरपापों के परिणाम से उस राजा को क्षय रोग ने घर दबाया और उससे उसे अत्यन्त कष्ट होने लगा ॥४४३॥ इस प्रकार के कष्ट से पीड़ित उसे देखकर केवल उसकी प्रजा को ही सन्तोष न हुआ किन्तु उसकी चौदह रानियों को भी सन्तोष हुआ ॥४४४॥ उसके बाद अन्तःपुरस्थ दासियों द्वारा कहीं से लाये गये तथा यह राजा का पुत्र है इस प्रकार मिथ्या प्रसिद्ध किये गये शूरवर्मा नामक बालक को राज्याधिकारी बनाकर और उसे सामन्त, सचिव, एकांग एवं तन्त्रियों के सुपुर्दकर, मडव राज्य में रहकर डामरों का दमन करते हुए कम्पनाधिपति कमलवर्धन के द्वेष से डरता हुआ, पितृघाती तथा आसन्न नरकगामी वह पार्थिवाधम प्रजा के पुण्य से लौकिक वर्ष ४०१५ के वैशाख मास में मृत्यु के मुख में चला गया ॥४४५-४४६-४४७-४४८॥ पितृघाती

का पुत्र वह बालक राजा आषाढ़ शुक्ला ७ सप्तमी के दिन जयस्वामी नामक सूर्य के मन्दिर में दर्शनार्थ राजभवन से निकला ॥४४९॥ उस समय उस बालक राजा की कृपाणरूपी वेणी से ललित तथा छत्र एवं चामर रूपी हास्य से युक्त राज्यश्री अत्यन्त सुशोभित हो रही थी ॥४५०॥

इतने में ही दौड़कर आये हुए गुप्तचरों की सूचना से अपने सामन्तों के साथ कमलवर्धन शीघ्रता से नगर के पास आ पहुँचा ॥४५१॥ श्रान्त होने पर भी नगर में प्रवेश करते हुए उसको एकांग, तन्त्री, सामन्त तथा स्यालहारक (सिलेदार) आदि लोगों ने रोका ॥४५२॥ यद्यपि मार्ग में स्थान-स्थान पर विरोधि डामरों के साथ युद्ध करने से वह थक गया था, तथापि उस पराक्रमोर्जित वीर ने शत्रुसेना को जीत लिया ॥४५३॥ अपने अल्पसंख्यक अश्वारोही सैनिकों की सहायता से शत्रु के एक सहस्र अश्वसादियों को परास्तकर वह क्षण भर में बेरोक-टोक राजधानी में पहुँच गया ॥४५४॥ इस वृत्तान्त को सुनते ही बाल राजा के सैनिक उसे एकाकी छोड़कर भाग गये। तब उसकी माता उसे लेकर किसी अज्ञात स्थान पर चली गयी ॥४५५॥ मूर्ख मन्त्रियों की सलाह से अथवा जन्मान्तरीय-कर्म-जनक मोह से मूढ़ होकर वह कमलवर्धन राज्यसिंहासनारूढ़ न हुआ ॥४५६॥ और उस दिन तो वह अपने घर चला गया तथा दूसरे दिन नीति-ज्ञानशून्य उस कमलवर्धन ने "प्रौढ़ तथा सामर्थ्यवान् समझकर मुझे ही राजा निश्चित करेंगे" ऐसा सोचकर सब ब्राह्मणों को

एकत्रित कर "अपने देश में उत्पन्न हुए किसी प्रौढ़ तथा सामर्थ्यवान् पुरुष को आप लोग यहाँ का शासक निश्चित कीजिए" इस प्रकार उसने कहा ॥४५७-४५८॥ जो मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ स्त्री को एकांत में मदिरामत्तावस्था में पाकर भी अप्रगल्भता के कारण उस समय उसका उपभोग न कर दूसरे दिन उसके पास दूती को भेजकर समागमाभिलाषा प्रगट करता है तथा जो मनुष्य जबरदस्ती से अपने पास आई हुई विभूति (राज्यैश्वर्य) को उस क्षण त्यागकर पश्चात् दूसरे दिन नीति से प्राप्त करना चाहता है, उन दोनों से अधिक कौन शोचनीय हो सकता है ? ॥४५९-४६०॥

इस प्रकार उत्पलकुल के उच्छेद होने पर मोटे-मोटे कम्बलों को ओढ़े हुए शृंगहीन बलीवर्दों के समान ब्राह्मण गोकुल नामक विशाल मन्दिर में एकत्रित हुए ॥४६१॥ वहाँ पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को राजा बनाने का विचार रखते हुए धूमदग्धकूर्च (धुएँ से मलिन स्मश्रुवाले) उन ब्राह्मणों का चिरकाल तक राजनिर्धारणसम्बन्धी विचार चलता रहा ॥४६२॥ उनके पारस्परिक मतभेद के कारण किसी के भी मस्तक पर राज्याभिषेक का जल नहीं गिर सका, किन्तु उनके भाषण के समय मुख से उड़ते हुए थूंक के कणों का उनकी दाढ़ियों पर अवश्य अभिषेक हुआ ॥४६३॥ राज्यपद के योग्य व्यक्तिविशेष की खोज करते हुए उन ब्राह्मणों को अपना स्मरण कराने के लिए वह सरल स्वभाव कमलवर्धन वहाँ गया था, तब उन्होंने उसे ईंटों से मारकर वहाँ से भगा दिया ॥४६४॥ इस प्रकार पाँच-छः दिन तक उनका वादविवाद चलता रहा इतने

में वहाँ पर भिन्न-भिन्न स्थानों से चामर, छत्र, पताका आदि लिये हुए काहल, कांस्यताल आदि वाद्यों की ध्वनि से कोलाहल मचाते हुए और वाहनों पर अपने-अपने देवताओं के सिंहासनों को रखे हुए ब्राह्मणपरिषदों के अनेक समूह वहाँ आकर एकत्रित हो गये ॥४६५-४६६॥ उस समय वह बेचारा कमलवर्धन दूसरे के घर में रक्षिता बनकर बैठी हुई अपनी पत्नी के समान पराधीन राजलक्ष्मी को देखकर अत्यन्त शोकमग्न हो रहा था ॥४६७॥ उस पितृघाती उन्मत्त अवन्तिवर्मा की पत्नी ने भी अपने पुत्र को राज्य मिलने की इच्छा से प्रायोपवेशन किये हुए से उन ब्राह्मणों के निकट गुप्तरूप से अपने राजपुरुषों को भेजा था ॥४६८॥ पिशाचपुर ग्राम में वीरदेव नामक सद्गृहस्थ का कामदेव नामक पुत्र था ॥४६९॥ वह साक्षर तथा स्नान-संध्या आदि सदाचारसम्पन्न होने के कारण मेरुवर्धन नामक राजमन्त्री के यहाँ बालकों का अध्यापक हो गया था ॥४७०॥ और क्रमशः वह गंजाधिकारी हो गया था, और मेरुवर्धन का पुत्र प्रभाकरदेव राजा शंकरवर्मा की कृपा से राज्य का गंजाधिकारी बन गया था ॥४७१॥ और गुप्तरूप से राजपत्नी सुगन्धा का जार भी बन चुका था। कामदेव का पुत्र यशस्कर लक्ष्मी एवं सरस्वती के पारस्परिक द्वेष से अथवा देशविप्लव से विद्वान होकर भी अत्यन्त निर्धन था, इसलिये वह अपने मित्र फल्गुणक के साथ देशान्तर को चला गया था ॥४७२-४७३॥

उत्तम (शुभ) स्वप्नों को देखकर तथा पीठदेवियों के शुभाशीर्वादों को प्राप्तकर प्रसन्न-चित्त वह यशस्कर उस समय अपनी

जन्मभूमि को लौटा था ॥४७४॥ उन्मत्त अवन्तिवर्मा की वधू के दूतों ने उसे चतुरवक्ता समझकर ब्राह्मणों को समझाने के लिए जाते हुए उसे भी अपने साथ में ले लिया ॥४७५॥ भाग्यवशात् उसे देखते ही ब्राह्मणों ने एकमत होकर "यही राजा होना चाहिए" इस प्रकार उच्चस्वर से कहा ॥४७६॥ पृथ्वी को धारण करने का प्रौढ़सामर्थ्य रखनेवाले उस यशस्कर को पर्वत पर जलवृष्टि करते हुए मेघों के समान उन ब्राह्मणों ने राज्याभिषेक कर दिया ॥४७७॥ पारस्परिक महासंघर्ष से उत्पन्न हुए दावानल से वेणुवन दग्ध हो जाता है और प्रबल पजन्यवृष्टि से उसकी जड़ भी उखड़कर बह जाती है। झंझावात के वेग से कहीं से भी उखड़कर आये हुए किसी एक वृक्ष की जड़ को पर्वतीय कन्दरा में या कुहर में फिर से दृढ़मूल बनाने के लिए विधाता क्या-क्या प्रयत्न नहा करता है ? ॥४७८॥ दुष्ट सेवकों की प्रेरणा से पार्थपुत्र अपने वंश का यदि नाश न करता और उसके बाद कमलवर्धन उसके पुत्र को राज्य से च्युत न करता, तो साधारण वंश में उत्पन्न हुए, दरिद्रावस्था में पृथ्वी पर भटकते हुए यशस्करदेव का कहाँ से राज्यप्राप्ति होती ? ॥४७९–४८०॥

कुछ क्षण लोगों ने जिसे साधारण मनुष्यों के समान अकेला और पैदल चलते हुए देखा था, साम्राज्यपद के प्राप्त होने पर सेना सहित बड़े समारोह के साथ राजमार्ग से जाते हुए उसी यशस्करदेव को देखने के लिए एकत्रित हुई नागरिक ललनाओं के लोचन कमलों से सम्पूर्ण राजमार्ग पुष्पित हो गया था ॥४८१॥ राजमार्ग

से राजभवन को जाते हुए तथा एकत्रित हुई नागरिक हरिण-लोचनाओं के द्वारा उच्चारण किये गये आशीर्वाद तथा जय-शब्द को सुनकर अहंकार को त्यागकर प्रेमस्मित-सहित नेत्रेङ्गित द्वारा "मैंने उत्तम रीति से प्रजा के संरक्षण का निश्चय कर लिया है" इस प्रकार हार्दिक भावों को प्रगट करते हुए राजा के आशय को चतुर पुरुषों ने अच्छी तरह से जान लिया था ॥४८२॥ प्रतिबिम्बित सूर्यरूपी दीपक से सुशोभित रजत-पात्र-सदृश श्वेतच्छत्र से आरार्तिक की शोभा को धारण करता हुआ वह भूलोक का चन्द्र नागरिक नारियों के आशीर्वचन एवं जयशब्द से मुखरित राज-भवन में प्रविष्ट हुआ ॥४८३॥

(इस तरङ्ग में ८३ वर्ष ४ मास में आठ कल्यपाल (कलवार) रास्ते से लाये गये संकटवर्मा तथा सुगन्धादेवी और एक मन्त्री शम्भुवर्धन ने राज्य किया)

इतिश्री काश्मीरिकमहामात्य-चम्पकप्रभुपुत्र-
महाकवि-श्रीकल्हण-कृतराजतरङ्गिण्यां
पञ्चमतरङ्गः समाप्तः ।

षष्ठ तरङ्ग

"देवि, यह पर्ण-भक्षण तथा वायु-भक्षण का माहात्म्य नहीं है, क्योंकि देखो, यह वृषभ नन्दी सर्वदा पर्ण-भक्षण करता है, और यह सर्प सर्वदा वायु-भक्षण करता है, फिर भी ये दोनों शंकर के शरीर से बाहर ही रहते हैं, और प्रेम के प्रभाव से आपने चराचर गुरु श्रीशंकर के शरीर का अर्ध भाग प्राप्त किया है" इस प्रकार देवांगनाओं के मुख से कर्णमधुर आत्म-प्रशंसात्मक बचनों को श्रवण करती हुई अपर्णा (पार्वती) हमारी रक्षा करे ॥१॥ कन्या को उल्लंघन करते हुए राजा यशस्कर ने अलंघनीय बनने की इच्छा से अपने पीछे-पीछे आते हुए ब्राह्मणों को रोकने के लिये द्वारपालों को आज्ञा दी ॥२॥ वेत्रधारी द्वारपालों के द्वारा रोके गये एवं त्रस्त होते हुए उन ब्राह्मणों को राजा ने हाथ जोड़ कर कहा "आपने मुझे राज्य दिया है और आप पूज्य हैं, इसलिए आप मेरे लिए देवताओं के समान हैं ॥३॥ परन्तु आप मुझे राज्य देने के अभिमान से मदोन्मत्त होकर बर्ताव करेंगे, इसलिए बिना किसी कार्य के आप लोगों को मेरे पास न आना चाहिए ॥४॥ इस बचन को सुनकर सब लोगों ने उस राजा को अधृष्य मान लिया और पूर्वकालिक सहवास के कारण उत्पन्न हुए लाघव को वे भूल गये ॥५॥ जिस प्रकार सुकवि विलुप्त प्राचीन कवि संप्रदाय का प्रतिभा के बल से पुनरुज्जीवन करता है, उसी प्रकार उस राजा ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के प्रभाव से उच्छिन्न प्राचीन

राज्य व्यवस्थाओं को पुनरुज्जीवित किया अर्थात् पुराने जमाने के राजाओं के समय जो राज्य-व्यवस्था संबन्धी अच्छी अच्छी बातें बंद पड़ गई थीं, उनको अपने शासन काल में फिर से प्रारंभ किया ॥६॥ उसके शासन काल में पृथ्वी पर चोरों का इतना अभाव हो गया था कि रात में भी बाजारों में दूकानें खुली पड़ी रहती थीं, और मार्ग में भी लुटेरों का किंचित् मात्र भय नहीं था ॥ ७ ॥ सर्वत्र दृष्टि रखते हुए उसके शासन काल में सर्वस्व हरण करने वाले कर्मचारियों को कृषि-कर्म की देख-रेख करने के अतिरिक्त दूसरा कोई भी काम नहीं था ॥८॥ ग्राम्यजन कृषि-कर्म-परायण हो गये थे, उन्हें राजमन्दिर देखने का अवसर नहीं आता था और विप्र लोग स्वाध्याय तत्पर हो गये थे, तथा उन्होंने शस्त्र उठाना त्याग दिया था ॥९॥ सामगान करते हुए विप्रगुरु मद्यपान नहीं करते थे, और तपस्वियों ने पुत्र, दार, गृह, पशु एवं धान्यों का सम्पादन त्याग दिया था ॥१०॥

मत्स्ययाग एवं अपूपयाग का विधान करने वाले मूर्ख गुरु स्वरचित कपोल कल्पित ग्रन्थों के द्वारा परंपरागत आगम ग्रन्थों का परीक्षण (संशोधन) नहीं करते थे ॥११॥ गृहणियां वञ्चक गुरुओं से दीक्षा लेकर अपने में देवत्व की मिथ्या भावना करके मस्तक हिलाती हुई अपने पतियों के पवित्र शील का निषेध नहीं करती थी ॥१२॥ उस समय में ज्योतिषी, वैद्य, मंत्री, गुरु, अमात्य, पुरोहित, वकील, न्यायाधीश अथवा लेखक कोई भी अपंडित (निरक्षर) न था ॥१३॥ एक बार प्रायोपवेशनाधिकारयों

ने राजा को राजद्वार पर एक मनुष्य के प्रायोपवेशन की सूचना दी, तदनुसार राजा ने उसे बुलवाकर पूछा, तब वह बोला ॥१४॥ महाराज, मैं पहिले इसी नगर में रहने वाला एक धनाढ्य व्यापारी था, परन्तु दैववशात् कुछ समय के बाद दरिद्र होगया ॥१५॥ मुझ पर बहुत अधिक ऋण होगया था, और साहूकार लोग तकाजा करने लगे मैंने अपनी सब जायदाद बेच ऋण चुका कर विदेश में भ्रमण करने का निश्चय किया ॥१६॥ पश्चात् सर्वस्व बेचकर ऋण चुकाते हुए मैंने एक बड़े धनिक को अपना मकान बेचा ॥१७॥ उस मकान की सीढ़ियों के पास का एक कूआ अपनी पत्नी के भरण-पोषण के लिए नहीं बेचा था ॥१८॥ क्योंकि गरमियों के दिनों में वह अत्यन्त शीतल स्थान होने से पान, फूल बेचने के लिए बैठने वाले मालियों के द्वारा प्राप्त हुए किराये से मेरी पत्नी के भरण के लिए पर्याप्त था ॥१९॥ उसके बाद बीस वर्ष तक देशान्तर में भ्रमण कर थोड़ा-सा धन प्राप्त करके मैं फिर से इस जन्म-भूमि को वापिस लौटा ॥२०॥

मैंने यहाँ आकर जब अपनी पत्नी को तलाश किया, तब विवर्ण-शरीर तथा दूसरों के घर पर मजदूरी कर अपना जीवन यापन करती हुई उस साध्वी को देखा ॥२१॥ मैंने दुःखित होकर उससे पूछा कि "मैंने तुम्हारे निर्वाह का प्रबन्ध कर दिया था फिर भी तुम्हारी ऐसी स्थिति क्यों हुई" इस प्रकार पूछने पर उसने अपना वृत्तान्त कहा ॥२२॥ आपने मुझे जीविका के लिए अपने मकान की सीढ़ियों के पास का कूप दिया था इसलिए मैं

वहाँ गई थी परन्तु आपके विदेश जाने पर उस साहूकार ने मुझे लाठियों से मारकर वहाँ से निकाल दिया ॥२३॥ इसलिए मेरी दूसरी कौन-सी जीविका हो सकती है ? ऐसा कह कर वह चुप रह गई, इस बात को सुनकर मैं शोक एवं क्रोध में मग्न हो गया ॥२४॥ न्यायालयों में शिकायत करने पर प्रत्येक न्यायाधीश के द्वारा मेरा शत्रु ही विजयी हुआ और मैं हार गया तब मैंने निरुपाय होकर यह प्रायोपवेशन किया है ॥२५॥ मैं अज्ञ होने से न्याय की सूक्ष्मता को नहीं समझ सकता, परन्तु मैंने अपने मकान के सोपानों के पास का कूप नहीं बेचा है इस बात की सत्यता के लिए मैं अपने प्राणों की बाजी लगाने को तैयार हूँ ॥२६॥ मेरी सम्पत्ति नष्ट हो चुकी है इसलिए मैं आप जैसे शास्ता के द्वार पर प्रायोपवेशन करके प्राण दे दूँगा यदि आप इस पाप से डरते हों तो स्वयं इसका निर्णय करें ॥२७॥ उसके इन वचनों को सुन कर वह राजा स्वयं धर्मासन पर बैठा और सब न्यायाधीशों को एकत्रित कर उसके वास्तविक वृत्तान्त जानने का प्रयत्न करने लगा ॥२८॥ न्यायाधीशों ने राजा से कहा, महाराज, हमने अच्छी तरह से सोच समझकर इसे इसवाद में परास्त किया है परन्तु यह शाठ्य के कारण न्याय को नहीं मान रहा है, इसलिए अपने लिखे हुए लेख को अस्वीकार करने का इसे दण्ड मिलना चाहिए ॥२९॥ राजा ने भी उसका लिखा हुआ विक्रयपत्र मँगवाकर उसमें "सोपान कूप सहित घर बेचा है" इस प्रकार के अक्षर स्वयं पढ़े ॥३०॥

इस पर राजसभा के सभ्यों ने "न्याय ठीक हुआ है"

ऐसा कहा फिर भी राजा का अन्तःकरण वादी की विजय को ही स्वीकार कर रहा था ॥३१॥ कुछ देर तक सोचकर वह राजा उन सभासदों के साथ अन्यान्य विषयक बातें कर उन्हें भुलावा देता रहा ॥३२॥ उन बातों के सिलसिले में ही उसने सहज ही रत्नों के देखने के मिस से उन सब लोगों की अंगूठियाँ हँसते-हँसते ले लीं उनमें उस साहूकार की भी अंगूठी थी ॥३३॥ और कुछ क्षण के बाद पादप्रक्षालन के मिस से "आप लोग कुछ समय के लिए यहीं ठहरें" ऐसा कहकर हँसता हुआ वहाँ से बाहर चला गया ॥३४॥ वहाँ जाकर अभिज्ञान के लिए उस साहूकार की अंगूठी को अपने सेवक को देकर उसके द्वारा उस साहूकार के घर सन्देश भेजा ॥३५॥ राजसेवक ने साहूकार के वहाँ जाकर उसके गणनाध्यक्ष को अंगूठी देकर कहा कि जिस वर्ष उस मकान का विक्रय-पत्र लिखा गया था उसी वर्ष की गणना पत्रिका (बही, खाता) मुझे दीजिये क्योंकि आज मामले के निर्णय में उसकी आवश्यकता है इस बात को सुनकर गणनाध्यक्ष ने अंगूठी को लेकर वह पत्रिका उसे दे दी ॥३६-३७॥ उस पत्रिका में राजा ने उस पत्रिका के लेखन के उपलक्ष्य में राजकीय अधिकरण लेखक को एक सहस्र दीनार देने का वृत्त पढ़ा ॥३८॥ साधारण कार्य के लिए परिमित द्रव्य देने के स्थान पर इतना अधिक देने से "साहूकार ने रेफ के स्थान पर लेखक से सकार लिखवाया है" ऐसा निश्चय कर लिया ॥३९॥ यह रहस्य उसने सभ्यों को भी समझाया और उस लेखक को बुलवाकर उसे अभय देकर उसके

द्वारा उस वृत्तान्त को स्पष्ट कहलवाकर सभ्यों के हृदय में विश्वास करवा दिया ॥४०॥

पश्चात् सभ्यों की प्रार्थना से राजा ने उस साहूकार से मकान तथा सम्पत्ति छीनकर वादी को दे दी और साहूकार को राज्य-निर्वासन का दण्ड दिया ॥४१॥ किसी समय सायंकालिक संध्या-वन्दन आदि आन्हिक कर्म से निवृत्त होकर भोजन करने के लिए उद्युक्त हुए राजा से द्वारपाल ने आकर असामयिक निवेदन के कारण डरते-डरते निवेदन किया ॥४२॥ महाराज, एक ब्राह्मण प्रार्थना करने के लिए आया है, मैंने उसे कहा कि "महाराज राज्यकार्य को समाप्त करके अभी अन्दर गये हैं इसलिये कल तुम्हें प्रार्थना करने का अवसर मिलेगा" मेरे इस कथन से वह प्राणत्याग करने को तैयार है ॥४३॥ यह सुनकर राजा ने भोजन करना स्थगित रखा और उस ब्राह्मण को बुलवाकर उसका वृत्तान्त पूछा, तब उसने अत्यन्त दुःखित होकर दीनता से अपनी करुण-कथा राजा से कही ॥४४॥ राजन्, मैंने विदेश में भ्रमणकर बड़े परिश्रम से सौ सुवर्ण मुद्राएँ अपने उपार्जित धन में से बचाली थी और उन्हें लेकर इस स्वदेश में सुराज्य होने के समाचार को सुनकर इधर को वापस लौटा ॥४५॥ आपके सुशासन काल में मार्ग में चोरों का भय सर्वथा नष्ट होने से आनन्दपूर्वक प्रवास करते-करते कल रात में लवणोत्स नामक ग्राम में श्रान्त होकर ठहर गया ॥४६॥ दीर्घ प्रवास के कारण थके हुए मैंने निर्भय होकर रास्ते के पास के एक उद्यान में वृक्ष की छाया में शयन

किया ॥४७॥ वहीं पास में घास से ढँका हुआ एक कूप था, उसका पता मुझे न था। उठने पर मुझे मालूम हुआ कि उसमें मेरी सुवर्ण मुद्राओं की पोटली गिर गयी ॥४८॥ मेरा सर्वस्व नष्ट होने से मैं निर्धन होकर बहुत देर तक शोक करता रहा और उसी दुःखरोह (जिसमें गिरने पर बाहर नहीं निकल सकते) कूप में कूदकर प्राण देने के लिये मैं तैयार हो गया परन्तु वहाँ पर एकत्रित हुए लोगों ने मुझे रोक दिया ॥४९॥ उनमें से एक साहसी एवं उत्साही पुरुष ने मुझे कहा कि "मैं यदि तुम्हारा धन इस कूप से निकाल दूँ तो तुम मुझे क्या दोगे ?" ॥५०॥

मैंने विवश होकर उससे कहा कि मेरा उस धन पर अब क्या अधिकार रहा है ? जितना तुम चाहो उतना मुझे दे देना ॥५१॥ उसके बाद उस साहसी ने उस कूप में से वह सुवर्ण मुद्राओं की गठड़ी निकालकर उसमें से मुझे केवल दो मुद्राएँ दीं और स्वयं उसने अट्ठानबे मुद्राएँ ले लीं ॥५२॥ इस पर मैं उससे झगड़ने लगा तब लोगों ने मेरी बात की आलोचना तथा निन्दा करते हुए कहा कि महाराजा यशस्करदेव के राज्य में सब व्यवहार मनुष्य के वचन पर चलते हैं ॥५३॥ सरलता के कारण इस औपचारिक-वचन के कहने से कपट से मेरा द्रव्य हरण कर लिया गया है इसलिये ऐसे अन्याययुक्त व्यवहार के प्रचार करने वाले तुम्हारे द्वार पर ही मैं अपने प्राण त्याग दूँगा ॥५४॥ राजा के द्वारा उस पुरुष से साहिक का नाम और स्थान पूछने पर "मैं उसे उसकी आकृति से पहिचान सकता हूँ" ऐसा कहा ॥५५॥ कल प्रातःकाल

में इसका निर्णय करूँगा ऐसा कहकर उसे बड़ी कठिनता से समझाया और उसको अपने साथ में ही भोजन करवाया ॥५६॥ दूसरे दिन राजा के द्वारा दूत भेज कर लवणोत्स में से बुलवाये गये सब पुरुषों में से उस साहिक को उस ब्राह्मण ने खोजकर राजा को बतला दिया ॥५७॥ राजा के पूछने पर उस साहसिक पुरुष ने भी ब्राह्मण के कथनानुसार ही सब वृत्तान्त कहा और इसके वचनानुसार ही मैंने इसके साथ बर्ताव किया है ऐसा भी कहा ॥५८॥ सत्यवाणी की परतन्त्रता तथा वस्तुस्थिति के भेद को न समझते हुए सब सभ्य सन्देहदोला से व्याकुलमति होकर लज्जा से पृथ्वी की ओर देखने लगे ॥५९॥ तब राजा ने धर्मासन पर बैठकर निर्णय किया कि अट्ठानवे मुद्राएँ ब्राह्मण को दी जावें और दो सुवर्ण मुद्राएँ साहसिक को दी जावें ॥६०॥ और इस विषय में शंकित होकर पूछते हुए लोगों के सन्देह को दूर करते हुए राजा ने कहा, उत्कट अधर्म का दमन करने के लिये दौड़ते हुए महा-महिम-शाली धर्म की गति गम्भीर विचार द्वारा निश्चित की जाती है ॥६१॥ सूर्य सायंकाल में अग्नि, तथा जलमय चन्द्र में विभागशः अपना तेज संक्रान्त कर प्रज्ज्वलित प्रदीप एवं चन्द्रिका द्वारा उदयोन्मुख गाढ़ अन्धकार को नष्ट करता है वैसे ही अनन्यकर्मा (जिसका कोई भी दूसरा कार्य नहीं है) धर्म अधर्म का नाश करता है ॥६२-६३॥ जलाने के काष्ठ में जिस प्रकार अग्नि गुप्त रूप से छिपा रहता है, वैसे ही धर्म अधर्म के साथ सर्वदा रहकर उसे सहज नष्ट कर देता है ॥६४॥

इस ब्राह्मण ने "जो आप देते हों वह दें" इस वचन को त्याग-कर उसके स्थान पर "आपको जो ठीक मालूम हो वही दे दीजिए" ऐसा कहा ॥६५॥ इस लोभी को अठानवे सुवर्ण मुद्राएँ अच्छी लगती थी उतनी इस बेचारे ब्राह्मण को न देकर जो दो मुद्राएँ इसे रुचिकर न थीं वह इसने ब्राह्मण को दीं ॥६६॥

इस प्रकार के अनेक प्रसंगों में धर्माधर्म के सूक्ष्म भेद को परमसूक्ष्म दृष्टि से समझकर पता लगाते हुए उस राजा यशस्कर ने फिर से सत्ययुग का उदय कर दिया था ॥६७॥ इस प्रकार लोगों को विनय का (न्यायमार्ग का) उपदेश देता हुआ वह राजा रोगियों को पथ्य से रहने का उपदेश कर स्वयं कुपथ्य से रहने वाले वैद्य के समान अन्याय मार्ग का अनुसरण कर हास्य का पात्र बनने लगा ॥६८॥ श्रोत्रिय ब्राह्मण के समान मृत्तिका तथा जल से पवित्रता स्वच्छता धारण करते हुए भी उस राजा ने डोम लोगों को उच्छिष्ट भक्षण करनेवाले अपने सेवकों को पास से नहीं हटाया ॥६९॥ उसने एक नगराधिकारी के स्थान पर चार अधिका-रियों को नियुक्त कर उनके द्वारा धन संचय शुरू किया। वे चारों नगराधिकारी द्रव्य संग्रह करने में एक एक से बढ़ने का प्रयत्न करते थे ॥७०॥ उस राजा ने अपनी तलवार श्रीरणेश्वर के पीठ के सम्मुख अर्पण कर दी थी और वह अपने वचन को पूरा करता था इसलिए पदाति लोगों का उसके आगे मरण-सा हो गया था ॥७१॥ वह अपने ज्येष्ठ भ्राता की मृत्यु से इतना प्रसन्न हुआ कि जिस पर

से विचारशील मनुष्यों के हृदयों में यही भावना हो गई कि "इसी राजा ने विष देकर उसे मरवा दिया" ॥७२॥

एक वेलावित्त के साथ राजपत्नियों का प्रेम हो गया था परन्तु उस बात की ओर उपेक्षा दिखाते हुए उस राजा ने उस वेलावित्त को सचिव पद पर नियुक्त किया था ॥७३॥ उसी प्रकार उसने प्रेमाधीन हो कर लल्ला नामक वेश्या को अन्तःपुर की रानियों में प्रधान बना दिया था और स्वयं उसके वश हो गया था ॥७४॥ सुवृत्तत्व (सच्चरित्रता) के लिए स्त्रियों के हृदय में स्थान नहीं होता इसी-लिए मानों विधाता ने उनके सुवृत्त (गोल, वर्तुलाकार) स्तनों को हृदय से बाहर रखा है ॥७५॥ उत्तम तथा अधम पुरुषों पर समानता से आसक्त होनेवाली और ऊपर से ही पवित्र नारियों की स्वाभाविक वृत्ति को जान कर ही विधाता ने उन्हें अंगना बनाया है ॥७६॥ क्योंकि वह ललितलोचना लल्ला राजा की लालिता (प्यारी) हो कर भी रात में पहरा देने वाले एक तरुण चाण्डाल पर आसक्त होकर प्रेम करने लगी ॥७७॥ उस तरुण में कुछ आकर्षण शक्ति अवश्य ही होनी चाहिए क्योंकि जिसके प्रभाव से राजवधू होकर भी वह लल्ला उससे स्नेह करने को विवश हो गई थी ॥७८॥ या तो वह लल्ला ही चाण्डाल वंश में उत्पन्न हुई होगी या वह तरुण चाण्डाल कुछ जादू जानता होगा, अन्यथा इस प्रकार का असंभाव्य समागम कैसे हो सकता था ? ॥७९॥ किस प्रकार से वह चाण्डाल तरुण उससे मिल सका इस वृतान्त का रहस्य कहीं भी प्रगट न हो सका ॥८०॥

केवल उन दोनों पापियों का आपसी प्रेम पारस्परिक नेत्र कटाक्षों के व्यापार से हाडो नामक अधिकारी के दृष्टि गोचर हो गया था ॥८१॥ राजा ने गुप्तचरों के द्वारा उस वृत्तान्त का सत्यरूप से पता लगा लिया था और प्रायश्चित करते करते वह दुर्बल हो गया तथा उसने कृष्णाजिन (कृष्ण मृगचर्म) धारण कर लिया ॥८२॥ उसे लज्जा पर अत्यधिक क्रोध आने पर भी प्रेमांध होने के कारण उसका वध नहीं किया, इसी से पुरोभागी (दोषैकदृष्टि) लोगों की निन्दा का पात्र बन गया ॥८३॥ कुष्ठी के संपर्क से कुष्ठ रोग लग जाता है, वैसे ही उस राजा यशस्कर को डोमों का उच्छिष्ट भक्षण करने वाले सेवकों के संसर्ग से यह संसर्गज दोष लगा था ॥८४॥ मेरे सदृश सामान्य मनुष्यों को पूर्वजन्म के प्रबल पुण्य के प्रभाव से ही यह साम्राज्य प्राप्त हुआ है इस प्रकार सोचते हुए उस राजा ने आगामी जन्म में भी साम्राज्य प्राप्त होने की अभिलाषा से युक्तिपूर्वक किसी प्रकार के अन्तराय के बिना सम्पूर्ण राज्यलक्ष्मी का ब्राह्मण को दान कर दिया ॥८५-८६॥ उस दानवीर राजा ने अपनी पैतृक भूमि में आर्यदेशीय विद्यार्थियों के लिए एक मठ बँधवाया ॥८७॥ और वहाँ के मठाधिपति को उसने छत्र चामर आदि राजचिन्ह दे दिये, केवल टंक (सिक्के बनाने का अधिकार) तथा अन्तःपुर नहीं दिया ॥८८॥ उसी प्रकार वितस्ता नदी के तीर पर अनेक उपकरण सहित ५५ पचपन अग्रहार उसने ब्राह्मणों को दिये ॥८९॥ उसके बाद उदर-रोग से पीड़ित हुए उस राजा ने अपने पुत्र संग्रामदेव को स्वयं

से उत्पन्न न हुआ समझकर सामंत, सचिव तथा एकांग की संमति से अपने प्रपितृव्य रामदेव के पुत्र वर्णट को राज्याभिषेक कर दिया ॥९०-९१॥ तब सरलता-पूर्वक राज्यच्युत करने के योग्य शिशु को राज्या-भिषेक न करने से राज्य को अपहरण करने की इच्छा रखने वाले सब निराश हो गये ॥९२॥

पर्वगुप्त की कुटिलतापूर्वक प्रवृत्ति के उदय का वह समय उस दिन निष्फल-सा हो गया ॥९३॥ राजमन्दिर में रहकर भी वर्णट अपने को राज्य देनेवाले यशस्कर की आरोग्यवार्ता जानने के लिए भी न गया ॥९४॥ इस व्यवहार से सन्तप्त हुए राजा को मन्त्रियों ने आश्वासन देकर संग्रामदेव को फिर से राज्य देने के लिये आग्रह किया ॥९५॥ राजा की आज्ञा से वर्णट को आठ स्तम्भ के मण्डप में कैद कर उसके द्वार बन्द कर दिये गये थे और दूसरे दिन वह वहाँ से निर्वासित कर दिया गया ॥९६॥ उसके विचारशील सेवकों को भय से अथवा जागरण से अतिसार हो गया था इससे वह मण्डप उनके द्वारा गन्दा कर दिया गया था ॥९७॥ केवल एक दिन के लिये राजा बननेवाले उस वर्णट के सेवक देवशर्मा नामक राजपूत ने लज्जित होकर अपनी तलवार विजयेश्वर के मन्दिर में अर्पण कर दी ॥९८॥ उसके बाद संग्रामदेव को राज्याभिषेक कर व्यथा की तीव्रता से पीड़ित यशस्कर मरने के लिये राजभवन को छोड़कर अपने मठ में चला गया ॥९९॥ उसके कतिपय सेवकों ने उसके सम्मुख कृतज्ञता प्रकट करने के लिये केश तथा श्मश्रु का मुण्डन, उष्णीष (पगड़ी)

का त्याग, कषाय वस्त्र धारण करने के लिये उद्वेग तथा शस्त्रत्याग की प्रतिज्ञाएँ की थीं परन्तु उसकी मृत्यु का पूर्णरूप से निश्चय होने पर उसके जीवित रहते ही अपनी प्रतिज्ञा को त्याग दिया ॥१००-१०१॥

उस मुमूर्ष राजा ने राज भवन से निकलते समय २५०० ढाई हजार सुवर्ण मुद्राएँ वस्त्र में बाँधकर साथ ली थीं ॥१०२॥ उन मुद्राओं को पर्वगुप्त आदि उसके पाँच मन्त्रियों ने उसको जीवितावस्था में ही बराबर हिस्साकर बाँट लिया था ॥१०३॥ व्याधिग्रस्त वह यशस्कर उस मठ के आँगन में एक अंधेरी पर्णकुटी में मृत्युशय्या पर तड़प रहा था ॥१०४॥ वह अच्छी तरह से होश में था और अपने द्रोहपरायण सेवकों के कुकृत्यों को अपनी आँखों देख रहा था, इस प्रकार दो तीन दिन बीतने पर भी उसके प्राण शरीर से न निकले ॥१०५॥ तब साम्राज्य को अपहरण करने की त्वरा से उत्सुक उसके बान्धव, मित्र, सेवक आदि ने विष देकर उसे मार डाला ॥१०६॥ उस समय उसके अंतःपुर की स्त्रियों में से अकेली पतिव्रता त्रैलोक्यदेवी ही सूर्य का अनुसरण करनेवाली सूर्यप्रभा के समान उसके साथ सती हुई ॥१०७॥ वह अपनी प्रजा से वर्णाश्रम धर्म के पालन करवाने के लिये सर्वदा बद्धपरिकर रहता था, इसलिये उसने चक्रमेलक निवासी चक्रभानु नामक तपस्वी ब्राह्मण को किसी भयंकर पातक के उपलक्ष में धर्मशास्त्र की मर्यादा के अनुसार दण्डित करने के लिये मस्तक परश्वापद के चिह्न से अंकित करवाया था, इस घटना से क्रुद्ध हुए चक्रभानु

के मातुल एवं राजा के सांधिविग्रहिक मन्त्री योगी वीरनाथ ने अभिचार क्रिया द्वारा उसका बदला चुकाया ॥१०८-१०९-११०॥

इस प्रकार प्राचीन महर्षियों के प्रभाव से अपने महत्त्व को प्रख्यात करनेवाले गुरुओं के द्वारा श्रद्धाधिक्य के कारण कहा जाता है ॥१११॥ और भी किंवदन्ती है कि वह इस अभिचार से सात दिनों में ही मर गया था, परन्तु ये सब उक्तियाँ दीर्घकालिक व्याधि से मरनेवाले उसके विषय में युक्तियुक्त कैसे हो सकती हैं ॥११२॥ यदि उसकी बीमारी के समय में ही यह घटना हुई थी ऐसा कहा जाय तो फिर वर्णट आदि का अभिशाप भी उसका कारण बन सकता है ॥११३॥ वह ९ नौ वर्ष राज्य कर लौकिक वर्ष ४०२४ की भाद्रपद कृष्ण तृतीया को स्वर्गवासी हुआ ॥११४॥ उसके बाद शिशु संग्रामदेव की पितामही को उसकी संरक्षक होने के कारण राज्यसिंहासन पर बैठाकर भूभट आदि पाँच सचिवों के साथ पर्वगुप्त प्रधान मन्त्री बन गया ॥११५॥ फिर क्रमशः उस बलिष्ठ मन्त्री ने राजा की पितामही के साथही इतर पाँच मन्त्रियों को भी यमालय भेजकर स्वयं अकेले ने ही सम्पूर्ण राज्य पर अधिकार कर लिया ॥११६॥ उसने राजा तथा मन्त्री दोनों के अधिकार चिह्न धारण कर लिये थे, इसलिए उसे देखकर लोगों के हृदय में राजा तथा राजानक (मन्त्री) विषयक सन्देह होता था ॥११७॥ खानपान के पदार्थ मँगवाकर स्वयं उस बाल राजा की सेवा करता हुआ वह पर्वगुप्त सरल स्वभाव के लोगों को द्रोहरहित प्रतीत होता था ॥११८॥ राजा यशस्कर ने जिन्हें द्रोह-

भीरु समझकर अपने पुत्र को सौंपा था, वेही उसके उच्छेद करने में प्रवृत्त हुए ॥११९॥ वह पर्वगुप्त ऊँट के बालों के समान पिंगल तथा तृण के समान विस्तृत अपनी दाढ़ी पर राजा के सदृश केशर का लेपन करता था ॥१२०॥

वह एकांग समूह के डर से उस शिशुराजा संग्रामदेव को राज्यच्युत करने में असमर्थ था इसलिए उसकी हत्या के लिये उसने उस शिशु पर अभिचार करवाया ॥१२१॥ "यह राज्य चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को योग्यरीति से तुझे और तेरी सन्तान को मिलेगा और यदि इसके विरुद्ध खटपट की गई तो तेरा तथा तेरे वंश का नाश हो जावेगा" इस प्रकार रात में भूत भारती को सुनकर अभिचार क्रिया के व्यर्थत्व की संभावना से वह अधिक सशंक हो गया ॥१२२-१२३॥ और अपने विरोधी एकांगों के भय से तथा तद्विषयक चिन्ता से भ्रान्तचित्त होकर रात-दिन तड़पने लगा ॥१२४॥ आखिर उसने एक दिन आकस्मिक हिमपतन से (बर्फ के गिरने से) जन-संचार-शून्य-रात्रि के समय में अपने लोगों को एकत्रित कर राज-मन्दिर को चारों ओर से घेर लिया ॥१२५॥ वहाँ पर युद्ध में विरोध करते हुए अपने प्रतिस्पर्धी राजभक्त मन्त्री रामवर्धन को उसके पुत्र बुद्ध के सहित मार डाला ॥१२६॥ पश्चात् उस वक्रांघ्रि (टेढ़े चरणवाले) संग्रामदेव को उसके तथा यशस्कर के वेलाचित्त ने उपहार के बहाने से पुष्प-माला के रूप में लाई गई रस्सी को गले में डालकर राजसिंहासन से नीचे गिरा दिया ॥१२७॥ और दूसरे मंडप में ले जाकर वहाँ उसे

भी मार डाला तथा उसके मृत शरीर को गले में शिला बाँधकर रात में वितस्ता नदी में डुबा दिया ॥१२८॥ पश्चात् वह पापी पर्वगुप्त लौकिक ४०२४ के फाल्गुन मास के कृष्णपक्ष में दशमी के दिन कवच तथा खड्ग धारण कर सिंहासनारूढ़ हुआ ॥१२९॥ उस समय विशोका के पार में रहनेवाले अभिनवगुप्त नामक दिविर (कायस्थ) के पुत्र संग्रामगुप्त से उत्पन्न हुआ वह पर्वगुप्त काश्मीर का राजा हुआ ॥१३०॥

कतिपय सचिवों ने उसका विरोध करने की प्रतिज्ञा की थी, परन्तु उन सभी लोगों ने उसके भय से अपनी प्रतिज्ञा को त्याग-कर दूसरे दिन प्रातःकाल में ही उसे प्रणाम किया ॥१३१॥ माण्डलिक नरेश, एकांग, सामन्त, मन्त्री, कायस्थ तथा तन्त्री ये सब उससे डर गये थे, फिर भी उसने उनका द्रोह किया ॥१३२॥ उस दिन दर्बार के मण्डप में सुय्या के वंशज मदनादित्य नामक एकांग के हाथ से प्रमादवश नगाड़ा फूट गया था ॥१३३॥ इससे रुष्ट होकर उस राजा ने उसे नमकर उसकी अत्यन्त असभ्यतापूर्ण अप्रतिष्ठा की, इस कार्य से दुःखित होकर उस मदनादित्य ने केश एवं श्मश्रु मुंडवा कर संन्यास ले लिया ॥१३४॥ उस समय उसकी स्त्री तथा बालक मौजूद थे, उसके वंशज आज भी त्रिपुरेश्वर में रहते हैं ॥१३५॥ सर्वथा द्रव्योपार्जन करते हुए उस पर्वगुप्त ने प्रजा को रोग के समान कष्टप्रद अधिकारियों को फिर से प्रोत्सा-हित किया ॥१३६॥ इस प्रकार पाप से उपार्जन किये हुए द्रव्य से उसने भी स्कन्दभवन विहार के पास में ही पर्वगुप्तेश्वर का

मन्दिर बनवाया ॥१३७॥ राजा यशस्कर की नृपसुन्दरी नामक रानी श्रीगौरी के समान पवित्र तथा बुद्धिमती थी, उसने अपने उत्तम चरित्र में लोक-निन्दा को अवसर न दिया था ॥१३८॥ पर्वगुप्त के हृदय में उसके विषय में चिरकाल से प्रेमांकुर उत्पन्न हो चुका था और वह उसको वशीभूत करने के लिये प्रयत्न करता था, परन्तु वह सती उसे अनेक युक्तियों से वञ्चित रखती थी ॥१३९॥ अन्त में उस सुभ्रू ने उससे कहा कि इस यशस्कर स्वामी के मन्दिर का निर्माणकार्य मेरे पति महाराजा यशस्करदेव के द्वारा प्रारम्भ किया गया था, परन्तु इसके अर्धावशिष्ट रहते ही उनकी मृत्यु हो गई थी इसलिए इसके पूर्ण होने पर मैं आपकी अभिलाषा को पूर्ण करूँगी ॥१४०–१४१॥

इस कथन के अनुसार उस राजा ने बड़े गर्व के साथ उस मन्दिर को थोड़े ही दिनों में सम्पूर्ण रूप से बनवा दिया ॥१४२॥ तब उस साध्वी ने उस मन्दिर की प्रतिष्ठा के समय घृताहुति से जाज्वल्यमान होमाग्नि में पूर्णाहुति के साथ ही अपने शरीर को भी होम दिया ॥१४३॥ इस कार्य से उसपर लोगों ने विपुल पुष्पवृष्टि की और उसकी अभिलाषा करनेवाले उस पर्वगुप्त पर निन्दा के शब्दों की बौछार होने लगी ॥१४४॥ उसके बाद सुदीर्घ साहसमय आरम्भों की चिन्ता से विशोषित पर्वगुप्त को तृष्णा रोग हो गया ॥१४५॥ मूढ़ लोग आधि और व्याधियों के शमन करने के उपायों की निष्फलता से शरीर स्थिति-नश्वर समझकर भी द्रोहोपार्जित अस्थिर लक्ष्मी के लोभ से मोहित होकर स्थायिता के

प्रयत्न को नहीं छोड़ते हैं ॥१४६॥ ऐसी कष्टमय स्थिति में फँसकर भी वह शंकाशील पर्वगुप्त कतिपय प्राक्तन शुभ कर्मों के प्रभाव से सुरेश्वरी क्षेत्र में मृत्यु को प्राप्त हुआ ॥१४७॥ इस प्रकार लौकिक वर्ष ४०२६ में आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी को वह राजा पर्वगुप्त स्वामिद्रोह से प्राप्त किये राज्य से वियुक्त हुआ ॥१४८॥ इसी जन्म में यदि उत्कट पाप का फल तात्कालिक भयंकर रोग तथा मृत्यु के रूप में परिणत होकर परलोक में होनेवाले दुःसह कष्टों का अनुमान न करवाता तो कुकर्म के द्वारा सम्पत्ति प्राप्त करने का कौन प्रयत्न न करता ? ॥१४९॥ उसके पश्चात् मदिरा के अत्यधिक सेवन से तथा सम्पत्ति एवं तारुण्य ज्वर से उन्मत्त उसका पुत्र क्षेमगुप्त पृथ्वी का शासक हुआ ॥१५०॥

स्वभाव से ही दुर्वृत्त वह क्षेमगुप्त दुर्जनों के सहवास से भयंकर मेघों से अधिक अन्धकारमय कृष्णपक्ष की रात्रि के समय के समान विशेषतया भयोत्पादक हो गया था ॥१५१॥ उस राजा की सेवा में उसी के समान वेष तथा अलंकारों को धारण किये हुए फल्गुण आदि सौ दुराचारी प्रेमी मित्र सर्वदा उपस्थित रहते थे ॥१५२॥ वह राजा द्यूत, आसव तथा अंगनाओं का निरन्तर सेवन करने पर भी और धूर्तों के द्वारा लूटा जाने पर भी लक्ष्मी-बहिष्कृत (धनहीन) नहीं हुआ ॥१५३॥ कामी, मद्यप्रणयवान् तथा द्यूतकार एवं कोश के धन को हरण करनेवाले मधुपों से (मद्यपान करनेवाले विटों से) जो राजा सेवन किया जाता है उसे रागी (रक्तिमायुक्त, ताम्रवर्ण) मधु-प्रणयवान्

(पुष्परस पूर्ण) एवं विहिताक्षसक्ति (बीजयुक्त) तथा कोशस्थित सार को हरण करनेवाले भ्रमरों से सेवित कमल का आश्रय करने वाली श्री यदि नहीं त्यागती है तो कौन-सा आश्चर्य है ? ॥१५४॥ जिष्णु के पुत्र वामन तथा अन्य विटों ने उसके हृदय में प्रविष्ट होकर उसके मन में पिशाच के समान अपवित्रता की रुचि उत्पन्न कर दी थी ॥१५५॥ वह राजा परोपहासकुशल तथा परनारी-रति-प्रिय एवं पराधीन-हृदय होकर अनर्थ करने में परायण हो गया था ॥१५६॥ वह समीपस्थ वृद्धों की दाढ़ी पर थूकता था, तथा उनके कानों को गालियों से पूर्ण करता था और उनके सिरों पर चपत लगाता था ॥१५७॥ स्त्रियाँ उसके साथ कटिसंघटन कर, तथा शिकारी लोग उसके साथ जंगलों में भटक कर और विट लोग उसके साथ अश्लीलतायुक्त परिहास करके उसके प्रेम का सम्पादन करते थे ॥१५८॥ पुंश्चली, जाल्म, वैधेय तथा बालकों को दूषित करनेवाले दुराचारी लोगों से परिपूर्ण उसकी राजपरिषद् मनस्वियों के प्रवेश करने के योग्य नहीं थी ॥१५९॥ परमधूर्त जिष्णु के पुत्रों द्वारा चापलूसी के चंगुल में फँसा हुआ वह राजा क्षेमगुप्त कठपुतली के समान नचाया जाता था ॥१६०॥

उन्होंने उसको आप "कंकणवर्षी हैं" ऐसा कहकर कई बार अपने हाथों पर उसकी कृपा से कंकणों की वृष्टि करवा ली थी ॥१६१॥ निर्दोष सभ्य पुरुषों के झूँठे दोष बतलाकर, नवीन-नवीन वस्तुओं का प्रदर्शन करवा कर तथा अधृष्य (संमाननीय) सज्जनों के

मस्तक पर चपत लगाकर उन्होंने उस राजा की कृपा को प्राप्त किया ॥१६२॥ वे लोग उस राजा को अपने घर ले जाते थे, और वहाँ द्यूत-प्रसंग में अपनी स्त्रियों के अनावृत्त स्तन एवं कटिप्रदेश के सौन्दर्य से उस की दृष्टि को आकृष्ट कर उसका सब धन लूट लेते थे ॥१६३॥ वे लोग उस राजा को संभोग के निरन्तर सुख का सौभाग्य प्रदान करने में परस्पर स्पर्धा करते हुए अपनी स्त्रियाँ राजा को उपभोग के लिए अर्पण कर कहते थे कि आप इनका उपभोग कर इनकी विशेषता को बतलाइये, और संभोग के अन्त में पूछते थे कि किसने आपके हृदय को अधिक आनन्द प्रदान किया, इस प्रकार उसे प्रसन्न कर उससे यथेष्ट धन प्राप्त करते थे ॥१६४-१६५॥ उसके प्रिय सेवकों में से हरि तथा धूर्जटि नामक दो सेवक अपनी मां बहनों के चारित्र्य को सुरक्षित रखने के कारण उस राजा को संभोग सामग्री अर्पण करने में मूर्ख तथा भिखारी समझे जाते थे ॥१६६॥ मूर्ख विट जन अपने शरीर को उपहास का पात्र बना कर स्वाभिमान से हाथ धो बैठते हैं, और अपनी ललनाओं को दूषित करवाकर अपने कुल को पवित्रता से या निष्कलंकता से शून्य कर देते हैं, और दीर्घकालिक सेवा में अत्यासक्त होने के कारण अपने शारीरिक-सुख का नाश कर देते हैं, तब बतलाइये कि जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए श्रम किया जाता है उसे ही खोकर वे कौनसी वस्तु को प्राप्त कर लेते हैं ? ॥१६७॥ भट्ट फल्गुण पहिले यशस्कर जैसे राजा का मंत्री होकर भी बाद में राजा क्षेमगुप्त का अनुचर बन गया था, इस सुखो-

पभोग के अभ्यास की वासना को धिक्कार है ! ॥१६८॥ उसने फल्गुण स्वामी नामक विष्णु तथा अन्य देवताओं के मन्दिरों की प्रतिष्ठा की थी, उसकी अनुपस्थिति के समय राजा उसके उपदेश (सलाह) की मजाक उड़ाया करता था ॥१६९॥ रक्क नामक वृद्ध कम्पनेश अपने से राजा की अवकृपा को दूर करने के लिए जबरदस्ती राजा से अपने सिर में चपत लगवा कर उसके दुर्वर्तनों में सम्मिलित हो गया था ॥१७०॥

उसने संग्राम डामर की हत्या करने के लिये घातक भेजे थे, उनके भय से वह डामर श्राजयेन्द्र विहार में जाकर छिप गया था, तब उस निर्दय राजा ने उस विहार को आग लगवा दी ॥१७१॥ सम्पूर्णतया वह विहार भस्मसात् हो गया तब उसने उसमें से कांस्यमय बुद्ध प्रतिमा को निकालकर प्राचीन देवमन्दिर के पाषाण भी निकलवा लिये और उन पाषाणों से नगर के बाजार में राजमार्ग पर देवमन्दिर की प्रतिष्ठा द्वारा अपने यश को चिरस्थायी बनाने की इच्छा से क्षेमगौरीश्वर नामक शंकर का मन्दिर बनवाया ॥१७२-१७३॥ एक मनुष्य इस संसार को छोड़कर जाता है तब उसका धन लेकर दूसरा अत्यन्त आनन्दित होता है परन्तु उसे यह मालूम नहीं होता कि यह धन अपने बाद दूसरे के आधीन होनेवाला है। मोहरूपी अतिशय भयंकर अन्धकारमयी वासना को धिक्कार है ॥१७४॥ उस त्यागी क्षेमगुप्त ने जले हुए विहार के ३६ छत्तीस गाँव लेकर खशराज सिंहराज को दे दिये ॥१७५॥ उस इन्द्रतुल्य पराक्रमी एवं लोहर आदि दुर्गों के

शासक सिंहराज ने अपनी कन्या दिद्दा का क्षेमगुप्त से विवाह कर दिया ॥१७६॥ उस शाही की दौहित्री दिद्दा पर राजा क्षेमगुप्त इतना आसक्त हो गया था कि जिससे लोगों में उसकी दिद्दाक्षेम इस प्रकार की लज्जाजनक ख्याति हो गई थी ॥१७७॥ दिद्दा के मातामह भीमशाही ने श्रीनगर में एक भव्य उन्नत एवं विशाल मन्दिर बनवाया और उसमें भीमकेशव की प्रतिष्ठा की ॥१७८॥ द्वारपति फल्गुण ने भी अपनी कन्या चन्द्रलेखा का राजा क्षेमगुप्त से विवाह किया था, इसलिये उस चन्द्रलेखा से दिद्दा रानी ईर्ष्या करती थी ॥१७९॥ उस राजा को उत्तम गुरु से लक्ष्यवेध की शिक्षा मिली थी और उसने भी उस विद्या में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए अनवरत श्रम किया था, परन्तु उसने जिस कार्य में उसका उपयोग किया, उसे निन्दा का पात्र बनना पड़ा ॥१८०॥

उसने अपने अमोघ (अचूक) लक्ष्यवेध कौशल को संग्राम के समय उपयुक्त करने की अपेक्षा शृगालों के शिकार में उपयुक्त करना ही योग्य समझा ॥१८१॥ कुत्तों तथा जालों को साथ में लिये हुए डोम पारधी आदि नीच जाति के लोगों से घिरे हुए तथा सर्वदा उन्हीं के साथ भटकते हुए उस राजा को लोग देखा करते थे ॥१८२॥ उसका सम्पूर्ण समय दामोदरारण्य, लल्यान तथा शिमिका आदि भयंकर अरण्यों में शृगालों के शिकार के लिए भटकते बीतता था ॥१८३॥ वह राजा कृष्णपक्ष की १४ चतुर्दशी के दिन शिकार कर रहा था, उस समय चिल्लाती हुई शृगाली के मुख में से निकली हुई अग्निज्वाला को उसने

देखा ॥१८४॥ उसको देखकर तज्जन्य भय से काँपता हुआ वह राजा मृत्यु के कारण लूता रोग के ज्वर से पीड़ित हो गया ॥१८५॥ तब वह मरने के लिए वराह क्षेत्र में गया वहाँ उसने हुष्कपुर के पास श्रीकंठ तथा हेम नामक दो मठ स्थापित किये थे ॥१८६॥ क्षेमगुप्त के शरीर पर मसूर की दाल के बराबर लूता के विस्फोटक हुए थे उससे वह लौकिक वर्ष ४०३४ की पौष शुक्ला नवमी को मर गया ॥१८७॥ उसके बाद खड्ग के समान तीक्ष्ण स्वभाव वाली दिद्दारानी के द्वारा पालित उसका अल्पवयस्क पुत्र अभिमन्यु वहाँ का राजा हुआ ॥१८८॥ उस दिद्दारानी के शयनमन्दिर में सन्धिविग्रह, शुद्धान्त तथा मुख्य कर्मादि अधिकारस्थ मन्त्री निश्शंकतापूर्वक जाते थे ॥१८९॥ उस अभिमन्यु राजा के शासन काल में तुङ्गेश्वर के पास के बाजार से अकस्मात भयंकर अग्निकांड प्रारम्भ हुआ ॥१९०॥

वह भयंकर आग वहाँ से लेकर वर्धन स्वामी के पास के भिक्षुकी पारका नामक स्थान तक पहुँच गई उससे वेतालसूत्रपात के अनुसार बने हुए सब बड़े बड़े घर जलकर खाक हो गये ॥१९१॥ उस आग ने डोम तथा चांडालों के सम्पर्क से दूषित राजाओं के द्वारा भ्रष्ट किये गये सभी बड़े बड़े घरों को जलाकर उस नगर तथा मण्डल को शुद्ध-सा कर दिया था ॥१९२॥ स्त्री स्वभाव से मूढ़बुद्धि वाली राजा की संरक्षिका वह राजमाता दिद्दा लोलकर्णी (कच्चे कान वाली, सुनी हुई प्रत्येक बातों पर विश्वास करने वाली) होने के कारण सारासार का (सत्यासत्य का) विचार

नहीं कर सकती थी ॥१९३॥ पति के जीवित रहते हुए ही अपनी सपत्नी चन्द्रलेखा के साथ ही राजा को अपनी कन्या देनेवाले चन्द्रलेखा के पिता प्रधान मन्त्री फल्गुण से भी द्वेष रखती थी ॥१९४॥ पति की मृत्यु के बाद अपनी अन्य सपत्नियों को उसके साथ सती होते देख उसे भी सती होने का दम्भ करती हुई देखकर फल्गुण ने उसका अनुमोदन किया ॥१९५॥ परन्तु चिता के पास पहुँचते ही उसका धैर्य नष्ट हो गया और वह डरने तथा पछताने लगी, तब दयालु नरवाहन मन्त्री ने अत्यन्त आग्रह से उसे सती होने से रोका ॥१९६॥ इसलिए स्वभावतः कुटिल हृदय रक्क ने पहिले से ही रुष्ट हुई उस दिद्दा रानी के हृदय में फल्गुण द्वारा राज्य हरण करने की शङ्का उत्पन्न कर दी ॥१९७॥ फल्गुण भी स्वविषयक विराग-सूचक चिह्नों से सम्पूर्ण मन्त्रिसमेत उस रानी को अपने ऊपर रुष्ट जानकर शंकित हो गया था ॥१९८॥ वह सर्व अधिकारों का निरीक्षक था उसके मन्त्र, शौर्य, उत्साह आदि गुणों को देखकर अन्य सब मन्त्री अपने मन में उससे जला करते अर्थात् वह उनकी आँखों में खटकता था ॥१९९॥ फल्गुण का पुत्र कर्दमराज क्षेमगुप्त की अस्थियाँ लेकर गंगा में प्रवाहित करने के लिये गया था, उसके आने के समय तक प्रति-द्वन्द्वियों के उपद्रव के भय से राजभवन में रहना अनुचित समझकर पर्णोत्स में रहने के विचार से उसने अपना उपकरण तथा सेवकवर्ग एवं बहुत सैनिकों को लेकर नगर से निकलकर काष्टवाट के समीप मुकाम किया इतने में रक्क आदि दुष्टों की

प्रेरणा से दिद्दारानी ने प्रार्थनायुक्त शिष्टतासूचक सन्देश के स्थान पर उसे मारने के लिए याष्टीक (चोबदार) भेजे ॥२००–२०१ २०२–२०३॥

इस नवीन अपमान से उस स्वाभिमानी मन्त्री के हृदय को गहरी चोट पहुँची और वहाँ से परावृत्त होकर बहुत सैनिकों के साथ वह वराहक्षेत्र में आया ॥२०४॥ उस प्रतापी मन्त्री को सेना समेत वापस आया सुनकर आक्रमण की शंका से वह दिद्दारानी मन्त्रिमण्डल सहित काँपने लगी ॥२०५॥ इधर उस मंत्री ने वराह-क्षेत्र में आकर अपने दिवंगत स्वामी के लिए चिरकाल तक शोक किया और अपना शस्त्र वराह भगवान् के चरणों में अर्पण कर दिया ॥२०६॥ उस मंत्री ने शस्त्रत्याग द्वारा स्वविषयक राजद्रोह संभावना के पातक को तथा राजमाता के हृदयस्थित आक्रमण-भय को क्षालन कर डाला ॥२०७॥ युक्तायुक्त विवेकहीन हृदय वाले मनुष्य के द्वारा उपयोग में लाया गया शास्त्र अथवा शस्त्र अत्यन्त आपत्तिकारक होता है, वह मनुष्य उपाय समझ कर जब उपयोग करने लगता है तब उस पर गुप्त राजद्रोह का आरोप लगाया जाता है इसलिए अपूर्ण रूप से उपयोग में आनेवाले शास्त्र अथवा शस्त्र को आग्रहपूर्वक अपने कार्य में लाना विवेक-शील मनुष्य को ही उचित हो सकता है ॥२०८॥ प्रधान मंत्री फल्गुण के सेना समेत पर्णोत्स में जाने पर अन्य मंत्री पाठशाला से गुरु के बाहिर जाने से आनन्दित हुए बालकों के समान प्रसन्न हो गये ॥२०९॥ दिद्दारानी भी योगक्षेम का अच्छी तरह

से विचार करती हुई अपने शासन के कंटकों को नष्ट करने के लिए दिनरात सावधान रहने लगी ॥२१०॥

राज्य को अपहृत करने की इच्छा से पर्वगुप्त ने अपनी दो कन्याओं का छोज तथा भूभट नामक दो मन्त्रियों से विवाह किया था और उन दोनों ने भी कोशपानपूर्वक शपथ ली थी ॥२११॥ उनके प्रसिद्ध महिमा एवं पाटल नामक दो पुत्र राजभवन राजकुमारों के समान बढ़ाये गये थे ॥२१२॥ और बाद में भी वे दोनों राजमन्दिर में ही रहते थे उन दोनों ने राज्यप्राप्ति की लालसा से हिम्मक आदि उद्दाम (उच्छृंखल) लोगों से मिलकर विद्रोह करने की गुप्त मंत्रणा की थी ॥२१३॥ उस अबला दिद्दारानी ने उन दोनों सबलों को राजमन्दिर से निकाल दिया तब क्रुद्ध होकर अपने घर से इधर उधर लोगों के घर आया जाया करते थे ॥२१४॥ प्रगट रूप से उनके साथ विरोध करती हुई दिद्दारानी ने एक बार महिमन को राज्य की सीमा से बाहर करने के लिए याष्टीक (चोबदार) भेजे ॥२१५॥ वह अपने श्वसुर शक्तिसेन के यहाँ गया था, इस बात को जानकर वे चोबदार वहाँ भी पहुँच गये ॥२१६॥ शक्तिसेन ने सान्त्वनापूर्वक उन्हें वहाँ से जाने को कहा, फिर भी वे वहाँ से नहीं हटे, तब शक्तिसेन ने भी प्रगट रूप से उस जामाता को आश्रय देकर उसका भय दूर किया ॥२१७॥ इस प्रकार आश्रय पाने पर उसके पास हिम्मक, मुकुल तथा परिहासपुर निवासी परमन्तक एवं अमृताकर का पुत्र श्रीमान् उदयगुप्त तथा ललितादित्यपुर निवासी यशोधर आदि भी आ पहुँचे ॥२१८-२१९॥ उन

लोगों ने अपनी-अपनी सेना से पृथ्वी को कंपायमान करते हुए महिमन का पक्ष लेकर विद्रोह प्रारम्भ किया ॥२२०॥

इस भयंकर प्रसंग में अकेले राजभक्त नरवाहन मन्त्री ने अपने बान्धव सहित दिद्दारानी के पक्ष को नहीं छोड़ा ॥२२१॥ अपनी विशाल सेना को लिये हुए तथा आयुधों को चमकाते हुए शत्रु लोग युद्ध करने के लिये पद्मस्वामी के मन्दिर के पास पहुँचे ॥२२२॥ इस घटना से व्याकुल होकर दिद्दारानी ने अपने पुत्र को शूरमठ में भेज दिया और वह इस आपत्ति को शान्त करने के उपायों को सोचने लगी ॥२२३॥ उसने शीघ्र ही ललितादित्यपुर में रहनेवाले ब्राह्मणों का विपुल सुवर्ण देकर अपनी ओर मिला लिया, और उनके द्वारा शत्रुओं के संघ में फूट डाल दी ॥२२४॥ किसी भी एक के ऊपर आने पर हम सभी उसके प्रतिकार के लिए तैयार रहेंगे इस प्रकार महिमन के साथ कोशपानपूर्वक शपथ करनेवाले उन लोगों ने दिद्दारानी के साथ सन्धि कर ली ॥२२५॥ उस पंगु रानी में गोष्पद को लाँघने की शक्ति का भी किसी को विश्वास न होता था, परन्तु उसने इस शत्रु-संघरूपी समुद्र को उल्लंघन करने में हनुमान का काम कर दिखाया ॥२२६॥ रत्न और महौषधियों के तो संग्रह से सब प्रकार की आपत्तियों का नाश होता है परन्तु इसके विपरीत जिस धन के त्याग से मनुष्य को सब आपदाओं से मुक्ति मिलती है उस धन को प्रणाम हो ॥२२७॥ उत्कोच (रिश्वत) देने की अपेक्षा भी उपकार करना अधिक श्रेष्ठ माना जाता है, इसलिए उस दिद्दारानी ने

यशोधर आदि को कम्पनेशादि पदों पर नियुक्त कर सम्मानित किया ॥२२८॥ बाद थोड़े ही दिनों में उसने अभिचार-कर्म करवा कर महिमन को मरवा डाला, इससे उस रण्डा का उस मण्डल में अप्रतिहत शासन हो गया ॥२२९॥ किसी समय शाही राजा थक्कन के मद को चूर्णित करने के लिए कम्पनाधिपति यशोधर अपने वंशजों को साथ लेकर गया ॥२३०॥

वह प्रदेश नदियाँ तथा पर्वतों से अत्यन्त दुर्गम था फिर भी उस अखण्ड शक्तिशाली कम्पनेश ने उस देश में वेग से प्रवेश कर थक्कन को पकड़ लिया ॥२३१॥ और शरण आये हुए उस शाही राजा से कर लेकर कम्पनेश ने फिर से उसे राज्याभिषेक कर उसकी राज्यश्रीरूपी लता को हरा-भरा कर दिया ॥२३२॥ उस अवसर में रानी के पास बेरोक-टोक जानेवाले रक्क आदि खल पुरुषों ने उस मूर्ख रानी के हृदय में कम्पनाधिपति यशोधर के विषय में द्वेष उत्पन्न कर दिया ॥२३३॥ राजा स्फटिक तथा दुःशील स्त्री के पास सर्वदा रहनेवालों के असांनिध्य से अन्य का उपराग प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् इनके पास जैसे सहचर रहेंगे वैसा ही रंग इन पर चढ़ेगा ॥२३४॥ मूर्ख लोग तथा वारांगनाओं के निकट झूठी चापलूसी करनेवाले विट लोग जैसे उनके हृदय में प्रवेश कर लेते हैं वैसे ही गर्भदास भी राजा लोगों के सम्मुख चापलूसी की बातें बनाकर उनको अपने वश कर लेते हैं ॥२३५॥ "कम्पनाधिपति ने रक्क से धन लेकर उसकी रक्षा की और राजद्रोह किया"—इस प्रकार का सन्देह रक्क ने सहज ही रानी के हृदय

में उत्पन्न कर दिया ॥२३६॥ उसके पश्चात् विजय-प्राप्ति से ऊर्जित कम्पनेश जब तक अपने घर पहुँचता है, इतने में ही दिद्दारानी ने उसे देश से निर्वासित करने के लिए अपने यष्टिकों को उसके यहाँ भेजा ॥२३७॥ इस प्रकार के उसके आक्षेपार्ह व्यवहार से रुष्ट होकर हिम्मक, एरमन्तक आदि ने अपने कोशपानपूर्वक शपथ के अनुसार पूर्ववत् विद्रोह आरम्भ किया ॥२३८॥ उस समय रानी की ओर के भी कुछ लोग उस विद्रोह में सम्मिलित हो गये थे, परन्तु नरवाहन आदि राजभक्तों ने रानी के पक्ष को नहीं छोड़ा ॥२३९॥ रानी ने भी कुपित हुए शुभधर आदि विद्रोहियों को नगर में प्रविष्ट होते देख अपने पुत्र को भट्टारक मठ में रख दिया ॥२४०॥

उस समय राजमन्दिर के द्वार को बन्दकर उसके अन्दर रहती हुई पुत्ररहित दिद्दारानी को अनुकूल अवसर पाकर भी उन दुर्भाग्यमोहित मूर्ख विद्रोहियों ने परास्त नहीं किया ॥२४१॥ दूसरे दिन उस रानी के पक्षपाती लोग वहाँ आ पहुँचे और उनके बल पर वह कुछ निश्चिन्त भी हो गयी ॥२४२॥ जय-भट्टारिका मठ के पास से शूरमठ पर्यन्त के प्रदेश में स्थान-स्थान पर विद्रोहियों के साथ रानी के सैनिकों की मुठभेड़ होने लगी ॥२४३॥ उस युद्ध में राजसैन्य ने घबड़ाकर राजमन्दिर का आश्रय लिया, उस अवसर पर एकांगों ने सिंहद्वार पर अपना संगठन कर विद्रोहियों का सामना किया ॥२४४॥ उन्होंने अपने शरीर की पर्वाह न करते हुए घबड़ाये हुए सैनिकों को धैर्य देकर शत्रु-सेना पर आक्रमण

कर दिया, उससे शत्रु लोगों को कुछ पीछे हटना पड़ा ॥२४५॥ इतने में रणवाद्यों की ध्वनि से शत्रु सेना को भयभीत करता हुआ एवं राज-सेना को आनन्दित करता हुआ राजकुलभट्ट वहाँ आ पहुँचा ॥२४६॥ उसे आता देख शत्रु-पक्ष हताश हो गया, और उसके सैनिक भागने लगे, क्योंकि शस्त्र-देवता द्रोहरूपी अविनय को नहीं सहते ॥२४७॥ भीम-पराक्रम हिम्मक "लौह शृंखलाओं को तोड़ देता है और पत्थरों को फोड़ देता है" इस प्रकार की सर्वत्र प्रसिद्धि थी और वह सत्य थी ॥२४८॥ उसने उस युद्ध में अपनी उसी तलवार से राजकुलभट्ट की कमर पर जोरों से प्रहार किया परन्तु कवच का चमड़ा तक नहीं फटा ॥२४९॥ इस असम्भव बात को देखकर विद्रोही सैनिक हताश हो गये और हिम्मक मारा गया तथा यशोधर को रानी के सैनिकों ने पकड़ लिया ॥२५०॥

फिर भी ऐरमन्तक कुछ समय तक लड़ता ही रहा परन्तु उसकी तलवार टूट गई और वह अश्व पर से गिर गया और जीवितावस्था में ही पकड़ा गया ॥२५१॥ श्रीमान् राजपुत्र उदयगुप्त भी इस युद्ध में था, परन्तु राजवंशीय होने के कारण उसे सैनिकों ने नहीं पकड़ा और वह भी युद्ध छोड़कर किसी अज्ञात प्रदेश में चला गया ॥२५२॥ इस प्रकार विजय पाते ही उस रानी ने क्रोध से यशोधर, शुभधर तथा सबान्धव मुकुल को कारावास का दण्ड दिया ॥२५३॥ और परिहासपुरवासी ऐरमन्तक के गले में पत्थर बाँधकर उसे वितस्ता नदी में डुबा दिया, उसने गयातीर्थ में

काश्मीरवासियों द्वारा श्राद्ध के समय दिये जानेवाले शुल्क का उच्छेद कर डाला था, उसके दुर्नय का फल देवी के द्वारा क्रोध से अनुभव कराया गया ॥२५४-२५५॥ लौकिक वर्ष ३९७७ में होने वाले राजा गोपालवर्मा से लेकर अभिमन्यु पर्यन्त ६० साठ वर्ष में सोलह राजा हो गये, उनके प्राण, प्रताप तथा वैभव को हरण करनेवाले राजद्रोही सम्पूर्ण मन्त्री तथा उनके वंशज, आप्त एवं सेवकों को कुपित हुई दिद्दादेवी के द्वारा दुर्गाजी के द्वारा समूल नष्ट किये गये असुरों के समान भ्रूभङ्गमात्र से निश्शेष कर दिये गये ॥२५६-२५७-२५८॥ इस प्रकार उन मदोद्धत मन्त्रियों को उखाड़ कर दिद्दारानी ने रक्क आदि कर्मचारियों को कम्पनेश आदि पद प्रदान किये ॥२५९॥ मन्त्रिप्रकाण्ड एवं निर्द्रोह नरवाहन मन्त्री ने उस विधवा रानी के राज्य को निष्कंटक करके उसे इन्द्र के समान अखण्डमण्डलाधीश्वरी बना दिया ॥२६०॥

उस रानी ने भी कृतज्ञता को प्रगट करते हुए सम्मानपूर्वक उस निर्द्रोह नरवाहन मन्त्री को मन्त्रिसभा के अन्दर राजानक पदवी से भूषित किया ॥२६१॥ उसके सोने पर वह सोती थी और भोजन करने पर स्वयं भी भोजन करती थी तथा उसके हर्षित होने से प्रसन्न होती थी एवं उसे दुःखित देख खुद भी दुःखित होती थी ॥२६२॥ उसके घर रहने पर उसके स्वास्थ्य का वृत्तान्त जाने बिना और प्रत्येक कार्य में उससे परामर्श लिये बिना तथा अपने को प्रिय लगनेवाली वस्तुएँ उसको समर्पित किये बिना उसे चैन नहीं पड़ती थी ॥२६३॥ कुब्ज नामक पालकी उठानेवाले

एक कहार के सिन्धु तथा भुय्य नामक दो पुत्र थे, उनमें से बड़ा पुत्र सिन्धु पर्वगुप्त के घर का प्रिय सेवक था, वह शनैः शनैः वहाँ का गंजाध्यक्ष हो गया था, कुछ दिनों के बाद दिद्दारानी ने उसे अपने यहाँ गंजाधिकारी बना दिया। वह बहुत दिनों से कार्य कर रहा था और अपने कार्य में अत्यन्त निष्णात था इसलिए क्रमशः वहाँ का गंजाध्यक्ष भी हो गया। उसने राज्य की आय बढ़ाने के लिए नवीन-नवीन युक्तियाँ चलाकर सिन्धुगंज नामक नवीन कर्म स्थान (महकमा) स्थापित किया था, उसी दुष्टात्मा ने उस परतन्त्र बुद्धिवाली रानी से कहा कि नरवाहन मन्त्री ने आपका राज्य प्रायः अपने ही आधीन कर लिया है ॥२६४-२६५-२६६-२६७॥ इस कथन के प्रत्युत्तर में रानी ने भी "हाँ, वास्तव में ऐसा ही हुआ है" कहकर उसकी बात को स्वीकार कर लिया, उसी अवसर पर किसी दिन मन्त्री नरवाहन ने प्रेमपूर्वक उस रानी को अपने घर पर भोजन के लिए निमन्त्रित किया ॥२६८॥ तदनुसार अपने सेवकों के सहित मन्त्री के घर जाती हुई रानी से सिन्धु ने कहा कि वह मन्त्री आपको और आपके सेवकों को वहाँ पर बाँध लेगा। तब रानी ने भय से व्याकुल होकर उससे अपने बचाव का उपाय पूछा ॥२६९॥ वह मन्त्री के घर जाकर उसके बिना जाने ही वहाँ से राजमन्दिर को वापस आ गई और बाद में मैं स्त्री-धर्म (मासिक-धर्म) से युक्त हो गई हूँ इस प्रकार सन्देश भेज दिया ॥२७०॥

इस प्रकारके व्यवहार से नरवाहन के हृदय को दुःख हुआ

और उसने सोचा कि मैं इतना राजभक्त हूँ फिर भी रानी मेरे साथ ऐसा व्यवहार करती है, इससे उसका रानी पर प्रेम तथा भक्ति कम हो गए ॥२७१॥ इस प्रकार उन दोनों के पारस्परिक मनोमालिन्य को देखकर षड्यन्त्र रचनेवाले धूर्तों ने तिल के पिण्याक (खर) के समान उनमें निःस्नेहता को उत्पन्न कर दिया ॥२७२॥ वज्र (हीरक) सब धातुओं से अभेद्य और पाषाणमय सेतु जलसमूह से अभेद्य होता है परन्तु दुष्टों के आगे कोई भी अभेद्य नहीं है ॥२७३॥ जो धूर्तलोग बालक की अपेक्षा भी सरल दीखते हैं और बृहस्पति की अपेक्षा भी अधिक चतुर होते हैं, हम नहीं जानते कि वे कौन से परमाणुओं के संयोग से निर्माण किये जाते हैं ? ॥२७४॥ किसी पर भी विश्वास न करनेवाला कौआ दूसरे पक्षी (कोकिल) की सन्तान को अपनी समझता है, नीरक्षीर विवेक पटु हंस निःसार मेघ से डरने लगता है और प्रजा के शासन-कार्य में तीक्ष्ण-बुद्धि राजा खलपुरुषों के वचन को सत्य मान लेता है, इस प्रकार वैदग्ध्य (चातुर्य) और विमुग्धता (मूर्खता) के सम्मिश्रण से युक्त विधाता के विधान को धिक्कार हो ॥२७५॥ उस मूर्ख पंगु दिहारानी की अवस्था (स्थिति) उस श्रुतिवाह्यता (सुनी गई प्रत्येक बात पर विश्वास करने) के कारण मूर्ख एवं श्रुतिबाह्य (वेदानभिज्ञ) ब्राह्मण की प्रकृति के समान निन्दनीय हो गई थी ॥२७६॥ उस रानी ने नरवाहन को बार-बार इतना अपमानित किया कि जिससे संतप्त होकर उसने आत्महत्या कर ली ॥२७७॥ अप्रतीकार्य (जिससे बदला नहीं

चुकाया जा सकता) व्यक्ति के कुपित होने पर अपने तेज से तप्त-हृदय एवं कीर्ति-कामुक स्वाभिमानी पुरुष को मृत्यु के अतिरिक्त दूसरा कौन-सा शरण हो सकता है ? ॥२७८॥ मन्त्रिप्रवर नरवाहन के बिना उस रानी की राजलक्ष्मी निश्चन्द्रनिशा तथा सत्यरहित वाणी के समान सुशोभित नहीं होती थी ॥२७९॥ क्रूरता के निरन्तर अभ्यास से अत्यन्त निर्दय स्वभाववाली उस रानी ने अपने पास में रहनेवाले तथा परम पराक्रमी संग्राम डामर के पुत्रों को मरवा डालने का विचार किया ॥२८०॥

वे भी उसके भय से व्याकुल होकर उत्तर प्रान्त के घोष नामक निज ग्राम को वहाँ से भाग गये और आक्रमण करने को उद्यत हुए द्वाराधिपति कैय्यक आदि को उन्होंने मार डाला ॥२८१॥ इस वृत्तान्त को सुनकर उस रानी ने अपमान की लज्जा को त्यागकर प्रयत्न से उनके साथ सन्धिकर उन्हे अपने में मिला लिया क्योंकि स्वार्थ साधनपरायण व्यक्ति को स्वाभिमान कहाँ से होगा ? ॥२८२॥ परन्तु उन्होंने वहाँ वापस आने के पूर्व ही उस रानी से डरकर स्थानेश्वरादिक मुख्य डामरों से मेल कर लिया था और कुछ निर्भय हो गये थे। पश्चात् वहाँ आकर फिर से प्रबल हो गये ॥२८३॥ उस रक्त मन्त्री की मृत्यु हो जाने से रानी को डामरों का भय सर्वदा बना रहता था इसलिए उसने फल्गुण को फिर से बुलवा लिया ॥२८४॥ यद्यपि उसने शस्त्र त्याग-कर दिया था तथापि राजकार्य करने के लिए फिर से शस्त्र धारण किया। क्योंकि भोग-वासना का त्याग अत्यन्त कठिन है ॥२८५॥

राजपुरी आदि स्थानों को जीतनेवाले उस फल्गुण मन्त्री का आश्चर्यकारक पुराना महत्व उस वृद्धबन्धकी द्वारा अवरुद्ध-सा हो गया था ॥२८६॥ दिद्दारानी के भ्राता उदयराज का अत्यन्त प्रिय सहायक अक्षपटलाधिकारी दुर्बुद्धि जयगुप्त तथा उसी के समान क्रूरवृत्ति के अन्य अधिकारियों ने मिलकर प्रजा के पाप से दूषित उस सम्पूर्ण काश्मीर देश में यथेष्ट लूटना शुरू किया ॥२८७-२८८॥ माता की दुःशीलता के पाप से दुःखित अभिमन्यु को क्षयरोग ने उस समय आक्रान्त कर लिया ॥२८९॥ उसके नेत्र कमल के समान सुन्दर थे वह स्वयं पण्डित होकर विद्वानों को अत्यन्त प्रिय था एवं विद्या तथा तारुण्य से अत्यन्त प्रकाशमान हो रहा था ॥२९०॥

परन्तु शुद्धप्रकृति उस अभिमन्यु के लिए दुष्ट लोगों का सम्पर्क कोमल-शिरीषकुसुम के लिए सूर्यताप के समान शोषक हो गया ॥२९१॥ आखिर वह प्रजाचन्द्र लौकिक वर्ष ४०४८ के कार्तिक मास में शुक्ल तृतीया आधी कलाओं के भी प्राप्त होने के पूर्व दुर्दैवरूपी राहु के द्वारा ग्रस लिया गया ॥२९२॥ उसके बाद उस रानी ने उसके अल्पवयस्क पुत्र नंदिगुप्त को राज्यासन पर बैठाया। दिद्दादेवी के हृदय में प्रबलतर पुत्र शोक ने अपना स्थान कर लिया ॥२९३॥ अन्धकार से आच्छन्न होने के कारण उष्णता गुणरहित सूर्यकान्तमणि के समान शोक के आक्रमण से उसकी क्रूरता आच्छादित हो गयी थी। उसका स्वभाव कुछ शान्त एवं शीतल हो गया था ॥२९४॥ उस दिन से उसकी अद्भुत धार्मिक

कार्यों की प्रवृत्ति से कुमार्ग से सम्पादन की गयी भी सम्पत्ति पवित्रता को प्राप्त हो गयी ॥२९५॥ सिन्धु का भ्राता नगराधिपति भुय्य अत्यन्त सदाचारी था, वह उस रानी के धार्मिक कार्यों की प्रवृत्ति को सर्वदा उत्तेजित करता था ॥२९६॥ उस भुय्य ने उस रानी के हृदय में प्रजा विषयक अनुराग उत्पन्न किया था तथा उसके पापों को नष्ट कर डाला था, इससे वह देवी सम्पूर्ण प्रजा को अत्यन्त प्रिय हो गयी थी ॥२९७॥ राजा की क्रूरता को लुप्त करनेवाला सज्जन एवं चतुर मन्त्री वास्तव में अत्यन्त दुर्लभ होता है जोकि सूर्य को सुखसेव्य बनानेवाले हेमन्त समय के समान राजा को सुखसेव्य बना देता है ॥२९८॥ उसने दिवंगत पुत्र की पुण्यवृद्धि के लिए अभिमन्युस्वामी का मन्दिर बनवाया तथा अभिमन्युपुर नामक नगर बसाया ॥२९९॥ और अपने नाम से भी दिद्दापुर बसाकर दिद्दास्वामी का मन्दिर बनवाया और मध्यदेश तथा लाटदेश एवं शौण्डोत्रदेश बासियों के रहने के लिए एक मठ भी बँधवाया ॥३००॥

अपने कंकणवर्षीपति के पुण्य को बढ़ाने के लिए उस सुवर्ण-वर्षिणी रमणी ने कंकणपुर नामक नगर बसाया ॥३०१॥ उसी प्रकार श्वेतवर्ण के पाषाणों से दिद्दास्वामी का दूसरा मन्दिर बनवाया, वह मन्दिर श्रीविष्णु के चरण से निर्गत गंगा के सलिल से क्षालित-सा धवल दीखता था ॥३०२॥ उसने काश्मीरवासी तथा विदेशी लोगों के रहने के लिए उन्नत चतुःशालायुक्त विशाल मठ बँधवाया ॥३०३॥ और अपने पिता सिंहराज के नाम से सिंह

स्वामी का मन्दिर बनवाकर विदेशी ब्राह्मणों को रहने के लिए एक मठ भी बँधवाया ॥३०४॥ उसने मठनिर्माण, देव-मन्दिरप्रतिष्ठा तथा वैकुण्ठनिर्माण आदि स्वकीय शुभ कृत्यों से वितस्तासिंधु संगम को अत्यन्त पवित्र कर दिया था ॥३०५॥ उन-उन प्रदेशों के नामों की गणना करने की क्या आवश्यकता है ? बस इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उसने ६४ चौसठ मन्दिर बनवाये थे और उनमें देव-प्रतिष्ठा की थी ॥३०६॥ देव-मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाने के समय उस देवी ने अग्निकांड से जले हुए मन्दिरों के प्राकारों को पत्थरों से ही प्रायः बनवाया था ॥३०७॥ दौड़ने के खेल में उस पंगु रानी को अपनी पीठ पर रखकर दौड़नेवाली वल्गा नामक दासी ने भी वल्गामठ बँधवाया ॥३०८॥ सर्वदा तीर्थ सेवन तथा मौनधारण करनेवाला भी तिमि अपने वंशजों को खाने में सन्नद्ध रहता है, केवल बादल से गिरे हुए जल को पीकर रहनेवाला मयूर वाताशनों (सर्पों) को प्रतिदिन भक्षण करता है, सर्वदा ध्यानावस्था में मग्न होकर भी बक विश्वासशील मत्स्यों को निगलता रहता है। पापियों के धर्माचरण अथवा पापाचरण के विषय में कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता ॥३०९॥ एक वर्ष व्यतीत होने पर उस जारिणी का शोक शान्त हो गया और वह फिर से भोगोत्सुक हो गई तथा उसने अपने पौत्र नन्दिगुप्त पर अभिचार कर्म करवाया ॥३१०॥

इस कर्म से उस कुमार्गगामिनी ने लौकिक वर्ष ४०४९ में मार्गशीर्ष शुक्ला १२ द्वादशी को उस अल्पवयस्क स्वपौत्र का जीवन

समाप्त कर दिया ॥३११॥ उसी प्रकार उसने अपने दूसरे पौत्र त्रिभुवन को लौकिक वर्ष ४०५१ में मार्गशीर्ष शुक्ला ५ पंचमी को अभिचार-कर्म से मरवा डाला ॥३१२॥ उसके बाद उस क्रूर-स्वभावा रानी ने अपने तृतीय पौत्र भीमगुप्त को अपनी इच्छा से राज्यसिंहासन रूपी मृत्युपथ पर निवेशित किया ॥३१३॥ उसी अवसर में वृद्ध फल्गुण मन्त्री का भी देहान्त हो गया जिसके भय से या गौरव से दिद्दा ने अपनी दुःशीलता तथा क्रूरता को दबा रखा था ॥३१४॥ उसकी मृत्यु के बाद वह रानी अत्यन्त उद्धत हो गई और निःशङ्क होकर शतशः कुकर्मों को प्रगट रूप से करने लगी और निरंकुश एवं मदोन्मत्त हस्तिनी के समान मुख पर से आवरण वस्त्र को हटाकर स्वच्छन्दता का व्यवहार करने लगी ॥३१५॥ महाकुल में उत्पन्न होनेवाली ललनाओं की प्रवृत्ति उन्नत स्थान से प्रगट होनेवाली महानदियों के समान स्वभाव से ही नीचगामिनी होती है यह बड़े ही दुःख का विषय है ॥३१६॥ जैसे सम्पूर्ण जलाशयों के स्वामी सागर से उत्पन्न होनेवाली लक्ष्मी अल्पसलिल समेत क्षुद्र सरोवर में उत्पन्न हुए कमल पर अनुरक्त होती है वैसे ही प्रसिद्ध एवं उत्तम कुल में उत्पन्न होनेवाली भी स्त्रियाँ नीचभोग्या होती हैं ॥३१७॥ पर्णोत्स प्रान्त के बहिर्वास ग्राम में रहनेवाले खश जाति के बाण नामक ग्रामीण का पुत्र तुङ्ग महिषियों का पालन करता था, वह सुगन्धसीह, प्रकट, नाग, अट्टयिक एवं षण्मुख नामक अपने पाँचों भाइयों के साथ काश्मीर में आकर पत्रवाहक का कार्य करने लगा था, एक बार सान्धि-

विग्रहिक मन्त्री के वहाँ बैठे हुए उस तुङ्ग को दिद्दारानी ने देख लिया और वह उसपर मोहित हो गई ॥३१८-३१९-३२०॥

उसने अपनी एक दासी को भेजकर गुप्त रीति से एकान्त में उसे अपने पास बुलवाया, यद्यपि वह रानी अनेक उपपतियों का उपभोग कर चुकी थी तथापि होनहार की महिमा से वह तरुण उसे अधिक प्रिय लगा ॥३२१॥ उसके बाद तुङ्गानुरागिणी उस पापिन ने अपने अनुराग में विरोध प्रगट करनेवाले पवित्रात्मा भुय्य को विष देकर मरवा डाला ॥३२२॥ विचारशून्य हृदयदुष्ट स्वामियों को धिक्कार हो, जिनके प्रसन्न होने पर केवल शुष्क प्रसंशा का ही लाभ होता है और रुष्ट होने से अमूल्य प्राणों का नाश हो जाता है ॥३२३॥ मन्त्री रक्क का पुत्र वेलाविक्त देवकलश अत्यन्त निर्लज्ज होकर विट बनकर उस रानी का कौट्टिन्य (मध्यस्थता) करता था, उसे उस रानी ने भुय्य के अधिकार पर नियुक्त कर दिया ॥३२४॥ उस समय जबकि कर्दमराज आदि द्वाराधिपति तथा प्रधान मन्त्री तक विट बनकर उस रानी का कौट्टिन्य करने लगे थे तब वहाँ दूसरों की गणना ही क्या हो सकती है ? ॥३२५॥ वह शिशु भीमगुप्त भी चार-पाँच वर्ष राज-मन्दिर में रहने पर कुछ प्रौढ़बुद्धि हो गया था ॥३२६॥ राज्य-शासन की दुर्व्यवस्था और अपनी पितामही का दुश्चरित्र उसकी समझ में अच्छी तरह से आ चुका था और वह सुधार करना आवश्यक समझता था ॥३२७॥ तब तक उसके इस रंगढंग को देखकर चंचलचित्त तथा अंगहीन (पंगु) एवं शीलहीन (जारिणी)

और निसर्गतः निर्दय उस रानी के मन में उसके विषय में सन्देह तथा अविश्वास होने लगा ॥३२८॥ वह भीमगुप्त उत्तम वंश में उत्पन्न हुआ था और उसे अभिमन्यु की पत्नी ने गुप्तरीति से अपने पुत्र के परिवर्तन में प्राप्त किया था, इसलिए वह उत्तम प्रकृति का था ॥३२९॥ दिद्दारानी ने व्याकुल होकर देवकलश की सूचना के अनुसार उस भीमगुप्त को प्रगट रूप से कारागार में बन्द कर दिया ॥३३०॥

पहिले गुप्तरीति से किये गये नन्दिगुप्त आदि के द्रोह के विषय में लोगों के मन में जो सन्देह हो रहा था उसे उस रानी ने इस प्रगट रीति से किये गये कार्य के द्वारा सर्वथा सत्य प्रमाणित कर दिया ॥३३१॥ उस दुष्टा ने कारावास में भीमगुप्त की बड़ी दुर्गति करवाई और अन्त में अनेक कष्ट देकर उसे मरवा डालने के बाद लौकिक वर्ष ४०५६ में उस रानी ने स्वयं ही राजसिंहासन को अक्रान्त कर लिया ॥३३२॥ उस रानी का तुङ्ग पर अतिशय प्रेम हो गया था इसलिए उसने तुङ्ग को प्रतिदिन बढ़ाते हुए सर्वाधिकारी बना दिया इससे वह सब मन्त्रियों को अपने प्रभाव से दबाकर उन्नत हो गया था ॥३३३॥ अन्यान्य अधिकारों पर आरूढ़ हुए तुङ्ग के भ्राता तथा तुङ्ग के कारण अधिकारच्युत हुए मन्त्रियों ने रुष्ट होकर परस्पर संगठन करके राज्य में विप्लव मचाने का विचार किया ॥३३४॥ उन्होंने रानी के भाई के पुत्र कठोर स्वभाव तथा प्रबल पराक्रमी राजा विग्रहराज को काश्मीर में बुलवाया ॥३३५॥ उस बुद्धिमान पुरुष ने वहाँ आकर राज्य में

विप्लव मचाने के लिए मुख्य-मुख्य अग्रहार के ब्राह्मणों से प्रायोपवेशन प्रारम्भ करवाया ॥३३६॥ विप्रों को एकमत होकर प्रायोपवेशन करते देख और लोग भी भड़क उठे और तुङ्ग को मार डालने की इच्छा से यत्र-तत्र ढूँढ़ने लगे ॥३३७॥ दिद्दारानी विप्लव के भय से व्याकुल होकर तुङ्ग को कुछ दिनों तक किसी बन्द एवं सुरक्षित भवन में छिपा दिया ॥३३८॥ और उस चतुरा रानी ने विपुल सुवर्ण देकर समनोन्तक आदि ब्राह्मणों को अपनी ओर मिला लिया, इससे प्रायोपवेशन बन्द हो गया ॥३३९॥ इस प्रकार उस भयंकर उपद्रव को उस रानी ने सुवर्ण-प्रदान द्वारा नष्ट कर दिया तब वह विग्रहराज निरुत्साह एवं हतवीर्य होकर जैसे आया था वैसे ही चला गया ॥३४०॥

उसके बाद सामर्थ्यवान् तुङ्ग आदि अधिकारियों ने स्थैर्य को प्राप्तकर विप्लव करनेवाले कर्दमराज आदि विद्रोहियों को मार डाला ॥३४१॥ उन्होंने क्रुद्ध होकर रक्क के पुत्र सुलक्कन तथा अन्य मन्त्रियों को काश्मीर देश से निर्वासित कर दिया और बाद में संतुष्ट होकर फिर से बुलवा लिया ॥३४२॥ वैर के अधिक बढ़ जाने के कारण विग्रहराज ने गुप्त दूतों को भेजकर ब्राह्मणों से पुनः प्रायोपवेशन करवाया ॥३४३॥ उत्कोच (रिश्वत) लेने की इच्छा से प्रायोपवेशन करनेवाले ब्राह्मणों को अधिकार स्थैर्य प्राप्त करने वाले तुङ्ग ने उत्कोच देकर अपने वश में कर लिया ॥३४४॥ उन ब्राह्मणों में विग्रहराज का कृपापात्र आदित्य नामक कटकवारिक गुप्त रूप से रहता था, वह वहाँ से भागते हुए मारा गया ॥३४५॥

इसी प्रकार वत्सराज नामक प्रतिहार भी पलायन करता हुए शस्त्र से घायल होकर न्यंकोतक आदि पुरुषों के द्वारा जीवितावस्था में ही पकड़ा गया ॥३४६॥ तुङ्ग ने सुवर्ण ग्रहण करनेवाले सुमनोन्तक आदि ब्राह्मणों को भी बाँधकर कारागार में भेज दिया ॥३४७॥ उसके बाद फल्गुण मन्त्री के मरण से राजपुरी का राजा पृथ्वीपाल फिर से उपद्रव करने लगा था, इससे सब मन्त्रियों ने रुष्ट होकर उस पर चढ़ाई कर दी ॥३४८॥ इस भयंकर संकट में भी राजपुरी के शासक वीर पृथ्वीपाल ने काश्मीरिक सेना को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला ॥३४९॥ उस युद्ध में शिपाटक तथा हंसराज नामक दो मन्त्री मारे गये और चन्द्र आदि मन्त्रियों की तो इतनी दुर्गति हुई कि जिसकी अपेक्षा उनका मरना ही अच्छा था ॥३५०॥

इधर उस साहसी वीर तुङ्ग ने अपने भाइयों के समेत अन्य मार्ग से राजपुरी में प्रवेशकर सहसा उसे आग लगाकर राखकर डाला ॥३५१॥ उस उपाय से राजा पृथ्वीपाल पराजित हो गया और शेष मन्त्री भी सेना समेत उस संकट से मुक्त हो गये ॥३५२॥ तब राजा पृथ्वीपाल ने लाचार होकर तुङ्ग को कर दिया। इस प्रकार बिगड़ते हुए कार्य को उस बुद्धिशाली तुङ्ग ने बना लिया ॥३५३॥ विजयी होकर नगर में प्रवेश करते हुए तुङ्ग ने दिद्दारानी के द्वारा समर्पित किये कम्पनेश के पद को स्वीकार किया। इसी प्रकार उस सिंह-सदृश-शूर तुङ्ग ने डामर समूह के उपद्रव को समूल नष्टकर डाला ॥३५४॥ दिद्दारानी ने भी निश्शंक होकर अपने भ्राता उदयराज के पुत्र संग्रामराज की परीक्षाकर

इसी प्रकार वत्सराज नामक प्रतिहार भी पलायन करता हुए शस्त्र से घायल होकर न्यंकोतक आदि पुरुषों के द्वारा जीवितावस्था में ही पकड़ा गया ॥३४६॥ तुङ्ग ने सुवर्ण ग्रहण करनेवाले सुमनोन्तक आदि ब्राह्मणों को भी बाँधकर कारागार में भेज दिया ॥३४७॥ उसके बाद फल्गुण मन्त्री के मरण से राजपुरी का राजा पृथ्वीपाल फिर से उपद्रव करने लगा था, इससे सब मन्त्रियों ने रुष्ट होकर उस पर चढ़ाई कर दी ॥३४८॥ इस भयंकर संकट में भी राजपुरी के शासक वीर पृथ्वीपाल ने काश्मीरिक सेना को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला ॥३४९॥ उस युद्ध में शिपाटक तथा हंसराज नामक दो मन्त्री मारे गये और चन्द्र आदि मन्त्रियों की तो इतनी दुर्गति हुई कि जिसकी अपेक्षा उनका मरना ही अच्छा था ॥३५०॥

इधर उस साहसी वीर तुङ्ग ने अपने भाइयों के समेत अन्य मार्ग से राजपुरी में प्रवेशकर सहसा उसे आग लगाकर राखकर डाला ॥३५१॥ उस उपाय से राजा पृथ्वीपाल पराजित हो गया और शेष मन्त्री भी सेना समेत उस संकट से मुक्त हो गये ॥३५२॥ तब राजा पृथ्वीपाल ने लाचार होकर तुङ्ग को कर दिया। इस प्रकार बिगड़ते हुए कार्य को उस बुद्धिशाली तुङ्ग ने बना लिया ॥३५३॥ विजयी होकर नगर में प्रवेश करते हुए तुङ्ग ने दिद्दारानी के द्वारा समर्पित किये कम्पनेश के पद को स्वीकार किया। इसी प्रकार उस सिंह-सदृश-शूर तुङ्ग ने डामर समूह के उपद्रव को समूल नष्टकर डाला ॥३५४॥ दिद्दारानी ने भी निश्शंक होकर अपने भ्राता उदयराज के पुत्र संग्रामराज की परीक्षाकर

उसे युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया ॥३५५॥ उसकी परीक्षा करने के लिए रानी ने अपने भाई के शैशववयस्थित सभी पुत्रों को एकत्रितकर उनके सम्मुख सेंव के फल रख दिये थे ॥३५६॥ और इन फलों में से कौन कितने फल ले सकता है ऐसा कहकर उसने उन बालकों में परस्पर कलह करवा दिया ॥३५७॥ बाद उसने अन्य सब बालकों को घायल होकर भी थोड़े फल लिए हुए देखा और संग्रामराज को अधिक फल लेने पर भी अक्षत ही पाया ॥३५८॥ जब रानी ने साश्चर्य होकर उससे कहीं भी चोट न लगने पर भी अधिक फल पाने का कारण पूछा, तब उसने उसे कहा ॥३५९॥ मैंने पहिले तो इन सब बालकों को पारस्परिक कलह में व्यापृत कर दिया और स्वयं तटस्थ रहकर अधिक फल ले लिये तथा अक्षत बना रहा ॥३६०॥

दूसरों को आपत्ति में फँसाकर दूर से खेल देखने वाले क्लेशहीन चतुर या चालाक लोगों के कौन से स्वार्थ सिद्ध नहीं होते ? ॥३६१॥ इस प्रकार उसके चातुर्यपूर्ण वचन को सुनकर नारी स्वभाव के कारण भीरु उस रानी ने उस संग्रामराज को ही राज्य करने के योग्य समझा ॥३६२॥ शूर पुरुष को शौर्य से ही कार्यसिद्धि का निश्चय होता है और भीरु को भीरुता से अर्थात् सावधान रहकर करने से अपने कार्य की सिद्धि का विश्वास होता है, यह स्वाभाविक बात है ॥३६३॥ अग्नि स्पर्शरहित काष्ठ भी बानरों को शीतनिवारक प्रतीत होता है और अग्निशौच मृगों के लोभ की शुद्धि के लिये अग्नि ही जल का काम करता है प्रत्येक

प्राणी का कार्य भिन्न-भिन्न पदार्थों से निष्पन्न होता है इसमें उन पदार्थों का कोई स्वाभाविक गुण धर्म नहीं होता ॥३६४॥ पश्चात् लौकिक वर्ष ४०७९ में भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को दिद्दारानी के स्वर्गवास होने के कारण वह युवराज संग्रामराज काश्मीर मण्डल का शासक हुआ ॥३६५॥ इस काश्मीर मण्डल के राजाओं की वंश-परंपरा में स्त्री के सम्बन्ध से आश्चर्यकारक यह तीसरा परिवर्तन हुआ ॥३६६॥ कण्टक-कुल-रहित तथा समग्र-सम्पत्ति-सहित इस काश्मीर मण्डल में दावाग्नि-दग्ध-कुवृक्ष तथा नव नीरद-नीर-सिक्त उपवन में आम्रांकुरोदय के समान श्रीसातवाहन-कुल का उदय हुआ ॥३६७॥ कोमल अंतःकरण के कारण निगूढ़ धैर्यानुभाव सम्पन्न उस संग्रामराज ने सम्पूर्ण पृथ्वी को कमलनाल के समान सुशोभित होनेवाले फणामण्डल से आत्मसार (अपनी शक्ति) को गुप्त रखनेवाले शेष के समान अपनी भुजा पर धारण कर लिया ॥३६८॥

इस तरंग में ६४ वर्ष ८ मास १५ दिन में १० राजाओं ने राज्य किया।

इति श्रीकाश्मीरिकमहामात्यचम्पकप्रभुसुतकल्हण
महाकविविरचितायां राजतरंगिण्यां
षष्ठस्तरंगस्समाप्तः ।

सप्तम तरंग

"विधाता ने तेरी माता का अथवा तुझ माता का शरीर निर्मल पितृगणों के कुल में उत्पन्न किया है और तू सन्ध्या के समय में मेरे निकट रहकर जयाकुसुम के समान रक्त अथवा जपविधि में आसक्त मेरे अधरोष्ठ से खेलती है" इस प्रकार सन्ध्यादेवी के वन्दन से मत्सर रखती हुई गिरिजा की स्तुति के वाक्छल अर्थात् वचन-चातुर्य से सन्ध्यादेवी को भी वन्दन करते हुए भगवान् गौरीश्वर सम्पूर्ण जगत को प्रसन्न करें ॥१॥

उस संग्रामराज ने मन से तथा भुजा से क्षमा (क्षान्ति और पृथ्वी) को धारण करते हुए गाम्भीर्य से समुद्र को और शक्ति से राजाओं को जीत लिया ॥२॥ दिद्दारानी के मर जाने पर लोगों ने समझा था कि—दिनश्री के विगम (विरह) से रागी (लालिमा युक्त अथवा अनुरागी) सन्ध्याप्रसंग के समान तुङ्ग का भंग (महत्त्वनाश) हो जावेगा, परन्तु अनेक प्रतिपक्षियों को नष्ट-भ्रष्ट करने से उसका निरन्तर अभ्युदय होने लगा विधाता की गति को कौन जान सकता है ? ॥३-४॥ उस समय राजा का सम्बन्धी तथा सर्वाधिकारयोग्य चन्द्राकर दैववशात् मर चुका था ॥५॥ उसी प्रकार भीमतिकाग्रामनिवासी परम सम्पत्तिशाली पुण्याकर नामक दिविर के वीर पुत्र भी शान्त हो गये थे ॥६॥ इसलिए समर्थ मन्त्रियों के अभाव से इच्छा न होने पर भी राजा को विधाता ने ही तुङ्ग का पक्षपाती बना दिया था ॥७॥ आसन्नमरणा

दिद्दादेवी ने भी संग्रामराज तथा तुङ्गादि मन्त्रियों से परस्पर निर्द्रोह रहने के लिए कोशपानपूर्वक शपथ करवा ली थी ॥८॥ उसके बाद अत्यावश्यक कार्यवश से भी क्लेश को नहीं सहनेवाला राजा संग्रामराज तुङ्ग के ऊपर सम्पूर्ण राज्यकार्यों के भार को रखकर स्वयं सुखोपभोग में निमग्न रहने लगा ॥९॥ उसकी अत्यधिक भीरुता का कहाँ तक वर्णन किया जाय ? क्योंकि उसने अपने असमान वंशजों के साथ कन्या सम्बन्ध कर उससे सर्वत्र व्याप्त हुए अपयश को चुपचाप सह लिया ॥१०॥

उसने अपनी कन्या लोठिका दिद्दामठ के अधिपति तथा शौर्य-सम्पत्ति-सम्पन्न प्रेम को सहायता मिलने की आशा से अर्पण कर दी ॥११॥ कहाँ तो प्रजापालन समर्थ बिजयी राजा के साथ व्याहने योग्य राजकन्या ? और कहाँ दानसम्बन्धी संकल्प के जल से सर्वदा आर्द्रहस्त संकुचित-चित्त ब्राह्मण ? ॥१२॥ उसके बाद तुङ्ग आदि मन्त्रियों को पदच्युत करवाने के लिए ब्राह्मण तथा कतिपय मन्त्रियों ने परिहासपुर में ब्राह्मणपरिषद के सभ्यों से प्रायोपवेशन करवाया ॥१३॥ ब्राह्मण तथा मन्त्रियों के ऐक्य से प्रारम्भ किया गया वह विप्लव पवनाग्नि-समागम के समान राजा को दुस्सह हो गया था ॥१४॥ वे ब्राह्मण राजा को भी राज्यच्युत करने के लिए सज्ज हो रहे थे परन्तु अत्यन्त प्रार्थना करने पर बड़ी कठिनता से उन्होंने क्षान्तिचरुप्राय (क्षमा रूपी यज्ञ के चरु के सदृश) तुङ्ग के अधिकारभ्रंश को स्वीकार किया ॥१५॥ राजा ने तथा तुङ्गादिकों ने उनकी उस माँग को पूरी करने की प्रतिज्ञा की

इतने पर भी उन शठबुद्धि ब्राह्मणों ने दूसरी-दूसरी कई माँगें उनके सम्मुख रखना शुरू किया ॥१६॥ उन्होंने किसी कूप में से एक ब्राह्मण के शव को निकालकर—"यह विप्र तुङ्ग के अत्याचार से मारा गया है इसलिए हम इसे तुङ्ग के घर में रखकर घर समेत जलायेंगे" ऐसा निश्चय कर उस शव को तुङ्ग के घर ले गए, केशहोम के द्वारा उन्होंने जो कृत्या उत्पन्न की थी वही कृत्या तुङ्ग के घर के पास उत्पन्न हुए भयंकर कलह के रूप में उन आचरण-हीन अपवित्र ब्राह्मणों के विनाश के लिए विपरीत-सी हो गई और अकस्मात् शस्त्र चलने लगे अर्थात् तुङ्ग के सशस्त्र सेवकों ने उन ब्राह्मणों पर आक्रमण कर दिया ॥१७–१८–१९॥ तब वे ब्राह्मण वहाँ से भागकर अपने मन्त्रदाता (सलाह देनेवाला) राजकलश के भवन में आश्रय के लिए प्रविष्ट हुए ॥२०॥

अपने षड्यन्त्र को प्रगट हुआ जानकर वह राजकलश बड़ी देर तक युद्ध करता रहा और वे ब्राह्मण उसके घर के पीछे के दरवाजों में से भागकर अपने घर चले गये ॥२१॥ राजकलश के परास्त होने पर उसी पक्ष के श्रीधर के पुत्र सात मन्त्री वहाँ आकर युद्ध करने लगे ॥२२॥ युद्ध में अपने पराक्रम को पूर्ण रूप से प्रगट करते हुए उन वीरों ने अन्त में शत्रुओं के द्वारा मारे जाकर सूर्य मण्डल का भेदन किया और ऊर्ध्वगति (मोक्ष) प्राप्त की ॥२३॥ युद्ध में उन सातों वीरों के शान्त होने के बाद सुगन्ध-साह ने पराजित राजकलश को बाँध लिया और तुङ्ग ने उसे उसी अवस्था में अपने घर बुलवाया ॥२४॥ शस्त्रहीन और घायल हुए

उस राजकलश को मार्ग में तुङ्ग के सेवकों ने अनेक कष्ट दिये, वे उसके कन्धों पर बैठे उन्होंने उसे नचाया और दौड़ाया ॥२५॥ दूसरा मन्त्री भूतिकलश भी परास्त होकर अपने पुत्र राजक के समेत शूरमठ को चला गया ॥२६॥ कुछ दिनों के बाद सुगन्धसीह आदि मन्त्रियों ने करुणार्द्र होकर राजकलश को छोड़ दिया तब वह अपमानरूपी अग्नि से सन्तप्त होकर अपने पुत्र के सहित देशान्तर को चला गया ॥२७॥ इस प्रकार परिहासपुर में से उत्पन्न हुआ वह देश-विप्लव सुदैव के प्रभाव से तुङ्ग के लिए शुभावह हुआ ॥२८॥ गुणदेव नामक मन्त्री के द्वारा राजा को प्रसन्नकर भूतिकलश भी गंगास्नान करके फिर से काश्मीर को आ गया ॥२९॥ उसने शनैः शनैः राज्य में थोड़ा बहुत अधिकार पाकर तुङ्ग की गुप्त हत्या करने के लिए घातकों की नियुक्ति का राजा से उपक्रम किया ॥३०॥

इस बात का पता लगते ही तुङ्ग ने राजा से कहकर राजा की आज्ञा से भूतिकलश को पुत्र समेत फिर से काश्मीर देश से निर्वासित करवा दिया ॥३१॥ चन्द्राकर के पुत्र मय्यमन्तक की प्रतिष्ठा तथा प्रभाव कुछ दिनों तक अच्छा रहा परन्तु वह शीघ्र ही मृत्यु के मुख में चला गया ॥३२॥ इसी प्रकार उस समय में थोड़े ही दिनों तक राजकन्या के समागमसुख का पात्र बनकर राजा का उपकार करनेवाला श्रीमान् प्रेम भी स्वर्ग को चला गया ॥३३॥ और भी राजा के प्रिय सेवक गंग आदि भी मृत्यु को प्राप्त हो चुके थे, केवल भ्राताओं के सहित तुङ्ग सुखोपभोग के

लिए बाकी रह गया था ॥३४॥ इस प्रकार जो-जो घटनाएँ लोगों की दृष्टि में तुङ्ग के लिए घातक सिद्ध होती थी, वे ही प्रत्येक घटनाएँ दैव की अनुकूलता से प्रत्युत उसके उत्कर्ष का कारण बन जाती थीं ॥३५॥ कालक्रम से आश्रयभूमिरहित तथा अपनी जड़ों के सहारे से खड़े हुए नदी तट के वृक्ष को जिस बाढ़ से उखाड़े जाने की शंका की जाती है उसी बाढ़ के द्वारा बहाकर लाये गये मिट्टी के ढेर से वह वृक्ष दृढ़मूल एवं सुरक्षित बना दिया जाता है ॥३६॥ तुङ्ग की कार्य प्रणाली नीतियुक्त एवं उज्ज्वल थी वह प्रजा की आराधना में सर्वदा सन्नद्ध रहता था। कुछ समय के बाद पूर्वजन्मोपार्जित सुकृत के क्षय से उसकी बुद्धि शनैः शनैः चंचल एवं मलिन हो गयी ॥३७॥ क्योंकि उसने खुद के सद्भाग्य के विनाश के लिए हीनकुल में उत्पन्न हुए क्षुद्र स्वभाव भद्रेश्वर नामक कायस्थ को अपना सहायक बनाया ॥३८॥ वह भद्रेश्वर बगीचे में माली का काम करता था, खेतों में पौधों को खाद देने के लिए मैले का बेचना, कसाईपन काष्ठादिविक्रय ये ही उसकी वंशपरंपरा के कार्य थे ॥३९॥ उसके बाद वह उदरपोषण के लिए पीठ पर मोटा कम्बल ओढ़े दफ्तर का गट्ठा सिर पर रखकर दावात हाथ में लिए हुए कर्मचारियों के पीछे-पीछे फिरता था ॥४०॥

अनेक राजकीय-कार्यों के निरन्तर चिन्तन से श्रान्त हुए तुङ्ग ने उस दुष्ट भद्रेश्वर को अपना सहायक बनाकर उसके संसर्ग से होनेवाले अपने भाग्यक्षय को नहीं जाना ॥४१॥ तुङ्ग ने पवित्र

हृदय एवं धार्मिक धर्मार्क को हटाकर उसकी जगह गृहकृत्याधिकार पर उस पापी भद्रेश्वर को नियुक्त किया ॥४२॥ अकाल मृत्यु के समान दुःखद उस दुष्ट बुद्धि कायस्थ ने राजोपजीवी देव, गौ, ब्राह्मण, अनाथ, अतिथि आदि की जीविका का उच्छेदकर डाला ॥४३॥ शव को भक्षण करने वाला क्रूर कापालिक भी आत्मीय जनों का पोषण करता है, परन्तु उस पापी भद्रेश्वर ने तो आत्मीय जनों का भी जीवन हरण किया ॥४४॥ तुङ्ग ने चैत्र मास में भद्रेश्वर को सर्वाधिकारी बना दिया। पश्चात् आषाढ़ मास में सुगन्धसीह शान्त हो गया ॥४५॥ सम्पूर्ण राजकार्यों के भार को धारण करने योग्य अनुज के गमन से अत्यन्त दैन्ययुक्त तुङ्ग को अपने शिरश्छेद के समान दुःख हुआ ॥४६॥ कुछ समय के बाद शाही राजा त्रिलोचनपाल ने काश्मीर नरेश संग्रामराज से सहायता माँगी थी, इसलिए राजा ने तुङ्ग को मार्गशीर्ष मास में शाही के देश में भेजा ॥४७॥ उसके साथ राजपुत्र, महामात्य, सामन्त आदि से परिपूर्ण तथा धरातल को कम्पित करनेवाली विशालसेना भेजी गयी ॥४८॥ शाही राजा ने सम्मुख आकर पुत्रसहित तुङ्ग का उत्तम प्रकार से स्वागत किया और तुङ्ग उसके देश में पाँच-छ दिनों तक निश्चिन्त होकर रहा ॥४९॥ रात्रि में जागरण, गुप्तचरों को भेजना, शस्त्रों का अभ्यास आदि युद्धोपयोगी आवश्यक कार्यों से विमुख देखकर शाही राजा ने तुङ्ग से कहा ॥५०॥

आपको जब तक तुरुष्क लोगों के युद्ध की रीति पूर्ण-रूप से विदित न हो सके तब तक निरुद्योग होकर इस पर्वत के शिखर

पर ही ठहरना चाहिए ॥५१॥ इस प्रकार त्रिलोचनपाल शाही के हितकारक वचन को तुङ्ग ने नहीं माना और सेनासहित गर्व के साथ युद्ध के लिए उत्कण्ठित होने लगा ॥५२॥ तुरुष्क-सेनापति हम्मीर ने अपनी थोड़ी-सी सेना जिज्ञासा (जानकारी) के लिए भेजी थी, उस सेना को तुङ्ग ने तौषी नदी को पार करके परास्त कर दिया ॥५३॥ इस कार्य से तुङ्ग के शौर्यगर्व की मात्रा अधिक बढ़ गयी थी, परन्तु शाही राजा ने उसे वही पुरानी बात कही ॥५४॥ फिर भी समरोत्सुक तुङ्ग ने शाही के वचन को नहीं माना, विनाश के निकट होने पर उपदेश व्यर्थ होता है ॥५५॥ दूसरे दिन व्यूह रचनानिपुण तुरुष्क सेनापति हम्मीर ने क्रुद्ध होकर स्वयं सेना समेत दार्वाभिसारप्रान्त की ओर से आक्रमण किया ॥५६॥ उस युद्ध में तुङ्ग की सेना सहसा पराजित हो गयी परन्तु शाही की सेना कुछ समय तक वीरता के साथ युद्ध भूमि में विचरती हुई देखी गयी ॥५७॥ कुछ समय के बाद शाहीसेना के परास्त होने पर भी उस रणभूमि पर जयसिंह, श्रीवर्धन और संग्राम डामर के कुल में उत्पन्न हुआ विभ्रमार्क डामर ये तीनों अपने शौर्य से प्रकाशमान होने लगे ॥५८॥ विशाल अश्वसेना-संकुल उस वीर क्षेत्र में बड़े जोरों से शत्रुओं पर शस्त्र चलाते हुए तीनों वीरों ने नष्ट होती हुई अपने देश की कीर्ति को सुरक्षित रख लिया ॥५९॥ उस युद्ध में शाही राजा त्रिलोचनपाल के महत्त्व का अर्थात् उसकी शूरता के माहात्म्य का कौन वर्णन कर सकता है ? असंख्य होकर भी शत्रु लोग जिसे संख्य (युद्ध) में नहीं जीत सके ॥६०॥

युद्ध-भूमि में रुधिर को बरसानेवाला वह त्रिलोचन कल्पान्त में प्रखरवन्हिज्वालाओं को फैलानेवाले त्रिलोचन (कालरुद्र) के समान सुशोभित हो रहा था ॥६१॥ अन्त में वह वीरशिरोमणि त्रिलोचनपाल अपने अंगीकृतकार्य के महत्त्व को सोचकर असंख्य कवचधारी वीरों के साथ लड़ते हुए उस रणसंकट से निकल गया ॥६२॥ राजा त्रिलोचनपाल के दूर चले जाने के बाद उस प्रचण्डचाण्डालसैन्य रूपी टीड़ियों के दल से वह सम्पूर्ण क्षितिमण्डल आच्छादित हो गया ॥६३॥ त्रिलोचनपाल के अमानुषिक शौर्य का स्मरण करता हुआ वह तुरुष्कसेनापति हम्मीर विजयी होने पर भी स्वस्थ एवं सन्तुष्ट न हो सका ॥६४॥ राज्यच्युत त्रिलोचनपाल भी अपनी गजसेना के अवलम्ब से पुनः विजयश्री के प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा ॥६५॥ कुछ समय के बाद इस संसार में शाही राज्यश्री का नाम तक अवशेष न रहा इस विषय में विस्तारपूर्वक वर्णन करना यहाँ आवश्यक न होने से केवल प्रसंगवशात् थोड़ा-सा उल्लेख किया है ॥६६॥ जो बातें स्वप्न में भी असम्भव तथा मनोरथों के भी परे हुआ करती हैं, उन असम्भव एवं अचिन्त्य घटनाओं को सहज ही कर दिखाने वाले विधि के लिए कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है ॥६७॥ शंकरवर्मा के शासन-वर्णन के अवसर में इस प्रचण्ड शाही राज्य के अद्भुत वैभव का तथा विस्तार का दिग्दर्शन पहिले ही करा चुके हैं ॥६८॥ वह सुविस्तृत शाहीराज्य, वह देश, वहाँ के नरेश, मन्त्री तथा परिजन-परिवार कभी थे भी या नहीं थे इस प्रकार मन में

सन्देह होने लगता है ॥६९॥ इस प्रकार परास्त होकर तुरुष्क लोगों को सम्पूर्ण पृथ्वी पर उपद्रव मचाने के लिए मार्ग साफकर वह तुङ्ग अपने देश में शनैः शनैः प्रविष्ट हुआ ॥७०॥

शृगाल के समान हारकर लौटे हुए तुङ्ग पर धैर्यवान् राजा ने इस पराजयरूपी अपराध के लिए क्रोध नहीं किया ॥७१॥ परन्तु उस राजा को स्वयं को तुङ्ग-पराधीनता बहुत खटकने लगी, क्योंकि पराधीनता से पशु के भी चित्त में उद्वेग उत्पन्न होता है ॥७२॥ तुङ्ग का पुत्र कन्दर्पसिंह सम्पत्ति एवं शौर्य के मद से राजा के समान व्यवहार करता था, इसलिए वह भी राजा के चित्त को उद्विग्न करता था ॥७३॥ उस समय में छिद्रान्वेषी राजा का भ्राता विग्रहराज भी तुङ्ग की हत्या करवाने के लिए राजा को बार-बार प्रेरित करने लगा ॥७४॥ परन्तु कोशपानपूर्वक तुङ्ग के साथ की गई पारस्परिक अद्रोह की प्रतिज्ञा के स्मरण करने से राजा की बुद्धि में चिरकाल तक संशय ही बना रहा और वह किसी प्रकार का निश्चय न कर सका बाद में उसने उन प्रेरकों से कहा ॥७५॥ तुङ्ग तथा उसका पुत्र जब कभी अकेले हमारी दृष्टि के सामने दिखाई देंगे तब हम सोचेंगे कि अब हमें क्या करना चाहिए ॥७६॥ अन्यथा यदि उसके ऊपर आक्रमण किया गया तो अवश्य ही वह अपनी प्रबल शक्ति से हमारा बध कर डालेगा इस प्रकार समय व्यतीत करने के लिए राजा ने उनके आगे बहाना बना दिया ॥७७॥ और उन्होंने राजा के इस वचन को तुङ्ग की हत्या का बीजरूप आदेश समझ कर अपने हृदय में रख लिया, तथा तुङ्ग की उस

स्थिति (पुत्र समेत एकाकी होकर राजा के पास जाने की अवस्था) का निर्माण करने के लिए प्रयत्न करने लगे ॥७८॥ उसके बाद छः महीनों के अन्दर ही एक दिन राजा ने तुङ्ग को घर से बुलवाया। दुःस्वप्न आदि अशुभ शकुन होने पर भी वह तुङ्ग अपने पुत्र को साथ लेकर घर से निकला ॥७९॥ राजभवन में आकर राजा के आस्थान मण्डप में पहुँचा वहाँ कुछ समय तक राजा के निकट ठहरकर पाँच-छः सेवकों को साथ में लेकर मन्त्र मण्डप में प्रविष्ट हुआ ॥८०॥

वहाँ उसके पीछे प्रविष्ट हुए पर्व, शर्करक आदि राजसेवकों ने राजा को सूचित किये बिना ही तुङ्ग पर शस्त्र प्रहार किया ॥८१॥ राजा शंकरवर्मा के शासनकाल में महारथ नामक जो मन्त्री था उसके वंशज सिंहरथ ने उस क्षण में निश्शस्त्र रहने पर भी तुङ्ग के ऊपर शस्त्र-प्रहार होते ही अपने स्वामी को बचाने के लिए उसके पीछे अपना शरीर खो दिया इसलिए तुङ्ग के सेवकों में सबसे अधिक वही प्रशंसनीय हुआ ॥८२-८३॥ प्रथम प्रहार में भय से तुङ्ग का श्वास रुक गया अर्थात् वह निष्प्राण हो गया और इधर इस घटना के भय से राजा का रुका हुआ श्वास तुङ्ग के निरुच्छ्वास होने पर फिर से चलने लगा ॥८४॥ उस समय आस्थान ब्राह्मण धर्म का पुत्र पार्थ और दुष्टबुद्धि कंक दोनों ही तुङ्ग की पापकर्म-प्रवृत्ति के उत्तेजक मन्त्रमण्डप में तुङ्ग के पास ही थे ॥८५॥ उन दोनों ने भयत्रस्त होकर मल मूत्र त्याग दिया और उनके हाथ से शस्त्र भी गिर पड़ा और पशु के समान आत्मरक्षा के लिए उन्होंने

अपने मुख में अंगुली रख ली ॥८६॥ तुङ्ग के अन्तरंग मन्त्री चंग आदिकों ने सशस्त्र होकर भी अबलाओं के समान मौन धारण कर लिया ॥८७॥ तुङ्ग के मरण वृत्तान्त से अनभिज्ञ बाहर खड़े हुए तुङ्ग के सैनिकों से युद्ध एवं अग्निकाण्ड के द्वारा विप्लव होने की शंका से डरकर राजा ने अपने सेवकों को आश्वासन अथवा धैर्य देने के लिए पुत्र समेत तुङ्ग के सिर को काटकर बाहर फिंकवा दिया ॥८८-८९॥ स्वामी के कटे हुए मस्तक को देख कर अधिकांश सैनिक दैन्य युक्त होकर भाग गये परन्तु उनमें से थोड़े से सेवकों ने मारकाट मचाकर अपने सेवा-धर्म को उज्ज्वल कर दिया ॥९०॥

उनमें से द्विजपुत्र सामन्त भुजंग ने पहुँचकर संग्रामराज का बुरी तरह से पीछा किया कि उसे घर-घर भागते फिरना पड़ा ॥९१॥ उसने राजा के आस्थानमण्डप के बन्द दरवाजे को कनकदण्ड से तोड़ डाला और अन्दर घुसकर वहाँ के बीस सैनिकों को मार डाला ॥९२॥ इसी प्रकार कोशाधिकारी (खजानची) त्रैलोक्यराज तथा कैय्यामन्तक का धात्रेय (उपमाता का पुत्र) अभिनव ये दोनों वीर वहाँ लड़ते-लड़ते मारे गये ॥९३॥ उस राजभवन के सम्मुख के आंगन में तुङ्ग के अनुजीवी ३० तीस एकांगों ने युद्ध में मर कर अपने शरीरों से स्वर्ग की निःश्रेणी सी बना दी थी ॥९४॥ उस समय वीर पद्मराज ने भी खूब लड़ाई लड़ी परन्तु वह वहाँ से अक्षत निकल आया और उसने अपने स्वामी की मृत्यु से उत्पन्न हुई दुःखाग्नि को तीर्थ-यात्रा के द्वारा शान्त किया ॥९५॥ दूसरे कुछ कापुरुषों ने इहलोक तथा परलोक

में रक्षा करनेवाले शस्त्र को समरभूमि में त्यागकर उज्ज्वल यश तथा स्वशरीर दोनों का वियोग प्राप्त किया ॥९६॥ स्वयं को सुभट माननेवाला चन्द और विदेशी अर्जुन तथा हेलाचक्र नामक डामर ये तीनों शस्त्र त्यागकर शत्रुओं के द्वारा मारे गये ॥९७॥ आषाढ़ शुक्ला १२ द्वादशी को तुङ्ग के मारे जाने के बाद राजा ने तुङ्ग का घरबार, सम्पत्ति आदि सब राष्य में लेकर उसे कथाशेष कर दिया ॥९८॥ राजा के द्वारा उस निर्द्रोहवृत्ति तुङ्ग के पुत्र समेत मारे जानेपर राजमन्दिर में खलस्वभाव के लोगों का उत्कर्ष हुआ और वे बढ़ने लगे ॥९९॥ उनमें से जो दुष्ट गुप्त कपट प्रबन्ध के द्वारा राजा के मन को दूषित कर अपने भ्राता तथा भ्रातृपुत्र की मृत्यु का कारण बना था तथा निज कुल का अन्तक कह कर लोगों के द्वारा जिसकी निन्दा की जाती थी उस तुङ्ग के भ्राता नाग को राजा ने कम्पनेश का पद प्रदान किया ॥१००–१०१॥

कन्दर्पसिंह की पत्नी क्षेमा परमजारिणी थी, वह राक्षस के साथ समागम करने वाली कृष्ण पक्ष की रात्रि के समान नाग से संभोग करती थी ॥१०२॥ उस उपद्रव के शान्त होने पर तुङ्ग की पुत्र-वधू शाही की कन्या बिम्बा चार दिन के बाद अग्नि में प्रविष्ट होकर सती हो गयी ॥१०३॥ मम्मा नामक वेश्या से उत्पन्न हुए कन्दर्पसिंह के पुत्र विचित्रसिंह तथा मातृसिंह और दूसरी स्नुषा को साथ लेकर तुङ्ग की पत्नी मंखना दीन होकर राजपुरी में रहने लगी ॥१०४–१०५॥ उसके बाद राजा ने तुङ्ग के स्थान पर पापी भद्रेश्वर को नियुक्त किया। उसने भूतेश्वर आदि देवताओं का

कोश तथा अन्य वस्तुएँ लूटना प्रारम्भ किया ॥१०६॥ उस राजा की विवेक हीनता का कहाँ तक वर्णन किया जाय ? क्योंकि उसने पार्थादिक सदृश दुष्टों को अधिकार दे दिये ॥१०७॥ उसने अपने भाई की पत्नी पर आसक्त एवं प्रसिद्ध परमदुष्टबुद्धि पार्थ को अविचार से नगराधिकारी बना दिया ॥१०८॥ मन से भी सुकृत का स्पर्श न करने वाले उस दुष्ट पार्थ ने प्रवरेश्वर के पवित्र रंग पीठ पर पशु-हिंसा आदि पाप-कर्म प्रारम्भ करवा दिये ॥१०९॥ प्रजा-पीड़न-पण्डित (प्रजा को कष्ट देने में प्रवीण) सिद्ध का पुत्र कृपणशिरोमणि मतंग भी उस लोभी राजा के कोश को बढ़ाने लगा ॥११०॥

देवमुख दिविर का अपूप बेचने वाली वेश्या से चन्द्रमुख नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१११॥ वह तुङ्ग के आश्रय से राजा का प्रिय सेवक बन गया था, उसने कौड़ी-कौड़ी जोड़ कर करोड़ों दीनार इकट्ठे कर लिये थे ॥११२॥ फिर भी वह कृपण भेंट में आये हुए अपूपों को भी अपने पुराने रोजगार के अनुसार अपने सेवक या अन्य लोगों के हाथ बेच देता था ॥११३॥ प्रारम्भ में उसकी जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त थी तब वह निरोग भी था। बाद में ऊर्जित अवस्था में आने पर उसे अग्निमान्द्य हो गया और वह बीमार रहने लगा इसलिए लोग उसे देखकर हँसने लगे ॥११४॥ उसने मरते समय करोड़ दीनार का तीसरा हिस्सा श्रीरणेश्वर के मन्दिर के जीर्णोद्धार में दे दिया था यही एक सुकृत उससे बन पड़ा ॥११५॥ उसके नान, भाग तथा नन्दिमुख

नामक तीनों पुत्र तुङ्ग के अधीन रहकर सेनापति के पद पर कार्य करते थे बाद में राजा ने उन्हें तुङ्ग के पद पर नियुक्त कर दिया था, यह नियुक्ति सुवर्ण के स्थान पर बालकों द्वारा किये गये यवकाण्डों के बन्धन के समान हास्यास्पद हुई थी ॥११६-११७॥ राजा ने तुङ्ग के साथ उन तीनों को भी तुरुष्कों के युद्ध में भेजा था और वे भी तुङ्ग के समान युद्ध में हारकर अपने देश में चले आये थे ॥११८॥ इस प्रकार क्षमाशील राजा तथा योग्यताशून्य मन्त्रियों को देखकर कतिपय दरद, दिविर एवं डामरों ने उद्धत होकर उपद्रव मचाना प्रारम्भ किया ॥११९॥ राजकन्या लोठिका ने क्रमशः अपने तथा अपनी माता तिलोत्तमादेवी के नाम से लोठिकामठ तथा तिलोत्तमामठ बनवाये ॥१२०॥

बड़े आश्चर्य की बात है कि कभी-कभी पापियों के मन में भी सत्कर्मवासना उत्पन्न हो जाती है क्योंकि भद्रेश्वर ने भी पुण्योज्ज्वल विहार का निर्माण किया ॥१२१॥ राजा संग्रामराज सच्चा विवेकशील निकला क्योंकि उसने अपने धन को अन्यायोपार्जित कहकर एक प्रपा (प्याऊ, पानीयशाला) तक नहीं निर्माण की ॥१२२॥ राजा की पत्नी श्रीयशोमंगल की कन्या श्रीलेखा ने अपने पति को सामर्थ्यहीन समझकर स्वैरिणीत्व स्वीकार किया ॥१२३॥ उस श्री लेखादेवी का जयलक्ष्मी के उदर से उत्पन्न हुए सुगन्धसीह के पुत्र त्रिभुवन पर अत्यन्त प्रेम हो गया ॥१२४॥ इसी प्रकार जयाकरगञ्ज आदि गञ्जों का निर्माण करनेवाला अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि राजा के कोश को सर्वदा धन से परिपूर्ण रखने के लिए यत्नशील

जयाकर भी राजपत्नी श्रीलेखा का उपपति था ॥१२५॥ द्रव्य के संचय में तत्पर तथा मयग्रामीणगंज आदि गंजों का निर्माण करनेवाली वह श्रीलेखा राजा की कृपा से सुभगा तथा परम वैभवसम्पन्ना थी ॥१२६॥ वह राजा हरिराज नामक अपने पुत्र को राज्याभिषेक करके लौकिक वर्ष ४१०४ में आषाढ़ शुक्ला १ प्रतिपदा को स्वर्गवासी हुआ ॥१२७॥ वह राजा हरिराज सुमनों से (पण्डितों से अथवा पुष्पों से) सेवित तथा अशेषाशाओं (सम्पूर्ण दिशाएँ तथा सम्पूर्ण याचकों को आशाएँ) को पूर्ण करनेवाले चैत्रोत्सव के समान सबको आनन्द देता था ॥१२८॥ उसकी आज्ञा अप्रतिहत एवं अमोघ थी उसने अपने सम्पूर्ण राज्य में चोरों का नामोनिशान तक न रहने दिया था इसलिए रात्रि के समय में भी बाजारों की दुकानें खुली रहती थीं उनके द्वार बन्द नहीं किये जाते थे ॥१२९॥ उसका शासनकाल अत्यल्प होनेपर भी विलक्षण वैभवयुक्त तथा नवेन्दुकला के समान राजवन्द्य था ॥१३०॥

विमलयश नवीनराजा हरिराज ने केवल २२ बाईस दिन राज्य किया और श्रावण शुक्ला ८ अष्टमी को मृत्यु के मुख में चला गया ॥१३१॥ यह चञ्चला लक्ष्मी ग्रीष्मकाल की रात्रि के समान प्राणियों को किंचित्काल चमकने वाले नक्षत्रों के समान थोड़ी देर के लिए ही अपनी कृपा के पात्र बनाती है ॥१३२॥ वह राजा अपनी माता के स्वैरिणीवृत्त को देखकर रुष्ट हो गया था, इसलिए उसने अभिचार क्रिया द्वारा मरवा डाला था इस प्रकार का लोकापवाद उस समय सर्वत्र फैल गया था और आज तक किसी

ने भी उस किंवदन्ती का खण्डन नहीं किया ॥१३३॥ उसके बाद वह श्रीलेखा स्वयं को राज्याभिषेक करवाने की तैयारी करवाकर स्नान करने के लिए गई थी, इतने में ही हरिराज क धात्रेयभ्राता सागर तथा कतिपय एकांगों ने मिलकर उसके अल्पवयस्क पुत्र अनन्तदेव को राज्याभिषेक करवा दिया ॥१३४-१३५॥ जिस प्रकार किसी एक निधि के निकाले जाने पर किसी अन्य लोभी के द्वारा निधि-रक्षक निरपराध नाग का किया गया वध केवल पाप का कारण होता है, उसी प्रकार उस राज्यलुब्धा राजमाता ने भी उस राज्य के अन्य द्वारा हरण किये जाने से केवल पाप ही कमाया ॥१३६-१३७॥ जिस भोगवासना के जाल में फँसकर वह राजमाता पुत्रप्रेम को भूल गई थी और राज्य के हाथ से निकल जाने पर दुःखी हुई, उस भोगवासना को धिक्कार है ॥१३८॥ उसके बाद उस बालराजा अनन्तदेव का वृद्धपितृव्य परम पराक्रमी विग्रहराज राज्य का हरण करने के लिए आया ॥१३९॥ वह लोहर प्रान्त से सहसा रवाना होकर और मार्ग में द्वार को (चौकी) जलाता हुआ २॥ ढाई दिन में त्वरा से काश्मीर की राजधानी में पहुँच गया ॥१४०॥ और वह लोठिकामठ में अपनी सेना सहित ठहरा था, तब श्रीलेखा के द्वारा भेजे गये सैनिकों ने उस मठ को आग लगाकर विग्रहराज तथा उसके सेवकों को उस मठ के अन्दर ही भस्म कर डाला ॥१४१॥

रानी श्रीलेखा ने अपने पति तथा पुत्र के नाम से दो मठ बँधवाये और वह खूब धन खर्चकर सर्वदा राजद्रोह के लिये

उद्युक्त रहने लगी ॥१४२॥ कुछ वर्षों के बाद उस राजा की बाल्यावस्था व्यतीत हो गयी। वह गर्भ श्रीमान् होने के अधिक व्ययी तथा व्यसनाधीन होने लगा ॥१४३॥ अत्यधिक वेतन लेकर राज्य के धन को लूटनेवाले रुद्रपाल आदि शाही के पुत्र उस राजा के परम-प्रिय थे ॥१४४॥ रुद्रपाल को प्रतिदिन एक लाख दीनार मिलते थे फिर भी उसका दारिद्र्य नष्ट नहीं होता था ॥१४५॥ दिहापाल को प्रतिदिन अस्सी हजार दीनार वेतन के रूप में मिला करते थे, फिर भी ऋण तथा व्यय की चिन्ता से उसे रात में नींद नहीं आती थी ॥१४६॥ राजा का लालित अनंगपाल रूपी वेताल सर्वदा देवताओं की सुवर्णमयी प्रतिमाओं को तुड़वाने का विचार करता रहता था ॥१४७॥ प्रजा का धन तथा जीवन हरने वाले चोर तथा चाण्डालतुल्य दुष्टस्वभाव लोगों को वह रुद्रपाल वज्रपंजर के समान संरक्षक मिल गया था ॥१४८॥ रुद्रपाल के आप्त कायस्थ लोग निरन्तर प्रजा को कष्ट देने लगे थे, उनके अग्रणी (अगुआ) श्रीमान् उत्पल ने अन्धमठ का निर्माण किया ॥१४९॥ उस रुद्रपाल की राजप्रियता का कहाँ तक वर्णन किया जाय ? क्योंकि उसने जालंधर के राजा इन्दुचन्द्र की ज्येष्ठ कन्या चन्द्र के समान मुख वाली परम-सुन्दरी आसमति के साथ विवाह किया था, उस आसमति ने त्रिपुरेश्वर में अपने नाम से मठ बनवाया था ॥१५०-१५१॥ और उसकी छोटी बहन सूर्यमतीदेवी उससे कुछ ही कम अवस्था की थी उसके साथ रुद्रपाल ने राजा अनन्तदेव का विवाह करवाया ॥१५२॥

वह राजा कर्णों को सुख देने वाले अर्थात् चिकनी-चुपड़ी बातें बनाने वाले मित्रवर रुद्रपाल के द्वारा कर्ण के द्वारा दुर्योधन के समान दुर्नयों का पात्र बना दिया गया था ॥१५३॥ उस समय में कम्पनाधिपति त्रिभुवन डामरों को एकत्रित कर राजा अनन्तदेव के राज्य को छीनने के लिये वहाँ आया ॥१५४॥ सम्पूर्ण सैनिकों से युक्त उस त्रिभुवन को युद्ध के लिये आते देख एकांग तथा अश्वारोहियों ने राजा के पक्ष का त्याग नहीं किया ॥१५५॥ उस युद्ध में स्वयं राजा अनन्तदेव ने त्रिभुवन के अमोघ बाणों को अपनी तलवार से काट डाला और प्रशंसनीय पराक्रम प्रदर्शित करते हुए उसके साथ युद्ध किया ॥१५६॥ त्रिभुवन ने लोहकवच धारण किया था, उससे उसका शरीर सुरक्षित था फिर भी राजा के द्वारा किये गये गाढ़ प्रहारों से विद्ध होकर अपने प्रताप के समान रक्त का वमन करते हुए वह वहाँ से भाग गया ॥१५७॥ वह राजा उस समय बालकसदृश दीखता था, उसका शौर्य तथा प्रागल्भ्य विनय से छिपा हुआ था, उस राजा के असंभाव्य बल को देख युद्ध छोड़कर त्रिभुवन के चले जाने के बाद उसने बाण-युद्ध कुशल शमाला प्रान्तवासी अभिनव नामक डामर को शालास्थल नामक ग्राम में परास्त कर दिया ॥१५८-१५९॥ उस समय वह राजा अनन्तदेव रक्त एवं मांस के वेष्टनों से परिवेष्टित दण्ड के समान दीखती हुई तलवार को हाथ में लिये हुए दण्डपाणि भैरव के समान भुवन-भयंकर दीख रहा था ॥१६०॥

वह राजा अपने अग्रयायी सेवकों के द्वारा नामनिर्देशपूर्वक

दिखाये गये एवं प्रहारों से छिन्न-भिन्न अवयव वाले एकांगों को स्थान-स्थान पर देख रहा था ॥१६१॥ बाद में उनके साथ सहानुभूति तथा उदारता को प्रदर्शित करते हुए उस राजा ने उन्हें अक्षपटल में उपस्थित होने की आवश्यकता न रखकर स्वतन्त्ररूप से वेतन मिलने की व्यवस्था कर दी ॥१६२॥ इस प्रकार उस कृतज्ञ राजा ने अपने भृत्यों को ९६ छानबे करोड़ दीनार क्रमशः जीविका के रूप में दे दिये ॥१६३॥ ऐसी किंवदन्ती है कि जब वह राजा रणभूमि में से वापस आया था तब चिरकाल से दृढ़ता के साथ मुट्ठी में पकड़ी हुई उसकी तलवार मुट्ठी पर बहुत देर तक दुग्धधारा के सींचने से छूट सकी थी ॥१६४॥ उस राजा के बड़प्पन का कहाँ तक वर्णन किया जाय ? क्योंकि उसने कुछ दिनों के बाद देशान्तर से वापिस आये दीन त्रिभुवन को रोष त्यागकर अपने यहाँ रख लिया ॥१६५॥ उस राजा ने अपने बान्धव ब्रह्मराज को गंजाधिपति के पद पर नियुक्त किया, परन्तु रुद्रपाल के साथ द्वेष हो जाने से नाराज होकर वह चल दिया ॥१६६॥ पश्चात् वह ब्रह्मराज सात म्लेच्छ नरेश तथा डामर समूह समेत दरदों के राजा अचलमंगल को साथ लेकर आक्रमण के लिये आया था ॥१६७॥ वह दरदराज क्षीरपृष्ठ नामक स्थान पर पहुँचा था इतने में ही शूर रुद्रपाल उसके सामने लड़ाई करने को पहुँच गया ॥१६८॥ दोनों सेना की ओर से दूसरे दिन युद्ध होने की घोषणा होने के बाद वह दरदराज सहज ही कौतुकवशात् पिंडारक नाग के निवास-स्थान पर पहुँच गया और सेवक लोगों के निषेध

करने पर भी उसने वहाँ के तैरते हुए किसी एक मत्स्य के शरीर पर भाला मारा ॥१६९–१७०॥

तत्काल उस कुण्ड में से शृगालरूपधारी एक नाग निकला, वह दरदराज भी उसका शिकार करने के इरादे से उसके पीछे दौड़ा ॥१७१॥ उस घटना से सैनिकों ने समझा कि युद्ध की व्यवस्था में परिवर्तन कर दिया गया है और शत्रु की ओर से आक्रमण हो रहा है इसलिए उसके सैनिक भी युद्ध करने के लिए चले ॥१७२॥ दोनों ओर के वीरों का भयंकर संग्राम हुआ और उसमें शस्त्रों के संघर्ष से आग भड़ने लगी तथा वीरों के साथ देवांगनाओं के स्वयंवर होने लगे ॥१७३॥ उस महाभयंकर संग्राम में दरदराज का शिरश्छेद हो गया तथा रौद्रतेजस्वी रुद्रपाल का यश वृद्धिंगत हुआ ॥१७४॥ उस युद्ध में कुछ म्लेच्छराज मारे गये और कुछ बाँध लिये गये और काश्मीर-नरेश को विपुल सुवर्ण तथा रत्न आदि वस्तुओं का लाभ हुआ ॥१७५॥ रुद्रपाल ने दरदराज का मस्तक अपने स्वामी अनन्तदेव को भेंट किया, वह रुधिर से व्याप्त हो रहा था उसके अवतंस (शिरोभूषण, तुर्रा) के मोतियों की कान्तिरूपी जल से उसपर के रुधिर का क्षालन सा हो रहा था ॥१७६॥ उस राजा के भ्राता उदयनवत्स के द्वारा उत्तेजित ब्राह्मणों के प्रायोपवेशन आदि उपद्रवों से उसको अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा ॥१७७॥ कुछ समय के बाद रुद्रपाल की लूतारोग से मृत्यु हो गई, और भी शाही के पुत्र अल्प समय में ही मृत्यु के मुख में चले गये ॥१७८॥ पालबन्धु-विषयक अन्ध-

प्रेमरूपी मल के दूर होने पर निर्मल दर्पण तुल्य पति के हृदय में देवी सूर्यमती का प्रतिबिम्ब स्पष्टतया पूर्णरूप से दीखने लगा अर्थात् महारानी सूर्यमतीदेवी के सद्गुणों का प्रभाव राजा के हृदयपट पर पूर्णरूप से अंकित हो गया ॥१७९॥ उसका दूसरा नाम सुभटा था, उसने वितस्ता नदी के पुलिन प्रदेश में भगवान् गौरीश्वर की स्थापना की और अपने नाम से सुभटामठ भी बँधवाया ॥१८०॥

उस शिव प्रतिष्ठा के समय उसने यथेष्ट गौ, सुवर्ण, रत्न, अश्व आदि अनेक दान कर कितने ही ब्राह्मणों को दारिद्र्य से मुक्त कर दिया था ॥१८१॥ उस रानी ने अपने छोटे भ्राता कल्हन अथवा आशाचन्द्र के ऊपर अधिक वात्सल्य होने के कारण उसके नाम से अग्रहारसहित मठ का निर्माण किया ॥१८२॥ इसी प्रकार सिल्हन नामक अपने भ्राता तथा अपने पति के नाम से उस सती ने क्रमशः विजयेश एवं अमरेश के मन्दिरों के पास दो मठ बँधवाये ॥१८३॥ और भी विजयेश्वर के मन्दिर के समीप उसने विद्वान ब्राह्मणों को एक सौ आठ अग्रहारों का दान कर महापुण्य का कार्य किया ॥१८४॥ अमरेश्वर के वहाँ भी उसने अपने पति के नाम से अनेक अग्रहार दिये, और स्थान-स्थान पर त्रिशूल, बाण, शिवलिंग आदि की प्रतिष्ठा की ॥१८५॥ वे दोनों पति-पत्नी (राजा और रानी) राजराज नामक पुत्र की मृत्यु के पश्चात् राजमन्दिर को त्यागकर सदाशिव के मन्दिर के निकट रहने लगे ॥१८६॥ तभी से भावी भूपालों ने भी प्राचीनराजभवन के निवास को

त्यागकर वहीं रहना प्रारम्भ कर दिया ॥१८७॥ उस राजा को अश्वशाला के अश्व अत्यधिक प्रिय थे, इसलिए अश्वशाला के कर्मचारी लोग राजा की कृपा से उपलब्ध हुए पारितोषिकों से तथा सर्वत्र प्रजा में लूट-मार मचा कर प्राप्त किये गये धन से बड़े बड़े रईस बन गये थे ॥१८८॥ उस गर्भश्रीमान् राजा अनन्तदेव की निरन्तर चापलूसी करने वाला विदेशी उल्लक भी सर्वदा प्रजा को लूटा करता था ॥१८९॥ उस राजा को ताम्बूल सेवन का बहुत शौक था इसलिए पद्मराजनामक परदेशी ताम्बूलिक प्रतिदिन उसके लिए ताम्बूल पहुँचाता था। वह ताम्बूलिक राजा का प्रेम-पात्र हो गया था। मालव देश के शासक राजा भोज ने उसी पद्मराज के द्वारा विपुलद्रव्य का व्यय कर कपटेश्वर में एक कुण्ड बँधवाया था, और राजा भोज ने पापसूदन तीर्थ के पवित्र जल से मुखमार्जन तथा स्नान करने की सर्वदा के लिए प्रतिज्ञा की थी। उस दुस्तर प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए वह पद्मराज ताम्बूलिक नियमपूर्वक उस तीर्थ के जल को काचकलशों में भरकर वहाँ से भेजा करता था ॥१९०–१९१–१९२–१९३॥

उस पान बेचनेवाले पद्मराज ने राज्य की आय का अधिकांश राजा की अनुमति से स्वयं लेना शुरू कर दिया था ॥१९४॥ पद्मराज ने राजा को बहुत-सा ऋण दिया था और उसके बदले में राजा से पंचचन्द्रकयुक्त राजमुकुट तथा राजसिंहासन अपने पास रेहन रखवा लिया था ॥१९५॥ वह राजमुकुट और राज-सिंहासन दर्बार के लिए प्रत्येक मास में केवल एक दिन के लिए

राजभवन में उसके यहाँ लाये जाते थे ॥१९६॥ उसके बाद सूर्यमती देवी ने अपना सम्पूर्ण धन देकर मुकुट तथा सिंहासन छुड़वा लिये और पद्मराज के ऋण से उत्पन्न हुई देश की अव्यवस्था को दूर कर दिया ॥१९७॥ इसी प्रकार जब देवी सूर्यमती ने अपने प्रयत्न से अश्वशाला के कर्मचारी उल्लक आदि लुटेरों का भी भय शान्त कर दिया तब उस देश की राज्य-व्यवस्थाएँ निर्विघ्नता से होने लगी ॥१९८॥ उस दिन से रानी ही सब राज्य-कार्यों का निरीक्षण करने लगी और राजा भी शौर्य के कार्यों (युद्ध अथवा शिकार) के अतिरिक्त अन्य सब कार्यों में रानी का आज्ञापालक सेवक बनकर रहने लगा ॥१९९॥ उस रानी के निष्कलंक शील के कारण उसके पति का अपनी पत्नी के आज्ञाकारक भृत्य होना तथा उसका अपने पति पर शासन करना ये दोनों पारस्परिक कर्तव्य संसार की दृष्टि में निन्दनीय न हो सके ॥२००॥

उस पुण्यात्मा अनन्तदेव ने भगवान् शंकर की भक्ति, व्रत, स्नान, दान शील आदि सद्गुणों से ऋषियों को भी जीत लिया था ॥२०१॥ उस राजा के दीर्घकालिक राज्यशासन में नवनवोन्मुखी (नवीन-नवीन राजकुमार के लिए उत्कण्ठिता) पतिंवरा (स्वयंवर में अभिलाषित पति की प्राप्ति के लिए उत्सुक कन्या) के समान राजश्री नवीन नवीन राजसेवकों के निकट जाती थी, अर्थात् उस राजा की कृपादृष्टि किसी एक सेवक पर स्थिर न होकर नवीन-नवीन सेवकों पर बदलती रहती थी ॥२०२॥ उस

समय क्षेम नामक एक बालभञ्जक (नापित, नाई) द्वादशभाग आदि नवीन कर लगा कर राजा के कोश को धन से पूर्ण करने लगा ॥२०३॥ उसके बाद त्रिगर्तदेशवासी केशवनामक एक सज्जन ब्राह्मण राजमन्त्री हुआ, उसके सहवास से चन्द्रिका से प्रकाशित सौध के समान वह राजा अलंकृत हो गया ॥२०४॥ वही मन्त्री कुछ समय के बाद दरिद्र होकर एकाकी भटकता हुआ लोगों के दृष्टिगोचर हुआ, क्योंकि भाग्यरूपी बादल के साथ चमकनेवाली सम्पत्तिरूपी सौदामिनी किसके निकट चिरस्थायिनी होती है ? ॥२०५॥ सम्पत्ति भाग्य के अधीन होती है, फिर भी मुग्धमति लोग उसका, अधिकार का और कुल का मिथ्या अभिमान करते हैं ॥२०६॥ गौरीश के मन्दिर में भूति नामक एक वैश्य चौकीदार था उसके हलधर, वज्र और वराह नामक तीन पुत्र थे ॥२०७॥ उनमें से हलधर रानी सूर्यमती का सेवक था, वह क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सर्वाधिकारी हो गया था ॥२०८॥ वह अत्यन्त बुद्धिमान् था; उसने अपनी बुद्धिमत्ता के प्रभाव से छोटे-छोटे सामन्तों को आज्ञांकित कर लिया था, इस कार्य से चकित होकर राजा और रानी प्रत्येक कार्य में उसका मुख देखते थे ॥२०९॥ क्षेम के द्वारा निर्माण किये गये पादाग्र नामक नवीन पद को हलधर ने सर्वश्रेष्ठ मन्त्रिपद कर दिया ॥२१०॥

सुवर्ण की परीक्षा तथा तौल एवं मूल्य आदि निश्चित करना और उस पर राजकीय मुद्रा लगाने का राज्य का पुराना अधिकार था, इससे राजा को प्रजा की सम्पत्ति का पता लग जाता

था ॥२११॥ परन्तु उस ज्ञानी हलधर ने भावी राजा लोग प्रजा की सम्पत्ति का अपहरण करेंगे तथा अनेक कष्ट देंगे ऐसा सोचकर उस अधिकार को बन्द कर दिया ॥२१२॥ इसी प्रकार लोगों के धन को तथा स्त्रियों को अपहरण करने वाले अश्वशाला के कर्मचारियों को उसने खूब डाँटा और उनमें से कतिपय अपराधियों को प्राण-दण्ड देकर प्रजा के कष्ट को शान्त कर दिया ॥२१३॥ जनता के आयास (खेद, कष्ट) को दूर करने में तत्पर उस हलधर ने सुवर्णालंकृत मन्दिर, मठ एवं अग्रहार आदि के द्वारा वितस्ता-सिन्धु-संगम को अत्यन्त सुशोभित कर दिया ॥२१४॥ लक्ष्मी के परिचय से उन्मद (उत्कर्ष को प्राप्त हुए) उसके भ्राताओं ने तथा पुत्रों ने दानप्रणयिता (दान देने का प्रेम अथवा मदोदक का वर्षण) को कदापि नहीं त्यागा ॥२१५॥ उसके भ्राता वराह का पुत्र द्वाराधिकारी श्रीमान् बिम्ब प्रलयमेघ के समान निरन्तर अत्यन्त उदारता पूर्वक दानरूपी उदक की वृष्टि करता था ॥२१६॥ वह डामरों के कुल के लिए अकाल-मृत्यु के समान परमभयंकर एवं घातक था, उसने खश लोगों के साथ युद्ध करते समय साथ में अधिक सैनिक न होने पर भी पलायन-पराङ्मुख होकर बड़ी वीरता से शत्रुओं के साथ लड़कर अपने प्राणों का त्याग किया ॥२१७॥ अनेक राजाओं को जीतनेवाले राजा अनन्तदेव ने चम्पा के राजा साल को राज्यच्युत कर उसके स्थान पर नवीन राजा को नियुक्त किया ॥२१८॥ कई बार विचारशून्य शौर्य के भरोसे पर परदेशों में हठपूर्वक प्रवेश करने से उस राजा को बड़े

बड़े संकटों में फँसना पड़ा था ॥२१९॥ एक बार तुक्क राजा के पुत्र कलश पर आक्रमण करते समय उसके सैनिक थक गये थे और वह बड़ी विपत्ति में फँस गया था, तब हलधर ने बड़ी तरकीब से बल्लालपुर से उसे छुड़ाया था ॥२२०॥

इसी प्रकार उरशा के आक्रमण के समय शत्रु ने उसका रास्ता रोक दिया था तब सेनापति हलधर ने मार्ग को साफकर उसके निकलने की सुविधा कर दी थी ॥२२१॥ इस प्रकार शत्रु से युद्ध करते समय क्षण-क्षण में उस राजा अनन्तदेव के राज्य में अनेक आकस्मिक उपद्रव हुआ करते थे ॥२२२॥ भद्रेश्वर का पुत्र द्वाराधिपति राजेश्वर और बहुत से शूर-पुरुष क्रमराज्यस्थ डामरों के द्वारा मारे गये ॥२२३॥ राज-मन्दिर में नीति-दृष्टि से कार्य को अच्छी तरह से देख कर और डरते हुए व्यवहार करने पर भी कौन पुरुष अवमानरहित सेवा कर सकता है ? ॥२२४॥ सूर्यमती-देवी के पास निरन्तर जाने के कारण मिथ्या दुष्प्रवाद से कलंकित हलधर को क्रुद्ध होकर आशाचन्द्र आदि राजपुरुषों ने बाँध लिया था ॥२२५॥ और राजा ने उसका सर्वस्व छीन लिया एवं उसे कारावास के क्लेश भी अनुभव करना पड़े। भाग्य का प्रभाव निस्सार (सारहीन, चञ्चल) होने के कारण किसी को भी आत्यन्तिक अर्थात् सार्वकालिक सुख कहाँ से प्राप्त हो सकता है ॥२२६॥ कुछ समय के बाद उसे राजा ने कारावास के बन्धन से मुक्त कर दिया, तब श्वेतच्छत्ररूपी सलज्ज एवं सस्मितमुख-वाली राजलक्ष्मी ने फिर से उसको आलिंगन किया अर्थात् वह

फिर से अपने अधिकार पर नियुक्त कर दिया गया ॥२२७॥ वर्षा-कालिक क्षणिक आतप एवं अचिरस्थायिनी मेघच्छाया के समान रानी के क्षणिक कोप एवं क्षणिक प्रसाद का उस हलधर को बार-बार अनुभव करना पड़ता था ॥२२८॥ उसके बाद उस सरल-चित्त राजा अनन्तदेव के लिए क्रमशः पूर्णरूप से पत्नी के परम आज्ञांकित बनकर रहना ही अनेक दुष्परिणामों का कारण हो गया ॥२२९॥ अधिकारपरित्याग से उत्पन्न होनेवाले पश्चात्ताप-कारक अनेक दोषों को दिखलाते हुए हलधर आदि बुद्धिमान् मन्त्रियों के द्वारा निवारण करने पर भी पुत्र-स्नेह-विमुग्धा-पत्नी की प्रेरणा से वह राजा अपने पुत्र कलश को राज्य देने के लिए उत्कण्ठित हो गया ॥२३०–२३१॥

राज्याभिषेक की सामग्री को एकत्रित करने के लिये नियुक्त किये गये मन्त्री रणादित्य ने भी "इस कार्य से आपको भविष्य मे पश्चात्ताप होगा" कहकर राजा को समझाया, परन्तु राजा ने रणादित्य के वचन की ओर ध्यान न देकर उससे राज्याभिषेक की तैयारी करवायी ॥२३२॥ और लौकिक वर्ष ४०३९ के कार्तिक शुक्ला ६ षष्ठी को राजा अनन्तदेव ने अपने पुत्र कलश का राज्या-भिषेक करवाया ॥२३३॥ उसके पश्चात् दरबारभवन में सिंहास-नारूढ़ नवीन राजा के सम्मुख अन्य राजपुत्र एवं सामन्तों का नाम निर्देशपूर्वक परिचय कराते हुए नियम पालन करने में अत्यन्त कठोर उस रणादित्य ने नवीन राजा के वास्तविक महत्त्व को सोच अनन्तदेव की ग्रीवा पर हाथ रखकर "महाराज, यह राजपुत्र

अनन्तदेव भी श्रीमान् की सेवा में उपस्थित है" इस प्रकार निवेदन किया ॥२३४-२३५॥ जब राजा ने घूमकर उसकी ओर क्रोधपूर्ण दृष्टि से देखा, तब नीति-निष्ठुर उस रणादित्य ने हँसकर स्पष्ट शब्दों में कहा ॥२३६॥ श्रीमन्, यहाँ के राजा के दरबार में कान्यकुब्ज आदि देशों के राजाओं का भी परिचय इसी प्रकार निवेदन किया जाता है, तब आप जैसे राज्य को त्याग देनेवाले अधिकार-शून्य पुरुषों के लिए कौन-सा नवीन ढंग हो सकता है ॥२३७॥ अब आपको अवश्य ही प्रतिदिन पश्चात्ताप करना पड़ेगा, क्योंकि बड़े-बड़े ऋषियों से भी अभिमान का त्याग नहीं किया जा सकता ॥२३८॥ इस प्रकार के अत्यन्त दूरदर्शी चतुर मन्त्रियों के मन को आकर्षित करनेवाले मार्मिक वचनों को सुनकर वह राजा उनका उत्तर न दे सका ॥२३९॥ दूसरे दिन नवीन राजा को सम्पूर्ण राज-मण्डल से सुसेवित एवं परिवेष्टित तथा प्राचीन राजा को अर्थात् त्यक्तराज्य उस अनन्तदेव को कतिपय परिमित सेवकों से युक्त देखकर चतुर हलधर ने कृत्रिम क्रोध के आवेश में आकर कहा "आपने इस वृद्धावस्था में केवल स्वयं के सुख की ओर ध्यान देकर, अपने अप्रौढ़ पुत्र के ऊपर राज्य का सम्पूर्ण गुरुतर भार रख दिया है और उसके सुख का उच्छेद कर डाला है, इसकी आपको लज्जा नहीं लगती ? इसलिए आपको स्वयं सम्पूर्ण राजकार्यों का भार धारण करना चाहिये और आपका राजकुमार अपने यौवन के अनुरूप सुखों का उपभोग करेगा ॥२४०-२४१-२४२-२४३॥

ऐसा कहकर उसने अनन्तदेव को फिर राज्य के कार्य करने के लिए बाध्य किया और इस युक्ति से कलश को राज्याधिकार से वञ्चित रख दिया ॥२४४॥ उसके बाद वह कलश नाममात्र का राजा रह गया था, उसका खाना, पीना, रहना आदि सब माता-पिता के पास होता था ॥२४५॥ दर्बार, शस्त्र-पूजन आदि राजोचित विधियों को करते समय वह कलश अनन्तदेव का सहायक बनकर पौरोहित्य (प्रतिनिधित्व) सा करता था ॥२४६॥ कारण के बिना ही प्रहृष्ट एवं अनुतप्त होनेवाले पशुतुल्य चञ्चलचित्त लोगों का निश्चय किसी के विषय में भी स्थिर नहीं हो सकता ॥२४७॥ क्योंकि इस प्रकार पति के पास से युक्तिपूर्वक अत्यधिक आग्रह से पुत्र को राज्याधिकार दिलवाने के बाद महारानी सूर्यमती को दुःख हुआ और उसका पुत्र विषयक प्रेम भी न्यून हो गया ॥२४८॥ वह राजमहिषियों के अनुरूप अपनी पुत्रवधुओं के वेष तथा अलंकार आदि विषय के उत्कर्ष को देख ईर्ष्या से अनुताप करने लगी ॥२४९॥ वह उन पुत्रवधुओं से दासियों के करने योग्य गृह-सम्मार्जन तथा गृहलेपन आदि कार्य सर्वदा करवाने लगी, फिर भी उन पुत्रवधुओं ने उस कार्य को शान्ति के साथ करना स्वीकार किया और किञ्चितमात्र भी विरोध नहीं बतलाया ॥२५०॥

उसके बाद किसी समय राजा अनन्तदेव का पितृव्यपुत्र (चचेरा भाई) विग्रहराज का पुत्र क्षितिराज उसके पास आया ॥२५१॥ और उसने अपने हृदय को सन्तप्त करनेवाले

असहनीय दुःख का अनन्तदेव के सन्मुख वर्णन किया, क्योंकि उसका पुत्र भुवनराज राज्य के लोभ से विद्रोही बन गया था ॥२५२॥ उस विद्रोही भुवनराज ने नीलपुर राज्य का आश्रय ग्रहण किया था और वहाँ के सैन्य की सहायता से पिता के राज्य पर आक्रमण करने के लिए उद्योग करने लगा ॥२५३॥ उस अपवित्र-हृदय भुवनराज ने कुत्तों के गले में ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत, जनेऊ) पहिनाकर अपने पिता के पूज्य बड़े-बड़े वैष्णव भक्तों के नामानुसार उन कुत्तों के नाम रख दिये थे ॥२५४॥ क्षितिराज की वधू (पत्नी) भी उसके विरुद्ध हो गई थी, तब वह विमल-मति राजा क्षितिराज मनस्तापापहारक सर्वसंगत्यागरूपी अमृत की इच्छा करने लगा ॥२५५॥ तब उसने रामलेखानामक रानी के उदर से उत्पन्न हुए राजा कलश के द्वितीय पुत्र उत्कर्ष को स्तनन्धय शिशु होने पर भी अपने राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया और पश्चात् वह राजर्षि भगवद्भक्त विद्वानों के साथ तीर्थ-सेवन करने लगा ॥२५६-२५७॥ वह परमवैष्णव अनेक वर्ष पर्यन्त शान्ति के सुख का अनुभव कर चक्रधर तीर्थ में श्री चक्रायुध (विष्णु) के सायुज्य को प्राप्त हो गया ॥२५८॥ उस समय में वह राजा क्षितिराज और भोजनरेन्द्र (धाराधिपति भोज) दोनों ही परम प्रसिद्ध महादानी थे, और बहुत बड़े विद्वान् भी थे, तथा कविबान्धव (कवि-स्नेही अथवा कवियों का सत्कार करने वाले) थे ॥२५९॥ उस समय में राजा अनन्तदेव ने अपने पौत्र उत्कर्ष को अपने पिता के चचेरे भाई तन्त्रंगराज के उत्संग

(गोद) में धरोहर के रूप में रख दिया था अर्थात् तन्वंगराज को उस शिशु (उत्कर्ष) का पालक बना दिया था ॥२६०॥

तन्वंगराज ने भी उस शिशु राजा को तथा उसके राज्य को खूब बढ़ाया और राजा को प्रौढ़ावस्था प्राप्त होने के बाद काश्मीर में आकर चक्रधर तीर्थ में अपना जीवन समाप्त किया ॥२६१॥ उस समय तक सम्पूर्ण राजोचित उपभोगों को समानता से अनुभव करनेवाले राजवंशजों को द्रोह रूपी कलंक नहीं लगा था ॥२६२॥ इन्दुराज के पुत्र बुद्धराज का सिद्धराज नामक पुत्र था उसके यहाँ वीर मदनराज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥२६३॥ उस मदनराज का पुत्र जिन्दुराज अत्यन्त गर्विष्ठ था, शौर्य की पराकाष्ठा से सुशोभित वह वीर राजा को स्वयं पर रुष्ट हुआ जान कर वहाँ से दूरदेश को चला गया ॥२६४॥ उस समय डामरों के त्रास से व्याकुल हुई स्वयं रानी सूर्यमती ने उस जिन्दुराज को अपने यहाँ बुलवा कर मन्त्रिपद पर नियुक्त किया ॥२६५॥ उन दिनों में देग्रामवासी शोभनामक एकाक्ष (काना) डामर राजा को अत्यन्त उद्विग्न कर रहा था, उसे जिन्दुराज ने तुरन्त पकड़वा कर मरवा डाला ॥२६६॥ उसके बाद राजा ने उस प्रतापी वीर को कम्पनाधिपति का पद प्रदान कर उसके द्वारा राजपुरी आदि स्थानों के राजाओं से कर वसूल करना प्रारम्भ किया ॥२६७॥ राजा अनन्तदेव के राज्यशासन के कार्य में आनेवाले अनेक संकटों के समय आधारयष्टि के समान परम सहायक अमात्य हलधर मृत्यु को प्राप्त हो गया ॥२६८॥ चक्रधर तीर्थ में मृत्युशय्या

पर पड़े हुए उस हलधर के पास रानीसमेत राजा अनन्तदेव उसका अन्तिम उपदेश सुनने के लिए गया था, तब उसने अपने पास में बैठे हुए राजा से कहा ॥२६९॥ पर राष्ट्रों पर सहसा अविचारपूर्वक कदापि आक्रमण नहीं करना चाहिए। क्योंकि मैंने आपको इस संकट से बल्लापुर आदि स्थानों पर बड़ी युक्ति से बचाया था ॥२७०॥

उस प्रकार यह जिन्दुराज भी बहुत बढ़ गया है इसलिए इस पर भी पूर्ण रूप से दृष्टि रखना चाहिए और जयानन्द आपके पुत्र के साथ आपका विरोध करवा देगा ॥२७१॥ पश्चात् हलधर के कथन का स्मरण रखकर उस युक्तिमान् राजा ने उस पराक्रमशाली जिन्दुराज को निश्शस्त्र अवस्था में बिज्ज के द्वारा बँधवा लिया ॥२७२॥ कुछ समय के बाद दुष्ट सेवकों के द्वारा राजा कलश का हृदय अत्यन्त कलुषित कर दिया गया। इसलिये वह दुर्जनों से सेव्य कुमार्ग का पथिक बन गया ॥२७३॥ शाही-वंश में उत्पन्न हुए बिज्ज, पित्थराज, पाज आदि चार राजपुत्र उस राजा के स्वेच्छाचार में उत्तेजन देने के कारण अत्यन्त प्रेमपात्र बन गये थे ॥२७४॥ उसी प्रकार गंजपति (कोषाध्यक्ष) नाग का पुत्र जयानन्द भी उसका अत्यन्त अन्तरंगसेवक एवं कुटिलता का अध्यापक बन गया था ॥२७५॥ परमतपस्वी द्विजेन्द्र अमरकण्ठ के शिव-स्वरूप हो जाने के बाद उसके पुत्र प्रमदकण्ठ को राजा कलश ने अपना गुरू बना लिया था ॥२७६॥ राजा के मनोनातगुरु उस प्रमदकण्ठ ने स्वभावतः दुश्चरित्र उस राजा

को और भी अनेक दुष्कृत्यों का उपदेश देकर उसके हृदय से गम्यागम्य-विवेक को दूर कर दिया था ॥२७७॥ उस गुरु की निःसन्देहता का कहाँ तक वर्णन किया जाय ? क्योंकि उसने निश्शंक होकर अपनी कन्या के भी सुरत-सुख का अनुभव किया था ॥२७८॥ परम-धूर्त विडालवणिक् तान्त्रिक महासमय-संचार-चतुर, स्वभावतः उग्र, निर्भय तथा भैरव की भी पर्वाह न करने वाले भग्नजानु भट्टपादों को (विद्वान् ब्राह्मणों को) भी त्रास से विह्वल हो चरणों में गिरते देख उनके मस्तक पर अपना वरदहस्त रखकर उन्हें स्वस्थ्य कर देता था ॥२७९–२८०॥

पहिले वह एक साधारण वणिक् (वैश्य) था और उसने एक बिल्ली को पाल रखा था, इसलिए लोगों में उसका असली नाम गुप्त हो गया था और सब लोग उसे विडाल-वणिक् कहने लगे थे ॥२८१॥ वह प्रारम्भ में तो निरा बुद्धू था परन्तु कुछ समय के बाद उसने अपना पाण्डित्य बतलाना शुरू किया और क्रमशः वह वैद्यक करने लगा एवं शनैः शनैः चर्मकार रजक आदि नीच जाति के शिल्पियों का गुरु भी बन गया ॥२८२॥ वह बहुत से विद्वान् तथा प्रतिष्ठित सज्जनों के मस्तक पर बिडालविष्ठा एवं हींग की गन्ध से युक्त अपना हाथ रखकर उन्हें निरोग करने का पाखण्ड रचता था ॥२८३॥ इस प्रकार स्वभावतः निस्सार होने पर भी सर्वदा मिथ्या गर्जना करते हुए मेघों के समान उन धूर्त गुरुओं से वह राजा कलश दिवस के समान अन्ध (अन्धकार-मय तथा विवेकान्ध) बना दिया गया था ॥२८४॥ वेणुवादननिपुण

चमक नामक एक चारण था, वह हठात् स्त्रियों को चारित्र्य-भ्रष्ट करवाने के कार्य में भी सिद्धहस्त था, रात्रि में दीर्घ-जागरण करने वाले और अधिक भोजन करने के कारण माँस-भक्षण-जन्य अजीर्ण की दुर्गन्धमय डकारों से घृणित एवं मोरी-नाली के समान कण्ठनाल के द्वारा शौच के समय नीचे की ओर बहते हुए जल के समान मद्य को पीने वाले गायक एवं वादकों के साथ सर्वदा वह रहा करता था, एक बार हलधर के पुत्र कनक ने मदिरामद से उन्मत्त होकर क्रोध से उस चमक को अपने सेवकों द्वारा खम्बे से बँधवाकर उसकी नाक कटवा डाली थी। इस प्रकार के नकटे अशुभ-स्वरूप उस विट ने कौट्टिन्य (कुटनेपन) के द्वारा शनैः शनैः राजा कलश का प्रेम प्राप्त किया था ॥२८५-२८६-२८७-२८८-२८९॥ राजा की कृपा से उसको मन्त्रिमण्डल में धन एवं सम्मान प्राप्त हुआ और मन्त्रिपद के साथ ही प्रतिष्ठा-सूचक ठक्कुर-पदवी भी प्राप्त हुई ॥२९०॥

संसार में प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा को पाते ही उसने अपने वंशजों को लज्जा के कारण समझकर उनका शीघ्र उच्छेद कर डाला था, इसलिए अनायास होनेवाले अपने नासावंशच्छेदन को भी उसने अच्छा ही समझा होगा ॥२९१॥ उस चमक के प्रोत्साहन से राजा का दुराचरण बढ़ गया था और उसने लज्जा को त्यागकर जो दुष्कर्म किये थे उनका वृत्तान्त कहने के योग्य नहीं है तथापि कथाप्रवाह पतित होने के कारण कहा जाता है ॥२९२॥ उस परदारासक्त दुराचारी राजा कलश ने राजा की भगिनी कल्हना तथा

उसकी कन्या नागा को भी नहीं छोड़ा ॥२९३॥ यह बात वृद्ध राजा अनन्तदेव तथा उसकी पत्नी सूर्यमती को विदित हो गई थी परन्तु लज्जा के कारण इस वृत्त को किसी के भी सम्मुख प्रगट नहीं किया; और अपने हार्दिक दुःख को हृदय में ही छिपा रखा ॥२९४॥ ओवन ग्रामवासी लोष्टक नामक ग्रामदैवज्ञ ब्राह्मण मुट्ठी-मुट्ठी अन्न माँगकर उदरपोषण करता था, वह लोगों का प्रत्येक कार्य कर देता था, वह निशाचरवृत्ति से रात में भ्रमण कर रहा था उस समय ग्रामक्षेत्रपाल के प्रसाद से मुट्ठी में रखी हुई गुप्त-वस्तु का ज्ञान होने लगा इससे उसका नाम मुष्टिलोष्टक पड़ गया था, गुरु, दैवज्ञ एवं कुट्टन इन तीन सम्बन्धों से वह अत्यन्त राज प्रिय हो गया था ॥२९५-२९६-२९७॥ भट्टारक मठ का अधिपति व्योमशिव परमधार्मिक एवं कर्मठ भिक्षु था, उसने खुर्खुट नामक सिद्धि को प्राप्त करने के लिए नियमपूर्वक व्रताचरण किया था अर्थात् कठोर तपस्या की थी, उसने पूजा-पाठ के समय संगीत के लिए मम्म नामक एक अन्धगायक को रखा था उस गायक का हाथ पकड़कर इधर-उधर घुमाने के लिए मदन नामक एक अवन्तिपुरवासी ब्राह्मण रखा गया था, वह ब्राह्मण आचार-भ्रष्ट था, और व्योमशिव का प्रिय सेवक बन गया था। व्योमशिव उसके पुराने सन के हलके वस्त्र बदलवा कर नवीन उत्तम वस्त्र पहिना कर उसे राजा के पास प्रसाद के फल-पुष्प देने के लिए भेजता था वह मदन अत्यन्त वाचाल था, वह उस दुष्ट कुट्टन-मण्डल में मिल कर शनैः शनैः उन्हीं के समान राजा कलश का

अन्तरंग एवं घनिष्ठ प्रेमपात्र बन गया था ॥२९८-२९९-३००-३०१-३०२॥

इस प्रकार के अन्य विट एवं नीच तथा धूर्तों के वचनों से मोहित होकर कलुषितहृदय वह राजा कलश दोषों को भी गुण समझने लगा अर्थात् वह पापकर्मों को भी सत्कर्म मानने लगा ॥३०३॥ लज्जाकारक नर्मवचन ही उसकी दृष्टि में योग्य वाक्य था, प्रजापीड़न ही उचित कर्तव्य-कर्म समझा जाता था, निर्लज्जता ही तेजस्विता मानी जाती थी, अगम्यागमन ही सच्ची रसिकता गिनी जाती थी और खलपुरुषों के द्वारा दी गई गालियों को शान्तिपूर्वक सहन कर लेना ही सरलता कही जाती थी इस प्रकार दुष्कर्मों को शुभकर्म माननेवाले मनुष्य के लिए कौन-सा कार्य बुरा और त्याज्य हो सकता है ॥३०४॥ चौर्यसुरत की उत्कण्ठा से रात में घर-घर भ्रमण करते हुए उस राजा को अपने अन्तःपुर की ललनाओं का आलिंगन-सुख रात में प्रीतिकारक अर्थात् सन्तोषप्रद नहीं होता था ॥३०५॥ पारतन्त्र्य के कारण अधिक प्रिय लगनेवाली परवधूरति कामियों की अभिलाषा रूपी अग्नि को अत्यधिक जाज्वल्यमान बनाने में घृताहुति का कार्य करती है ॥३०६॥ एक समय रात में वह राजा कलश उन पाँच-छः विटों को साथ लेकर चौर्यसुरत की कामना से जिन्दुराज के भवन की ओर गया ॥३०७॥ वहाँ जिन्दुराज की परमपुंश्चली (अत्यन्त जारिणी) स्नुषा (पुत्रवधू) ने राजा कलश को रात में अपने घर आने के लिए संकेत दिया था ॥३०८॥ वहाँ प्रवेश करते हुए

उस राजा को देख भौंकते हुए कुत्तों की सूचना से चोर की शंका से व्याकुल होकर पहरेदार चाण्डाल तलवार ले कर दौड़े ॥३०९॥ इतने में वह राजा कलश घबड़ा कर पृथ्वी पर गिर पड़ा तब उन चाण्डालों को राजा के ऊपर प्रहार करने के लिए उद्युक्त देख उसके साथियों ने उसकी पीठ पर अपने शरीर को रखकर उसकी रक्षा की ॥३१०॥

यथेष्ट मुष्टिप्रहार एवं लत्ताप्रहार करते हुए उन चाण्डालों से "उसे मत मारो, वह राजा कलश है" ऐसा कहकर उसके साथियों ने यथाकथंचित् वहाँ से उसे छुड़ाया ॥३११॥ नासिकाहीन पुरुष को अग्रसर बनाकर वह राजा उस जारिणी नारी के पास जाने के लिए निकला था, इसलिए उस कामी के लिए अवश्यमेव वही अपशकुन हुआ ॥३१२॥ वह उस कान्ता के कुटिल कटाक्षों के वशीभूत होकर घर से निकला था मार्ग में उस पर काली के कटाक्ष का पात हुआ परन्तु दैव के कृपा-कटाक्ष से वह जीवित रह गया ॥३१३॥ उसने अपने मन की दुष्टता के कारण नीतिमार्ग का उल्लंघन किया था, इसलिए राजा होने पर भी उसे अंत्यजों द्वारा इस प्रकार अपमानित होकर नीचा देखना पड़ा ॥३१४॥ जिन इन्द्रियों के द्वारा इन्द्र-चन्द्र आदि देवता भी लज्जित कर दिये गये थे तब उनके द्वारा मनुष्य का मान कैसे अम्लान रह सकता है ? ॥३१५॥ प्रथम दुस्तर दुर्यश का उदय होता है, पश्चात् निन्दनीय कामवासना उत्पन्न होती है। प्रथम धर्म का संक्षय (सर्वनाश) होता है पश्चात् कुलपरम्परागत श्लाघ्य स्वाभिमान

नष्ट हो जाता है। प्रथम कुल का गौरव सन्दिग्ध हो जाता है पश्चात् जीवन में भी सन्देह का साम्राज्य हो जाता है, इस प्रकार चारित्र्य रूपी चिन्तामणि के विनाश होने पर कौन-सी वस्तु का विपर्यय (विनाश) नहीं होता ? ॥३१६॥ उस दुश्चरित्र राजा के राजभवन में पहुँचने तक के समय में ही वह वृत्तान्त उसके माता-पिता को विदित हो गया था ॥३१७॥ वे दोनों सुतस्नेह, लज्जा, शोक आदि के आवेग से बहुत देर तक रोते रहे और अन्त में उन्होंने उस अपराधी पुत्र को कैद कर लेने का निश्चय कर लिया ॥३१८॥ उन दोनों पति-पत्नी ने वप्पिया नामक कलश की पत्नी से उत्पन्न हुए सकलविद्यानिधि सर्वज्येष्ठ पौत्र हर्ष को राज्याधिकारी बनाने की अभिलाषा रखते हुए वह रात व्यतीत की ॥३१९॥ उसके बाद दूसरे दिन प्रातःकाल में उन्होंने राजा कलश को अपने पास बुलवाया, तब कलश को उनका भय लगने लगा और उसने अपनी हार्दिक भीति को बिज्ज तथा जयानन्द के सम्मुख कह दिया ॥३२०॥

फिर वह जयानन्द का हाथ पकड़कर यथाकथञ्चित् अपने पिता के पास गया, उसके पीछे बिज्ज भी था ॥३२१॥ राजा कलश को प्रविष्ट होते ही उसके पिता अनन्तदेव ने क्रोध के आवेश में आकर उसके मुख पर चपेटा (थप्पड़) का प्रहार किया और कहा कि—"अभागे, अपने हाथ में की इस छुरिका (कटार) को फेंक दे" ॥३२२॥ उस समय त्रास से शिथिल-शरीर राजा कलश को एक हाथ से सम्हालते हुए बिज्ज ने अभिमान के साथ अपनी

तलवार को छूते हुए अनन्तदेव राजा से कहा ॥३२३॥ महाराज, आप स्वाभिमानियों के अग्रणी होकर भी "मानधनों के लिए मानग्रह-महाव्रत अत्याज्य है" इस बात को कैसे नहीं जानते ? ॥३२४॥ राजन्, मुझे राजा कलश के यहाँ से वेतन मिलता है, मैं राजपुत्र हूँ, सशस्त्र एवं जीवितस्थिति में ऐसे संकट के समय स्वामी को मैं कैसे त्याग सकता हूँ ॥३२५॥ आप इनके पिता हैं और ये आपके पुत्र हैं मेरी अनुपस्थिति में आप जो चाहें सो कर सकते हैं ॥३२६॥ इस प्रकार के स्निग्ध एवं कर्कश वचनों से उस मुग्ध राजा अनन्तदेव को चकित एवं मोहित कर वहाँ से अपने स्वामी को साथ लेकर बिज्ज वापस रवाना हो गया ॥३२७॥ उस समय के बिज्ज के उस अमानुषिक अथवा अतिमानुष धैर्य की सर्वत्र धीर-वीर पुरुषों ने अत्यन्त प्रशंसा की क्योंकि अनन्तदेव जैसे परमप्रभावशाली वीर राजा के सम्मुख भी उसका धैर्य अक्षुण्ण बना रहा ॥३२८॥ इस घटना के समय भावी प्रबल दैव के प्रभाव से ही महारानी सूर्यमती निरुपाय होकर जप करने के लिए मौनव्रत धारण कर उस कार्य में निमग्न थी ॥३२९॥ यदि वह भी उस समय राजा के निकट विद्यमान होती तो अवश्य ही उस दिन कलश को मरण अथवा बन्धन प्राप्त होता ॥३३०॥

उसके बाद बिज्ज ने त्रस्त एवं म्लान राजा कलश को शीघ्रातिशीघ्र उसकी चतुर रानी दिल्ला के घर पर पहुँचा दिया ॥३३१॥ दिल्लारानी को सम्पूर्ण वृत्तान्त विदित हो चुका था इसलिए उस चतुरा ललना ने राजा शिरश्शूल से पीड़ित है ऐसा प्रसिद्ध कर

उस भयभीत पति के मस्तक पर तैलमर्दन किया ॥३३२॥ इस मिस से लोगों का वहाँ आना-जाना बन्द कर बिज्ज को द्वाररक्षक बनाकर पति की रक्षा करने लगी ॥३३३॥ जपविधि से निवृत्त होकर रानी सूर्यमती ने राजा अनन्तदेव को खूब फटकारा और कुशल पूछने के बहाने से कलश के पास गई ॥३३४॥ उसी प्रकार कलश को कैद करने का निश्चय करके राजा अनन्तदेव भी उधर रवाना हुआ परन्तु बिज्ज ने राजा अनन्तदेव को अकेला ही अन्दर जाने दिया ॥३३५॥ अपने अनुयायियों को बाहर रोक देने के कारण राजा अनन्तदेव को क्रोध आ गया और रुष्ट होकर विजयेश्वर क्षेत्र को जाने के लिए सन्नद्ध हो गया ॥३३६॥ वहाँ से वह राजा अनन्तदेव रानी सूर्यमती को साथ लेकर रवाना हुआ, जब पद्मपुर के निकट पहुँच गया, तब वहाँ पर पद्मपुरवासी विश्शावट्ट आदि ब्राह्मण आकर उससे कहने लगे ॥३३७॥ महाराज, स्वयं अधिकार का त्यागकर अब आप पश्चात्ताप क्यों कर रहे हैं ? अच्छे अथवा बुरे कार्य को कर लेने के बाद उसके सम्बन्ध में किया गया पश्चात्ताप योग्य नहीं कहा जा सकता ॥३३८॥ "मैंने अपनी प्रिय प्रजा को दुष्टबुद्धि पुत्र के हाथ सौंप दिया है" ऐसा सोचकर अपने दुराचारी पुत्र को कलङ्कित करना अथवा उसकी निन्दा करना भी आपके लिए उचित नहीं है ॥३३९॥ यन्त्र के प्रभाव से चलनेवाली कठपुतली के समान अस्वतन्त्र राजा में किसी प्रकार की भी स्वतन्त्र शक्ति नहीं है, वह तो प्रजाओं के शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से सज्जन अथवा दुर्जन हुआ करता है ।.३४०॥

वनस्पतियों के सदसत्कर्मों के फलानुसार ही बादलों के द्वारा उनपर शीतल जल या घोर अशनि (बिजली) गिरायी जाती है ॥३४१॥ और आप अपने कुमार्गगामी पुत्र को छोड़कर अन्यत्र सुखपूर्वक रहना चाहते हैं परन्तु कोश को त्यागकर निर्धनावस्था में जाने पर आपको सुख कैसे मिल सकता है ॥३४२॥ इस प्रकार ब्राह्मणों के बचन को सुनकर वह विचारशील राजा राजधानी को वापस लौटना ही चाहता था। इतने में पत्नी-सहित उसके पुत्र कलश ने वहाँ आकर उसे राजधानी में वापिस चलने के लिये राजी कर लिया ॥३४३॥ परम-शक्ति-सम्पन्न, महाकुलोत्पन्न तथा शुचि (शुद्ध, पवित्र) पुरुष को भी कोश (द्रव्य) के बिना तेज-धारवाली, सरल तथा चमकती हुई एवं स्वच्छ परन्तु कोशहीन (बगैर म्यान की) तलवार के समान कौन स्पर्श करेगा ? ॥३४४॥ वह राजा नगर में वापस आ गया था, परन्तु उसका क्रोध शान्त नहीं हुआ था, उसने राजभवनों की इमारतों को छोड़कर वहाँ की सारी सम्पत्ति को लेकर फिर से प्रयाण किया ॥३४५॥ अश्व, शस्त्र, कवच आदि ले वहाँ से रवाना होकर वह वितस्ता नदी के पार पहुँच गया और वहाँ कुछ समय तक अपनी रानियों की प्रतीक्षा करता रहा ॥३४६॥ राज-पत्नियाँ भी नाना प्रकार के राजोपकरण तथा द्रव्यराशि को नौकाओं में रखकर साथ में ले आइ थीं, उन्होंने घर से निकलते समय लोहशंकु तक को नहीं छोड़ा था ॥३४७॥ प्रारम्भ में जब वह पहिली बार राजधानी से रवाना हुआ था, तब लोगों को उसके जाने का पता नहीं लग सका था,

इसलिए वे चुपचाप बैठ रहे थे। परन्तु इस बार उसके प्रयाण की वार्ता लोगों को विदित हो जाने से वे सब अत्यन्त शोकमय करुण-क्रन्दन करने लगे थे ॥३४८॥ उस जनता ने राजा अनन्तदेव तथा महारानी सूर्यमती के चरणों में पुष्पांजलि समर्पण की और आँसुओं के मिस से अर्घ्य-प्रदान भी किया ॥३४९॥ "हा माताजी! हा पिताजी! आप इस प्रकार हम सबको छोड़ कर कहाँ जा रहे हैं?" इस प्रकार विलापमय शब्दों के अतिरिक्त उस समय दूसरा कोई भी शब्द नहीं सुनाई देता था ॥३५०॥

मार्ग में कभी-कभी वह विलापमय करुणध्वनि शांत हो जाता था उस समय पर्वतीय झरनों के द्वारा पर्वतों के शोकमय निश्वास का शूत्कारध्वनि जनता को सुनायी देता था ॥३५१॥ मार्ग में सततरूप से श्रवण किया वह शोकमय जनता का आर्तनाद निर्जन स्थान में भी उन दोनों के कानों में चिरपरिचित होने के कारण गूँज रहा था ॥३५२॥ उस राजा को स्वयं के पुत्र के पाप के कारण राज्य को त्यागकर मार्ग में जाता हुआ देख वृक्षों पर अपने घोंसले बनाकर अपने बच्चों का पालन-पोषण करनेवाले पक्षियों की भी लोग निन्दा करने लगे ॥३५३॥ अपने पुत्र के दुर्व्यवहार के हेतु संतप्त-हृदय उन दम्पति के हृदय को भगवान् विजयेश्वर ने स्नेही बन्धु के समान दर्शनमात्र से आल्हादित कर दिया ॥३५४॥ वहाँ पहुँचने पर भाण्डागार (कोश) अश्व, सेवकवर्ग आदि के निवासयोग्य स्थान की देख-भाल तथा सुव्यवस्थित प्रबन्ध करने में ही उनका वह सम्पूर्ण दिन बीत गया ॥३५५॥ उस प्रदेश में

कहीं कोश कहीं उपकरण (सामान) कहीं अन्न की बोरियों का ढेर लगा हुआ था। इसलिए वह प्रदेश लकड़ियों..... आच्छादित मैदान के समान दीखता था ॥३५६॥ वहाँ पर तन्वंग-राज, तुङ्ग आदि ज्ञाति पुत्र राजकुमार तथा सूर्यवर्मा, चन्द्र आदि डामर उस राजा की सेवा में उपस्थित हो गये ॥३५७॥ उस राजा ने क्षीर भूप आदि डामरों को नौका, नगर आदि की रक्षा तथा प्रबन्ध आदि कार्यों में नियुक्तकर अपने उस नवीन निवास-स्थान को सर्वथा सुरक्षित कर दिया था ॥३५८॥ उस विजयेश्वर क्षेत्र में पूर्णतया निश्चिन्त एवं शान्त-चित्त श्रीमान् राजा अनन्तदेव के दिन आनन्दोत्सव से व्यतीत होने लगे ॥३५९॥ वहाँ पर राजपुत्र, अश्वारोही सैनिक, शस्त्रधारी तथा डामर-मण्डल उस वृद्ध राजा के निकट आकर रहने लगे ॥३६०॥

वह राजा अनन्तदेव लौकिक वर्ष ४१५५ के ज्येष्ठ मास में निज राजधानी को त्यागकर रवाना हुआ था, और विजयक्षेत्र में पहुँचकर स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करने लगा ॥३६१॥ इस प्रकार राजा अनन्तदेव के चले जाने के बाद कलश को सर्व-सम्पत्ति-शून्य, निधि के निकाले जाने के साथ ही निधि-रक्षक नाग भी जहाँ से जा चुका हो—ऐसे शून्य-स्थल के समान वह राज्य मिला ॥३६२॥ धनहीन होकर भी उस नवीन राजा कलश ने अपने राज्य-प्रबन्ध को उज्ज्वल एवं सुचारु बनाने के लिए बड़े प्रयत्न के साथ विज्ञ आदि विश्वस्त पुरुषों की सम्मति से योग्य अधिकारियों को नियुक्त किया ॥३६३॥ उसने जयानन्द

को सर्वाधिकारी के पद पर नियुक्त किया था और वितस्तात्रपुर निवासी वाराहदेव को द्वाराधिकारी बनाया था ॥३६४॥ जिन्दुराज के कम्पन में जो वस्त्राधिकारी था, उसी विजयमित्र को कलश राजा ने अपने राज्य के कम्पनाधिपति का पद प्रदान किया ॥३६५॥ और भी प्रत्येक पदों पर योग्यतानुसार अन्यान्य व्यक्ति विशेषों को नियुक्त कर वह राजा अपने पिता से विग्रह करने के लिये धन-संचय करने लगा ॥३६६॥ उसके बाद सर्वाधिकारी जयानन्द ने पदाति सैनिकों के संग्रह करने की इच्छा से अयोग्य धनिकों से भी धन लेना शुरू किया ॥३६७॥ और उस संगृहीत धन से कतिपय पदातियों का संग्रह करने के बाद जयानन्द तथा विज्ज आदि राजपुत्रों को साथ लेकर राजा कलश वृद्ध राजा से युद्ध करने के लिये अवन्तिपुर पहुँचा ॥३६८॥ उसी अवसर पर जिन्दुराज कारावास से मुक्त हुआ था। उससे भी कलश ने सहायता की अभ्यर्थना की, तदनुसार वह शिमिका के मार्ग से युद्ध के लिए रवाना हुआ ॥३६९॥ इस प्रकार कलश एवं तदनुगामियों के युद्धोद्योग की वार्ता को सुनकर क्रुद्ध हुए, उस वृद्ध राजा अनन्तदेव के अश्वारोही सैनिक तथा डामर आदि सहायक उसके साथ मिलकर आक्रमणकारियों के साथ युद्ध करने के लिए सन्नद्ध हो गये ॥३७०॥

विजयेश्वर क्षेत्र का सम्पूर्ण भू-भाग शस्त्रधारी सैनिकों से पूर्ण हो गया था और स्थान-स्थान पर अश्व अपने खाद्य गुड़ से क्रीड़ा कर रहे थे ॥३७१॥ इस घटना से राजा अनन्तदेव अत्यन्त क्रुद्ध

हो रहा था, परन्तु महारानी सूर्यमती ने पुत्रवात्सल्य के वशीभूत होकर बड़े यत्न से दो दिन के लिए युद्ध न करने की पति से अभ्यर्थना की ॥३७२॥ उसने अत्यधिक विश्वास-पात्र सुज्य आदि ब्राह्मणों को अपने प्रियपुत्र कलश के पास भेजा तथा उनके द्वारा अत्यन्त वात्सल्यपूर्ण शब्दों से राजा कलश को एकान्त में अपना सन्देश कहलाया ॥३७३॥ "पुत्र, स्वयं के विनाश को सूचित करने वाला यह बुद्धिविपर्यय (+बुद्धि की विपरीतता) तुझमें कहाँ से आ गया है, जिससे कि तू महापराक्रमी अपने पिता से युद्ध करना चाहता है ॥३७४॥ जिसके भ्रूभङ्ग मात्र से (भौंहें टेढ़ी करने से ही) दरदराज आदि प्रतापशालियों का ध्वंस हो गया, उस वीर के क्रोधानल में तू क्यों पतंग बनना चाहता है ? ॥३७५॥ अग्नितुल्य प्रखर प्रतापशाली यह राजा अनन्तदेव जब अश्वारूढ़ होकर समरांगण में उपस्थित होगा तब तृण के समान निस्सार तेरे सैनिकों की रक्षा कौन कर सकेगा ? ॥३७६॥ तू कितने सेनांगों (हाथी, अश्व, रथ और पदाति) से और कौन से शौर्य से तथा कितने धन से इस वीराग्रणी के साथ युद्ध करने के लिए आया है ? ॥३७७॥ तेरे सद्भाग्य से इसने स्वयं ही राज्य को त्याग दिया है इसलिए तू इस निष्कण्टक राज्य का उपभोग कर। तीर्थ में रहकर शान्तिमय जीवन व्यतीत करते हुए तेरे पिता ने कौन-सा तेरा अपकार किया है ? ॥३७८॥ पारस्परिक भेदभाव को उत्पन्न करने वाले धूर्तों ने तुझे इस दारुण संकट में फँसा दिया है पहिले ही से द्रव्यहीन होकर इस प्रकार

के घातक कार्य से तू अधिक निर्धन हो जाएगा ॥३७९॥ तू अपनी सेना को वापस बुला ले। मैं जबतक जीवित हूँ तबतक तुझे अपने पिता का भय नहीं हो सकता। तू अनुनय विनयपूर्ण वचनों के द्वारा इस सरल एवं दयार्द्र-स्वभाव राजा को प्रसन्न कर ले" ॥३८०॥

इस प्रकार दूतों के द्वारा माता के समझाने पर सूर्यमती के पुत्र कलश ने रात में ही चारों ओर फैली हुई अपनी सेना को वापिस बुलवा लिया ॥३८१॥ यह आनन्दकारक वृत्तान्त दूतों के द्वारा महारानी सूर्यमती को विदित हो चुका था इसलिए उस धृष्ट-स्वभावा प्रियतमा ने अपने पति को खूब खरी खोटी बातें सुनाईं ॥३८२॥ यद्यपि महारानी सूर्यमती के द्वारा उन दोनों के पारस्परिक आक्षेप (झगड़े) शान्त अथवा स्थगित कर दिये गये थे, तथापि पिशुन (चुगलखोर) लोगों के भेदजनक प्रयत्नों के कारण उन दोनों का अन्तःकरण क्षण-क्षण में कलुषित हो जाता था ॥३८३॥ वैर का यह स्वाभाविक धर्म है कि वह बार-बार सन्धि करने पर भी फिर से भेद को प्राप्त हो जाता है जिस प्रकार जीर्ण-वस्त्र को अनेक बार सीने पर भी वह फिर से फट जाता है ॥३८४॥ बाहरी तथा दरबारी लोगों में अपने पुत्र कलश के कुकर्म-वृत्तान्तों को सुनकर वह राजा अत्यन्त-सन्तप्त-हृदय हो जाता था परन्तु अन्तःपुर में जाते ही अपनी पत्नी के उपालम्भपूर्ण कर्णकटु भाषण को सुनकर अपना मन मसोस कर शीतल हो जाता था ॥३८५॥ दिन भर धूप से तप कर रात में शीत से जड़

(शीतल) होनेवाली पुष्करिणी के निर्मल जल के समान उस शुद्ध-हृदय राजा की अवस्था हो रही थी ॥३८६॥ कलश ने अपने पिता राजा अनन्तदेव के पक्षपातियों के धन-जन का नाश करना प्रारम्भ कर दिया था परन्तु स्त्री के वशीभूत वृद्ध राजा ने किंचिन्मात्र भी अपने पुत्र कलश के पक्षपातियों का नुकसान नहीं किया ॥३८७॥ पुत्रस्नेह के वशीभूत होकर अविचारान्ध सूर्यमती के द्वारा सताये गये पीड़ित अनुचरों की रूखी बातें सुनकर सन्तप्तहृदय वह राजा अत्यन्त दुःखमय जीवन व्यतीत करता था ॥३८८॥ वह वृद्ध राजा अपने पुत्र की सेना को शूररहित समझकर उसका राज्य छीनना चाहता था उसकी दृष्टि में केवल जिन्दुराज ही थोड़ा बहुत पुरुषार्थी जँचता था ॥३८९॥ पुत्र के पास से राज्य को छीनने की इच्छा करते हुए उस राजा ने तन्वंग के पुत्रों को राज्य देने का अपने मन में सोचा था, परन्तु वे इस बात को स्वीकार नहीं करते थे ॥३९०॥

इस बात को सुनकर रानी सूर्यमती ने अपने पुत्र की वंश-परम्परा के हाथ से राज्याधिकार के छिन जाने की आशंका से रातोंरात अनेक प्रयत्न करके अपने पौत्र को अर्थात् कलश के पुत्र हर्ष को राजा बनाने के लिए दूत भेजकर उसे अपने पास बुलवाया ॥३९१॥ अपने पितामह के दूतों द्वारा आव्हान किये गये उस साहसोन्मुख हर्ष ने बाहर के पहरेदारों की रक्षा में रह कर भी उनकी पर्वाह न करते हुए अश्व पर आरूढ़ होकर पितामह के निकट प्रस्थान किया ॥३९२॥ उस अत्यन्त तेजस्वी हर्ष का

अश्व मन के समान वेगवान् था उसको कशाघात के द्वारा प्रेरण करते ही वह खूब तेज चलने लगा जिससे वह हर्ष क्षणार्ध में पाँच योजन पहुँच गया ॥३९३॥ उसके अश्वारोही अनुयायियों के दीन अश्व उस वेगवान् अश्व के पीछे दौड़ने के कारण बहुत थक गये थे ॥३९४॥ विजयेश्वर क्षेत्र में पहुँचते ही हर्ष ने सर्वप्रथम पितामह तथा पितामही के दर्शन किये जब वह उनके चरणों में प्रणाम कर रहा था उस समय वे आनन्दाश्रुजल से उसके मस्तक पर राज्याभिषेक-सा कर रहे थे ॥३९५॥ अपने पुत्र हर्ष को अपने पिता अनन्तदेव के निकट पहुँचा सुनकर कलश कुछ व्याकुल-सा हो गया था उसने सुलह की इच्छा से अपने माता-पिता के साथ बिगाड़ करना बन्द कर दिया था ॥३९६॥ उसने हर्ष के पास सन्धि-प्रस्ताव पत्र भेजा और अपने राज्य की दुर्व्यवस्था तथा प्रजा के विप्लव की ओर ध्यान देकर प्रगट रूप से द्वेष करना छोड़ दिया ॥३९७॥ इस प्रकार प्रछन्न रूप से पारस्परिक वैर के बढ़ जाने पर भी कलश कुछ समय तक अपनी माता महारानी सूर्यमती के मतानुसार चलता रहा ॥३९८॥ कलश के आदेश से उसका कम्पनाधिपति (सेनापति) खशाला प्रदेश की ओर से जाना चाहता था उसको "वह राजा अनन्तदेव के पास आकर उनके चरणों में वन्दन करके जा सकता है" इस शर्त पर सूर्यमतीदेवी ने जाने की आज्ञा दिलवा दी थी ॥३९९॥

उसी समय में देश के लिए हानिकारक उस पितापुत्र के पारस्परिक कलह को शान्त कर देने के लिए उन दोनों के विरुद्ध

सब ब्राह्मणों ने प्रायोपवेशन प्रारम्भ कर दिया ॥४००॥ उस प्रायोपवेशन के अनुरोध से उन दोनों का आपस में मेल हो गया तब वे दम्पती (अनन्तदेव और सूर्यमती) दो मास तक फिर से राजधानी में आकर रहे ॥४०१॥ परन्तु "शीघ्र ही जयानन्द आदि दुष्टों की सम्मति से कलश हमें बन्दी बना लेगा" ऐसी बातें सुनकर वे दोनों जल्दी से विजयेश्वर क्षेत्र को वापिस चले गये ॥४०२॥ उसके बाद कलश ने रात में उस अनन्तदेव के अश्वों के घास में आग लगवा दी, और उसके पदाति सैनिकों को विष, शस्त्र, अग्निदाह आदि युक्तियों से मरवा डाला ॥४०३॥ इस प्रकार बड़े जोर से पारस्परिक विरोध के वृद्धिगत होने पर भी उस पुत्रवत्सला सूर्यमती ने अपने पति को पुत्र के द्वारा किये गये अपकारों का प्रतिकार नहीं करने दिया ॥४०४॥ लड्डा नामक धीवर जाति की एक कुलटा स्त्री थी और थक्क नामक एक खल्वाट उसका आज्ञाकारी जार था ॥४०५॥ उन दोनों को कलश के निकटवर्ती चापलूस मसखरे लोग अनन्तदेव तथा सूर्यमती के नाम से सम्बोधित करते थे और वह दुष्टात्मा कलश इस प्रकार अपने माता-पिता के नाम का दुरुपयोग देखकर आनन्द से हँसने लगता था ॥४०६॥ कुछ समय के पश्चात् राजा अनन्तदेव तथा रानी सूर्यमती ने सुवर्ण का तुलादान किया और अनेक दान धर्म आदि शुभकृत्य करते हुए वे अपने चित्त को स्थिर तथा प्रसन्न रखने का सतत प्रयत्न करने लगे ॥४०७॥ उनके पास अतुल सम्पत्ति थी इसलिए वे नितान्त निश्चिन्त एवं दैन्यरहित थे इस

तरह उनकी दृढ़ता को देखकर उस दुष्ट पापात्मा कलश ने द्वेष-वशात् उनके निवास स्थान विजयेश्वर क्षेत्र में आग लगवा दी ॥४०८॥ इस भयंकर अग्निकांड से राजा अनन्तदेव के सम्पूर्ण उपकरणों के साथ वह सम्पूर्ण विजयेश्वरपत्तन भस्मावशेष हो गया ॥४०९॥ उस भयंकर सर्वनाश के शोक से सूर्यमती अत्यन्त दीन तथा निराश हो गई थी और मरने के लिए उद्यत हो गई थी उसे तन्वंग के पुत्रों ने जलते हुए भवन के अन्दर से बड़ी कठिनाई से बाहर निकाला ॥४१०॥

राजा के सैनिक वस्त्र निकालकर सोये थे। वे सब उस कोलाहल से सहसा घबड़ाकर उठ गये उनके वस्त्र-भस्मीभूत हो गये थे इसलिए उनको दिगंबरता प्राप्त हो गई थी ॥४११॥ राजा कलश भी अपनी राजधानी में राजमहल की छत पर चढ़कर इस भयानक दृश्य को देख आनन्द से तालियाँ पीट रहा था और उन गगनचुम्बी अग्निज्वालाओं के समान हर्ष से नाच रहा था ॥४१२॥ नष्ट सर्वस्व राजा अनन्तदेव वितस्ता नदी के पार पत्नीसहित चला गया परन्तु शोकसागर के मध्य में उसे डूबना पड़ा अर्थात् वह अत्यन्त शोकमग्न हो गया ॥४१३॥ दूसरे दिन प्रातःकाल के समय रानी सूर्यमती को एक अदग्ध रत्नमय शिव-लिंग मिला। उसे उसने ७० सत्तर लाख दीनारों में अपने पास आये हुए टक्कदेशीय व्यापारी को बेच दिया ॥४१४॥ उन दीनारों में से कुछ दीनारों से सर्वप्रथम अन्न और वस्त्र खरीदकर अपने सेवकों को दिये और अवशेष दीनारों से जले हुए मकानों की

जमीन साफ की गयी ॥४१५॥ वहाँ पर उस राख के ढेर के अन्दर से राजा को इतना अधिक सुवर्ण आदि द्रव्य प्राप्त हुआ कि जिसकी कथा भी आज हम लोगों के मन में आश्चर्यपूर्ण कुतूहल उत्पन्न कर सकती है ॥४१६॥ शून्याटवी के समान उस दग्ध नगर में राजा अनन्तदेव अपने परिजन सहित बाँस के टट्टों की छत्राकार झोपड़ियों में रहता था ॥४१७॥ उसके पास धन की विपुलता होने पर भी राज्याधिकार के अभाव से कारीगर, मजदूर आदि न मिलने के कारण उस नगर के पुनर्निर्माण की इच्छा मन में रहने पर भी वह राजा उस नगर का उत्तमतया निर्माण न कर सका ॥४१८॥ नवीन राजा कलश अपनी माता सूर्यमती की अनुकूलता के कारण हर तरह निर्भय एवं पराभव-रहित होकर अनेक दुष्ट सन्देशों से अपने पिता अनन्तदेव के हृदय को निरन्तर संतप्त करता था ॥४१९॥ कुछ दिनों के बाद कलश ने पिता को स्वदेश से निर्वासित करने के लिए उत्कण्ठित होकर दूतों के द्वारा पर्णोत्स-प्रांत में चले जाने के लिए बार-बार कहना शुरू किया, और राजा पर अपना अक्षुण्ण प्रभाव रखनेवाली सूर्यमती भी अपने पुत्र का पक्ष लेकर अधिक्षेपयुक्त वचनों से उसी कार्य के लिए प्रेरणा करने लगी, तब एक दिन राजा अनन्त-देव ने रुष्ट होकर एकान्त में थक्कन नामक तन्वंग की उपस्थिति में ही अपनी पत्नी को—जो वचन कभी नहीं कहे थे—ऐसे कठोर वचन कहना शुरू किया ॥४२०-४२१-४२२॥

मैंने पत्नी के वशंवद होकर अभिमान, शौर्य, यश, राज्य,

ओज, बुद्धि तथा धन इन वस्तुओं में से कौन-सी वस्तु को नहीं गँवाया ? ॥४२३॥ लोग स्त्रियों को पुरुषों की उपभोग्य वस्तु समझते हैं परन्तु यह उनका समझना झूठ है क्योंकि परिणाम की ओर विचारपूर्ण दृष्टि से देखा जाय तो यही सिद्ध होगा कि पुरुष स्त्रियों का एक खिलौना है ॥४२४॥ द्वेष के उन्मेष (उदय) से प्रसक्त (अपकार करने के लिए सन्नद्ध) और मात्सर्य से विरक्त कान्ताओं के द्वारा कौन पुरुष कृतान्त के अतिथि नहीं बनाये गये ? ॥४२५॥ कार्मण (जादू) के द्वारा बहुत-सी स्त्रियों ने अपने भर्ताओं के रूप का सत्यानाशकर डाला, तथा कतिपय ललनाओं ने पति के बल को नष्ट किया और अनेक स्त्रियों ने उनकी बुद्धि को रसातल में पहुँचा दिया एवं कतिपय वाम-लोचनाओं ने तो अपने पति के प्राण तक ले लिये हैं ॥४२६॥ पयोधरों की (मेघ अथवा स्तनों की) उन्नति के प्रभाव से सरिताओं के समान उन्मत्त हुई ललनाएँ अन्य गोत्रज (दूसरे पर्वत में उत्पन्न हुए) पाषाणों के समान अन्य गोत्रज (दूसरे कुल में उत्पन्न हुए) पुत्रों के द्वारा पृथ्वी का हरणकर लेती हैं ॥४२७॥ स्त्रियाँ "अन्त में इनके द्वारा ही तो हमारा भरण-पोषण होनेवाला है और इन जरठ पतियों से क्या लाभ ?" ऐसा सोचकर पुत्रों का अत्यन्त प्रेमपूर्वक लालन-पालन करती हैं और भर्ताओं का शोषण ॥४२८॥ स्त्रियों में सर्वदा रहनेवाले इन दोषों को जानते हुए भी मैंने अपनी उदारता के अनुरोध से आज तक इसका अनादर नहीं किया ॥४२९॥ परन्तु इसने तो मुझ पर

प्रभाव रखने की इच्छा से मेरे ऐहलौकिक सुख का सर्वनाशकर डाला और अब मेरे पारलौकिक सुख को भी नष्ट करने के लिए यह उद्युक्त हो रही है ॥४३०॥

वलीपलितयुक्त (जिसके शरीर में झुर्रियाँ पड़ गयी है और केश भी श्वेत हो गये हैं) एवं आसन्न-मृत्यु मुझ जैसे वृद्ध को इस विजयेश्वर क्षेत्र के समान पवित्र तीर्थ को त्यागकर अन्यत्र कहाँ जाना उचित है ? ॥४३१॥ पापों को नष्ट करनेवाले भगवान् चन्द्रकलामौलि (चन्द्रशेखर, शंकर) के मन्दिर के द्वार की उत्कण्ठापूर्वक सेवा करने की मेरी अभिलाषा कैसे कुण्ठित हो सकती है ॥४३२॥ इहलोक तथा परलोक में पुत्र ही पिता का तारक होता है तब इस पुण्य तीर्थ से मुझे निर्वासितकर किसी गन्दी गली में मेरी मृत्यु को चाहनेवाला पुत्र और किसके यहाँ होगा ? ॥४३३॥ "इस मेरी पत्नी ने दूसरे कुल में उत्पन्न हुए बालक को गुप्त रीति से राजमहल में मँगवाकर रख लिया है" यह निन्दनीय लोकप्रवाद आज मुझे सत्य प्रतीत हो रहा है ॥४३४॥ आकृति तथा आचरण से पिता के विरुद्ध तथा बन्धु-जनों से द्वेष रखनेवाले एवं पिता के साथ निःस्नेह व्यवहार करने-वाले पुत्र को दूसरे से उत्पन्न हुआ समझना चाहिए ॥४३५॥ इस प्रकार आज तक के पत्नी के प्रभाव की पर्वाह न करते हुए उस कटुभाषी पति ने मर्मस्पर्शी भाषण द्वारा बहुत दिन के संचित रोष को व्यक्त करते हुए उसके हृदय को दृढ़तर आघात पहुँचाया ॥४३६॥ इस प्रकार अपने सगोत्र बान्धव के सम्मुख

पुत्र की उत्पत्ति के रहस्य को प्रकाशित करनेवाले राजा का कठोर भाषण सुनकर वह रानी अत्यधिक लज्जित हो गयी ॥४३७॥ वह कलश महत्तम मन्त्री प्रशस्त्र का पुत्र था। रानी ने अपने पुत्र के मर जाने पर उसे ले लिया था इस प्रकार का लोक-प्रवाद (अफवाह) सर्वत्र फैल रहा था ॥४३८॥ अपने पति को आज्ञांकित बनाये रखनेवाली स्त्रियों को इस प्रकार कठोर एवं विरुद्ध-भाषण अंत्यज के द्वारा मस्तक पर मारी गयी लात के समान असह्य होता है ॥४३९॥ इसलिए रानी ने रुष्ट होकर बाजारू स्त्री के समान प्रौढ़ता के संस्कार से कठोर तथा सुदृढ़ वचन उच्च स्वर से कहना आरम्भ किया ॥४४०॥

इस गतश्री, भिखारी, भाग्यहीन एवं वृथावृद्ध मूढ़ को कहाँ क्या कहना चाहिए इस बात का भी ज्ञान नहीं है ॥४४१॥ इसके पास मेरे मिलने के पूर्व स्नान करने के समय पहिनने के लिए वस्त्र तक नहीं था और सारी दुनियाँ जानती है कि मेरे मिलने के पूर्व इसने क्या क्या नहीं गँवाया था ॥४४२॥ तुमने मुझपर जो दूषण लगाये हैं वे सब तुम्हारे ही वंश की स्त्रियों में होंगे। यह समय तुम्हारे लिए प्रायश्चित्त करने का है इसलिए तुम प्रायश्चित्त क्यों नहीं करते ? ॥४४३॥ तुम अकर्मण्य तथा वृद्ध हो गये हो तुम्हें तुम्हारे पुत्र ने देश से निर्वासित कर दिया है अब पत्नी ने भी तुम्हारा त्याग कर दिया है इस प्रकार लोग कहने लगेंगे इसी बात का मुझे डर लगता है ॥४४४॥ इस प्रकार रानी के मर्मभेदक तथा गृहच्छिद्र को प्रकाशित करनेवाले वचन को सुनकर वह

राजा अत्यन्त दुःखित होकर चुप रह गया ॥४४५॥ उसी समय उस राजा के आसन के निकट फैलती हुई रक्त की धारा लोगों के दृष्टिगोचर हुई परन्तु उसका मुख पूर्ववत् तेजस्वी ही दीख रहा था ॥४४६॥ उस रक्त को देखकर रानी घबड़ा गई और थक्कन भी रोने लगा क्योंकि राजा ने क्रोध के आवेश में आकर अपने गुदाद्वार में छुरी घुसेड़ ली थी इस बात को दोनों ने देख लिया था ॥४४७॥ उसके बाद लज्जित होकर उस धैर्यवान् राजा ने उनसे कहा कि राजा को रक्तातिसार हो गया था इस प्रकार बाहरी लोगों में प्रसिद्ध करना ॥४४८॥ स्त्रियों की आज्ञा को शिरोधार्य समझने वाले, अपने पुत्र को राज्यशासन का सर्वाधिकार देने वाले, विश्वासघातक सेवकों पर एक बार धोखा खाकर भी फिर से हठात् विश्वास करने वाले और छोटे से शत्रु को अनावश्यक महत्व देकर उस पर बार-बार आक्रमण करने की कोशिश करने वाले नीति-शून्य राजाओं का शीघ्र ही नाश होता है ॥४४९॥ "अश्वारूढ़ होकर राजा भ्रमण के लिए गया था वहाँ से वापस आते समय उसको शरद-ऋतु के तीक्ष्ण आतप के त्रास से अत्यधिक तृषा लग रही थी इसलिए उसने धान्याम्बु (धनियाँ का जल) पी लिया इसी से रक्तातिसार होकर यह घटना हो गई" ॥४५०॥

इस प्रकार कुशल राजसेवकों ने अत्यंत गम्भीरतापूर्वक बाहरी लोगों में प्रसिद्ध किया, इससे वास्तविक वृत्तान्त उस समय किसी को भी विदित न हो सका ॥४५१॥ वह राजा लौकिक वर्ष

४१५५ में कार्तिक शुक्ल १५ पूर्णमासी के दिन विजयेश्वर के मंदिर के निकट मृत्यु को प्राप्त हुआ ॥४५२॥ सुखोपभोगयोग्य उस राजा अनन्तदेव को अपनी पत्नी तथा पुत्र की ओर से दी जाने वाली यन्त्रणाओं से मुक्ति मिल गई और बहुत समय के बाद सुख से पैर फैला कर सोने का अवसर मिला ॥४५३॥ उस समय उसके हृदय में किसी के प्रति क्रोध न था और न किसी के मन में उसके प्रति। मृत्यु के द्वारा वह महामना राजा क्रोध रहित एवं सुखी बना दिया गया था ॥४५४॥ उस समय संग्रामराज का दायाद (उत्तराधिकारी) वह अनन्तदेव—जैसे किसी को प्रिय न हो—इस प्रकार अनाथ के सदृश वस्त्र से आच्छादित होकर पृथ्वी पर सोया हुआ था ॥४५५॥ सर्वस्व त्यागी वह राजा न तो प्रियजनों के शोकाक्रोश से आनन्दित होता था और न शत्रुओं के कर्णकटु भाषण से विषादग्रस्त! इनसे मुक्त होकर दीर्घनिद्रा के सुख का अनुभव कर रहा था ॥४५६॥ उस राजा ने यावज्जन्म अपनी पत्नी के साथ अत्यंत दाक्षिण्यपूर्ण वर्ताव किया था, परन्तु उस दिन उसने दाक्षिण्य का उल्लंघन करके जो कटु वचन कहे थे मानों उसका प्रायश्चित्त करने के लिए ही अपने प्राणों को त्याग दिया था इसलिए उसकी कृतज्ञ पत्नी के द्वारा वह सनाथ किया गया ॥४५७॥ उस रानी ने अपने पति को अनृण करने के लिए राजपुत्र से लेकर चण्डाल पर्यन्त सेवकों को प्रति-दिन का वेतन स्वस्थचित होकर दे दिया ॥४५८॥ वेतन देने के बाद उसने सेवकों से अपने पौत्र हर्ष के जीवन-रक्षण के लिए विजयेश्वर के सम्मुख कोशपान-

पूर्वक शपथग्रहण करवाया ॥४५९॥ कोशपान करने के बाद चरणों में गिरकर रोते हुए अपने पौत्र हर्ष का मस्तक सूंघ कर उसने कहा कि "तू अपने पिता का विश्वास कदापि मत करना" ॥४६०॥

पश्चात् वह रानी सतीत्व के आवेश से खड़ी हो गई और अपने पति के अन्तिम शृंगार के समय हाथ में तलवार लेकर द्वारपाल के समान पहरा देने लगी ॥४६१॥ पश्चात् पौत्र की रक्षा के लिए १०० सौ अश्वारोही सैनिकों को नियुक्त कर उसने अपने पति के शव को शिविका (पालकी) में रखवा कर वहाँ से रवाना किया ॥४६२॥ इस कार्य को पूर्ण करने में एक रात और आधा दिन व्यतीत हुआ फिर वह रानी विजयेश्वर को प्रणाम कर पालकी में बैठी और वहाँ से रवाना होगई ॥४६३॥ उन दोनों को वहाँ से निकलते हुए देख कर जनता शोकाक्रोश करने लगी उस करुण क्रन्दन-ध्वनि के साथ प्रेतवाद्यों की तुमुल-ध्वनि के संमिश्रण-जन्य भयंकर शब्द से दश-दिशाएँ विदीर्ण सी होने लगी ॥४६४॥ प्रेत शिविका पर पताकाएँ फहराती थीं और उसके अलंकारों में प्रेतयात्रा में चलते हुए मनुष्यों का प्रतिबिम्ब पड़ता था इससे वे सब राजा के साथ जाते हुए से दीख रहे थे ॥४६५॥ उस शिविका को राजाओं ने अपने कन्धों पर धारण किया था उनके अनावृत मस्तकों पर के केश पवन से उड़ रहे थे वे उस प्रेत पर उड़ते हुए चामरों के समान सुशोभित हो रहे थे ॥४६६॥ सैनिकों के द्वारा की गई राजा की अन्तिम सेवा को देखती हुई वह रानी सूर्यास्त के समय श्मशान भूमि में पहुँच गई ॥४६७॥

दुस्त्यज सुत-स्नेह के वशीभूत होकर अथवा किसी अज्ञात कारण विशेष से वह उस समय पुत्र को देखने के लिए उत्कंठित हो रही थी ॥४६८॥ सेना के संमर्द से उड़ती हुई धूल को देख कर उसके मन में कलश के आगमन की आशा से आश्चर्य एवं उत्कंठा का का प्रादुर्भाव हुआ ॥४६९॥ उस समय नगर के मार्ग से कुछ मनुष्य वहाँ आये तब उनसे "क्या कलश आ गया है ?" इस प्रकार स्वयं उसने पूछा ॥४७०॥

रानी सूर्यमती का पुत्र कलश भी अपनी माता के निकट जाने के लिए उत्कंठित हो रहा था, परन्तु आपसी फूट डालने वाले उन धूर्तों ने उसे अनेक विभीषिकाएँ बतला कर वहाँ जाने से रोक लिया ॥४७१॥ पश्चात् वह रानी पुत्र के अवलोकन से निराश होगई और वितस्ता नदी के जल की प्रार्थना कर उसने निम्नलिखित श्लोक पढ़ा ॥४७२॥

"वैतस्तेन तु तोयेन जठरस्थेन ये मृताः ।
मोक्षं गच्छन्त्यसंदेहं ते यथा ब्रह्मवादिनः ॥"

जो मनुष्य वितस्ता नदी के जल को जठर में धारण करके अर्थात् पान करके मृत्यु को प्राप्त होते हैं वे ब्रह्मवादियों के समान अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥४७३॥ ऐसा कहकर उसने वितस्ता नदी के जल से हाथ-पैर धोये और नेत्रों को उस पवित्र जल का उपस्पर्श कर आचमन किया और पिता-पुत्रों में पारस्परिक स्नेह को नष्ट करने वाले उन पिशुनों को (चुगुलखोरों को) शाप दिया ॥४७४॥ जिन लोगों ने हम दोनों के साथ हमारे पुत्र कलश

का प्राणान्तिक विद्वेष उत्पन्न किया है उनका तथा उनके कुटुम्बियों का थोड़े ही दिनों में समूल नाश होगा ॥४७५॥ इस प्रकार शोक-सन्तप्त उस सती के अमोघ शाप से जयानन्द, जिन्दुराज आदि शीघ्र ही मृत्यु के मुख में चले गये ॥४७६॥ और उस सती ने अपने ऊपर हलधर के सम्बन्ध लगाये गये अपवाद के लिए अत्यन्त युक्ति पूर्वक परलोक को पण रखकर (यदि मैं निर्दोष न होऊँ तो मुझे स्वर्ग प्राप्ति न हो) शपथ ली ॥४७७॥ इस प्रकार वह शुचिस्मिता अपने पवित्र शील का परिचय देकर पालकी में से उस धधकती हुई चिता की आग में कूद पड़ी ॥४७८॥ उस समय आकाश की ओर जाती हुई अत्युन्नत ज्वालाओं से ऐसा प्रतीत होता था कि मानों देवताओं ने उसके स्वागत के लिए महोत्सव मनाते हुए आकाश को सिन्दूर से रँग दिया हो ॥४७९॥ वहाँ पर लोगों के शोकमय करुणक्रन्दनध्वनि से चिता की अग्नि का चटत्कार किसी को सुनाई नहीं देता था और वे सब दुःखाग्नि से दग्ध हो रहे थे इसलिए उन्हें चिताग्नि की उष्णता का अनुभव नहीं होता था अतः वह चितानल चित्रलिखित-सा विदित हो रहा था ॥४८०॥

गंगाधर, टक्किबुद्ध तथा दण्डक नामक तीन सेवकों ने और उद्दा, नोनिका एवं वल्गा नामक तीन दासियों ने उनके साथ अग्निप्रवेश किया ॥४८१॥ राजा के परमप्रेमास्पद बप्पट और उद्भट के वंशज सेनत तथा क्षेमत दोनों वैराग्य को धारण कर विजयेश्वर क्षेत्र में रहने लगे ॥४८२॥ इस विश्व के सम्पूर्ण प्राणि-

मात्र क्षणभंगुर होने के कारण अधिक समय तक नहीं ठहर सकते, परन्तु मानवहृदय तथा काचकुप्पिका (काँच की कुप्पी) इन दोनों में यह एक असाधारण गुण है कि जिसके अन्दर सुरक्षित रूप से स्थित अद्भुत कथा तथा गंगोदक कभी नहीं बिगड़ते और न पुराने हो सकते हैं ॥४८३॥ इस प्रकार वह राजा अनन्तदेव ६२ बासठ वर्ष की अवस्था में पत्नीसमेत श्रीगौरीशंकर के सायुज्य को प्राप्त हुआ ॥४८४॥ उनके मृत्यु के बाद चौथे दिन तन्वंगराज के पुत्र उन दोनों की अस्थियों को एकत्रित कर गंगा में प्रवाह करने के लिए ले गये ॥४८५॥ अपने पितामह के कोश (धनराशि) तथा परिजन से युक्त हर्ष विजयेश्वर क्षेत्र में रहकर अपने पिता से विरोध रखने लगा ॥४८६॥ पहिले तो पिता अर्थात् राजा अनन्तदेव विजयेश्वर क्षेत्र में रहता था और पुत्र कलश राजधानी में, अब राजपुत्र हर्ष विजयेश्वर में रहने लगा और पिता कलश राजधानी में ॥४८७॥ कुछ समय के बाद अत्यन्त व्यय करनेवाले हर्ष से उसके दरिद्र एवं नीतिज्ञ पिता ने अपने दूतों के द्वारा सन्धि के लिए याचना की ॥४८८॥ उस गर्विष्ठ राजपुत्र हर्ष को कलश राजा के दूतों ने बार-बार आकर विनयपूर्वक अनेक युक्तियों से समझाया और यथाकथञ्चित् अपने पिता के साथ सन्धि करने के लिए प्रसन्न कर लिया ॥४८९॥ हर्ष ने अपने निश्चित विचार के अनुसार अपने पिता को कुछ धन प्रतिवर्ष देने का वचन दिया और कलश ने हर्ष के तथा उसके पितामह के धन तथा परिजन की रक्षा की प्रतिज्ञा की ॥४९०॥

जब राजा कलश विजयेश्वर क्षेत्र की बस्ती में प्रविष्ट हुआ तब जले हुए भवनों को देख उसकी दृष्टि दग्ध होने लगी और जन-निन्दा के द्वारा उसके कान जलने लगे ॥४९१॥ कलश ने तीर्थोदक को हाथ में लेकर जब शपथ ली तब हर्ष उसके साथ नगर में गया और वहाँ पर राजा कलश ने हर्ष के धन समूह पर उसके नाम की मुद्रा (सील, मुहर) लगवा कर उस धन को अलग रखवा दिया ॥४९२॥ उसके बाद उस राजा की बुद्धि में अत्यन्त धार्मिकता की भावना उत्पन्न हो गई और वह धर्म के अनुसार आचरण करने लगा तथा धन के संचय में दत्तचित्त होने के कारण उसकी आर्थिक अवस्था भी सुधर गई ॥४९३॥ उस समय में सेल्यपुर निवासी नयन का पुत्र जय्यक धीरे-धीरे एक सम्पन्न डामर हो गया था ॥४९४॥ उसने दूर-दूर के प्रदेशों में अन्न तथा अन्य विक्रेयवस्तुओं के विक्रय द्वारा कुबेर के से स्पर्धा करने योग्य विपुल सम्पत्ति का संग्रह कर लिया था ॥४९५॥ उस जय्यक ने डेढ़ कोस तक की जमीन को खुदवा कर उसमें दीनारों से भरे हुए कलश गड़वा दिये थे और उस पृथ्वी पर चावलों की खेती करवाई थी ॥४९६॥ वह प्रतिदिन रात को सेवकों के द्वारा दीनारों से भरे हुए कलश गड़वाया करता था और यह गुप्त धन का रहस्य किसी को विदित न होने पावे इसलिए उसने उन सेवकों में से अनेक सेवकों की गुप्त रूपसे हत्या करवा डाली थी ॥४९७॥ किसी समय वह अपने सशस्त्र सैनिकों को साथ लेकर भांगील नामक प्रदेश पर अपना अधिकार जमाने के लिए गया था इसमें

उसकी सेना अकस्मात् वहाँ से भाग खड़ी हुई और उसका अश्व किसी एक द्राक्षालता में फँस गया, इतने में किसी पदाति ने उसे मार डाला ॥४९८॥ उसका वह अगणित भूमिस्थ धन राजा कलश को मिल गया। उस सम्पूर्ण धन को राजा ने जमीन में से निकलवा लिया। उस धन से वह राजा यावज्जन्म के लिए दारिद्र्य-हीन हो गया ॥४९९॥ जमीन में से निकाले गये उन दीनारों की मिट्टी के धोने से सम्पूर्ण वितस्ता नदी का जल कई महीनों तक कलुषित बना रहा ॥५००॥

लुब्ध-समृद्ध-जन (लोभी धनिक लोग) योग्य अवसर पर दान एवं उपभोग से वञ्चित रहकर बड़े क्लेश से दूसरों के लिए धन की रक्षा करते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥५०१॥ सर्प पवन का पान कर प्राणों का रक्षण करता है और अन्धकारमय बिल में शयन करता है तथा नग्न होकर लज्जा को शान्त करने के लिए दूसरे के दिये हुए वस्त्र की आकांक्षा करता है इस प्रकार अपनी कदर्यता का विस्तार कर दूसरों के लिए निधि की रक्षा करता है। इस संसार में लोभी मनुष्य के अतिरिक्त दूसरा कोई भी परोपकार में निष्णात नहीं है ॥५०२॥ और भी जैसे अनेक मार्गों से आकर सब नदियाँ समुद्र में प्रवेश करती हैं वैसे ही उस भाग्यवान राजा के पास अनेक प्रकार की सम्पदाएँ प्राप्त होने लगीं ॥५०३॥ जिस प्रकार सायंकाल के समय में पक्षिगण अनेक अनेक दिशाओं में से आकर वृक्ष के निकट पहुँच जाते हैं उसी प्रकार भाग्योदय के समय में शतशः सम्पत्तियाँ मनुष्य के पास

स्वयं आ जाती हैं ॥५०४॥ शुष्क सरोवर में नीचे की जमीन में से अनेक प्रबल झरने बहकर तलभाग को जलपूर्ण कर देते हैं और आकाश से पर्जन्य बरसने लगता है एवं चारों तरफ से बड़ी बड़ी पूर नदियाँ तथा बड़े बड़े नाले भी आकर मिल जाते हैं, इस प्रकार वर्षा ऋतु में वह सरोवर जलपूर्ण हो जाता है। सच्चे भाग्योदय के समय कौन-कौन से सैकड़ों मार्गों से मानव के पास सम्पदाएँ नहीं आतीं ? ॥५०५॥ उसके बाद प्रजाओं के पुण्योदय से राजा कलश की सुमति पिता के समान प्रजापालन के कार्य में प्रतिदिन उदार एवं कुशल होने लगी ॥५०६॥ वह राजा स्वयं वैश्यों के समान द्रव्य-गणना-कुशल होकर भी विवेकसम्पन्नता के कारण सन्मार्ग में द्रव्यत्याग करते समय सर्वदा मुक्तहस्त रहता था ॥५०७॥ वह वर्तमान एवं भावी आय-व्यय का अत्यन्त सावधानता से निरीक्षण करता था और साधारण कर्मचारी (गुमाश्ता, क्लर्क) के समान हिसाब लिखने के लिए भूर्जपत्र तथा खटिका को (खड़ी, चाक) सर्वदा अपने पास रखता था ॥५०८॥ वह स्वयं रत्नों के स्वरूप की भलीभाँति परीक्षा करने पर उन्हें खरीदता था अतः कोईभी रत्नविक्रेता (जौहरी) उसे नहीं ठग सकता था ॥५०९॥ समय का उचित विभाग कर त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का सेवन करनेवाला वह सुखी राजा मध्यान्ह के पश्चात् किसी कर्मचारी से नहीं मिलता था ॥५१०॥

गुप्तचरों के द्वारा स्वकीय तथा परकीय जनों के कार्यों का अन्वेषण करनेवाले उस राजा को प्रजा के स्वप्नवृत्तान्त के अति-

रिक्त सभी वृत्तान्त विदित हो जाते थे ॥५११॥ जिस प्रकार गृहस्थाश्रमी अपने गृहकार्य की ओर पूर्ण रूप से ध्यान रखता है इसी प्रकार अपने राज्य की ओर ध्यान रखनेवाले उस राजा के सम्पूर्ण राज्य में कोई भी व्यक्ति दैन्यग्रस्त नहीं दीखता था ॥५१२॥ कौलीन अर्थात् लोकापवाद से डरनेवाला वह राजा कण्टकशोधन करते समय चोरों को भी प्रगट रूप से दण्ड नहीं देता था ॥५१३॥ उस चतुर राजा से कभी कोई भी ऐसी भूल नहीं होती थी कि जिसे ठीक करने के लिए उसके मन्त्रियों को कष्ट उठाना पड़ता हो प्रत्युत वह स्वयं कई बार अपने सचिवों की भूल को सुधार कर ठीक करता था ॥५१४॥ उसके राज्य में प्रजा विवाह, यज्ञ, यात्रा आदि शतशः महोत्सवों में निमग्न होकर सर्वदा सानन्द एवं दैन्यशून्य दीखती थी ॥५१५॥ उस नीतिज्ञ राजा ने अपने पार्श्ववर्ती राजाओं पर इतना अधिकार जमा लिया था कि वे उसके निरीक्षण (देखरेख) के बिना भोजन तक नहीं कर सकते थे ॥५१६॥ जिस प्रकार चन्द्र अपनी अमृतवर्षिणी कलाओं से देवता तथा पितृगणों को सन्तुष्ट करता है वैसे ही उस राजा ने अपनी भव्य विभूतियों के द्वारा देशान्तर को जाकर वहाँ से वापस आये हुए स्वबान्धव तन्वंग के पुत्र थक्कन आदि तीन भ्राताओं को तथा अपने अनुज को खोनेवाले गुंग के पुत्र मल्ल आदि सत्सेवकों को सन्तुष्ट किया अर्थात् उन्हें यथेष्ट पारितोषिक देकर खुश कर दिया ॥५१७-५१८॥ यद्यपि उस राजा को दुराचरण से होनेवाले अनेक दुष्परिणामों का पर्याप्त अनुभव हो चुका था

तथापि दुष्टजनों के द्वारा सिखलाये गये दुःशील तथा दुराचरण को वह नहीं छोड़ सका ॥५१९॥ टकदेश निवासी बुलिय नामक एक व्यवसायी ने तुर्क व्यापारियों से कई देशों से लाई गई सुन्दरी बालिकाओं को खरीद कर राजा कलश की सेवा में उन्हें भेंट कर दिया था ॥५२०॥

राजाने उन सुन्दरी बालाओं को अपने अन्तःपुर में रख लिया और भी रूप के लोभ से बहुत-सी परस्त्रियों को भी अन्तः-पुर में रख लिया इस प्रकार उसके अन्तःपुर में ७२ बहत्तर ललनाएँ निवास करती थीं ॥५२१॥ वह अनेक ललनाओं का उपभोग करता था तथापि मत्स्ययूष आदि वृष्य (पौष्टिक) पदार्थों के सेवन से उसकी शक्ति क्षीण नहीं होती थी ॥५२२॥ उस राजा का महासमयपूजा (शाक्तमतानुसार आधी रात के समय की जानेवाली पूजा) पर अत्यन्त प्रेम था, उसमें वह गुरुओं (शाक्तदीक्षाचार्यों) के साथ बड़े बड़े प्याले भर-भर कर यथेष्ट मदिरा का पान करता था इस कार्य में वह नीति की किंचिन्मात्र भी पर्वाह नहीं करता था ॥५२३॥ इस प्रकार भले और बुरे सब तरह के कार्यों में निमग्न रहने पर भी उसने विजयेश्वरक्षेत्र की जली हुई बस्ती को फिर से नवीन रूप में बसाया, और वहाँ पर पाषाणमय नवीन शिवालय बँधवाया ॥५२४॥ विजयेश्वर के पाषाणमय मन्दिर के शिखर पर राजा ने आकाशचुम्बी सुवर्णमय भव्य छत्र भी लगवाया ॥५२५॥ और वहाँ के त्रिपुरेश्वर के मन्दिर में पूजा आदि के खर्च का स्थायी प्रबन्ध भी उसने कर दिया,

और उसी क्षेत्र में एक शिवालय बँधवा कर उसके शिखर पर सुवर्णमलक (सोने का आँवला) लगवाया ॥५२६॥ पश्चात् सत्कर्मकुशल उस राजा ने अपने नाम से कलशेश्वर का मन्दिर बँधवाया और उसके ऊपर असंख्य सुवर्णमय घण्टाएँ लगवाईं ॥५२७॥ वह राजा कलशेश्वर के ऊपर सुवर्णमय छत्र लगवाना चाहता था उसी समय उसके पास एक तुरुष्कदेशवासी शिल्पी (कारीगर) आया था ॥५२८॥ उस कारीगर ने उस छत्र के लिए कई हजार सुवर्ण दीनारों के मिलने पर बन सकने को कहा और वह ताँबे के पत्रों पर सोने का पानी चढ़ाना जानता था परन्तु उस कला को उसने राजा से गुप्त रखा था ॥५२९॥ इस प्रकार कुछ दिनों तक तो वह राजा के द्वारा किये गये सत्कार का अनुभव करता रहा परन्तु बाद में अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि राजमन्त्री नोनक ने उसकी सब बातों का अपने चातुर्य से पता लगाकर उसे लज्जित कर दिया तब वह निराश होकर वहाँ से चल दिया और नोनक ने अत्यल्प (बहुत थोड़े) सुवर्ण से वह छत्र बनाकर राजा को बतला दिया ॥५३०-५३१॥

इसी प्रकार इन्द्र से भी अधिक सम्पत्तिशाली उस राजा ने अनन्तेश नामक शिवबाण की और अनेक देवमूर्तियों की प्रतिष्ठा की ॥५३२॥ राजपुरी के राजा सहनपाल की मृत्यु के बाद उसके अल्पवयस्क पुत्र संग्रामपाल को राज्याभिषेक किया गया ॥५३३॥ उस बालक राजा संग्रामपाल का पितृव्य (पिता का भाई) बलवान् मदनपाल उसके राज्य को छीनने की इच्छा से प्रयत्न करने

लगा ॥५३४॥ तब उसके भय से संग्रामपाल की बहन और जस्सराज ठक्कर राजा कलश के पास सहायता के लिए आये ॥५३५॥ राजा ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर कृपया उनकी सहायता के लिए बिज्ज आदि शूरों के सहित जयानन्द को भेज दिया ॥५३६॥ वहाँ जाकर जयानन्द ने सब शत्रुओं को वहाँ से भगा दिया, और सम्पूर्ण राज्य के कर्मस्थानों पर अपना अधिकार जमा लिया इसलिए संग्रामपाल के मन्त्रियों की दृष्टि में भी वह जयानन्द शंका का पात्र बन गया ॥५३७॥ उन मन्त्रियों ने उसे वहाँ से वापस जाने के लिए कहा, समझाया और कई बिभीषिकाएँ दिखलाईं परन्तु वह वीर उन बातों से किञ्चिन्मात्र चलायमान नहीं हुआ ॥५३८॥ इन राजपुरी के मन्त्रियों को यह मति बिज्ज ने सूचित की इस प्रकार शंकित होकर वह (जयानन्द) बिज्ज पर नाराज हो गया ॥५३९॥ जब राजपुरी के लोगों ने उसे खूब धन देकर फिर से जाने के लिए प्रार्थना की तब उसने बड़ी चतुराई के साथ बाद में उस राज्य की रक्षा करने के मिस से अपनी सेना को वहाँ रखकर स्वदेश को प्रयाण किया ॥५४०॥

राजा कलश अत्यंत चतुर एवं राजनीति प्रवीण था इसलिए जयानन्द के इस चातुर्यपूर्ण कार्य से राजपुरी पर अपना आधिपत्य स्थायी रहता समझ कर आनन्दित हुआ ॥५४१॥ इस प्रकार उसके कृपापात्रबिज्ज आदि भी राजा के समान ऐश्वर्यशाली होकर वहाँ रहने लगे पश्चात् कुछ समय के बीतने पर जयानन्द दुर्भाग्य से प्राणान्तक रोग से ग्रस्त हुआ ॥५४२॥ उसके स्वास्थ्य की

खबर पूछने के लिए राजा कलश बिज्ज आदि को साथ में लेकर उसके घर गया वहाँ बात-चीत करते हुए जयानन्द ने राजा से कहा कि मुझे आपसे एकांत में कुछ कहना है तब बिज्ज के अतिरिक्त सभी लोग वहाँ से अन्यत्र चल दिये फिर भी जयानन्द ने कुछ नहीं कहा तब पान थूँकने के मिस से बिज्ज बाहर जाने लगा ॥५४३,५४४॥ तब उसको जयानन्द तथा राजा ने "आप बाहर क्यों जा रहे हैं" इस प्रकार बाहरी मन से कहा फिर भी वह वहाँ से कुछ समय के लिए अन्यत्र चला गया ॥५४५॥ तब जयानन्द ने राजा को राजपुरी का पूरा वृत्तान्त कहा और यह भी सूचित किया कि बिज्ज की इस प्रबलता तथा ऐश्वर्य को देख कर कौन कहेगा कि यह राज्य आपका है ? ॥५४६॥ इसके अतिरिक्त बिज्ज ने राजकीय कार्यों में खूब धन कमाया है इस विषय का भी लम्बा चौड़ा व्याख्यान सुनाया ॥५४७॥ उस वृत्तान्त के सुनने के बाद राजा के मन में बिज्ज के विषय में कालुष्य उत्पन्न हो गया पश्चात् वह राजभवन को वापिस चला आया, उधर इंगित मात्र से हार्दिक भाव को पहिचानने वाले चतुर बिज्ज ने राजा के भाव को जान कर उससे विदेश जाने की आज्ञा माँगी ॥५४८॥ तब राजा ने ऊपरी मन से निषेध करते हुए अन्तःकरण में प्रसन्न होकर उसे जाने की आज्ञा दे दी ॥५४९॥ आज्ञा प्राप्त करते ही वह अपने घर गया और वहाँ जाकर अपना सब सामान भाइयों के साथ आगे रवाना कर दिया, उसके बाद वह राजा से मिलने के लिए आया ॥५५०॥

उस समय में राजधर्म की गम्भीरता के कारण परस्पर कठोरता का व्यवहार करने वाले उन स्वामिसेवक दोनों का आपसी व्यवहार अत्यंत ही आश्चर्यजनक था ॥५५१॥ क्यों कि राजा कलश ने अपने प्रियसेवक बिज्ज को जाने से नहीं रोका और बिज्ज ने रुष्ट होकर भी अपने प्रिय प्रभु को उपालम्भ नहीं दिया ॥५५२॥ राजा बिज्ज को पहुँचाने के लिए उठ कर कुछ दूर तक उसके साथ-साथ गया और उन दोनों ने कुछ समय तक धीरे धीरे परस्पर बात-चीत की और बाद में हँसता हुआ बिज्ज वहाँ से रवाना हो गया ॥५५३॥ पहिले हलधर ने आसन्न मरणावस्था में जिन्दुराज को कलंकित कर उसका उच्चाटन किया था उसी प्रकार जयानन्द ने भी इस अवस्था में बिज्ज का उच्चाटन कर उस बात की पुनरावृत्ति करदी ॥५५४॥ राजा के मंत्रियों ने बिज्ज को जाता हुआ देख कर राजा से कहा कि "महाराज, यह बिज्ज आपकी सर्व सम्पत्ति लेकर जा रहा है इस देश में इसने अपना कुछ भी नहीं रहने दिया है इसलिए इसका सर्वस्व हरण कर लेना चाहिए" परन्तु राजा ने उन मंत्रियों के इस कथन पर ध्यान नहीं दिया ॥५५५॥ राजा कलश जाते हुए बिज्ज को अवश्य रोक लेगा इस आशा से राजा के अतिरिक्त सभी लोग उसके पीछे गये ॥५५६॥ राजा भी परमबलशाली बिज्ज के आक्रमण की आशंका से व्याकुल हो रहा था। तिनके के हिलने पर भी डरने लगता था इस प्रकार जागरण करते हुए उसने पाँच रात्रियाँ व्यतीत कीं ॥५५७॥ जब बिज्ज शूरपुर के आगे निकल गया और उसको

पहुँचाने के लिए गये हुए लोग वहाँ से वापस आगये तब राजा की घबड़ाहट शान्त हुई और तभी उसने अपने मन की शंका को मंत्रियों के सम्मुख प्रकट किया ॥५५८॥ उन मंत्रियों ने इस बात को सुन कर बिज्ज का सर्वस्व हरण करने के लिए दीगई सलाह को न मानना राजा की नीतिज्ञता समझा ॥५५९॥ वे बिज्ज आदि निर्द्रोही सज्जन जहाँ जहाँ गये वहाँ वहाँ रत्नों के समान सर्वत्र सम्मानपात्र हुए ॥५६०॥

पश्चात् यद्यपि बिज्ज क्रमशः अधिकाधिक गौरवभाजन बनता गया तथापि उसके हृदय में देवता के समान कलश के विषय में जो श्रद्धा थी वह किंचिन्मात्र भी न्यून न हो सकी वह कलश के चरणों का सर्वदा अनन्य भक्त बना रहा ॥५६१॥ इस प्रकार बिज्ज आदि को निकलवा देने के बाद अत्यल्प समय तक अधिकार के वैभव का उपभोग कर जयानन्द सूर्यमती के शाप से मृत्यु के मुख का कवल बन गया ॥५६२॥ उसी प्रकार स्वर्गीय राजा अनन्तदेव के साथ द्रोह करने वाला जिन्दुराज भी सती सूर्यमती के शाप की सत्यता को प्रकट करने के लिए शीघ्र ही अन्तक-भवन का अतिथि बन गया ॥५६३॥ वे बिज्ज आदि भी थोड़े ही समय के लिए ऐश्वर्य को प्राप्त कर शापानुसार गौड़ देश में नाश को प्राप्त हुए ॥५६४॥ एक आकस्मिक झगड़े के कारण बिज्ज की मृत्यु हो गई और उसके भाई भी जेल में सड़ते सड़ते व्याकुल हो गये ॥५६५॥ जब वे उस कारागृह से भागे तब पाजक को मार्ग में व्याघ्र खा गया और बाकी बचे हुए अत्यंत दुःख को

भोग कर नष्ट हो गये ॥५६६॥ इस प्रकार उन पिता पुत्रों में परस्पर वैर उत्पन्न करने वाले धूर्तों में से मदन आदि दो तीन व्यक्ति यद्यपि तत्काल नहीं मरे तथापि कुछ समय के बाद उनकी भी बड़ी दुर्गति हुई ॥५६७॥ जयानन्द का सहायक वामन उसके पुत्रों का पालन करता था उसे राजा ने सर्वाधिकारी बनाया ॥५६८॥ वह अत्यंत चतुर तथा राजकार्य-प्रवीण था उसके विलक्षण चातुर्य एवं उत्कृष्ट कर्तृत्व को आज भी वृद्ध लोग सराहते हैं ॥५६९॥ कुछ समय के बाद वह राजा अत्यन्त लोभी बन गया उसने अवंतिस्वामी आदि देवालयों के उपभोग्य ग्रामों को जप्त कर कलशगंज नामक नवीन कर्मस्थान (कचहरी) की स्थापना की ॥५७०॥

उसका मंत्री नोनक द्रव्य संपादन करने में अत्यंत निपुण था परन्तु उसके क्रूरस्वभाव की ओर ध्यान देकर प्रजा के रक्षण में कुशल राजा कलश ने उसको पादाग्र का अधिकार नहीं दिया ॥५७१॥ राजकलश नामक मंत्री के पुत्र प्रशस्तकलश आदि राजा के प्रीतिपात्र एवं अन्तरंग सेवक बन गये थे ॥५७२॥ उनमें से कतिपय मंत्रिपुत्र स्वच्छन्दचारी, मिथ्यावादी तथा चौर एवं लूट मार मचाने वाले थे उन्हें राजा ने किसी अधिकार पर नियुक्त नहीं किया ॥५७३॥ मदनपाल ने फिर से राजपुरी के राजा पर आक्रमण किया तब राजा ने उसकी सहायता के लिये सेनापति बप्पट को भेजा ॥५७४॥ राजा के प्रबल प्रताप से उस छोटे से अधिकारी ने मदनपाल को परास्त कर दिया और उसे पकड़ कर

काश्मीर को भेज दिया ॥५७५॥ बराहदेव के भ्राता वीर कन्दर्पदेव को राजा ने द्वारपति नियुक्त किया उस वीर ने चढ़ाई करके डामरों का क्षय कर डाला ॥५७६॥ उस कन्दर्पदेव ने राजनीति तथा पराक्रम का अध्ययन जिन्दुराज के निकट रहकर किया था उसने आसपास के सामन्तों को अपने आज्ञांकित करलिये, वे लोग उसकी आज्ञा को शिरोधार्य समझते थे ॥५७७॥ उसका स्वभाव अत्यन्त उग्र था इसलिए जब जब वह कुपित होकर द्वारपति पद त्याग कर देता था, तब राजा कलश उसे समझा बुझाकर बड़े आग्रह से पुनः द्वारपति बनाता था ॥५७८॥ मदनपाल को राजा ने कम्पनेश बनाया उसने अपने पराक्रम से बढ़े-चढ़े बोप आदि डामरों का वध कर डाला ॥५७९॥ राजा ने अपने श्येनपाल (बाजों को पालने वाला) विजयपाल की सेवा से वशीभूत होकर उसे नगरपाल (कोतवाल) के पद पर नियुक्त किया, उस विजयपाल ने सम्पूर्ण चोरों का दमन कर डाला ॥५८०॥

उसी प्रकार उस राजा ने कन्दर्पदेव तथा उदयसिंह आदि वीरों को लोहर प्रान्त में भेज कर उनके द्वारा भुवनराज को दूर निकलवा दिया ॥५८१॥ नीलपुर के राजा कीर्तिराज की कन्या भुवनमती से उस राजा ने विवाह कर अपने पुराने शत्रु के रोग को सदा के लिए दूर कर दिया ॥५८२॥ गुंग के पुत्र मल्ल को काम सीखने के लिए राजा ने विजयसिंह के नगराधिपति पद को छीन कर उस स्थान पर नियुक्त किया ॥५८३॥ पश्चात् उसे द्वारपति के पद पर नियुक्त कर दिया उस वीर ने भी राजाओं

के मुकुट रत्नों क स्थान पर अपनी प्रतापप्रतिमा को स्थापित किया ॥५८४॥ जिस प्रकार उत्तरगोग्रहण के समय एकाकी पृथासूनु का (अर्जुन का) शौर्य इतिहास में प्रसिद्ध है वैसे ही उरशा नगरी में प्रवेश करते समय उस मानी वीरमल्ल के भी शौर्य की प्रसिद्धि है ॥५८५॥ क्योंकि उस वीर ने केवल पाँच छः अश्वारोही वीरों के साथ कृष्णा नदी को तैर कर अभयराज के राज्य को और उसके साथ ही उसके अश्वसमूह को भी छीन लिया ॥५८६॥ इस प्रकार पृथ्वी को जीतने वाले एवं नीतिज्ञ उस राजा कलश के नगर में लौकिक वर्ष ४१६३ में एक ही समय में आठ राजा मेहमान होकर आये ॥५८७॥ उनके नाम क्रमशः निर्दिष्ट हैं—१ बद्धापुर का राजा कीर्तिराज, २ चंपा का राजा आसट, ३ बल्लापुर का राजा लुक्क का पुत्र कलश, ४ राजपुरी का राजा संग्रामपाल, ५ लोहर का राजा उत्कर्ष, ६ उरशा का राजा मुंगज, ७ कांद का स्वामी गांभीरसीह और ८ काष्ठवाट का राजा श्रीमान उत्तमराज ॥५८८-५८९-५९०॥

इन सब राजाओं का समूह उस सुविस्तृत राजधानी में वारिधि में मिलनेवाले वर्षाकालिक नदियों के पूर के समान दुर्लक्ष्य हो गया अर्थात् उस विशाल नगरी में इन लोगों का पता भी नहीं लगता था ॥५९१॥ उस समय अत्यधिक शैत्य के कारण वितस्ता नदी का जल बर्फ के समान शीतल हो रहा था और जाड़ा बहुत जोरों से पड़ रहा था फिर भी उन आगन्तुक राजाओं को पूर्ण सुख का अनुभव हो रहा था ॥५९२॥ वे राजा लोग जिस

किसी वस्तु को अपने मन में भी सोचते थे उसी वस्तु को मन्त्रि-श्रेष्ठ वामन के द्वारा लाई गई देखते थे ॥५९३॥ इस कार्य में उस मन्त्री ने जो विलक्षण एवं प्रशंसनीय चातुर्य दिखाया वह दूसरों की शक्ति के परे था क्योंकि उसने इस नैमित्तिक कार्यक्रम को नित्य के कार्यक्रम के समान कर दिखाया ॥५९४॥ उसके बाद वे राजा लोग चले गये और मल्ल ने द्वारपति के पद को त्याग दिया तब राजा ने उसके स्थान पर कन्दर्प को आग्रहसहित नियुक्त किया ॥५९५॥ उस स्वाभिमानी मन्त्री ने स्वयं के धन से सैन्य-संग्रह आदि उद्योग कर स्वापिक नामक दुर्ग्राह्य दुर्ग को ले लिया ॥५९६॥ वहाँ से राजधानी को वापस आने के बाद किसी अज्ञात कारण से उस वीर कन्दर्प का मन खिन्न हो गया और राजा के द्वारा आग्रहपूर्वक कहा जाने पर भी उसने द्वारपति के पद को स्वीकार नहीं किया ॥५९७॥ इस कार्य में प्रशास्तकलश मध्यस्थ था उसे उस कन्दर्प ने अभिमान से भरे हुए अतिकटु वचन कहे इसलिए प्रशास्तकलश ने जोश में आकर अपने स्वाभिमान को प्रदर्शित करते हुए स्वयं के धन से बहुत बड़ी सेना को एकत्रित कर लिया और राजा की ओर उस सेना के सेनापति पद पर अपने भ्राता रत्नकलश को नियुक्त करवा दिया ॥५९८-५९९॥ वह अत्यन्त सम्पन्न था इसलिए उसे खुद की सम्पत्ति के बल पर इस उच्चपद को प्राप्त करने का अवसर मिला था परन्तु उसमें कन्दर्प के समान योग्यता नहीं थी क्योंकि चित्रलिखित सिंह में वास्तविक सिंह के समान पराक्रम कहाँ से हो सकेगा ॥६००॥

पश्चात् कुछ समय के बाद उस राजा ने अत्यंत अनुनय पूर्वक उस भृत्यरत्न से नगर में राजस्थानाधिकार को स्वीकार करवाया ॥६०१॥ परन्तु किसी एक दिन राजा की आज्ञा से एक चोर बहुत पीटा गया और उससे उस चोर की मृत्यु हो गई इस घटना से कोमलहृदय मल्ल के चित्त में खेद हुआ तथा वह अपने पद को त्याग कर गंगा के तीर पर जाने के वहाँ से रवाना हो गया ॥६०२॥ तब राजा ने अत्यंत नम्रभाव से उसके वस्त्र का अञ्चल पकड़ कर उसे जाने से रोका परन्तु वह राजा के हाथ को जोर से झटका देकर नाराज होता हुआ चल दिया ॥६०३॥ इस कार्य से राजा भी क्रुद्ध हो गया और उसने उसको पकड़वा कर मँगवाया राजा केवल उसके दर्प को नष्ट करना चाहता था उसके प्राणों से उसे कोई आवश्यकता नहीं थी ॥६०४॥ इस प्रकार वह अत्यंत विचारशील एवं प्रौढ़मति राजा अपने शूर वीर मंत्रियों के आरोह (अधिकार का स्वीकार) अवरोह (अधिकार त्याग) को शान्ति के साथ सह लिया करता था ॥६०५॥ अन्य देशों के समान काश्मीर देश में भी उपांगगीत का व्यसन तथा उत्तम उत्तम नर्तकियों के संग्रह का आदर इन दोनों प्रथाओं का आरम्भ कलश राजा ने ही किया ॥६०६॥ उसके बाद उसने जय-वन के पास अपने नाम से एक नवीन नगर—जो विशाल भवनों से युक्त था—बसाया ॥६०७॥ थोड़े ही दिनों में वहाँ सैकड़ों अग्रहार, प्रासाद, छोटे-बड़े घर, तालाब, बाग, बाजार आदि बन गये ॥६०८॥ राजपुत्र हर्ष अपने अनेक सद्गुण एवं अप्रतिम

पौरुष के द्वारा संसार में अत्यधिक ख्यात हो गया था उसके सदृश गुणों का दूसरे राजाओं में उपलब्ध होना कठिन था ॥६०९॥ वह सब देशों की भाषाएँ जानता था और उन भाषाओं में काव्य-रचना भी करता था तथा वह समग्र विद्या एवं सम्पूर्ण कलाओं का निधि था इसलिए उस राजकुमार की अन्य देशों में भी बहुत ख्याति हो गई थी ॥६१०॥

उसके लोभी पिता के निकट जिन विदेशी विद्वान्, गुणी एवं शूरों को आश्रय नहीं मिला करता था उन्हें वह अपने निकट आश्रय देकर योग्य वेतन भी दिया करता था ॥६११॥ इससे उसका खर्च अत्यधिक हो जाता था इसलिए पिता की तरफ से मिलनेवाले परिमित वेतन से उस उदार पुरुष को इतनी कठिनता उठाना पड़ती थी कि जिससे कभी-कभी उसे एक-एक दिवस के अन्तर से भोजन करना पड़ता था ॥६१२॥ वह उच्चकोटि के गायक के समान राजसभा में गाकर अपने सुमधुर गीतों से राजा को प्रसन्न कर लेता था और उसके पास से प्राप्त हुए पारितोषिक के धन से अपने आश्रित विद्वानों का पालन करता था ॥६१३॥ किसी समय राजपुत्र हर्ष राजसभा में अपने पिता के सम्मुख तन्मय होकर उच्च स्वर से गा रहा था और उसके गायन के माधुर्य से सम्पूर्ण सभासद प्रसन्न हो रहे थे इतने में राजा कलश अत्यावश्यक कार्यवशात् वहाँ से उठकर चल दिया ॥६१४॥ इस प्रकार राजा के द्वारा किये गये उस प्रसंगभंग (रसभंग) से विद्वान् राजकुमार के स्वाभिमान को बड़ा धक्का लगा और लज्जा

एवं कोप से क्षुब्ध होकर वह पृथ्वी की ओर देखने लगा ॥६१५॥ क्षमाहीन स्वामी, अतिशठ (परमधूर्त अथवा अविश्वसनीय) मित्र, कठोर-भाषिणी स्त्री, अतिशय वमयडी पुत्र और सामने उत्तर देनेवाला सेवकवर्ग यह सब हृदयविदारक-परिकर (सामग्री) सहन किया जा सकता है परन्तु श्रोताओं की अवज्ञापूर्ण दृष्टि सर्वथा असह्य होती है ॥६१६॥ उसी समय अवसर पाकर राजा के आश्रित विश्शावट्ट नामक विट ने हँसते-हँसते "इस राजा को मार डालिये और आनन्दपूर्वक राज्य कीजिए" इस प्रकार उस राजपुत्र से कहा ॥६१७॥ इस वचन को सुनकर क्रुद्ध हुए राजकुमार ने उसे धिक्कारा परन्तु पास में बैठे हुए धम्मट ने भी विश्शावट्ट का समर्थन करते हुए राजकुमार से कहा कि "इनका कथन भी कोई अयोग्य नहीं है" ॥६१८॥ जिस प्रकार भाविसुखोपभोग की लालसा करने वाली वेश्याएँ अपने प्रेमियों के मित्रों से भी प्रेम रखने का प्रयत्न करती हैं इसी प्रकार अपनी भविष्य की सुखभोगेच्छा की तृप्ति के कामुक राजानुचर भी राजपुत्रों के सम्मुख अपनी भक्ति को गुप्त रूप से प्रगट करते रहते हैं ॥६१९॥ फिर से राजा ने सभा में आकर उस स्वाभिमानी राजकुमार को प्रेमपूर्वक एवं आदरसहित पारितोषिक दिये और अनेक साधुवाद (धन्यवाद) देकर प्रसन्न किया ॥६२०॥

दूसरे दिन जब राजकुमार हर्ष पिता के भवन से भोजन करके अपने भवन की ओर वापस जा रहा था तब उस विश्शावट्ट ने एकान्त में उसके आगे वही चर्चा शुरू की ॥६२१॥ तब हर्ष ने

उस विट को फटकारा और समझाते हुए कई बातें कहीं फिर भी उसने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा तब राजकुमार हर्ष ने उसके मुँह पर एक थप्पड़ जमा दी ॥६२२॥ उस थप्पड़ की चोट से विश्शावट्ट की नासिका में से रक्तप्रवाह होने लगा, इस स्थिति को देखकर स्वाभाविक उदारता के कारण हर्ष के हृदय में उसके प्रति दया-भाव उत्पन्न हो गया ॥६२३॥ उसने अपने सेवकों के हाथ से उसके रक्त को धुलवा कर वस्त्र भी बदलवा दिये और कहा कि इस प्रकार के पापकृत्य के उच्चारणमात्र से ऐसी दुर्दशा होती है ॥६२४॥ इस घटना से हर्ष की इच्छा इस प्रकार की न होने पर भी उस विट ने अपने मन में निश्चय कर लिया कि हर्ष को मेरा कथन अभीष्ट है क्योंकि दुःशील पुरुष परपत्नी के सहज स्मित से ही "इसका मुझपर प्रेम है" ऐसा समझने लगता है ॥६२५॥ पश्चात् कतिपय समय व्यतीत होने पर उस विट ने बार-बार उसी कार्य के लिए प्रयत्न करना शुरू किया और इस कार्य की ओर राजकुमार हर्ष को प्रेरित करने के लिए धम्मट को मध्यस्थ बनाया अर्थात् वह विश्शावट्ट धम्मट के मार्फत राजकुमार हर्ष को पितृद्रोह के लिए प्रेरित करने लगा ॥६२६॥ अन्त में उस विट की निरन्तर प्रेरणा से राजकुमार हर्ष के मन में पापमय पितृद्रोह रूपी तरु अंकुरित एवं पल्लवित हो गया और उसने कुछ नीच लोगों की सलाह से पिता पर आक्रमण करने के लिए गुप्तरूप से स्थान-स्थान पर घातकों को नियुक्त किया ॥६२७॥ बाद में वह राजा कई बार उन घातकों के पंजे में फँस गया था

परन्तु हर्ष ने अपने मन में पितृ-स्नेहलव के स्पर्श से उन घातकों को अपने पिता का बध नहीं करने दिया और उस बात की आदत को भी न छोड़ा ॥६२८॥ उसके पश्चात् स्वयं विश्शावट्ट ने "घातक लोग राजा से मिलकर इस षड्यन्त्र का रहस्योद्-घाटन कर देंगे।" इस भय से उस षड्यन्त्र का सम्पूर्ण रहस्य राजा को कह दिया ॥६२९॥ इस बात का पता लगने पर राजकुमार डर गया और राजा के द्वारा बुलवाया जाने पर भी प्रतिदिन के अनुसार उस दिन भोजन के लिए नहीं गया ॥६३०॥

राजकुमार के इस व्यवहार से राजा को इस गुप्त षड्यन्त्र की सत्यता का पूर्ण विश्वास हो गया और उसको बहुत दुःख हुआ तथा उसने एवं उसके परिजन ने उस दिन भोजन भी नहीं किया ॥६३१॥ दूसरे दिन थक्कन तथा उसका भ्राता राजा के पास गये तब राजा कलश ने अपने दुर्दैव का वह सम्पूर्ण वृत्तान्त उनसे कहा और उनकी गोद में अपना मस्तक रखकर वह बहुत देर तक रोता रहा ॥६३२॥ उसने उन दोनों भाइयों के आगे धम्मट का भी सम्पूर्ण वृत्तान्त कहा और उसे बाँधकर लाना चाहिए इस प्रकार वह राजा थक्कन को स्पष्ट रूप से कह न सका ॥६३३॥ तब उन तन्वंग के पुत्रों ने राजा से कहा महाराज, हम दोनों को धम्मट के इस षड्यन्त्र का बिल्कुल पता नहीं था ॥६३४॥ हम दोनों ही आपकी कृपा के प्रभाव से आज तक आपत्तिग्रस्त लोगों की रक्षा करने में सर्वदा तत्पर रहते हैं एवं आपकी शरीर-रक्षा के लिए रात-दिन सावधान रहा करते

हैं ॥६३५॥ पृथ्वीपाल, हमारा बन्धु सदोष हो अथवा दोषरहित हो हमारे प्राणों पर आपत्ति आने पर भी उसे हम कैसे त्याग सकते हैं ? ॥६३६॥ यदि हम अपने भ्राता धम्मट की रक्षा करते हैं या उसका पक्ष-ग्रहण करते हैं तो हमारे हिस्से में स्वामिद्रोह का पातक आता है अतः हमारे लिए देश त्याग के अतिरिक्त दूसरी कोई गति नहीं है ॥६३७॥ ऐसा कहकर उन्होंने राजा के चरणों में अपना मस्तक रखकर जाने के लिए आदेश माँगा तब राजा ने भी साश्रुनयन होकर कथंचित् अर्थात् बड़े कष्ट से उन्हें जाने का आदेश दिया ॥६३८॥ "रास्ते में इसे कोई मारने न पावे" इस विचार से उन्होंने धम्मट को मध्य में रखा और अपना सब सामान, सैन्य एवं वाहन आदि को साथ में लेकर वहाँ से रवाना हो गये ॥६३९॥ थक्कन आदि तन्वंग के पुत्रों के चले जाने के बाद राजाने एकांतमें हर्षको बुलवाकर सान्त्वना देते हुए कहा ॥६४०॥

इस संसार के प्रारंभ से पृथ्वी पर प्रथितयशस्वी पिता के द्वारा ही पुत्र की प्रजा में प्रख्याति होती आरही है ॥६४१॥ परन्तु यह विश्वव्यापी नियम मेरे और तुम्हारे विषय में विपरीत है क्योंकि जिस प्रकार चन्द्र से अत्रि ऋषि की इस संसार में ख्याति है वैसे ही तुम जैसे विश्व-विख्यात कीर्तिशाली सुयोग्य सत्पुत्र के संबंध से मुझे सब जानते हैं ॥६४२॥ इस प्रकार गुणवानों में श्रेष्ठ एवं प्रथितयशस्वी होकर भी तुम इस निन्द्य तथा असज्जनसंसेव्य कुमार्ग का अवलम्बन क्यों कर रहे हो ॥६४३॥ आज तक जो मैंने तुम्हारे पितामह की तथा मेरी भी सम्पत्ति तुम्हें नहीं समर्पित

की है उसके योग्य कारण को जाने बिना मुझ पर इस तरह क्रुद्ध नहीं होना चाहिए ॥६४४॥ "सम्पत्तिहीन राजा स्वजन एवं शत्रुवर्ग इन दोनों से पराभव को प्राप्त होता है" ऐसा सोचकर मैं धन की रक्षा करता हूँ ॥६४५॥ इस नवीन नगर के निर्माण कार्य की समाप्ति के पश्चात् सम्पूर्ण राज्यका भार तुझे सौंपकर मैं वाराणसी अथवा नन्दिक्षेत्र में जाकर तपश्चर्या करूँगा ॥६४६॥ यह राज-सिंहासन और यह सम्पूर्ण राज्यकोश शीघ्र ही तुम्हारे अधीन होने वाला है ऐसी स्थिति में व्यर्थ ही शीघ्रता अथवा व्याकुलता के वशीभूत होकर तुम अपने सामर्थ्य का इस तरह के निन्द्य एवं नीचतम कार्य में अपव्यय क्यों करते हो ॥६४७॥ इन मिथ्यावादी खलपुरुषों ने मेरे आगे तुम्हारे विषय में जो कुछ भला बुरा कहा है उनका वह कथन मेरे मत से तो तुम्हारे पर लागू नहीं हो सकता इसलिए मेरे सम्मुख सच्चा सच्चा वृत्तान्त कहकर तुम अपने ऊपर लगाये गये कलंक को धो डालो ॥६४८॥ राजा कलश ने पुत्र स्नेह के वशीभूत होकर हर्ष से ये बचन जान बूझ कर "वह अपनी निर्दोषता को प्रमाणित करने के लिए 'यह आरोप सरासर झूठ है' ऐसा कहेगा" इस आशय से कहे थे ॥६४९॥ क्योंकि वह राजकुमार के उस अपराध को क्षमा करने के लिए तैयार था केवल वह लोगों के मन में इस बात का विश्वास कराना चाहता था कि हर्षके ऊपर लगाया गया यह कलंक सरासर झूठ है॥६५०॥

राजकुमार ने साधुवाद पूर्वक पिता की आज्ञा को शिरोधार्य कर "किसी आप्त पुरुष द्वारा वास्तविक वृत्तान्त आपकी सेवा में

निवेदन करूँगा" कहकर वहाँ से रवाना हो गया ॥६५१॥ उसके बाद राजा के द्वारा भेजे गये विश्वासपात्र दूत को "वास्तव में मैंने दूसरों के कथन से इस कार्य को करने का विचार किया था" ऐसा कहकर शर्माता हुआ वह राजकुमार अपने महल में चला गया ॥६५२॥ राजा ने अपने भेजे हुए दूत को म्लानवदन होकर आते हुए देख अपने दोनों हाथों से सिर को पीटते हुए "हाय रे अभागे पुत्र" ऐसा कहकर उसको बन्दी बनाने का आदेश दिया ॥६५३॥ और उसके साथ ही यह भी कहा कि यदि वह मारा गया तो मैं भी प्राण त्याग दूँगा इस प्रकार राजाज्ञा को सुनकर सशस्त्र राजपुरुषों ने राजकुमार के प्रासाद को चारों तरफ से घेर लिया ॥६५४॥ उस तरफ घातक लोगों को भी उस षड्यंत्र के रहस्य भेद हो जाने का पता लग जाने के कारण निश्चय हो चुका था कि अब हमें प्राणदण्ड अवश्य ही मिलेगा इसलिये उन्होंने राजकुमार के महल में प्रविष्ट होकर उसके द्वार बंद कर लिये और राजकुमार को चारों ओर से घेर कर इस प्रकार कर्ण कठोर वचन कहना शुरू किया ॥६५५॥ हे दुष्ट तू अत्यंत प्रमादशील एवं नीचतम है और बिचार किये बिना ही राजद्रोह करने के लिए सन्नद्ध हो गया है तू हमको इस तरह मृत्यु के मुख में ढकेल कर कहाँ और कैसे जीवित रहना चाहता है ? ॥६५६॥ हम लोगों के कार्य में निषेध द्वारा बार बार विघ्न उत्पन्न कर तूने अपने पिता उस राजा कलश के प्राणों को बचाया है इसलिए वह भी अपना पुत्र समझ कर तुझे बचा लेगा क्योंकि तुम दोनों का सम्बन्ध है

और हम तो मुफ्त में मारे जायँगे ॥६५७॥ इसलिए तू हमारे बीच में रहकर राजाके सैनिकोंके साथ हमारी ओर से युद्ध कर अन्यथा हम तुझे मार डालेंगे इस प्रकार हर तरह से अब तुम्हारा जीवन सुरक्षित नहीं रहेगा ॥६५८॥ यह बात राजा को भी विदित हो चुकी थी इसलिए वह व्याकुल हो रहा था उस समय उसके पास दण्डक नामक एक वृद्ध प्रतीहार विद्यमान था ॥६५९॥ वहाँ से वह वृद्ध प्रतीहार हर्ष के महल की तरफ गया उन घातकों ने भी उसे राजकुमार का विश्वसनीय सेवक समझ कर अन्दर आने दिया तब उस बुद्धिमान दण्डक ने उन सब घातकों को मोहित करते हुए कहा ॥६६०॥

क्षत्रियश्रेष्ठ राजकुमार, जब कि पाँच महाकारण देवताओं (ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ईश्वर और सदाशिव) को भी कई कल्प की आयुष्य का उपभोग करने के बाद नियति के अधीन होकर एक दिन जाना ही पड़ता है ॥६६१॥ ऐसी स्थिति में आपको यह सुनिश्चित प्रशंसनीय मृत्यु का अवसर मिल रहा है अतः इस अवसर पर जिसके रक्षण के लिए शस्त्र धारण किया जाता है उस स्वाभिमान की रक्षा कीजिए ॥६६२॥ आप तरुण, विद्वान् एवं विख्यात यशस्वी क्षत्रिय हैं तब किसलिए युद्ध में विलम्ब करना चाहते हैं ॥६६३॥ देखिए ये अप्रतिम-शूर तथा उदारतापूर्वक प्राण देने के लिए सन्नद्ध हुए घातक लोग और आपका सेवक मैं भी युद्ध के लिए अग्रसर हैं इसलिए हे प्रतापशालिन्, अब हम लोगों के लिये तो विजय अथवा मरण दोनों समान शोभाकारक

हैं ॥६६४॥ उठिये नख, केश एवं श्मश्रु आदि साफ करवाकर अप्सराओं की स्वयम्बरमाला के समान वीरपट्ट को बाँधिये ॥६६५॥ उसके बाद उस वृद्ध प्रतिहार ने नापित को बुलवाकर उसके साथ हर्ष को अन्दर भेज दिया अन्दर जाते समय हर्ष ने अपनी तलवार बाहर ही छोड़ दी थी उन सब लोगों ने उस वृद्ध प्रतिहार की खूब प्रशंसा की ॥६६६॥ बाद में वह भी अपनी तलवार को बाहर छोड़कर हर्ष के पीछे-पीछे शीघ्रता से अन्दर चला गया और वहाँ जाकर अन्दर से दरवाजा बन्द कर लिया ॥६६७॥ उसके बाद खिड़की में से पास ही बाहर की ओर खड़े हुए राज-स्थानीय से उसने कहा—"राजपुत्र सुरक्षित है अब आप लोगों को जो कुछ ठीक लगे वह कीजिये" ॥६६८॥ इस पृथ्वीतल पर बुद्धिमान मन्त्री लोग पृथ्वीपतिओं के भूत, ग्रह आदि से उत्पन्न हुए भय को औषधियों से शत्रुजनित भय को सैन्य से एवं शस्त्र-जनित भय को तनुत्राण (कवच) से तथा सार्वत्रिक भय को रभस अर्थात् उसके विपरीत दूसरा भय उत्पन्न करके दूर कर देते हैं ॥६६९॥ उसके बाद राजा के सैनिक वीर-गर्जना करते हुए राजकुमार के प्रासाद में प्रवेश करने की इच्छा से दीवारों तथा अटारियों पर चढ़ने लगे ॥६७०॥

घातक लोग भी मजबूत दरवाजेवाले कमरे में गये हुए राज-कुमार को वैसे ही छोड़कर युद्ध करते हुए मरते-कटते बाहर जाने लगे ॥६७१॥ वहाँ पर दो-तीन सज्जन ऐसे भी मौजूद थे जिनका उस षड्यन्त्र से कुछ सम्बन्ध नहीं था वे लोग किसी तरह से

वहाँ से निकल गये ॥६७२॥ बाहर निकले हुए लोग अपने विरोधियों को मारते हुए सूर्यमती रानी के गौरीश्वर के मन्दिर के पास के मकान से निकलकर सदाशिव मन्दिर के पास पहुँच गये ॥६७३॥ राजा कलश अपने स्वजनों को बहुत मानता था। इसलिए उसने उनकी रक्षा करने के लिए आज्ञा दी थी तदनुसार रक्षण किया जाने पर भी राजा का बान्धव सहज वहाँ सर्व प्रथम मारा गया ॥६७४॥ अपने शौर्य से मण्डित एवं पण्डित तीव्य नामक वीर ब्राह्मण तथा रामदेव और केशी नामक कर्णाटक देशवासी शत्रुपक्षीय वीरों से मारा गया ॥६७५॥ कई लोगों ने अपने हथियार रख दिये कई लोगों ने आत्मा-हत्या कर ली और कई मार डाले गये बहुतसों को पाप के कारण कायरों के समान बन्धन प्राप्त हुआ ॥६७६॥ लौकिक वर्ष ४१६४ के पौष शुक्ल प्रतिपदा के दिन धूर्तों ने पिता-पुत्र में विरोध करवाकर यह सब काण्ड करवा दिया ॥६७७॥ हठधर्मिता अथवा दुराग्रह पर आसक्ति, प्रिय युवति के प्रेरणात्मक एवं उत्तेजक वचन, शठपुरुषों का सहवास, पिता के पूर्व प्रेम में अन्तर, अमात्य तथा बान्धव एवं सापत्न माता के साथ कलह आदि कारणों से राजपुत्रों का मन अपने पिता के विषय में विकृत हो जाता है ॥६७८॥ दुष्ट एवं झूठे लोगों की संगति के कारण सुखोपभोग योग्य राजकुमार हर्ष को इस प्रकार के अविचारपूर्ण कार्य करने से गुरुतर कारागार-निवास दुःख का अनुभव करना पड़ा ॥६७९॥ हर्ष के सम्बन्ध में राजा कलश के साथ जो शर्त हुई थी उसमें मानवती महारानी

भुवनमती मध्यस्थ थी इसलिए राजा के द्वारा राजकुमार हर्ष को कारावास का दण्ड दिया जाने पर उसने कण्ठच्छेदन करके प्राण त्याग दिया ॥६८०॥

राजा ने हर्ष की देख-रेख के लिए विश्वास-पात्र-मन्त्रियों को पहरे पर नियुक्त किया था और पुत्र-स्नेह के कारण उसके लिए राजकुमार के योग्य खान-पान की वस्तुएँ भेजता था ॥६८१॥ हर्ष के पास बाल्यावस्था से सर्वदा रहनेवाले प्रयाग नामक सेवक को सरल-स्वभाव राजनैतिक कार्य में भाग न लेनेवाला सोचकर राजा ने उसे हर्ष के पास रहने दिया ॥६८२॥ उसके बाद नोनक नामक मन्त्री ने राजा को खुद के हाथ से अथवा किसी अन्य के द्वारा हर्ष का बध करने के लिए अथवा कम से कम उसकी आँखें निकलवाने के लिए सूचित किया ॥६८३॥ वह राज शील भ्रष्ट होकर पशु-तुल्य एवं निर्लज्जतापूर्ण वर्ताव करने लगा। उसने अपनी पुत्र-बधुओं में से कुछ सुन्दरियों को हरण की गई शत्रु-प्रमदाओं-सी समझकर शीलभ्रष्ट किया ॥६८४॥ उनमें से तुक्क राजा की पौत्री सुलभा ने अपने श्वसुर के प्रणय को प्राप्त कर अपने पति के बध करने का प्रयत्न किया ॥६८५॥ उसने तथा नोनक मन्त्री ने सलाह करके दो रसोइयों को हर्ष को विष-मिश्रित भोजन देने के पाप के लिए प्रेरणा की ॥६८६॥ प्रयाग को दूसरे रसोइये के मुख से इस बात का पता लगा तब उसने वह अन्न अपने स्वामी को नहीं खाने दिया ॥६८७॥ और परीक्षा करने के लिए उसने वह अन्न दो कुत्तों को खिलाया और उससे

वे कुत्ते मर गये। इस घटना को देखकर हर्ष अपने जीवन से निराश हो गया ॥६८८॥ उसने गुप्त रूप से दण्ड देनेवाले अपने पिता का ही वह व्यापार (कार्य) समझा और उस दिन से राजा की ओर से आये हुए भोजन को प्रतिदिन केवल स्पर्श कर त्याग करना प्रारम्भ किया ॥६८९॥ और प्रयाग जो कुछ अन्यत्र से खान-पान सामग्री लाता था उसी से अपना निर्वाह करना प्रारम्भ किया ॥६९०॥

राजा की ओर से भेजे गये अन्न को हर्ष नहीं खाता है इस प्रकार जब रसोइयों के द्वारा राजा कलश को विदित हुआ तब उसने प्रयाग को अपने पास बुलवाकर उसका कारण उससे पूछा ॥६९१॥ उसने विष देने की प्रेरणा करने वालों का तथा विष देनेवाले रसोइयों का और विष देने के ढंग का सम्पूर्ण इतिवृत्त राजा को निवेदन किया और कह दिया कि और सब प्रभु को विदित ही है॥६९२॥ उसके बाद राजा ने रसोइयों को बदल दिया फिर भी हर्ष ने अपने नियम को निश्चित ही बनाये रखा। वह प्रयाग के द्वारा लाये गये अन्न को ही खाता था ॥६९३॥ सब लोगों को अपने प्रतिकूल हुए देख कर वह-जो जो दिन बीतता था—उसे अपना समझता था और आगे की चिन्ता करना छोड़ दिया था ॥६९४॥ उन्हीं दिनों में राजा के आचरण में अदृष्ट-पूर्व एवं अनर्थकारक परिवर्तन हो गया ॥६९५॥ उसने ताम्रस्वामी नामक सूर्य की प्राचीन ताम्रमयी मूर्ति को तुड़वा डाला और विहारों में की पीतल की बनी हुई बुद्ध की प्रतिमाओं को भी वहाँ से निकलवाकर तुड़वा

डाला ॥६९६॥ उसी तरह उस राजा ने नीतिमार्ग का परित्यागकर क्रूरता को धारण करते हुए सन्तान-हीन होकर मरने वाले लोगों का धन हरण करना प्रारंभ किया ॥६९७॥ पश्चात् शीघ्रही पीड़ित प्रजा के तीव्रतम संताप-जनित शाप का फल अत्यधिक स्त्री संभोग-जन्य धातुक्षय से वह रोगग्रस्त होगया ॥६९८॥ एकबार वह राजा हरमन्दिर में कुंभप्रतिष्ठा के समारंभ का कार्य कर रहा था उसी समय महाकालकुंभ में उसकी नाक में से रक्त का विन्दु गिरा ॥६९९॥ इस आकस्मिक अपशकुन रूपी व्याधि का प्रतीकार करने के लिए किये गये सब प्रयत्न निष्फल हुए और रोग बढ़ने लगा ॥७००॥

प्रति-दिन रक्तश्राव बढ़ने लगा वह अत्यंत क्षीण होकर शय्या-ग्रस्त होगया ॥७०१॥ अग्निमान्द्य आदि अनेक उपद्रवों के कारण बल एवं मास की क्षीणता से युक्त उसका शरीर कलामात्रावशेष निशापति के समान हो गया ॥७०२॥ उसकी इच्छा हर्ष को राज्य देने की थी परन्तु मंत्रियों को इसके विरुद्ध देखकर उसने लोहर से अपने दूसरे पुत्र उत्कर्ष को बुलवाया ॥७०३॥ उस मुमूर्षु राजा ने केवल अन्तःपुर की ललनाओं को छोड़कर सभी छोटे-बड़े सेवकों को पारितोषिक खूब दिया उसके हृदय में उन स्त्रियों के प्रति रोष तथा मात्सर्य था ॥७०४॥ उसने अपने मंत्रियों से "मैं हर्ष का धन देकर उसे यहाँ से देशान्तर को प्रवासित कर दूँगा" इस प्रकार अभ्यर्थना के रूप में विनयपूर्वक कहा ॥७०५॥ परन्तु उन मंत्रियों ने राजा की उस बात को न मानकर हर्ष की देख-रेख

के लिए नियुक्त किये गये पुराने रक्षकों को वहाँ से हटा दिया और उनके स्थान पर लोहरप्रान्त के रहनेवाले ठक्करों को नियुक्त कर उसे उत्कर्ष के अधीन कर दिया ॥७०६॥ उत्कर्ष ने भी उसे नाट्यमण्डप में से हटाकर उसके आप्तजनों से अलग चतुस्तंभ मण्डप में रख दिया उस समय हर्ष अत्यंत दुर्बल होगया था ॥७०७॥ उसके बाद अत्यंत निःशक्त उस राजा कलश ने अपने मृत्यु समय को निकटवर्ती जानकर अति शीघ्र वहाँ से किसी तीर्थ में प्रस्थान करने का इरादा किया ॥७०८॥ ताम्रस्वामी सूर्य की मूर्ति को तोड़ने से मुझ पर सूर्य कुपित होगये हैं ऐसा सोचकर अपने प्राणों की रक्षा के लिये मार्तण्ड की शरण में जाने को उद्यत हुआ ॥७०९॥ वह राजा शैव होकर भी ऐसे समय में मोक्षप्रद विजयेश्वर क्षेत्र को त्यागकर मृत्यु के भय से मार्तण्ड के मन्दिर की ओर जाने के लिए उद्युक्त हुआ ॥७१०॥

अधिकार के मद से समग्र संसार को तृणप्राय समझनेवाला अधिकारी पुरुष आपत्ति के समय में घर की दासियों के भी पैरों को पकड़कर रोने लगता है। पाखंडी गुरु के उपदेश को ग्रहण करने से स्वयं को सबसे बड़ा ज्ञानी समझनेवाला मूर्ख मानव बड़े जोर शोर से संसार के सम्मुख पांडित्य की बातें बनाया करता है परन्तु वही पुरुष प्राणान्तक प्रसंगों पर बच्चे के समान कौन से पागलपन के कामों को नहीं करता ? ॥७११॥ गुरूपदेश ग्रहण करने का इस राजा को बहुत ही अभिमान था परन्तु इस प्रकार दुर्बल हृदय वाले साधारण मनुष्यों के समान क्लैब्ययुक्त आचरण

के कारण वह सर्वत्र हास्य का विषय बन गया ॥७१२॥ वह राजा मार्गशीर्ष शुक्ल ३ तृतीया के दिन सायंकाल के समय शय्या पर से उठकर पालकी में बैठ मरने के लिये रवाना हुआ ॥७१३॥ बाजों की आवाज से जनता के करुण क्रन्दन की ध्वनि को दबाता हुआ वह अन्तःपुर की स्त्रियाँ मंत्रियों के समेत नौकाओं के द्वारा रवाना हुआ ॥७१४॥ दूसरे दिन अपराह्न काल में एक प्रहर दिन रहते वह राजा मार्तण्ड के चरणों के निकट पहुँच गया और उसने अपने प्राणों की रक्षा के लिए सुवर्णमयी सूर्यप्रतिमा बनवाकर भेंट करने की प्रतिज्ञा की ॥७१५॥ उसके सेवक उसकी आज्ञा को नहीं मानते थे और वह अपने ज्येष्ठ पुत्र हर्ष को देखना चाहता था। उस व्यथित एवं रोगग्रस्त राजा को पुत्र के देखने की उत्कंठा से अत्यधिक बेचैनी हो रही थी ॥७१६॥ बाहर के लोगों द्वारा गाये गए हर्षप्रणीत गीत को सुनकर वह अत्यंत व्याकुलता के साथ दरवाजे के छेद में से देख रहा था और उस संगीत को सुनकर उसने दुःखसूचक दीर्घ निश्वास छोडा ॥७१७॥ जैसे स्वप्नावस्था में मनुष्य की चलनशक्ति कुंठित हो जाती है वैसे ही मृत्यु शय्या पर पड़े हुए राजा की आज्ञा भी कुण्ठित हो जाती है और यह बात उसके हृदय में शल्य के समान चुभती है और मृत्यु के समय की पीड़ा को बहुत अधिक बढ़ा देती है ॥७१८॥ वह राजा अपने आश्रित तथा ज्येष्ठपुत्र हर्ष को कुछ देने के लिए उत्कर्ष से कहना चाहता था परन्तु उसी समय उसकी जिह्वा जड़ होगई ॥७१९॥ वह अस्पष्ट रूप से बार बार 'हर्ष' 'हर्ष' कह रहा था तब नोनक

मंत्री ने उसके सम्मुख आदर्श (दर्पण) रख दिया था ॥७२०॥

राजा ने हँसकर अधरोष्ठ को दाँतों से दबाते हुए उस दर्पण को वहाँ से हटवा दिया और कुछ अस्पष्ट शब्द कहे इस प्रकार ढाई दिन तक उसकी जबान बन्द रही ॥७२१॥ अन्त में प्राणोत्क्रमण के समय मन्त्रियों को इशारे से सूचित कर उसने स्वयं को मार्तण्ड की मूर्ति के सम्मुख रखवा दिया ॥७२२॥ उस समय उसकी अवस्था ४९ वर्ष की थी। वह राजा लौकिक वर्ष ४१६५ के मार्गशीर्ष मास में ६ षष्ठी के दिन स्वर्गवासी हुआ ॥७२३॥ मम्मनिका आदि सात रानियाँ—जो कि विवाहित थीं—तथा जयमती नामक रक्षिता (उपपत्नी) उसके साथ सती हो गई ॥७२४॥ परन्तु उसकी अत्यधिक कृपाभाजन प्रिय उपपत्नी कय्या ने सम्पूर्ण स्त्री जाति को कलंकित कर दिया ॥७२५॥ वह उच्च कुल में उत्पन्न नहीं हुई थी इसलिए उसने राजा के द्वारा दिये गये अन्तःपुर में सर्वश्रेष्ठ सम्मान को भुला दिया था ॥७२६॥ परन्तु बाद में वह विजयक्षेत्र में रह कर एक ग्रामीण साधारण मजदूर से प्रेम करने लगी यही बात हमारे हृदय में खेद उत्पन्न करती है ॥७२७॥ उसने उत्तमोत्तम राजार्ह सुखोपभोग से अत्यन्त रमणीय एवं राजा के उपभोग करने के योग्य अपने भव्य शरीर को एक ग्रामीण के उपभोग के लिए अर्पण कर दिया था ऐसी नीच अर्थात् क्षुद्र-चित्तवाली नारियों को धिक्कार हो ॥७२८॥ जब उत्कर्ष को राज्याभिषेक करने के लिए सब मन्त्री व्यग्र हो रहे थे उस समय केवल कृतज्ञ वामन मन्त्री राजा का अन्त्येष्टि संस्कार कर रहा था ॥७२९॥ एक तरफ

मांगलिक गीतों से युक्त राज्याभिषेक के वाद्यों का घोष हो रहा था और दूसरी तरफ विलाप से युक्त प्रेतवाद्यों का शब्द सर्वत्र फैल रहा था ॥७३०॥

उसके बाद राजा कलश की पत्नी पद्मश्रीदेवी से उत्पन्न हुआ विजयमल्ल अपने सापत्नभ्राता उत्कर्ष से झगड़ा करने लगा ॥७३१॥ तब उत्कर्ष ने राजा कलश हर्ष को प्रतिदिन के वेतन के रूप में जो धन देता था उतना धन विजयमल्ल को देने के लिए प्रतिज्ञा की ॥७३२॥ और इस प्रतिज्ञा में मध्यस्थ के रूप में कुछ मन्त्रियों को रख दिया इसी प्रकार कन्या के पुत्र जयराज को भी कुछ वेतन देना स्वीकार किया ॥७३३॥ मूढ़ लोग सैकड़ों बार दूसरों की मृत्यु के समय आँसू बहाती हुई चंचल-चित्त स्त्रियों को अपने चरितार्थ के लिए आश्रय खोजती हुई तथा चिता के निकट खड़े हुए पुत्रों को स्वयं मिलनेवाली पैतृक सम्पत्ति के लिए परस्पर वाद-विवाद करते हुए देखकर भी अपने स्त्री पुत्रादिकों के लिए कुकर्मों के द्वारा धन-संचय करते हैं यह कितने आश्चर्य की बात है ? ॥७३४॥ उसके बाद नवीन राजा श्रीमान् उत्कर्ष ने नगर में प्रवेश किया परन्तु हर्ष के उदय के लिए उत्कण्ठित नगरवासियों के हृदय में वह प्रवेश नहीं कर सका ॥७३५॥ उसके राज्याभिषेक महोत्सव का दिन रोगी-पुरुष को उत्सव दिवस के समान आनन्द-शून्य होने के कारण नागरिकों को नहीं-सा (शून्य-सा) विदित हुआ ॥७३६॥ जिस दिन पिता आतुर होकर मरने के लिए रवाना हो गया था उस दिन चतुःस्तम्भ मण्डप के अन्दर बन्दी हर्ष ने

भी भोजन नहीं किया ॥७३७॥ अपने साथियों से बिछुड़े हुए प्रवासी के समान शोक के कारण मूक भाव को धारण किये हुए उस राजकुमार हर्ष को पहरे पर नियुक्त किये गये ठक्कुरों ने दूसरे दिन बड़ी कठिनाई से प्रार्थना करके भोजन करवाया ॥७३८॥ और उन्होंने उसके सम्मुख "यह अकेला राजा दो राज्यों का अर्थात् काश्मीर तथा लोहर इन दोनों देशों का शासक नहीं बन सकता इसलिए हम लोग आपको हमारे देश का राज्य देंगे" ऐसी प्रतिज्ञा भी की ॥७३९॥ इन सब बातों से राजकुमार हर्ष का उन ठक्कुरों से मेल हो गया। पश्चात् उसे पिता के निधन का समाचार विदित हुआ इसलिए उसने उस दिन उपवास किया दूसरे दिन उसको उत्कर्ष के आगमन का वृत्त विदित हुआ ॥७४०॥

अपने आँसुओं से स्वर्गीय पिता को निवापांजलि (जलांजली) देते हुए उस राजकुमार का उसके कनिष्ठ भ्राता उत्कर्ष ने दूत के द्वारा स्नान करने के लिए कहला भेजा ॥७४१॥ भाग्यवशात् हर्ष जब स्नान कर रहा था उस समय उत्कर्ष के राज्याभिषेक-महोत्सव में मांगलिक वाद्य बज रहे थे तथा सर्वत्र जयघोष की आवाज़ फैल रही थी ॥७४२॥ इस शुभ शकुन को देखकर शकुन-शास्त्र के मर्मज्ञ उस राजकुमार ने बिजली के चमकने से बादलों की गर्जना के अनुमान के समान "स्वयं को राज्यश्री का लाभ अवश्य ही होने वाला है" ऐसा दृढ़ निश्चय कर लिया ॥७४३॥ जिस प्रकार आसन्ननृपश्रीक (जिसे राज्यलक्ष्मी शीघ्र ही प्राप्त होनेवाली है) राजकुमार का सेवकलोग अधिकाधिक आदर करने लगते हैं

उसी प्रकार उसे और भी अनेक भावी अभ्युदय के सूचक शुभ-शकुन दृष्टिगोचर होने लगे ॥७४४॥ उत्कर्ष ने उसे दूत के द्वारा भोजन करने के लिए संदेश भेजा तब उसने उसके उत्तर में कहला भेजा कि आप मुझे इस बन्धन से मुक्तकर इस देश की सीमा के बाहर निर्वासित कर दीजिए मैं आपके विरुद्ध किसी प्रकार की भी कार्यवाही न करने के लिए तीर्थ-जलपानपूर्वक शपथ लेने को तैयार हूँ अन्यथा अनशन करके प्राण त्याग दूँगा ॥७४५-७४६॥ उत्कर्ष ने भी "मुझे आपका कथन स्वीकार है" इस प्रकार दूत के द्वारा मिथ्यावचन कहलाकर उसके मनका समाधान कर दिया और हर्ष से कोशपान पूर्वक शपथ लेकर उसको भोजन करवाना शुरू किया ॥७४७॥ पश्चात् हर्ष ने जब स्वयं को मुक्त करने के लिए सन्देश भेजना प्रारम्भ किया तब राजा उत्कर्ष आज-कल का बहाना बनाकर उस बात को टालने लगा। इस व्यवहार से हर्ष का मन शंकित हो गया ॥७४८॥ उसके बाद हर्ष ने विश्वास के लिए अपना ताटंक (कर्णभूषण) प्रयाग को देकर उसके विजयमल्ल के निकट उक्त सन्देश भेजा ॥७४९॥ "कुमार, इस राज्य में तुम्हारे रहते हुए भी तुम्हारा भाग्यहीन यह ज्येष्ठबन्धु (हर्षदेव) इस प्रकार दुस्सह दुःख को भोग रहा है!" ॥७५०॥

इस संदेश से विजयमल्ल को अपने भ्राता हर्षदेव की इस प्रकार दयनीय अवस्था को देखकर अत्यंत खेद हुआ और कुछ देर तक सोचकर कहा कि परमनीतिज्ञ राजा उत्कर्ष मेरे कहने से इस

कार्य को कैसे करेगा ? ॥७५१॥ तथापि मैं यथाशक्ति आपको इस कारावास के बंधन से छुड़ाने के लिए प्रयत्न करूँगा। आप भी अपने प्राणोंको सुरक्षित रखनेके लिए सर्वदा सावधान रहें ॥७५२॥ ऐसा कहकर उसने प्रयाग को हर्षदेव के निकट वापस भेज दिया और उस कार्य की सिद्धि का उपाय सोचने लगा ॥७५३॥ राज्य-प्राप्ति के बाद देवताओं की अवकृपा से मोहितचित्त-सा वह राजा उत्कर्ष राज्यशासन व्यवस्था की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देता था ॥७५४॥ उसने कन्दर्प आदि मंत्रियों को शासनाधिकारों पर नियुक्त कर रखा था परन्तु वह उनसे राज्यव्यवस्था के विषय में कुछ भी नहीं पूछता था और स्वयं भी कुछ नहीं करता था ॥७५५॥ राज्य के भाण्डागार का निरंतर अवलोकन द्रव्य की गणना तथा सुवर्ण आदिके तौल में ही उसका सब दिन बीता करता था ॥७५६॥ जिन कामों में धन का व्यय न हो ऐसे कामों को तो वह तुरंत स्वीकार कर लेता था परन्तु जिनमें धन का व्यय होने की सम्भावना हो सकती थी उनके लिए बहुत समय तक सोचा करता था इस ढंग से वह दूरदर्शियों की दृष्टि में निश्चितरूप से लोभी सिद्ध हुआ था ॥७५७॥ वह अपनी सापत्न माताओं को खाने के लिए दिए जाने वाले अन्न में मूंग की दाल देने लगा था इसलिए उन स्वैरिणियों ने उसकी कृपणता को संसार में खूब प्रसिद्ध किया ॥७५८॥ वह श्रोत्रिय के समान कंजूस था और उसका बर्ताव भी अत्यंत निकृष्ट था इसलिए उदारस्वभाव स्वामी को चाहने वाली प्रजा को वह अपने कार्पण्यपूर्ण स्वभाव के कारण प्रिय नहीं लगता

था ॥७५९॥ कुछ समय के बाद उस लोभी उत्कर्ष ने विजयमल्ल को पूर्वनिश्चित वेतन देना बंद कर दिया तब वह रुष्ट होकर वहाँ से जाने का उद्योग करने लगा ॥७६०॥

उसने अपने बचाव के लिए मध्यस्थों को साथ चलने के लिए कहा तब वे भी सज्ज होकर उसके साथ रवाना हुए ॥७६१॥ वह राजधानी से रवाना होकर पर्णोत्स में एक रात के लिए ठहरा। वहाँ पर मध्यस्थों के वीर सैनिक भी उससे मिल गये ॥७६२॥ और उन्होंने विजयमल्लसे कहा कि राजकुमार हर्षदेव के कारावास-बंधन में फँस जाने से तथा आपके इस देशत्याग से उत्कर्ष निष्कंटक राज्य को पाकर कृतार्थ हो जाएगा इसलिए हर्ष को कारावास से छुड़ाने के बाद आपका यहाँ से जाना उचित है ॥७६३॥ इस प्रकार उन शस्त्रधारी वीरों के वचन से प्रेरित होकर उस राजपुत्र विजयमल्ल ने आगे बढ़ने के विचार को त्याग दिया और राजधानी की तरफ वापस लौटने के लिये प्रयाण किया ॥७६४॥ वापस लौटकर आते हुए विजयमल्ल के इस प्रकार के इरादे को सुनकर कतिपय डामर भी उसके सहायक बन गये ॥७६५॥ अश्वारोहियों की सेना के सेनापति मधुराबट्ट ने कुमार विजयमल्ल तथा उत्कर्ष के आपसी ठहराव में मध्यस्थता स्वीकार की थी इसलिए जब विजयमल्ल राजधानी को त्यागकर जाने लगा तब उसने अपने पुत्र नाग को कतिपय अश्वारोहियों के सहित विजयमल्ल के साथ भेज दिया था वह नाग उत्कर्ष का परमकृतज्ञ भक्त तथा राजनिष्ठ था इसलिए जब विजयपर्णोत्स से वापस लौटकर डामरों के सहित

राजधानी पर आक्रमण करने के लिए आने लगा तब इस घटना की राजा को खबर देने के लिए नाग अपने अश्वारोही सैनिकों के साथ शीघ्रता से राजधानी को रवाना हुआ था परन्तु मार्ग में दुःशकुन होने के कारण जल्दी पहुँचने न पाया उसके पहले ही शीघ्रता से कार्य करने वाले राजपुत्र विजयमल्ल ने शुभ शकुनों से प्रोत्साहित होकर पलीतों को हाथ में लिये हुए सैनिकों के द्वारा घरों को जलाते हुए राजधानी को चारों तरफ से घेर लिया ॥७६६–७६७–७६८–७६९॥ राजा उत्कर्ष की ओर से जयराज सेना समेत विजयमल्ल के साथ लड़ने के लिए निकला था परन्तु उसने राजपक्ष को छोड़ कर विजयमल्ल का पक्ष स्वीकार कर लिया ॥७७०॥

और जिस प्रकार दो तरुण कवि किसी महाकवि के महाकाव्य के अर्थ पर विचार विनिमय करते हैं उसी प्रकार उत्कर्ष के भावी कार्यक्रम के विषय में वे दोनो (जयराज और विजयमल्ल) विचार करने लगे ॥७७१॥ विजयमल्ल के सैनिकों ने राजा की हस्तिशाला तथा गोमहिषशालाओं को जलाकर खाक कर डाला और "हर्ष देव को कारावास से मुक्त करने पर ही हम यहाँ से हटेंगे" ऐसा कहने लगे ॥७७२॥ प्रलयकालिक पयोद के समान प्रजा को धन की महावृष्टि से संतुष्ट करनेवाले उदारशिरोमणि हर्षदेव को राज्याभिषेक करना चाहिए और वणिग्जन के समान लोभी इस खश को अर्थात् उत्कर्ष को निकाल देना चाहिए ॥७७३॥ ऐसा कहते हुए नागरिक लोगों ने चतुस्तम्भ मण्डप के पास

पहुँच कर उस भवन की खिड़कियों में से हर्षदेव पर पुष्प-वृष्टि की ॥७७४॥ इस प्रकार के उपद्रव के फैलने पर हर्षदेव ने उन ठक्कुरों को भेज कर परास्त हुए राजा के सैनिकों को युद्ध से रोक कर उन्हें तटस्थ रहने को सूचित किया ॥७७५॥ इस प्रकार बन्धन में रहकर भी उस चतुर हर्ष ने अपने शत्रु उत्कर्ष को नुकसान पहुँचाया और उसके बाद सन्देह से काँपते हुए उसने अपने रक्षक ठक्कुरों से कहा ॥७७६॥ मैं इस समय भयंकर संकट में फँस गया हूँ इसलिए मुझे शीघ्र ही बन्धन मुक्त कर दीजिए अन्यथा राजा की ओर से मुझ पर बड़ा अनर्थ किया जायगा। यह बात निश्चित है ॥७७७॥ इस प्रकार हर्षदेव के वचन को सुनकर वे परस्पर विचार करने लगे इतने ही में बाहर से द्वार पर बार-बार जोर से लत्ताप्रहार की आवाज़ सुनाई देने लगी ॥७७८॥ और बाहर से किसी ने कहा— "इन दुष्ट लोगों ने क्यों यह राजद्रोह प्रारम्भ किया है।" ठक्कुरों जल्दी से दरवाजा खोल दो ॥७७९॥ यह सुनकर वे ठक्कुर लोग जब भयभीत हो गये तब हर्षदेव ने धैर्य से उस भय की पर्वाह न करते हुए उनसे वह द्वार खुलवा दिया ॥७८०॥

उस समय हर्ष अत्यन्त कृश हो रहा था उसकी आँखों में जीव था, द्वार खुलते ही उसने लोहर प्रान्त के सोलह सशस्त्र पहरेदारों को अन्दर घुसते हुए देखा ॥७८१॥ "हर्ष का सिर काट कर बाहर दिखाते ही यह सब उपद्रव तथा भय तत्काल नष्ट हो जायगा।" ऐसा नोनक मन्त्री ने उत्कर्ष को सूचित किया था

तदनुसार उत्कर्ष ने उन सोलह सशस्त्र सैनिकों को भेजने का निश्चय किया था परन्तु फिर भी हर्ष का बध किया जावे अथवा नहीं इस बात का निश्चय नहीं हो रहा था, यदि वह जीवित रहेगा तो भी किसी काम में आएगा ऐसा सोच कर उत्कर्ष ने उन सोलह सैनिकों को रवाना करते समय कहा—"कि आप लोग चतुस्तम्भ-मण्डप में जाकर उन ठक्कुरों को पहरे से हटा दो और स्वयं वहाँ रहकर पहरा दो और मैं यदि इस अंगूठी को आपके पास भेजूँ तो उसको मार डालना और यदि इस दूसरी अँगूठी को भेजूँ तो उसको बन्धन-मुक्त कर देना।" ऐसा कह कर उसने वे दोनों अंगूठियाँ उनको ठीक तरह से दिखला दी इसलिए उन्होंने ठक्कुरों को पहरे पर से हटा दिया परन्तु हर्ष पर प्रहार नहीं किया ॥७८२-७८३-७८४-७८५-७८६॥ हर्ष ने उन सोलह सैनिकों में से प्रत्येक को उसके नाम से सम्बोधित कर ताम्बूल दिया और अपने सम्मुख सबको बैठने को कहा ॥७८७॥ इस सत्कार से वे सब लज्जित हो गये और ताम्बूल ग्रहण करने के समय उन्होंने अपने हाथ के हथियार और मनमें से उसके बध करने की अभिलाषा को एकदम त्याग दिया ॥७८८॥ मधुर-वाणी लक्ष्मी को देती है, कीर्ति को बढ़ाती है, पाप को नष्ट करती है, शत्रुओं को भी मित्र बना देती है, अनुकूल सज्जनों को कदापि विरुद्ध नहीं होने देती है और सब अनर्थों का परिहार करती है इस प्रकार कामधेनु के समान यह मिष्टवाणी कौन से कार्य को नहीं करती अथवा कौन से अनिष्ट को नहीं नष्ट करती ? ॥७८९॥

राजकुमार हर्ष ने उन सैनिकों से कहा कि आप लोग लज्जित से क्यों हो रहे हो ? स्वामी की आज्ञा पालन करने में सेवकजन सर्वथा निर्दोष होते हैं ॥७९०॥ फिर भी आप लोग यदि थोड़ी देर के लिए ठहर जायँगे तो आपको इस वर्तमान परिस्थिति में क्षण-क्षण में होने वाले परिवर्तनों का चमत्कार दीख पड़ेगा ॥७९१॥ आकाश में दीखने वाले छोटे-छोटे बादलों में हाथी, अश्व, गेंडे, हिंसकपशु तथा सर्पों की-सी आकृतियाँ दीख पड़तीं हैं इसी तरह मानव के मानसिक विकारों में मृदु तथा तीक्ष्ण विचारों की तरंगावली क्रमशः परिवर्तित होती है ॥७९२॥ जैसे मैं जो कुछ होने वाला है उसके लिए तैयार होकर बैठा हूँ वैसे ही आप लोग भी जो कुछ घटना होने वाली है उसको देखने के लिए सन्नद्ध रहिये ॥७९३॥

और भी जिनको शीघ्रही राज्य प्राप्ति होनेवाली है ऐसे राजाओं को रसान्तर को उत्पन्न करने वाले इस प्रकार के प्राणान्तिक प्रसंग आया करते हैं ॥७९४॥ जैसे वर्षाकाल के समीप आने पर ग्रीष्म का ताप पराकाष्ठा को पहुँच जाता है और प्रभात के सांनिध्य में रात्रि का अँधेरा भी अधिक गहन हो जाता है वैसेही उत्कृष्ट ऐश्वर्य तथा विपुल संपत्ति के लाभ का अवसर निकट आने पर आशु नष्ट होने वाली विपत्ति मानव को अधिक कष्टप्रद होती है ॥७९५॥ हर्ष को स्वरोदयशास्त्र का अच्छा ज्ञान था इसलिए वह इस बात को निश्चयपूर्वक कह रहा था उसने उन लोगों को अपने समान आपत्ति में फँसकर अन्तमें शुभफल को पाने वाले अनेक सत्पुरुषों

की कथाएँ कहीं ॥७९६॥ इसी प्रकार समय को व्यतीत करने के लिए उपन्यास की शुद्धि से कथाश्रयरसप्रवाह को सुव्यक्त करते हुए उस राजकुमार ने राजा हरिश्चंद्र का वृत्तान्त भी उनके सम्मुख कहा ॥७९७॥ उन रक्षकों का मनोरंजन, आत्मरक्षा और वर्तमान बाहरी उपद्रव की गुप्त रूप से देख-रेख करते हुए उस गम्भीर राजपुत्र ने अपनी चतुरता का किसी को पता नहीं लगने दिया ॥७९८॥ उस तरफ तब तक उसके सम्बन्ध में शतशः नवीन-नवीन विचार उत्पन्न होकर बार-बार राज्यलक्ष्मी तथा महाकाली का गतागत (आना और जाना) हो रहा था ॥७९९॥ हर्ष को मारना चाहिए अथवा बन्धन-मुक्त करना चाहिये इस विषय में उत्कर्ष अपने सेवकों को बार-बार भिन्न-भिन्न आदेश दे रहा था ॥८००॥

अन्त में उसने हर्ष को मार डालने की आज्ञा दे दी परन्तु उन सेवकों को वह अँगूठी देना भूल गया इसलिए उन पहरेदारों ने राजा के सेवकों की बात को नहीं माना ॥८०१॥ राजा ने अपने सेवकों को उस अँगूठी के बिना गये हुए जानकर सत्य के पुत्र शूर को उनके पीछे रवाना किया ॥८०२॥ परन्तु जब राजा शूर को अँगूठी देने लगा तब दैवयोग से हर्ष को मार डालने की सूचना देनेवाली अँगूठी के बदले में हर्ष को बंधन-मुक्त करने वाली अंगूठी राजा के द्वारा दे दी गई ॥८०३॥ वृद्धक्षत्र के कुल में उत्पन्न हुए सिन्धुदेश के राजा जयद्रथ के मस्तक को जो पृथ्वी पर गिरा देगा उसकी तत्काल मृत्यु हो जाएगी ऐसा वरदान उसके पिता ने

प्राप्त किया था परन्तु जयद्रथ का मस्तक स्वयं के हाथ से गिर कर उसी की मृत्यु का कारण बन गया वैसेही श्रुतायुध की दिव्य गदा भी उसी के मस्तक पर गिरकर उसी की मौत का कारण बन गई। जो वस्तु रक्षा का कारण समझी जाती है वही विधि के विलक्षण प्रभाव से नाश का कारण बन जाती है ॥८०४॥ क्योंकि एक अभिज्ञान (निशानी की अँगूठी) के भूल जाने से और उसके बदले में दूसरे अभिज्ञान के देने से उस राजा को लाभ न होकर प्रत्युत उसका सर्वनाश हो गया ॥८०५॥ हर्षदेव का स्वभाव बहुत ही मिलनसार था इसलिए वे रक्षक लोग थोड़े से समय में ही उसके सच्चे हितैषी बन गये और उन्होंने उत्कर्ष की आज्ञा के विरुद्ध कार्यवाही करने का निश्चय कर लिया ॥८०६॥ क्रोधयुक्त मुद्रा से शूर को द्वार पर आते देख "यह हर्षदेव के बध के लिए आ रहा है" ऐसा सोचकर उसके हितैषी उन रक्षकों ने उस शूर को मारडालने के इरादेसे अपने अपने हथियार उठा लिये ॥८०७॥ द्वार खोलकर अन्दर आने के बाद उसके हाथ में हर्ष को बन्धन-मुक्त करनेकी सूचक अँगूठी को देखकर उसके साथ-साथ आनन्द से उछलते हुए वे सब हर्षदेव के निकट पहुँचे ॥८०८॥ और उन्होंने उसके चरणों में अपने मस्तक रख कर सादर प्रार्थना करते हुए कहा कि अब आप यहाँ से शीघ्रही बाहर चलिए परन्तु उनके इस वचन की सत्यता पर उस राजकुमार हर्ष को क्षणभर विश्वास न होने से वह कुछ समय तक सोचता रहा ॥८०९॥ उसी समय "हर्षदेव को राजा उत्कर्ष ने मरवा डाला है" ऐसा समझकर

विजयमल्ल का क्रोधानल धधक उठा और उसने बड़े जोर शोर से राजा की सेना का संहार प्रारंभ किया ॥८१०॥ और राजमहल को आग लगाकर भस्मकर देने के लिए उद्यत हो गया तब उसे राजा उत्कर्ष के कतिपय सैनिकों ने "आपके ज्येष्ठ भ्राता हर्षदेव जीवित हैं।" ऐसा कहकर बड़ी कठिनाई से रोका ॥८११॥

उत्कर्ष ने भी विजयमल्ल को हर्षदेव के जीवित रहने का विश्वास दिलाने के लिए हर्षदेव की पत्नी सुगलादेवी को हर्ष का ताटंक देकर उसके निकट भेजा ॥८१२॥ उसे देखकर विजयमल्ल ने राजभवन को आग लगाने का विचार त्याग दिया और उत्कर्ष ने भी हर्षदेव को बन्धन मुक्त कर देने ही में अपना कल्याण समझा ॥८१३॥ तदनुसार नोन, प्रशस्तकलश आदि सचिव स्वयं हर्ष के निकट गये और उसको निगड़बन्धन से मुक्तकर चतुस्तम्भ मण्डप से बाहर आने के लिए कहा ॥८१४॥ वह मन्त्र (हर्षदेव को चतुस्तम्भ-मण्डप से बाहर आने के लिए सूचना देने का विचार) उन प्रशस्त कलश आदि मन्त्रियों के मुख में से शोक के कारण अन्तिम क्षण के श्वासोच्छ्वास के समान गतागत करता हुआ बड़ी मुश्किल से बाहर प्रगट हुआ ॥८१५॥ बाद में हर्षदेव अश्व पर आरूढ़ होकर स्थान-स्थान पर एकत्रित हुए नागरिक-जन-समूह के द्वारा की गई पुष्पवृष्टि से आच्छादित होता हुआ रणभूमि में खड़े हुए राजा उत्कर्ष के निकट मंत्री-सहित पहुँच गया ॥८१६॥ कनिष्ठ भ्राता उत्कर्ष ने भी अपने ज्येष्ठ भ्राता हर्षदेव से मिलकर उसका अभिनन्दन किया और कहा कि अभी तो

आप विजयमल्ल के निकट जाकर इस लड़ाई को बन्द करवा दीजिए फिर आगे के लिए हम-लोग मिलकर योग्यायोग्य कर्तव्य का विचार करेंगे ॥८१७॥ तदनुसार हर्ष वहाँ से लड़ाई को बन्द करवाने के लिए चल दिया और उत्कर्ष अपने मन्त्रियों के सहित सुवर्ण, रत्न आदि बहुमूल्य वस्तुओं से परिपूर्ण राजकीय कोशागार की ओर गया ॥८१८॥ अतिशय भयंकर आपत्ति से उत्तीर्ण होकर आते हुए हर्षदेव को देखकर विजयमल्ल हर्षातिरेक से कुछ क्षणों के लिए स्तब्ध-सा खड़ा रहा ॥८१९॥ पश्चात् वह हर्ष के चरणों में गिर पड़ा हर्ष ने भी शीघ्र उसे उठाकर अपने हृदय से लगा लिया उसके बाद उन उपकर्ता एवं उपकृत दोनों में कई तरह की प्रेमपूर्ण वार्तायें होती रहीं ॥८२०॥

उस समय एक आप्त एवं विश्वस्त पुरुष ने विजयमल्ल से धीमी आवाज में कहा कि आप प्रथम तो हर्ष को मार डालिए और फिर उत्कर्ष को, जिससे आप निस्सपत्न एवं निष्कण्टक यहाँ के राजा हो जायँगे ॥८२१॥ परन्तु उस निर्दोष विजयमल्ल ने उसके कथन का कुछ भी आदर नहीं किया तथापि उन दोनों की बात-चीत के ढंग को देखकर परम-चतुर हर्ष ने उस इशारे को पहचान लिया और वह भयभीत होकर एक क्षण के लिए काँप उठा ॥८२२॥ उस सयय वह अकेला ही था उसके पक्ष के लोग वहाँ नहीं थे इसलिए दो विरोधी श्येन पक्षियों के बीच में फँसे हुए पक्षहीन एवं अपने प्राणों को बचाने के लिए इधर-उधर आश्रय को खोजते हुए पक्षी के समान वह अश्व पर बैठकर

इतस्ततः भ्रमण कर रहा था ॥८२३॥ वृक्ष को वर्षाकालिक जल-वृष्टि के निकट आने से दावानल-जनित क्लेश नष्ट हो जाने पर भी बिजली के गिरने का भय उपस्थित हो जाता है तथा समुद्र में मगर के मुँह से छूट कर निकले हुए मनुष्य को डूबने का डर सामने आ जाता है वैसे ही आसन्न भावी शुभफल के आनन्द का अधिक अनुभव होने के लिये विधि एक भय के दूर होते ही दूसरा भय उत्पन्न कर देता है ॥८२४॥ अश्व को घुमाने के बहाने से अपने जीवन की रक्षा करते हुए हर्षदेव के निकट इस परिवर्तन के वृत्तान्त को जाननेवाले उसके कतिपय पदाति सैनिक उपस्थित हो गये ॥८२५॥ पश्चात् हर्षदेव विजयमल्ल के साथ कुछ समय तक मंत्रणा करता रहा और फिर राजा को विद्रोह के शान्त होने की खबर देने के लिये वहाँ से चल दिया ॥८२६॥ वहाँ से रवाना होकर वह राजमहल के निकट पहुँचा ही होगा बस इतने ही में विजयसिंह ने उसके निकट आकर उसे महल के अन्दर जाने से रोका ॥८२७॥ और कहा कि आप बड़ी कठिनाई से एक बार तो मौत के मुह में से वापस आये हैं अब फिर से क्यों मृत्यु के निकट जाने का प्रयत्न कर रहे हैं ? इसलिये हे सरल राजकुमार अब तो आप निश्शंक होकर राजसिंहासन पर बैठ जाइए ॥८२८॥ विजयसिंह के इन वचनों को सुनकर उसके सेवक कोशागार में से सिंहासन को बाहर निकाल लाये और हर्षदेव भी शीघ्र ही उस सिंहासन पर आरूढ़ हो गया ॥८२९॥ इतने में उसकी पत्नी सुगला भी अत्यन्त धृष्टतापूर्वक अपने अनेक अक्षम्य अपराधों

को छिपाती हुई महादेवी शब्द को प्राप्त करने के लिये उसके पास सिंहासन पर आकर बैठ गई ॥८३०॥

उसके अभिषेक के समय की हर्षमय ध्वनि को सुन कर बादल की गर्जना से एकत्रित होने वाले चातकों के समान उसके मंत्रिगणभी चारों तरफ से आकर उसके समीप एकत्रित होगये ॥८३१॥ हर्षदेव के राज्याभिषेक की वार्ता को सुनकर व्याकुल हुए उत्कर्ष को धूर्त विजयसिंह ने बलात् राजमहल से हटाकर दूसरे स्थान में कैद कर दिया ॥८३२॥ राजसभा के अन्दर सिंहासन पर बैठे हुए राजा हर्षदेव ने परिमित सेवकों के साथ जाते हुए राज्यभ्रष्ट एवं गतश्रीक उत्कर्ष को देखा क्योंकि संपदाएँ किसके पास चिरकाल तक स्थिर रहीं हैं ? ॥८३३॥ उत्कर्ष की देखरेख के लिए विश्वासपात्र रक्षकोंको नियुक्त कर विजयसिंह ने हर्षदेव के निकट आकर सम्पूर्ण वृत्तान्त सूचित कर दिया ॥८३४॥ उसके बाद राजा हर्षदेव ने कारावास के कठिन समय के सहायक एवं सच्चे मित्र उन लोहर प्रान्तवासी ठक्कुर तथा उनके सैनिकों को बुलवाकर अपने पास रखलिया तब उसके मनमें विजयमल्लका भय नहीं रहा ॥८३५॥ विजयमल्ल भी अपने ज्येष्ठ भ्राता हर्षदेव के राज्याभिषेक वृत्तान्त को सुनकर उसके पास आ रहा था उसी समय हर्षदेव के दूत अत्यन्त विनयपूर्वक शीघ्रता से उसी के (विजयमल्ल) निवासस्थान पर उसे ले गये ॥८३६॥ उसके बाद विजयमल्ल के सैनिक हर्ष के पास आये उन्हें देखकर राजनीति-निपुण हर्ष ने तत्काल विजयमल्ल को अपने समीप बुलवा लिया ॥८३७॥ और हाथ

जोड़कर कहा कि ये मेरे प्राण और यह राज्य आपकी ही देन है आपकी कृपा से ही मेरे सब क्लेश नष्ट हुए और मुझे सफलता मिली है मेरे भाग्य की अनुकूलता भी आपकी श्रेष्ठतम नीति तथा धीरता का ही फल है। उसके बाद उसे उसके परिश्रम के बदले में योग्य पारितोषिक देकर राजा ने उसे अपने पास सिंहासन पर बैठाया ॥८३८-८३९॥ यद्यपि हर्ष ने अभी तक कारागृह के भीतर पहिरे जानेवाले कपड़े पहिन रखे थे तथापि राज्यश्री के सांनिध्य के कारण उस राज्य-सिंहासन पर वह अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥८४०॥

उस प्रकार के साहसपूर्ण एवं क्रान्तिमय परिवर्तन कार्य से थका हुआ वह राजा सायंकाल के समय गुरुतर भार को अपने मस्तक पर से उतारकर श्रान्त हुए भारवाहक के समान शय्या पर आकर सो गया ॥८४१॥ परन्तु इस परिवर्तनशील संसार में रहनेवाले प्राणियों के भाग्य की विलक्षण अस्थिरता पर विचार करते हुए उस राजा को नेत्र मूँदकर पड़े रहने पर भी निद्रा का सुख नहीं मिला ॥८४२॥ युद्ध में विजयसिंह के द्वारा बाँधा गया उत्कर्ष अपने मन्त्रियों के साथ भावी कार्यक्रम के विषय में मंत्रणा करने लगा तब नोनक मन्त्री ने तिरस्कारपूर्वक रूखे वचन उससे कहे ॥८४३॥ राजन् आज प्रातःकाल के समय जो मैंने आपको सलाह दी थी उसे आपने नहीं माना इस अनीतियुक्त आचरण के कारण अब आपको जो आपत्ति भोगना पड़ेगी वह सुन लीजिए ॥८४४॥ आपने कारागृहवासी हर्षदेव को उच्छिष्ट

भोजियों के अधीन करा था अब वह आपको श्वपचों के अधीन करेगा ॥८४५॥ अब तो मरने के अतिरिक्त दूसरा कौन-सा उपाय हो सकता है परन्तु अब युद्ध समाप्त हो जाने के कारण वह मार्ग भी बन्द हो चुका ॥८४६॥ आपका शत्रु आपको अधिक से अधिक कष्ट देने में क्या बाकी रखेगा ? अथवा हमलोगों की अत्यन्त दुर्गति करके हमारे पराजय के मर्म भेदक कटुफल का क्या हमें अनुभव नहीं करावेगा ? ॥८४७॥ घातक परिणाम की ओर ध्यान न देकर हमारे द्वारा प्रयुक्त किया गया उपाय हमारे सर्वनाश का कारण बन गया है ॥८४८॥ अतिजीर्ण वस्त्र को सीकर कितना भी ठीक किया जाये तो भी वह सैकड़ों जगह से फट जाता है वैसे ही छोटे से प्रमादजन्य दोष को सुधारने का प्रयत्न करने पर अधिक बिगाड़ हो जाता है ॥८४९॥ इस प्रकार नोनक मन्त्री के बचन को सुनकर वह उन सब लोगों में से उठकर अपनी प्रिय-रक्षिता सहजा के साथ अन्दर के भाग में गया ॥८५०॥

और वहाँ उसने सहजा को "मैं संध्या वन्दन के लिये एकान्त में बैठता हूँ।" ऐसा कहा और अकेला परदे के अन्दर चला गया ॥८५१॥ उस समय वह निश्शस्त्र था फिर भी उसने कपड़ा काटने की एक बड़ी कैंची लेकर उससे अपने कण्ठ-प्रदेश की रक्तवाहिनी धमनियों को काट डाला ॥८५२॥ कैंची के गिरने की आवाज से सहजा के मनमें शंका उत्पन्न हुई और इतने ही में उसने परदे की नीचे से रक्त की धारा को बहते

हुए देखा ॥८५३॥ अन्दर जाने पर उसने विद्युत्पात से मध्य के भग्न होने से धातु-राग के प्रवाह से युक्त पर्वतीय शृंग के समान उसकी विशालग्रीवा में से बहते हुए रुधिर-प्रवाह को देखा ॥८५४॥ इस दुर्घटना को देखकर उसने जो आचरण किया उस कार्य से पति-भक्तपरायणा ललनाओं के मस्तक सर्वदा के लिये उन्नत हो गये ॥८५५॥ रात्रि चन्द्र को क्षीण होते देख उसका साथ छोड़ देती है परन्तु संध्या अस्तंगत सूर्य के पद का अनुसरण करती है इसलिये बुद्धिमानों को 'प्रेम में परिवर्तन का सम्भव अन्तिम समय हो सकता है' ऐसा सोचकर स्त्रियों को नितान्त निंद्य अथवा वंद्य नहीं कहना चाहिए ॥८५६॥ कुल तथा प्रियतम के प्रेम में कय्या तथा सहजा दोनों समान होकर भी एक निन्द्य और दूसरी सर्वथा वंद्य हुई ॥८५७॥ कय्या के समान सहजा भी देवमन्दिर में नृत्य करने वाली देवदासी थी उसे नाट्य-मण्डप में उस राजा ने देखा था और उसके सौन्दर्य से मुग्ध होकर अन्तःपुर में उसे रख लिया था ॥८५८॥ उसने अपने प्रियतम के रक्त-रूपी गैरिक से अपने शरीर पर अंग-राग का लेपन किया और प्रेम-मय अन्तःकरण से अग्नि में प्रवेश करके सुवर्ण के समान अपने प्रेम को उज्ज्वल एवं निष्कलंक सिद्ध कर दिखाया ॥८५९॥ पहिले जब वेश्या थी तब उसे हर्षदेव भी प्यार करता था इसलिए उसने उसे अग्नि-प्रवेश करते समय मना किया था परन्तु उसने हर्ष के अनुनय की पर्वाह न कर अपने मरण के निश्चय को नहीं छोड़ा ॥८६०॥

मरते समय उत्कर्ष राजा की अवस्था केवल २४ वर्ष की थी उसने केवल २२ दिन तक राज्य किया उसका शव रात भर वैसे ही रखा रहा और दूसरे दिन प्रातः-काल में अग्निसंस्कार किया गया ॥८६१॥ उसकी चंचल नेत्रवाली पत्नियाँ लोहर प्रान्त में रहती थीं उनमें से कतिपय ललनाओं ने अग्नि-प्रवेश द्वारा शीघ्र ही पति के समागम का सुख प्राप्त कर लिया ॥८६२॥ राजा हर्षदेव के सेवक जब उत्कर्ष के मन्त्रियों के शस्त्र छीनने लगे तब नोनक ने अपने प्राणों की परवाह न करते हुए उन्हें शस्त्र नहीं दिया तब उसी के पक्ष के मन्त्री प्रशस्तकलश ने "हम लोगों को छोड़ कर राजा को सलाह देनेवाला कौन मिलेगा ? इसलिए यह स्वयं ही कुछ दिनों के बाद हमें छोड़ देगा ऐसी स्थिति में आप अपने प्राणों की उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ?" ऐसा कहकर उससे शस्त्र दिलवा दिया और स्वयंने भी शस्त्र दे दिया ॥८६३-८६४-८६५॥ उसके बाद हर्षदेव ने नोकक, सिल्हार, भट्टार तथा प्रशस्त कलश आदि मंत्रियों को हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ पहिनाकर कारागृह में भेज दिया ॥८६६॥ इस प्रकार दैव के समान विलक्षण घटना को घटित करने वाले उस राजा हर्षदेव ने एक ही दिन में अत्यंत अद्भुत राज्यपरिवर्तन कर डाला ॥८६७॥ हमारी इस कथा में यहाँ तक बहुत से राजाओं का भला-बुरा वर्णन यथाकथंचित् किया जा चुका है परन्तु अब दुर्भाग्य से बुद्धि के सामर्थ्य से बाहर ऐसा विषम प्रसंग उपस्थित होगया है ॥८६८॥

इस हर्षदेव की कथा में सब प्रकार के सत्प्रयत्नों का उदय एवं उन सब प्रयत्नों की निष्फलता का वर्णन करना पड़ेगा और सब प्रकार की सुव्यवस्था का निश्चय तथा उस निश्चय में सर्वविध राजनीति का अभाव भी दीख पड़ेगा ॥८६॥ उसमें उद्रिक्त शासन की चमक तथा उद्रिक्त (अत्यधिक) शासन के उल्लंघन से उत्पन्न होनेवाली दुर्व्यवस्था तथा हानि का आभास स्पष्ट वर्णन किया जावेगा इसी प्रकार हर्ष की कथा अत्यधिक औदार्य से युक्त तथा परस्वहरण की पराकाष्ठा से परिपूर्ण है ॥८७०॥

उसमें कारुण्य की अधिकता का सौन्दर्य तथा हिंसा के उद्रेक के कारण भयंकरता विद्यमान है और धार्मिक सत्कर्मों के आधिक्य से वह कथा लालित्ययुक्त तथा पापमय आचरणों के बाहुल्य से कलंकित है ॥८७१॥ वह कथा ग्रहणीय है वर्ज्य है, वन्द्य होकर भी निन्द्य है बुद्धिमानों की दृष्टि में कौतुकप्रद होकर उपहासास्पद है कमनीय होकर भी शोचनीय है ॥८७२॥ वह आशास्य (वांछनीय) है और अपकीर्ति के योग्य है तथा याद रखने योग्य होते हुए भी त्याज्य है। इस प्रकार की विशेषताओं से युक्त कथा का अब वर्णन किया जायगा ॥८७३॥ इस हर्षदेव का निर्माण अवश्य ही तैजस परमाणुओं से किया गया था अन्यथा वह बड़े-बड़े लोगों को भी सूर्य के समान तेजस्वी तथा दुष्प्रेक्ष्य कैसे मालूम होता ? ॥८७४॥ हर्ष के समान तेजस्वी न तो मनुष्यों में मिल सकता है और न देवताओं में, यदि विद्वान खोज करेंगे तो दानवेन्द्रों में कदाचित् उसकी बराबरी करने-

वाला कोई व्यक्ति मिल सकेगा ॥८७५॥ उसके कानों में सूर्य के समान जाज्वल्यमान कुण्डल सुशोभित होते थे। वह उत्तुङ्ग उष्णीष (पगड़ी) पर उन्नत मुकुट धारण कर रहा था ॥८७६॥ उसकी दृष्टि प्रसन्न सिंह के समान थी तथा उसकी लम्बी एवं सुन्दर दाढ़ी मुख को अलंकृत करती थी उसके स्कन्ध वृषभ के समान पुष्ट थे और बड़ी-बड़ी भुजाएँ थीं तथा श्यामरक्त वर्ण था ॥८७७॥ उसका वक्षस्थल विशाल था और मध्यभाग कृश था मेघ के गर्जित के समान गम्भीर आवाज़ थी इन सब विशेषताओं के कारण बड़े-बड़े अतिमानुषसत्वशाली पुरुषों की भी प्रतिभा उसके आगे कुण्ठित हो जाती थी ॥८७८॥ उसने प्रार्थियों की वार्ता को स्वयं सुनने की अभिलाषा से राजमहल की चारों दिशाओं के चारों सिंहद्वारों पर चार बड़ी-बड़ी घण्टाएँ बंधवा दी थीं ॥८७९॥ और जिस प्रकार वर्षाकालिक पयोद चातकों की आर्तवाणी को सुनकर उनकी तृष्णा को शान्त करता है उसी प्रकार वह राजा भी प्रार्थियों की आर्तवाणी को सुनकर उनके दुःखों को दूर कर देता था ॥८८०॥

उसके आनन्दपूर्ण राजभवन में सुन्दर एवं विचित्र वस्त्रों से रहित तथा सुवर्णालंकारों से शून्य एवं अल्प सेवकों वाला कोई नहीं दीखता था ॥८८१॥ असंख्य मनुष्यों से घिरे हुए राजा हर्षदेव के राजमहल के सिंहद्वार पर सब देशों की सम्पत्तियों के समूह पड़े हुए दीखते थे ॥८८२॥ इसीप्रकार उसके राजमहल में सुवर्णकंकण तथा सुवर्णमय ग्रैवेयक (कंठी) अलंकारों को

धारण किये हुए मन्त्री, प्रतीहार तथा सामन्त आदि कर्मचारी लोग इधर-उधर भ्रमण करते हुए दृष्टिगोचर होते थे ॥८८३॥ इस प्रकार नवीन साम्राज्य-लाभ से सुशोभित एवं प्रताप से जाज्वल्यमान वह राजा अपने गुरु के समान आदरणीय विजयमल्ल की सम्मति के अनुसार राज्यशासनका कार्य करता था ॥८८४॥ वह राजा कृतज्ञता के वशीभूत होकर विजयमल्ल के वचन को आदरपूर्वक मानता था उस विजयमल्ल की सभा में भी सेवकों की भीड़ सर्वदा बनी रहती थी ॥८८५॥ उस राजा ने प्राचीन व्यवस्थाओं को सुचारु रूप से सुरक्षित रखने के लिए अपने पिता के समय के अनुभवी मन्त्रियों को ही अधिकार दिये थे वह अपने नवीन सेवकों के मत का अनुगामी नहीं बना ॥८८६॥ उसने कन्दर्प तथा मदन को क्रमशः द्वाराधिकारी एवं कम्पनेश के पद पर नियुक्त किया और भी विजयसिंह आदि व्यक्तियों को अपने-अपने पदों पर नियुक्त किया ॥८८७॥ क्रोध शान्त होने के बाद उसने प्रशस्तकलश आदि को कारावास के बन्धन से मुक्त कर योग्य कार्यों पर नियुक्त कर दिया ॥८८८॥ परन्तु नोनक मन्त्री तथा धात्रेय भ्राता के अनन्त अपकारों का स्मरण करते हुए उस राजा ने उन दोनों को सूली पर चढ़ा दिया ॥८८९॥ तथापि पश्चात् समय-समय पर महत्त्वपूर्ण कार्यों में तथा संकट के अवसर पर वह राजा बुद्धिमान एवं स्वामिभक्त नोनक को याद कर पश्चात्ताप करता था ॥८९०॥

अपकार करनेवाला भी योग्य मनुष्य किसी समय उपयोग

में आ सकता है क्योंकि घर को जलादेनेवाले अग्निपर भी भोजन पकाया जा सकता है ॥८६१॥ उस राजाके सेवकों ने विश्शावट्ट की पत्नी के समक्ष उसके नाक-कान काटकर पश्चात् उसे सूली पर चढ़ा दिया ॥८६२॥ जिस प्रकार वसन्तऋतु में फूला हुआ वृक्ष भूविवर अथवा तरुकोटर से निकली हुई कृष्ण-मधु-मक्षिकाओं का पालन करता है उसी प्रकार राजा हर्ष ने अपने उन्नति के समय में कारावास से मुक्त हुए अपने सेवकों को अपने भाग्योदय के हिस्सेदार बनाया अर्थात् उन्हें उत्तमोत्तम पारितोषिक दिये ॥८६३॥ रक्क के वंशज क्षेम के पौत्र तथा वज्र के पुत्र सुन्न एवं उसके भ्राता को हर्ष ने अमात्यवर्ग में प्रमुख अर्थात् प्रधान बनाया ॥८६४॥ जब वह राजा अपने राज्य में निरीक्षण के लिए पर्यटन करता था उस समय उत्तम वेष तथा अलंकारों से भूषित मन्त्रियों को देखकर प्रेक्षकों के मन में राजा का भ्रम होने लगता था अर्थात् प्रेक्षक प्रत्येक मन्त्री को उसकी शान से राजा मानने लगते थे ॥८६५॥ उस राजा ने अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय कनिष्ठ भ्राता जयराज को सम्पूर्ण प्रतीहारों का अध्यक्ष बना दिया था ॥८६६॥ तन्वंग का पुत्र धम्मट अपने दोनों भ्राताओं की मृत्यु के बाद उनके उपकार के ऋण से मुक्त होने के लिए गंगाजी की यात्रा करके अपने भ्रातृपुत्रों (भतीजों) के साथ काश्मीर देश में वापस आ गया था ॥८६७॥ उसके ज्येष्ठ बन्धु ने अपने लिए प्राण दे दिये थे इस बात को सोचकर राजा हर्ष ने धम्मट तथा उसके भतीजों को अत्यधिक सम्मानित

किया ॥८९८॥ इस प्रकार विभाग करके राज्य का उपभोग करते हुए उस राजा के साथ खल पुरुषों की प्रेरणा से विकृतमति विजयमल्ल द्रोह करने के लिए सन्नद्ध हो गया ॥८९९॥ उन खल पुरुषों ने उसे कहा कि "आपने इस राज्य को जीतकर दूसरे के अधीन क्यों कर दिया" इसलिए फिर से राज्य को प्राप्त करने के लिए उसने अपने ज्येष्ठ भ्राता हर्ष को मार डालने का विचार किया ॥९००॥

उसने इस कार्य को पूर्ण करने के लिए उसे अपने घर पर बुलवाने का निश्चय किया और यज्ञके मिस से हर्ष को अपने घर पर प्रीति भोज के लिए निमन्त्रित किया ॥९०१॥ उसका वह विचार राजा हर्षदेव को भी विदित हो गया तब उसने अपने ऊपर आक्रमण होने की आशंका से स्वयं की रक्षा के लिए अपने सैन्य को तैयार किया ॥९०२॥ राजा के सैन्य को सन्नद्ध होते देखकर विजयमल्ल ने शीघ्रता से बाहर निकलकर राजा की अश्वशाला में से अश्व हरण कर लिये ॥९०३॥ अश्वों को हरण करते समय प्रहार करते हुए राजा के सैन्य को देखकर उस वीर ने उस पर आक्रमण कर दिया और भयंकर युद्ध करते हुए वह विजयमल्ल नगर से निकल जाने का प्रयत्न करने लगा ॥९०४॥ आलिंगन कर पृष्ठभाग में बैठी हुई पत्नी के साथ अश्वारूढ़ होकर अपना शौर्य प्रकट करते हुए उस वीर ने अतिमानुष संग्राम किया ॥९०५॥ उस समय असामयिक जलवृष्टि होने लगी और सम्पूर्ण पृथ्वी धारा-संपात से आच्छादित होकर विपर्यस्त-

सी सर्वत्र दीखने लगी ॥६०६॥ उस रण में झंझावात का शब्द सैकड़ों रण-दुन्दुभियों के नाद के सामान हो रहा था वह विजय-मल्ल पर्जन्यवृष्टि तथा बाणवृष्टि से आच्छादित हो रहा था ॥६०७॥ उसके वीर सैनिक क्रमशः हतवीर्य तथा कम हो रहे थे और जिस प्रकार सब प्राणियों को उनके पूर्व कर्म नहीं छोड़ते उसी प्रकार चण्डक के पुत्रों ने उसको मार डालने के इरादे से उसका पीछा करना जारी रक्खा था ॥६०८॥ विजयमल्ल वितस्ता एवं सिन्धु के संगम पर पहुँच गया था। उस समय नदियों में बाढ़ आ रही थी इसलिए पुल टूट गया था फिर भी वह वीर अश्व पर से उतरकर पत्नी समेत अपनी भुजाओं की सहायता से नदी के पार पहुँच गया ॥६०६॥ वह अत्यधिक साहसी तथा बलवान था इसलिए ऐसे संकट के समय में पत्नी-सहित नदी में कूद पड़ा था उसका अश्व भी उसके पीछे तैरकर नदी के पार पहुँच गया ॥६१०॥

वह वीर दुश्मनों के देखते-देखते अश्व पर बैठकर लहर के मार्ग से दरद देश की ओर चल दिया ॥६११॥ यद्यपि द्वारपति कन्दर्प ने उसका रास्ता सब तरफ रोक रखा था तथापि वह एक विकट तम पर्वतीय मार्ग से पर्वतों को लांघकर सर्वत्र पर्वतों से घिरी हुई दरदपुरी में पहुँच गया ॥६१२॥ वहाँ के शासक राजा विद्याधरशाही ने उसका स्वागत-सत्कार किया कुछ समय के बाद वहाँ पर उसके बहुत से परिजन के लोग आ पहुँचे ॥६१३॥ उसके पश्चात् डामर लोगों के मिल जाने से विजयमल्ल को

उपद्रव करते देखकर राजा हर्ष चकित होकर प्रतिदिन उसको दबाने की योजना करने लगा ॥६१४॥ परन्तु वह योजना सर्वथा निष्फल हुई पश्चात् शीतकाल के दिनों को दरदपुर में बिताकर डामरों के निमन्त्रणानुसार विजयमल्ल बड़े घमण्ड के साथ विजय-यात्रा के लिए चैत्र मास में रवाना हुआ ॥६१५॥ वह मानी राज-पुत्र अनेक संकटों से उत्तीर्ण होकर सफल हुआ था परन्तु इस यात्रा में एक जगह पट-मण्डप में ठहरा था। वहाँ अकस्मात् असामयिक हिमवृष्टि होने से उसमें उसको असामयिक मृत्यु के अधीन होना पड़ा ॥६१६॥ जिस कार्य के उल्लास के लिए साहसी लोग महान् प्रयत्न करते हैं दैव उसको छोटी-सी घटनाके द्वारा नष्ट भ्रष्ट कर देता है ॥६१७॥ तिग्मरुचि सूर्य अपनी सहस्र किरणों से जिनका उन्मीलन करता है उन्हीं कमलों को विधाता वाम होते ही किसी एक हाथी के एकमात्र कर (सूंड) से उन्मूलित करवा डालता है ॥६१८॥ इसप्रकार द्वैराज्यशंका से अर्थात् दो राज्यों के स्थापन होने की आशंका से हर्ष का राज्यवैभय कुछ समयतक संकुचित-सा हो गया था परन्तु विजयमल्ल के नाश के बाद फिरसे उत्कर्ष को प्राप्त होने लगा ॥६१९॥ उसके शासन काल में राजशब्द हर्ष के अत्युग्र होने के कारण तथा अन्य राजाओं में निःसत्त्वता के होने से कहीं भी आरोपित नहीं हो सकता था अर्थात् हर्ष का स्वभाव अत्यन्त तीक्ष्ण था इसलिए "रञ्जयति लोकान् इति राजा" इस अर्थ वाले राज शब्द का उस पर आरोप नहीं किया जा

सकता था और अन्य राजा लोग तृणवत् नि.सार थे इसलिए उन्हें भी राजा नहीं कहा जा सकता था अतः राजशब्द का आरोप कहीं भी नहीं कर सकते थे ॥६२०॥

प्राचीन समय में इस राज्य में राजा के अतिरिक्त सभी लोग अपने बालों को खुले रखते कोई भी मस्तक को पगड़ी से अलंकृत नहीं करता था किसी के भी कानों में कुण्डल नहीं दिखाई देते थे ॥६२२॥ कम्पनाधिपति मदन ने अपने केशों का प्रसाधन कर उन्हें ग्रथित किया था तथा प्रधान मन्त्री जयानन्द ने चमकता हुआ रंगीन तथा सुन्दर अर्धोरुक (अंगरखा) पहिना था इसलिए इन दोनों को राजा का कोपभाजन बनना पड़ा था ॥६२३॥ परन्तु राजा हर्षदेव ने इस संकुचित प्रथा का अंत कर डाला और राजोचित वेष धारण करने के लिए सर्व सामान्य अधिकार प्रजाजन तथा राजकर्मचारियों को दे दिया ॥६२४॥ कुछ सुन्दर तथा वेष एवं अलंकारों से सुशोभित होने-वाले अमात्यों के प्रेक्षणीय नेपथ्य को देखकर उस निर्मत्सर राजा ने प्रसन्नतापूर्वक दासियों के द्वारा उनकी आरती करवाई थी ॥६२५॥ उस रसिक राजा को दक्षिणात्यों की पद्धिति अधिक पसन्द थी इसलिए उसने कर्नाटकी ढंग के गोल टंक चलाये ॥६२६॥ उसकी राजसभा में कर्णाटक देश की प्रथा के अनुसार ताड़ के पंखों से हवा की जाती थी प्रत्येक सभ्य के ललाट पर बड़े-बड़े चन्दनतिलक शोभायमान होते थे और सुन्दर तथा लम्बी-लम्बी छुरियाँ वे कमर में बाधते थे ॥६२७॥ उस राजा के

निकट सर्वदा रहनेवाली चञ्चलभृकुटिभूषिता ललनाएँ पीठ पर से लटकी हुई लम्बी-लम्बी गुँथी हुई सुन्दर वेणियों पर सुवर्ण-केतक-पत्र धारण करती थी, तथा उन वेणियों पर पुष्पमालाएँ लटका करती थीं उनके ललाटों पर अलंकारों से मण्डित केशों की लटें शोभायमान होती थीं उनके अपांग से लेकर कर्णप्रान्त तक अंजनरेखा विराजमान होती थी उनकी वेणी के अग्रभाग में सुवर्णमय जरी के गुच्छे लटकते रहते थे उनके अधराम्बर अर्थात् लँहगों का नीचे का हिस्सा पृथ्वीतल को स्पर्श करता था उनके पयोधर आधी बाँह की कंचुकी से आच्छादित रहते थे उनका हास्य कर्पूर रज के समान धवल था वे चंचल भ्रुकुटी के विलास को प्रदर्शित कर भ्रमण कर रही थीं यदि वे ललनाएँ पुरुष वेष को धारण कर लें तो साक्षात् काम के समान दीखने लगतीं ॥६२८, ६२६, ६३०, ६३१॥

जिस प्रकार सागर के प्रणय से मेघ समग्र संसार को आनन्ददायक होते हैं उसी प्रकार उस राजा के निकट आनेवाले याचकगण अन्य याचकों के मनोरथों को पूर्ण करने योग्य बन जाते थे ॥६३२॥ उस अत्यन्त उदार तथा कनकवर्षी राजा के प्रसाद से धनाढ्य होनेवाले गायक एवं वादक राजाओं के साथ स्पर्धा करने योग्य बन गये थे ॥६३३॥ वह स्वयं विद्वच्चूड़ामणि था उसने बड़े-बड़े विद्वानों को रत्नालंकारों से भूषित किया था तथा पालकी, रथ, छत्र आदि बहुमानसूचक वस्तुएँ अर्पण की थीं ॥६३४॥ बिल्हण कवि कलश राजा के शासनकाल में काश्मीर

देश को छोड़कर कर्णाटक देश के राजा परमार्डी के पास चला गया था उसे राजा परमार्डी ने अपनी राजसभा में विद्यापति पद पर नियुक्त कर उसको अत्यधिक सम्मानित किया था इसके अतिरिक्त कर्णाटक देश के पर्वतीय प्रदेशों में हाथी की सवारी पर बैठकर भ्रमण करते समय राजा के सम्मुख छत्र धारण करने का सम्मान केवल बिल्हण कवि को प्राप्त हुआ था फिर भी उस कवि को राजा हर्षदेव की उदारता एवं कविबन्धुत्व की कीर्ति को सुनने से वहाँ वह सब ऐश्वर्यतुच्छ-सा प्रतीत होने लगा था ॥६३५, ६३६, ६३७॥ उस राजा की अनेक राजधानियों में बहुत से गगनचुम्बी तथा शिखर प्रदेश में सुवर्णमलकों से सुभूषित राजप्रासाद प्रेक्षकों के हृदय में आश्चर्य उत्पन्न करते थे अथवा संसार की अद्भुत वस्तु माने जाते थे ॥६३८॥ उसके द्वारा लगवाए गए उपवन नन्दनवन से स्पर्धा करते थे वह स्वयं कल्पवृक्षों को अपनी उदारता से लज्जित करता था इसलिए उन उपवनों में अन्य वृक्षों के रहने परभी कल्पवृक्ष नहीं रहते थे ॥६३९॥ अनेक प्रकार के खग एवं मृगों से परिवेष्टित तथा अगाध जल-राशि से पूर्ण और दिगन्तव्यापी पंपा नामक सरोवर उस राजा ने बनवाया ॥६४०॥

वह राजा जितनी विद्याओं को जानता था उनका नाम भी जान लेना बृहस्पति की भी सामर्थ्य के परे था ॥६४१॥ संगीत-मय काव्य को निर्माण करनेवाले उस हर्षदेव के गीतिकाव्य को आज भी सुनकर उसके शत्रुलोग भी अपने नयनों से अश्रुबिन्दु

गिराने लगते हैं ॥६४२॥ वह सर्वदा आनन्दविलासमय जीवन व्यतीत करता था तथा दिन में दो पहर सो लेता था और रात में जागकर सम्पूर्ण राजकार्य करता था ॥६४३॥ जब वह राज-कार्य करने के लिए राजसभा-मण्डप में बैठता था उस समय सभामण्डप सहस्रशः दीपकों के प्रकाश से जगमगाने लगता था वहाँ पर वह राजा विद्वानों के साथ शास्त्रचर्चा, गीत एवं नृत्य आदि अनेक विनोद साधनों से रातें विताया करता था ॥९४४॥ उस राजसभा में जब संभाषण बन्द होता था तब केवल ताम्बूलचर्वणजनित तथा ललनाओं के केशकलापस्थित शेफा-लिका कुसुमों की मर्मरध्वनि श्रवणगोचर होती थी ॥९४५॥ रात्रि के समय वह राजसभामण्डप के ऊपर लगे हुए शुभ्र वितानों से अभ्राच्छादित-सा, दीपकों से अग्निमय प्राकारवेष्टित-सा, सुवर्णदण्डों से विद्युल्लतायुक्त-सा, खड्गसमूहों से धूम्रयुक्त-सा, कमनीय कान्ताओं से अप्सराओं से युक्त-सा, मन्त्रियों से सन-क्षत्र-सा, विद्वानों से ऋषिगणसमेत-सी तथा गायकों से गन्धर्व-मण्डित-सी सुशोभित होता था वहाँ पर धनद एवं दण्डधर का निरन्तर-सा निवास रहता था और दान तथा भय दोनों के लिए वह सभामण्डप क्रीड़ास्थान के समान था। इन्द्र से भी अधिक सम्पत्तिशाली उस राजा के सभामण्डप का सम्पूर्णतया सौन्दर्य-वर्णन किस वाचस्पति की वाणी से किया जा सकता था ॥९४६, ९४७, ९४८, ९४९॥ उस राजा के राज्य में अधिकांश व्यवहार (लेन-देन) सोने के तथा चाँदी के दीनारों से हुआ

करता था ताम्रमय दीनारों का बहुत कम उपयोग होता था ॥९५०॥

सुन्न को दण्डनायक का पद राजा की ओर से मिला था उस समय उसकी उन्नति पराकाष्ठा को पहुँच गई थी परन्तु ऐसे समय में भी वह नीच मुष्टिंपच (कंजूस) ही बना रहा ॥९५१॥ क्योंकि उसके द्वारा बँधवाये गये जयवन, सूर्यामूलक तथा विजयेश्वर क्षेत्र के मठ धनव्यय की व्यवस्था से शून्य होकर उसके कार्पण्य की गवाही देते थे ॥९५२॥ पट्ट की सम्पत्ति क्षुधित, व्याधित, अनाथ, दीन आदि आपत्तिग्रस्त मानवों के दुःख-निवारण में उपयुक्त होकर कृतार्थ अर्थात् सफल थी ॥९५३॥ इसीप्रकार चंपक भी प्रतिवर्ष नन्दिक्षेत्र में सात दिन तक प्रभूत धनका व्यय कर अपनी न्यायोपार्जित सम्पदा को सफल करता था ॥९५४॥ याचकों की अशेष आर्ति (पीड़ा) को नष्ट करनेवाले उस राजा ने कृष्णाजिन तथा उभयमुखी (अर्ध प्रसूता गौ) गौ आदि दोनों को देकर ब्राह्मणों को दारिद्र्यहीन बना दिया था ॥९५५॥ शाही कुल की राजकन्या महारानी वसन्तलेखा ने नगर में तथा पवित्रतम त्रिपुरेश्वरक्षेत्र में मठ एवं अग्रहार स्थापित किये ॥९५६॥ इसप्रकार उस समय उस राजा के दरबार में एक विलक्षण एवं अवर्णनीय माहेश्वरी कला का प्रादुर्भाव हो रहा था तथापि उस राजा का शासनकार्य उदारतापूर्ण व्यवहार से युक्त नहीं कहा जा सकता ॥९५७॥ उसके पश्चात् शनैः शनैः पुराने मन्त्रियों के स्थानों पर नियुक्त किये गये नवीन मन्त्री लोगों का प्रभाव बढ़ने लगा और वे प्राचीन

मन्त्रियों से द्वेष रखने लगे तथा उन्होंने राजा की बुद्धि में भी मोह उत्पन्न कर दिया ॥९५८॥ कुष्ठ-पीड़ित-चरणयुगल मयूर वेग से दौड़नेवाले बहुपाद अर्थात् अनन्तचरण सर्प को पकड़ लेता है और सहस्रपाद सूर्य को अनूरु (अरुण) चलाता है बड़े-बड़े बलवान भी दुर्बल मानवों के द्वारा ठग लिये जाते हैं और असमर्थ लोग समग्र सामर्थ्यशील अधिकारियों को संभ्रम में डाल देते हैं यह सब दैव का खेल है ॥९५९॥ क्योंकि वह राजा हर्ष सम्पूर्ण शास्त्र एवं कलाओं से निपुण होकर भी उन मूर्ख सचिवों के द्वारा मोहसागर में गिरा दिया गया ॥९६०॥

उसने अपने पिता के साथ की शत्रुता का प्रतिशोधन करने के इरादे से पिता के द्वारा स्थापन किये गये मठ तथा नगर आदि स्मारक चिह्नों को लूट कर नष्ट-भ्रष्ट कर डाला ॥९६१॥ उसने अपनी उदारता के आवेश से पिता के द्वारा लोभ से सञ्चय किये गये महान् कोशसमूह का व्यय करडाला और पिता का नाम "पापसेन" रख दिया ॥९६२॥ उस मूढ़मति राजा ने अपने अन्तःपुर में तीन सौ साठ शुद्धशीलवाली प्रमदाएँ कहीं से लाकर रख ली थीं ॥९६३॥ हर तरह की स्त्रियों को अपने अन्तःपुर में हमेशा रखते हुए उस राजा ने केवल डोम तथा चाण्डाल कुल की ललनाओं को ग्रहण नहीं किया था ॥९६४॥ उसी समय में भुवनराज ने गुप्तरूप से दुर्गरक्षकों को उत्तेजित करके उनके सहयोग से लोहरप्रान्त पर अधिकार जमाने का विचार किया था ॥९६५॥ वह भुवनराज दर्पितपुर तक पहुँच

गया था और वहाँ द्वारपति कन्दर्प को अपने विरुद्ध लड़ने के लिए सम्मुख आता हुआ सुनकर फिर वापस चला गया ॥९६६॥ इसी प्रकार उस समय में राजपुरी का शासक संग्रामपाल भी किसी कारण से दर्पोन्मत्त होकर राजा के विरुद्ध हो गया था ॥९६७॥ कन्दर्प अर्थात् द्वारपति राजा के विरुद्ध उपद्रव करते हुए दुर्गरक्षकों को दबाने का प्रयत्न कर रहा था इसलिए राजा ने राजपुरी पर आक्रमण करने के लिए क्रुद्ध होकर दण्डनायक सुन्न को रवाना किया ॥९६८॥ वह बहुत बड़ी सेना को अपने साथ लेकर लोहर के मार्ग से जा रहा था परन्तु उसे शीघ्र पहुँचना अत्यावश्यक था फिर भी उसने अपनी मूर्खता से लोहरकोट के पास के प्रदेशों में डेढ़ मास व्यर्थ बिता दिया ॥९६९॥ बाद में आषाढ़ मास के दिन नजदीक आजाने से तथा शत्रु की अधिक प्रबलता को देखने के कारण वह डर गया और उसके मन में आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं हुई ॥९७०॥

राजा हर्षदेव की अविशेषज्ञता के कारण शान्त बैठे हुए द्वारपति कदर्प को ही राजाके उपालम्भ का पात्र बनना पड़ा ॥९७१॥ तब कन्दर्प ने राजपुरी की विजय किये बिना अन्न न ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की और उस राजा के उपालम्भ से चिढ़कर बिना विशेषसामग्री के ही वहाँ से रवाना हो गया ॥९७२॥ पहाड़ी प्रदेशों की कन्दराओं में उसने पाँच दिन उपवास करके व्यतीत किये और छठे दिन वह वीर राजपुरी के नज़दीक पहुँच गया। वहाँ से राजपुरी पहुँचने में एक योजन

का मार्ग बाकी था ॥९७३॥ उसने शत्रु-सेना की किंचिन्मात्र भी पर्वाह न की और शत्रुओं के शस्त्र-समूहों को छिन्न-भिन्न करके जिस प्रकार सिंह कदली के पल्लवों का मर्दन करते हुए कदलीवन में प्रवेश करता है वैसे ही राजपुरी में प्रवेश किया ॥९७४॥ दण्डनायक के सैनिकों में से बुद्धराज के कुल में उत्पन्न हुआ अकेला सेनापति कुलराज ही उसके साथ उस नगरी में प्रविष्ट हुआ था ॥९७५॥ उसने अपने अनुपम पराक्रम को प्रदर्शित करते हुए शत्रुओं के साथ घोर युद्ध किया एवं अनेक शत्रु-सैनिकों का बध कर डाला परन्तु अन्त में राजपुरी के राजमहल के सम्मुख के आँगन में वह शत्रुओं के द्वारा मारा गया और श्वेतच्छत्र के चिह्न से उसे उन्होंने कन्दर्प ही मान लिया ॥९७६॥ पश्चात् मध्याह्न के समय में वीरवर कन्दर्प बीस-तीस योधाओं के सहित राजपुरी के राजभवन में स्वयं प्रविष्ट हुआ ॥९७७॥ उसके केवल तीन सौ पदाति सैनिकों ने राजपुरी के राजभवन के सामने के मैदान में शत्रुओं को पीठ न दिखाने वाले तीस हजार शत्रु-सैनिकों को रोक रखा था ॥९७८॥ उस युद्ध में काश्मीरवासी दो सौ सैनिक मारे गये और चार सौ खश-सैनिकों को धराशायी होना पड़ा ॥९७९॥ इस प्रकार शत्रु-सेना के परास्त होने के बाद मृत-वीरों के दाह-संस्कार के समय धधकती हुई चिन्ताओं की अग्नि से वह रण-भूमि मृत्यु की पाकशाला के समान दीखने लगी ॥९८०॥

इस रीति से उस वीररत्न कन्दर्प ने अपने स्वामी के द्वारा

अविचार तथा क्रोध के आवेश में दिये गये उपालम्भरूपी वेताल को मांस एवं रुधिर समर्पण कर तृप्त कर दिया ॥९८१॥ एक प्रहर दिवस के अवशेष रहते हुए पूर्व पराभव से संतप्त हुए शत्रुओं ने एकत्रित होकर फिर से कन्दर्प के ऊपर आक्रमण किया ॥९८२॥ तब कन्दर्प ने उनके ऊपर औषधियुक्त तैल से लिप्त बाण चलाये। उन बाणों के लगते ही शत्रुओं के वस्त्र जलने लगे और सब दिशायें प्रकाशमय दीखने लगीं ॥९८३॥ इस चमत्कार को देखकर "यह आग्नेय अस्त्र को जानता है" ऐसा उन मूर्खों ने समझ लिया और अपने द्वारा किये गये पुनः प्रत्याक्रमण की आलोचना करते हुए वे सब वहाँ से भाग गये ॥९८४॥ भयंकर संकटों में भी महापुरुषों की धैर्यधारिणी बुद्धि को प्रागल्भ्य, प्रतिभान, ओज, प्रयोगचातुर्य तथा असंभ्रम ये सब सद्गुण नहीं छोड़ते हैं ॥९८५॥ पश्चात् सूर्यास्त के समय राजधानी में प्रवेश करते हुए कन्दर्प ने फिर से राजमहल के बाहर के भाग को बहुत बड़ी सेना से घिरा हुआ पाया ॥९८६॥ यह देखकर वह फिर से युद्ध करने के लिए निकला परन्तु उसने भयंकर रणाटवी को देखकर भय से अपने सैनिकों को स्थगित करते हुए दण्डनायक को आया हुआ सुना अर्थात् कंदर्प को यह विदित हुआ कि यह सेना दण्डनायक की है शत्रुओं की नहीं ॥९८७॥ कुछ लोग तो ऐसे हैं कि जो अपने पक्ष के सैनिकों को समरभूमि में गिरे हुए देखकर जोश में आकर उबल पड़ते हैं और कुछ लोग शत्रुपक्ष के धराशायी वीरों को देखकर थर

थर काँपने लगते हैं मानव-स्वभाव के इस विलक्षण अन्तर को कौन पहिचान सकता है ? ॥९८८॥ उसके पश्चात् कन्दर्प के द्वारा भयत्रस्त दण्डनायक राजपुरी के अन्दर लाया गया जैसे हंस के साथ स्पर्धा करने के लिए सागर के जल में गोता लगानेवाले वायस को हंस डूबने से बचाकर बाहर निकालता है वैसे ही कन्दर्प ने दण्डनायक के साथ बर्ताव किया ॥९८९॥ राजभक्त प्रजा से युक्त, विपुल-सैन्य से सुरक्षित, पारस्परिक भेद-भाव से शून्य एवं पुष्कलकोश से परिपूर्ण परराष्ट्र में इस प्रकार अपने शौर्य के प्रभाव से कन्दर्प के सदृश वीरवर के अतिरिक्त कौन प्रवेश कर सकता है ॥९९०॥

उसके बाद कन्दर्प शरण में आये हुए राजपुरी के राजा से कर लेकर एक मास के अन्दर ही अपने स्थान पर वापस आ गया ॥९९१॥ राजा ने उसके सम्मुख जाकर स्वागत-सत्कार किया इस प्रकार के सत्कार को देखकर दण्डनायक आदि राज-कर्मचारियों को शिरःशूल होने लगा अर्थात् वे सब अपने मनमें जलने लगे ॥९९२॥ परिहासपुर का व्यवस्थापक आनन्द नामक कर्मचारी अत्यन्त दुष्ट एवं क्रूर-स्वभाव का था इसीलिए वहाँ के पारिषद्य ब्राह्मणों ने उसका नाम वातगंड रखा था। बहुत से रिश्वतखोर मन्त्रियों की शिफारस से उसको राजा ने वामन-मन्त्री के स्थान पर पादाग्र का अधिकार दिया था वह द्वारपति के पद का इच्छुक था इसलिए कन्दर्प के विरोधियों में वह अग्रसर था ॥९९३-९९४-९९५॥ उस आनन्द की प्रेरणा से

राजा ने लोहर प्रान्त में शत्रुओं के द्वारा फैलाये गये विद्रोह को शान्त करने के लिए कन्दर्प को वहाँ का मण्डलेश बनाकर भेज दिया ॥९९६॥ इस युक्ति से अपने उदय को चाहनेवाले दुष्ट मन्त्रियों ने मन्त्र एवं पराक्रम से सम्पन्न कन्दर्प को पशु के समान राजनीति ज्ञान-शून्य उस राजा के निकट से दूर हटा दिया ॥९९७॥ पशुतुल्य-विचार-शून्य मूर्ख राजा लोग झूठे एवं स्वार्थी लोगों के कथन से विद्वान् तथा वाग्मी मन्त्री को अपने निकट न रखकर "यह दौत्यकर्म (दूत का काम) बड़ी ही उत्तम रीति से करेगा।" ऐसा समझकर उसे बाहर भेज देते हैं एवं "आप्त-जनों के साथ विरोध हो जायगा।" ऐसा सोचकर बुद्धिमान-मन्त्री का त्यागकर देते हैं और "यह अपना राज्य छीन लेगा।" इस विचार से प्रबल सचिव को छोड़ देते हैं ऐसे राजाओं को पछताना पड़ता है तथा उनका सर्वनाश हो जाता है ॥९९८॥ कन्दर्प के दूर देश चले जाने से उसके ऊपर का राजा का पुराना प्रेम मुट्ठी में रखी हुई बालू रेत के समान शीघ्र ही गलित हो गया ॥९९९॥ और कन्दर्प के विरोधियों ने राजा से कहा कि कन्दर्प उत्कर्ष के पुत्रों को लोहर प्रान्त के शासक बनाना चाहता है ॥१०००॥

इस बात को सत्य मानकर राजा ने कन्दर्प को मार डालने की इच्छा से मन्त्री पट्ट तथा टक्कदेशवासी असिधर को सेना समेत रवाना किया ॥१००१॥ यह सब वृत्तान्त कन्दर्प को राजा के एक गुप्त पत्र से जो कि भूल से उसके पास पहुँच गया था।

मालूम हो गया इससे उसे अत्यन्त दुःख हुआ और वह बड़ी देर तक आश्चर्य करता रहा ॥१००२॥ वे दोनों जब वहाँ पहुँचे तब कन्दर्प द्यूत-क्रीड़ा में मग्न था (चौपड़ खेल रहा था) असिधर ने सेवक के समान उसके सम्मुख जाकर उसे बन्दी बनाने के विषय में राजा की आज्ञा सूचित की और उसका हाथ पकड़ लिया ॥१००३॥ तब कन्दर्प ने अपना हाथ छुड़ाकर अंगूठे के अग्र-भाग को असिधर के हाथ पर रगड़ दिया उस रगड़ से उसके हाथ की त्वचा (चमड़ी) छिल गई और वह पक्षविकल अर्थात् छिन्नपक्ष पक्षी के समान विकल हो गया ॥१००४॥ और उस कन्दर्प ने सेवकों के तारतम्य को न जाननेवाले राजा तथा ऐसे राजा के आश्रित बनकर खुद की दुर्गति करवानेवाले स्वयं को धिक्कारा और पट्ट मन्त्री से उक्त वचन कहे ॥१००५॥ महाराज को स्वतन्त्र-विचार करने की शक्ति नहीं है वे दूसरों की सलाह से चलते हैं इसलिए वे मेरे कुटुम्ब के लोगों को मेरे पास भेज दें तो मैं इस कोट (किला) को छोड़कर देशान्तर चला जाऊँगा ॥१००६॥ उसके बाद राजा के द्वारा भिजवाये गये अपने परिवार के लोगों को साथ लेकर कन्दर्प शान्ति के साथ अपने अधिकार को छोड़कर वाराणसी को चल दिया ॥१००७॥ उसने गया में एक सामन्त को मारकर उसके स्थान पर दूसरे को नियुक्त किया और इस कार्य के द्वारा काश्मीर देशवासियों को जो कि गया-क्षेत्र में श्राद्ध करने के लिए आया करते थे—श्राद्ध करते समय जो कर देना पड़ता

था उसे बन्द करवा दिया ॥१००८॥ इसी प्रकार उस तरफ सेना-समेत जाते हुए उस कन्दर्प ने यात्रियों को कष्ट देनेवाले डाकुओं के सरदारों का दमन कर उस मार्ग को निष्कण्टक कर डाला ॥१००९॥ वाराणसी में भी एक व्याघ्र को मारकर वहाँ के लोगों को भय से मुक्त कर दिया और मठ-निर्माण आदि अनेक धार्मिक कृत्यों के द्वारा उसने पूर्वदिग्भाग को सुशोभित बना दिया ॥१०१०॥

इस प्रकार कन्दर्प को निकलवाने से अपना स्वार्थ सिद्धकर वे दुष्ट मन्त्री पारस्परिक मत्सर के बशीभूत होकर आपस में झगड़ने लगे और राजा के कार्यों का नाश करने लगे ॥१०११॥ यथेष्ट आहार मिलने से उन्मत्त हुए मेष (मेंढा) अपने सींग की कण्डूति (खजुवाहट) को मिटाने के लिए परस्पर टक्कर लेने लगते हैं और उससे बीच के स्तम्भ का चूर्ण हो जाता है वैसे ही स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने के अभ्यासे उद्दण्ड एवं दुर्दमनीय ईर्ष्या से आकुलित बुद्धिवाले मन्त्री लोग जब परस्पर झगड़ने लगते हैं तब राजा का अल्प-समय में ही विनाश हो जाता है ॥१०१२॥ कुछ समय के बाद राजद्रोही एवं राज्य प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले तन्वंग के पुत्र धम्मट ने राजा की हत्या करने के लिए उद्योग शुरू किया ॥१०१३॥ राजद्रोह के आक्षेप से स्वयं को बचाने के लिए उसने "यह वेश्या का पुत्र है इसलिए राज्य पाने के लिए सर्वथा अयोग्य है अतः राज्य तो मुझको ही मिलेगा।" ऐसा सोचकर राजा के बन्धु जयराज को इस कार्य के लिए

तैयार किया ॥१०१४-१०१५॥ उस जयराज ने राजा की हत्या करने के लिए बिलावग्रामवासी घातकों को सम्मिलित किया और राजा के अन्तःपुर की दो तीन रानियों को भी इस षड्यन्त्र में शामिलकर लिया ॥१०१६॥ परन्तु उन लोगों के उस दुष्ट निश्चय को कार्यरूप में परिणत होने के पूर्व क्षण में ही सुदैव से राजा ने धम्मट को बड़े सम्मान के साथ राजदूत बनाकर राजपुरी को रवाना करने का विचार किया ॥१०१७॥ जब धम्मट सहस्र मंगल के घर पर शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा में निवास कर रहा था तब "अपना षड्यन्त्र व्यर्थ हो जायगा।" ऐसी शंका से व्याकुल होकर जयराज धम्मट के पास गया ॥१०१८॥ दोनों मिलकर इस विषय पर गुप्तचर्या कर रहे थे। उस समय उनकी परस्पर की बात-चीत दीवार की ओट में खड़े हुए प्रयाग के एक सेवक ने सुन ली, उसने प्रयाग से कहा और प्रयाग ने राजा से। राजा ने इस बात को सुनकर धम्मट को राजपुरी जाने से रोक दिया ॥१०१९-१०२०॥

कुलक्षय के डर से राजा ने कई दिन तक इसका बदला नहीं लिया केवल उसने आत्मरक्षा का पूर्णरूप से प्रबन्ध कर लिया ॥१०२१॥ उसी समय में जयराज ने अपना षड्यन्त्र विफल होता हुआ देखकर पाज और वाज नामक शूर एवं प्रबल डामरों को बुलवा लिया वे दोनों शमालाग्राम में रहा करते थे ॥१०२२॥ परन्तु उसके सेवकों ने सब रहस्य प्रगट कर दिया और उसके चले जाने की खबर भी राजा को दे दी तब राजा

ने रात्रि में चारो तरफ रक्षकों को नियुक्त कर दिया ॥१०२३॥ दूसरे दिन प्रातःकाल में धूर्त धम्मट वहाँ से रवाना होने के लिए बाहर निकला और साथ में जयराज को लेकर राजा के पास चतुष्क मण्डप में गया ॥१०२३॥ उसके द्वार बन्द थे इसलिए धम्मट अपने भतीजे को और जयराज को साथ लेकर आस्थान मण्डप में पहुँचा ॥१०२५॥ प्रयाग ने राजा की आज्ञा से उसके चारो तरफ रक्षकों को नियुक्तकर "जयराज को बाँध लो।" इस प्रकार धीरे से धम्मट से कहा ॥१०२६॥ उस बुद्धिमान एवं राजकार्य प्रवीण राजा हर्षदेव ने इस कार्य की योजना में यही चतुराई की थी कि धम्मट जब जयराज को कैद करने के लिए जायगा, तब जयराज उस पर विश्वास करके प्रायः शस्त्र त्याग देगा और राजा के द्वारा दिये गये इस आदेश से धम्मट भी अपने मनमें समझ लेगा कि राजा को "इस षड्यन्त्र से मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है" ऐसा निश्चय है। इस काम में कदाचित् दोनों का पारस्परिक झगड़ा हो जायगा तब इन दोनों में से कोई भी एक अथवा दोनों ही आपस में लड़कर मर मिटेंगे। तो यह भी अच्छा ही होगा और यदि ये दोनों परस्पर मिल जायँगे तो इनको पकड़कर मार डालने पर भी लोग हमारी निन्दा न कर सकेंगे ॥१०२७-१०२८-१०२९॥ धम्मट ने भी "इस षड्यन्त्र में मैं सम्मिलित नहीं हूँ।" इस प्रकार राजा को भरोसा है ऐसा सोचकर जयराज से बड़ी प्रौढ़ता के साथ कहा ॥१०३०॥

महाराज आपके ऊपर रुष्ट हो गये हैं अतः आप यदि वास्तव में निरपराध हैं तो इस बात को प्रमाणित करने के लिए अपनी तलवार दे दीजिए ।।१०३१।। यद्यपि जयराज खड्ग-युद्ध में पूर्णतया निष्णात था एवं शस्त्रास्त्र कोविद था तथापि दुर्दैववशात् अथवा धम्मट पर विश्वास होने से साधारण मानव के समान उसने सरलता से अपनी तलवार दे दी ।।१०३२।। पश्चात् उसकी शोचनीय एवं व्याकुलतामय स्थिति को देखकर तन्वंग के पौत्र एवं अज्जक के पुत्र दुल्ल ने उससे तिरस्कारयुक्त कठोर वचनों में कहा ।।१०३३।। "हे निस्सत्त्व, आप राजा कलश के द्वारा कण्या के उदर से तो उत्पन्न नहीं हुए हैं किन्तु अवश्य ही किसी क्लीब से (नपुंसक से) आपका जनन हुआ है।" इस प्रकार धैर्य के परम उपासक एवं अधैर्य के परिणाम को न जाननेवाले दुल्ल के वचनों को सुनकर जयराज की स्थिति शीतल-जल के सींचने से सोये हुए मनुष्य के समान हो गई अर्थात् दुल्ल के वचनों को सुनकर जयराज बिल्कुल ठण्डा पड़ गया ।।१०३४–१०३५।। उसको बन्दी बनाने के जब उससे उस षड्यंत्र के विषय में पूछा गया तब दुःसहक्लेश एवं कठोर यातनाओं को सहकर भी उस धैर्यशाली वीर ने केवल स्वयं को अपराधी बतलाया और धम्मट का नाम भी नहीं लिया ।।१०३६।। उसको विष दिया गया परन्तु उसने विषघ्न मंत्रों को सिद्धकर लिया था इसलिए उस पर विष का कुछ भी असर नहीं हुआ तब उसे रात में गले में फाँसी लगाकर मार डाला गया ।।१०३७।।

और जय्य नामक प्रतीहार ने उसका शिर काट डाला एवं उसके धड़ को भट्टारनड्वला (एक झील) के जल में मछलियों को खाने के लिए डाल दिया ॥१०३८॥ इस प्रकार उस गम्भीरहृदय एवं राजनीतिनिपुण राजा ने लौकिक वर्ष ४१७१ के भाद्रपद मास में उस जयराज की हत्या करवाकर धम्मट के वध के लिए भी अपने मन में विचार तथा प्रयास प्रारम्भ किया ॥१०३९॥ पश्चात् उस काम को पूरा करने के लिए शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ लोहर प्रांत-वासी वीर ठक्कुर कलशराज को राजा ने एकान्त में आदेश दिया ॥१०४०॥ और कहा कि जब प्रयाग तुम्हारे पास अपने दूत को भेजेगा तब तुम इस काम को कर डालना ऐसा कहकर राजा ने उसका खूब सम्मान किया ॥१०४१॥

प्रयाग ने भी अपने दूत को भेजते समय कार्य सिद्ध न होने के भय से कुपित होकर राजा से "अपने सचिवों के साथ सलाह करके इस काम को कीजिए" ऐसा कहा ॥१०४२॥ इसके अनुसार राजा हर्ष अपने पाँच मन्त्रियों के साथ आस्थानमण्डप में बैठकर इस विषय में विचार करने लगा तब वामन मन्त्री ने आस्थान-मण्डप के सब द्वार बन्द करवा दिये और अर्गलायुक्त प्रधान द्वार से अपनी पीठ सटाकर खड़ा होकर बोला ॥१०४३॥ आपका यह मन्त्रविचार जबतक ये सब मन्त्री यहाँ से बाहर न चले जाएँ तबतक अर्थात् उसके पूर्व ही यदि कार्यरूप में परिणत किया जाय तो कार्य-सिद्धि में किसी प्रकार की बाधा न होगी ॥१०४४॥ जब राजा की आज्ञा के अनुसार प्रयाग ने कलशराज के पास

दूत भेजा तब कलशराज नामक तीक्ष्ण (घातक) अपने दो पुत्रों को साथ लेकर धम्मट के वध के लिए गया ॥१०४५॥ उस समय धम्मट अपने दो तीन सेवकों के साथ राजधानी के अन्दर ही श्येनों को (बाज पक्षियों को) धूप सेवन करवा रहा था ॥१०४६॥ सशस्त्र कलशराज को अपने सम्मुख तथा उसके शस्त्र-धारी दो पुत्रों को अपने पीछे खड़ा देखकर धम्मट भयभीत एवं सशंक हो गया और वह अपने सेवकों से कुछ कहना चाहता था उसके पहिले ही वे सब उसे छोड़कर वहाँ से भाग गये ॥१०४७॥ शक्तिशाली वह धम्मट भी कलशराज को मारने के लिए तलवार निकालना चाहता था इतने में ही कलशराज ने तथा उसके दोनों पुत्रों ने आगे और पीछे की तरफ से उसपर प्रहार किया जिससे वह आसन से उठते-उठते तत्काल मर गया ॥१०४८-१०४९॥ उसने भी घबड़ाहट के साथ कलशराज के ज्येष्ठ पुत्र पर तलवार चलाई थी परन्तु वह तलवार खराब हो चुकी थी इसलिए कलश-राज के ज्येष्ठ पुत्र को विशेष घायल न कर सकी ॥१०५०॥

उसके दुर्भाग्य से ही उन्हीं दिनों में उसकी वह तलवार टूट गई थी इसी कारण से वह समय पर काम न दे सकी ॥१०५१॥ जिस प्रकार व्याध पक्षी को मारकर फेंक देते हैं उसी प्रकार कलशराज आदि के द्वारा मारकर पृथ्वी पर गिराये गये धम्मट के शव को राजा की आज्ञा से चाण्डालों ने कुत्तों को खिला दिया ॥१०५२॥ राजा ने नीचे आँगन में आकर तन्वंग के पौत्र रल्हण एवं मल्हण दोनों की—जिन्होंने अपनी तलवार पृथ्वी

पर रख दी थी—रक्षा की ॥१०५३॥ टुल्ल आदि कतिपय वीर क्रोध के आवेश में आकर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो रहे थे इतने में परम कपटी उदयसिंह ने आकर अपनी माया से उन्हें ठग लिया ॥१०५४॥ "तुम सब मेरे पुत्र हो" ऐसे मधुर वचन कहनेवाले उस धार्मिक पर विश्वास रखकर जीवन की इच्छा से उन टुल्ल आदि वीरों ने अपने शस्त्र रख दिये ॥१०५५॥ और उसी के कथनानुसार अपनी विशुद्धता (नेकनीयत) को प्रकट करने के लिए राजा के पास जाने के लिए रवाना हुए ॥१०५६॥ तन्वंग के घर पर ही बाल्यावस्था से वहाँ का उच्छिष्ट खाकर पला हुआ एक सेवक टुल्ल का छत्रधारी था उस समय उसने हँसकर टुल्ल से कहा ॥१०५७॥ तन्वंग के पौत्र टुल्ल, आपने कुछ समय के पूर्व जयराज से "तुम कन्या के उदर से उत्पन्न नहीं हुए हो" ऐसा कहा था क्या आप उस वचन को भूल गए ॥१०५८॥ आज आपके लिए भी वैसा ही संकट का समय आ गया है मूढ़, धैर्य धारण करने के अवसर पर क्यों व्याकुल हो रहे हो ? ॥१०५९॥ आप अवश्य ही उच्छिष्ट भोजन करनेवाले मेरे पिता से उत्पन्न हुए हैं और मैं कीर्तिशाली उस आपके वीर पिता से उत्पन्न हुआ हूँ ॥१०६०॥

ऐसा कहकर उस स्वाभिमानी वीर ने अपने जन्म की मलिनता का प्रक्षालन करने के लिए खड्गधारारूपी चमकते जल में अवगाहन किया अर्थात् वीरता के साथ शत्रुओं से युद्ध किया ॥१०६१॥ राजा के निकट पहुँचने के लिए रवाना हुए टुल्ल आदि

को राजपुरुषों ने कारागृह में बाँधकर भेज दिया ॥१०६२॥ उस समय वे यौवन के भार उन्मत्त होकर वसन्त ऋतु के वृक्षों के सामान सुशोभित हो रहे थे उन्हें देखकर राजा का हृदय करुणा-पूर्ण हो गया और वह उनके प्राणों की रक्षा के लिए उद्यत हो गया था ॥१०६३॥ परन्तु टक्क देशवासी पापात्मा त्रिम्बिय ने राजा के मन को दूषित कर दिया और उसके देखते रहने पर भी बलात्कार से उन्हें घसीट कर ले गया और रात के समय उनके गले में फाँसी का फन्दा डालकर मार डाला ॥१०६४॥ टुल्ल, विजयराज, बुल्ल, गुल्ल नामक तन्वंग के वे चारों पौत्र मरकर वध्यभूमि में लुढ़कने लगे ॥१०६५॥ "वे मरने के बाद भी सुन्दर दीख रहे थे।" इस प्रकार प्राचीन कथाओं के वर्णन करते समय वृद्ध लोग आज भी उनके मरणोत्तर कालीन सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं और उस समय उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगती है ॥१०६६॥ निरन्तर ताम्बूलचर्वण के अभ्यास से रक्तवर्ण उनकी दन्त पंक्ति उस वध्यभूमि में बहुत दिनों तक बिखरी हुई माणिक्यमाला के समान दीखती थी ॥१०६७॥ अपने कुल का उच्छेद करते हुए उस राजा हर्ष ने स्वयं के प्रयत्न से बढ़ाये गये उत्कर्ष राजा के ज्येष्ठ पुत्र डोम्ब को गुप्त रीति से मरवा डाला ॥१०६८॥ उसी प्रकार विजयमल्ल के छोटे एवं चतुर तथा चंचल बालक जयमल्ल को भी अग्निकण के समान समझकर गुप्तरूप से मरवा दिया ॥१०६९॥ दुर्दैवग्रस्त राजा लोग अपने राज्य के आधार भूत सम्पूर्ण आप्तों को (स्वजनों को) अपने प्रतिस्पर्धी समझकर

मार डालते हैं और उस कार्य से "हमने अपने राज्य को निष्कंटक बना दिया है।" ऐसा मानने लगते हैं परन्तु अन्त में उस राज्य का कोई दूसराही भाग्यवान् पुरुष उपभोग करता है ॥१०७०॥

मूढ़ अर्थात् ज्ञानशून्य अश्वत्थवृक्ष अपनी शाखाओं की छाया में बढ़े हुए विशाल मधु के छत्ते को कोई भी भाग्यशाली पुरुष बिना किसी कष्ट के निकाल सके इसलिए इस उन शाखाओं को धीरे-धीरे कम्पित करता है और उस छत्ते की रक्षा करनेवाली मधु-मक्षिकाओं को अपने गिरते हुए पत्तों के द्वारा सुदृढ़ प्रहार करके मार डालता है ॥१०७१॥ ज्ञातिद्रोहरूपी महापातक से नष्ट बुद्धि वह राजा छोटे-छोटे बालकों से भी असंभाव्य अर्थात् जिस बात को छोटे बालक भी नहीं कर सकते ऐसी विटजनों की अधीनता को सेवन करने लगा ॥१०७२॥ वामन-मन्त्री के पुत्र क्षेम ने "राजा के मन में अपने पिता कलश के विषय में अधिक विद्वेष है। ऐसा सोचकर कलशेश्वर के शिखर पर लगे हुए सुवर्णच्छत्र के सुवर्ण को वहाँ से निकाल लेने के लिए राजा को प्रेरित किया ॥१०७३॥ परन्तु जिस प्रकार मदोन्मत्त गज उन्मत्तावस्था में दौड़ते-दौड़ते जब गड्ढे में गिरने लगता है उसी समय धैर्यवान् महामात्य (महावत) उसे रोककर बचा लेता है उसी प्रकार राजा के परम-भक्त चतुर-सेवक प्रयाग ने युक्तिपूर्वक राजा की उस इच्छा को नष्ट कर दिया ॥१०७४॥ निरन्तर चेष्टाशून्य शवों के शरीर में प्रवेश करने में वेताल प्रवीण होता है इसी प्रकार शव-तुल्य निश्चेष्ट राजाओं के चित्त में प्रविष्ट होने में धूर्त-

तम विट लोग कुशल होते हैं। इन्हीं गुणों से युक्त हलधर का पौत्र लोष्टधर था उसने किसी समय एकान्त में राजा को प्रसन्न करने की इच्छा से कहा ॥१०७५-१०७६॥ महाराज, कलशेश्वर के मन्दिर के जो ग्राम हैं और जो सुवर्ण आदि वहाँ की सम्पत्ति है वह सब छीन लीजिये मैं उस नदी के पत्थरों से वितस्ता नदी पर अच्छा पुल बनवा दूँगा ॥१०७७॥ "मैं आकाश पर चित्र निर्माण करता हूँ, मृणालसूत्रों से उत्तम वस्त्र बुन देता हूँ स्वप्न में देखे गये सुवर्ण-राशि को ला सकता हूँ और बर्फ का प्राकार बना सकता हूँ।" इस प्रकार धूर्त मनुष्य के द्वारा कही गई बातों पर भी मूढ़ एवं जड़-बुद्धि राजा लोग सत्यता का विश्वास कर लेते हैं क्योंकि वह राजा अज्ञान होने के कारण लज्जा से कुछ भी नहीं कह सकता है और केवल उन धूर्तों के द्वारा ठग लिया जाता है ॥१०७८॥ उत्तम रीति से रोगी की परिचर्या को जानने वाला मनुष्य जिस प्रकार कुपथ्य करने के लिए उद्यत हुए रोगी को कुपथ्य से बचा लेता है उसी प्रकार प्रयाग ने अपने स्वामी के मन को उस कार्य से पलटा लिया ॥१०७९॥ उसके पश्चात् एक बार बात-चीत के सिलसिले में उसी लोष्टधर ने हँसते-हँसते राजा से कहा—"महाराज, एक देव बन्धन में पड़े हुए हैं उनको मुक्त कीजिए ॥१०८०॥

यह सुनकर राजा ने किंचित स्मितपूर्वक पूछा कि तुम्हारे कथन का क्या अर्थ है तब लोष्टधर ने राजा से कहा प्राचीन समय में उदभाण्डपुर में भीमशाही नामक राजा था ॥१०८१॥

उसने कलशदेव के राज्य में भीमकेशव नामक बिष्णु की स्थापना की उस मन्दिर के पुरोहित तथा पारिषदों (देख-रेख के लिए नियुक्त की गई समिति के सदस्य) के पारस्परिक वाद-विवाद के कारण बहुत दिनों तक उस मन्दिर के द्वार पर ताला लगा रहा था ॥१०८२॥ जब उनका विवाद शान्त हो गया तब उस मन्दिर का द्वार खोलकर देखने पर विदित हुआ कि देव प्रतिमा के रौप्य कवच को कोई चुरा ले गया है ॥१०८३॥ उस दिन से चोरी हो जाने के डर से उस मन्दिर के द्वारों पर ताले लगे हुए हैं और उस मन्दिर की सब सम्पत्ति उन्हीं तालों में बन्द पड़ी है ॥१०८४॥ इसलिए चोर के भय को उत्पन्न करने वाले उस मन्दिर के सब धन को ले लेना चाहिए और भीमकेशव भी बन्धन से मुक्तकर दिये जावें जिससे उनको पुष्प, दीप, धूप आदि पूजा सामग्री के उपभोग का सौभाग्य प्राप्त हो ॥१०८५॥ इस प्रकार उसके द्वारा प्रेरित होकर राजा ने भीमकेशव के मन्दिर के द्वार खुलवा दिये और वहाँ से सुवर्ण, रत्न आदि से परिपूर्ण विपुल धनराशि राजा को उपलब्ध हुआ ॥१०८६॥ तब राजा ने अपने मनमें सोचा कि जब इस प्रकार कई दिनों से बन्द पड़े हुए देवालय में इतनी सम्पत्ति विद्यमान थी तब बड़े-बड़े देव-मन्दिरों में तो बहुत ही अधिक होना चाहिए ॥१०८७॥ उसके बाद उस सम्पत्ति के बदले में वहाँ के पारिषद्यों ने प्रायोपवेशन करके अपने ऊपर की भार उठाकर ले जाने की बेगार प्रथा को राजा से बन्द करवा लिया ॥१०८८॥ उसके बाद क्रमशः उस राजा

को अपनी सेना के भिन्न-भिन्न विभागों में विशेष सुधार एवं उन्नति करने के लिए अत्यधिक व्यय करने का व्यसन-सा लग गया था इसलिए देव-मन्दिरों की सम्पत्ति लूटने की उसकी आदत सुदृढ़ हो गई ॥१०८९॥ उस लोभी राजा ने प्राचीन राजाओं के द्वारा अर्पण की गई सब मन्दिरों की आश्चर्यकारक कल्पनातीत सम्पत्ति को लूट लिया ॥१०९०॥

देवताओं की सम्पत्ति के हरण कर लेने के बाद देवताओं की धातुनिर्मित प्रतिमाओं को भी मन्दिरों में से निकलवाने के लिए उसने उदयराज को देवोत्पाटन नायक बना दिया था ॥१०९१॥ वह दुष्ट उदयराज देवप्रतिमाओं को भ्रष्ट करने के लिए–जिनके नाक, कान, हाथ, पैर रक्तविकार से सड़ रहे हैं ऐसे नग्न भिक्षुकों के हाथों से उन प्रतिमाओं पर मल-मूत्र छिड़कवाता था ॥१०९२॥ सुवर्ण, रजत आदि धातुओं से निर्माण की गई देवताओं की मूर्तियाँ कूड़ा-कर्कट से भरे हुए गन्दे रास्तों से जलाने की लकड़ियों के समान घसीटी जाने लगीं ॥१०९३॥ पुष्पों के स्थान पर उन प्रतिमाओं पर वे नग्न भिक्षु थूँक की वृष्टि करते थे और उनके पैरों में रस्सी बाँधकर उन्हें सड़क पर घसीटा जाता था ॥१०९४॥ उस हर्ष रूपी तुरुष्क राजा ने अपने राज्य में किसी भी ग्राम, पुर अथवा नगर में एक भी मन्दिर ऐसा नहीं छोड़ा था जिसमें की देवमूर्ति न तोड़ी गई हो ॥१०९५॥ राजा के उस उपद्रव से नगर में श्रीरणस्वामी तथा अन्य पत्तनों में श्रीमार्तण्ड केवल दो प्रभावशाली देवता ही बच गये थे ॥१०९६॥ किसी समय दान

के प्रसंग में उस त्यागशील राजा से परिहासपुर में उत्पन्न हुए सुप्रसिद्ध गायकवर कनक ने तथा अन्य नगरवासी कुलश्री नामक श्रमणक ने प्रार्थना करके बुद्ध भगवान की दो विशाल प्रतिमाओं को उस आपत्ति से बचा लिया था ॥१०६७, १०९८॥ सम्पूर्ण संसार की निगाह में चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली अद्भुत एवं असंख्य सम्पत्ति को प्राप्त करने पर भी उसकी अपेक्षा और भी विशेष सम्पत्ति को प्राप्त करने के लोभ में फँसे हुए लोग किसी भी प्रकार के दुष्कर्म करने में कसर नहीं रखते, श्रीकमला के लीलानिकेतन-गज-कमलों को प्राप्त करने के लिए कमलाकर (कमल-समूह) को उखाड़कर फेंक देने का पातक कर ही डालते हैं ॥१०९९॥ राजा हर्ष को उसके पितामह अनन्तदेव तथा पिता कलश के द्वारा संचित की गई एवं लोहराधीश उत्कर्ष जो असंख्य सम्पत्ति अपने साथ में लेकर आया था इस प्रकार अपरिमित कोशसम्पत्ति मिल गई थी इसके अतिरिक्त उसने उस सम्पत्ति को बढ़ाने के लिए प्राचीन राजाओं ने जो सम्पत्ति देव-मन्दिरों को अर्पण की थी वह भी छीन ली थी इतने पर भी उस लोभी ने प्रजा को कष्ट देकर जबरदस्ती से धन छीनने का इरादा किया था ऐसे राजा को धिक्कार हो ॥११००, ११०१॥ नाममात्र की उस राजा से आज्ञा लेकर उसके पापिष्ठ सचिवों ने प्रजापीड़क नवीन नवीन अधिकारियों को नियुक्त किया और उनके योग्य नाम भी रख दिये ॥११०२॥

राजसेवी लोग जैसा समय का प्रवाह देखते हैं उसी के अनु-

सार कार्य करने लगते हैं उनकी इस वृत्ति को धिक्कार है क्योंकि गौरक मन्त्री ने वयोवृद्ध एवं सदाचार सम्पन्न होकर भी अपने स्वामी की आज्ञा के अनुसार अर्थनायक पद को स्वीकार कर सब देव-मन्दिर की पूजा आदि प्रबन्ध के लिए दिये गये ग्रामों को अपहरण करने में सन्नद्ध हो कर कार्य करना शुरू किया ॥११०३-११०४॥ समरस्वामी के मन्दिर के पार्षद सहेलक के ऊपर विजय-मल्ल का आप्त समझ कर राजा नाराज था ॥११०५॥ इस लिए उसने द्विगुणित कर वसूल करके राजा को दे दिया इस कार्य से संतुष्ट होकर राजा ने उसे अर्थनायक बना दिया। पश्चात् वह क्रमशः राजा के पास पहुँच जाने के कारण बहुत बड़ा आदमी हो गया ॥११०६॥ और अधिक क्या कहा जाय ? सब प्रकार के नायकों नियुक्त करके सारी प्रजा को लूटते हुए उस राजा ने पुरीष नायक भी नियुक्त किया था ॥११०७॥ श्रीगर्भ मूलक प्रच्छन्न जाड्य के प्रभाव से उस हर्ष राजा के द्वारा सम्पादन की गई उस सम्पत्ति का उपयोग भी सम्पादन के अनुरूप ही होने लगा अर्थात् उस राजा ने अन्याय से जैसे धन एकत्रित किया था वैसे ही दुष्कृत्यों में वह उसको खर्च करने लगा ॥११०८॥ मृगलोचानाओं की दुर्लभता, अश्वों के श्वास, विट लोगों के दुर्वचनों का श्रवण एवं वैतालिकों की मिथ्या प्रशंसा को प्राप्त करने के लिए राजा लोग अपनी लक्ष्मी का व्यय करते हैं ॥११०९॥ प्रियतमाओं के कोप एवं प्रसाद के अन्वेषण में तथा अश्वगजादि वाहनों के वृत्तान्त को जानने में और सेवकों के चित्त की अनुवृत्ति में एवं मृगया

संबन्धी वार्ताओं में राजाओं का समय बालकों के समान व्यतीत होता है ॥१११०॥

राजा लोग विलास, हास, आसन, (बैठना) गमन, दान, पान और भोजन आदि भली-बुरी सब प्रकार की चेष्टाओं में छाया के समान दूसरों का अनुकरण करते हैं ॥१११॥ इसी प्रकार ये नरेन्द्र विटों के द्वारा की गई मिथ्या प्रशंसा से स्वयं को अतिमानुष समझ कर त्रिलोचन (शंकर) का अवतार अथवा विष्णु का अवतार मानने लगते हैं और मृत्यु को कुछ भी नहीं समझते ॥१११२॥ इन राजाओं पर रात के समय प्रमदाओं का अधिकार होता है और दिन में ये मन्त्रियों के अधीन रहा करते हैं फिर भी इनका भ्रम अत्यंत अद्भुत है क्योंकि ऐसी स्थिति में भी ये स्वयं को प्रभविष्णु समझते हैं ॥१११३॥ भूमिपाल एवं बालकों का स्वभाव एक-सा होता है वे मधुर भाषण करने वाले व्यक्ति को मधुर अर्थात् अच्छा समझते हैं और यदि किसी ने थूः किया तो उसके उत्तर में वे भी थूत्कार करने लगते हैं एवं त्रास देने पर त्रस्त होकर चिढ़ जाते हैं ॥१११४॥ राजाओं की जड़ता (मूर्खता) को लक्ष्य करके जो कटाक्ष किया जाता था वह राजा हर्षदेव की जड़ता के आगे तुच्छ प्रतीत होने लगा अर्थात् हर्षदेव की जड़ता अन्य राजाओं की अपेक्षा अत्यधिक बढ़ गई थी॥१११५॥ उस राजा ने उत्तम वाद्य बजाने वाले भीमनायक के वाद्य-पटहवाद्य से सन्तुष्ट होकर उसे एक हाथी और एक हथिनी दी ॥१११६॥ कनक नामक चम्पक का कनिष्ठ भ्राता गायन कला में हर्षदेव का

शिष्य बनगया था उसने बड़े परिश्रम से संगीत का अध्ययन किया था। उसके श्रम को सफल करने के लिए परमतेजस्वी एवं उदार राजा हर्षदेव ने एक लक्ष सुवर्ण दीनार पारितोषिक के रूप में प्रदान किये ॥१११७–१११८॥ किसी समय वह राजा कर्णाटक देश के शासक परमार्डि की चन्दला (चन्द्रलेखा) नामक सर्वाङ्ग-सुन्दरी पत्नी को चित्र में देख कर कामदेव के बाणों से घायल हो गया ॥१११९॥ धूर्त विट लोग विचारशून्य एवं मन्दमति राजाओं को मजाक-मजाक में कुत्तों के समान छू-छू करके प्रोत्साहित एवं संघर्ष के लिए उत्तेजित कर देते हैं ॥११२०॥

उस निर्लज्ज राजा ने विटों के प्रोत्साहन से उत्तेजित होकर अपनी राजसभा में चन्दला की प्राप्ति के लिए एवं परमार्डि को परास्त करने के लिए प्रतिज्ञा की ॥११२१॥ और भी उस राजा ने जब तक चन्दला की प्राप्ति न हो तब तक के लिए कच्चे कपूर का सेवन न करने के लिए भी प्रतिज्ञा की उस समय कविजन तथा चारणवृन्द ने स्तुति के मिस से किसी व्यक्ति विशेष को सम्बोधित करते हुए इस प्रकार उस राजा की हँसी उड़ाना प्रारंभ किया ॥११२२॥ "हे पथिक, भाषा तथा वेश से तुम दाक्षिणात्य दीखते हो और सुगन्ध से विदित होता है कि आपके हाथ में कपूर का गोला होना चाहिए यदि वह कपूर पका हुआ हो तो महाराज हर्षदेव को भेट कर दो नहीं तो अपने पास में ही रहने दो क्यों कि इस समय इस प्रकार का कपूर नारियल के अन्दर भी मिल सकता है ॥११२३॥ कर्णाटक देश के राजा परमार्डि का

वध करके चन्दला की प्राप्ति द्वारा उसके आलिंगन का सुख प्राप्त करना, कल्याणपुर में प्रविष्ट होकर पिप्पला देवी के दर्शन करना और उस राजा के उपवन में एकत्रित कर गुप्तरूप से रखी गई अपरिमित सम्पत्ति को अपने अधीन करना इन सब कार्यों के पूर्ण होने तक परम प्रतापशाली महाराज हर्षदेव ने पोतास कर्पूर का चर्वण त्याग दिया है ॥११२४॥ मदन नामक एक धूर्त विट कम्पनाधिपति के पद पर कार्य करता था उसने कहीं से चन्दला की तस्वीर प्राप्त कर ली थी और वह उस चित्रलिखित चन्दला का प्रतीहार बन बैठा था ॥११२५॥ वह उस चित्रमयी चन्दला के वस्त्रालंकार के लिए नित्य वेतन लेता था और ईर्ष्या के—मानके—शमन के लिए समय-समय पर कुछ पारितोषिक भी ले लिया करता था ॥११२६॥ इस बात से उस धूर्त विट की निर्लज्जता एवं चञ्चलता का पता लग जाता है और यही बात उस राजा की मूर्खता एवं सनकी स्वभाव को सूचित करती है ॥११२७॥ "यह चन्दला की माता है इसको हम आपके लिए स्वर्ग से यहाँ ले आये हैं" ऐसा कहकर कुछ धूर्त विटों ने एक वृद्धा को दिखलाकर उस मूर्ख राजा को ठग लिया था ॥११२८॥ "ये देवाङ्गनाएँ चन्दला की दासियाँ हैं" ऐसा कह कर कतिपय अन्य धूर्त विटों ने कुछ सुन्दरी देवदासियों को राजा के पास भेज दिया और उस राजा ने भी उन्हें वास्तव में देवता मानकर बहुत-सा धन भेंट किया तथा अपने महत्त्व को त्यागकर उनके चरणों में प्रणाम करने लगा इस कार्य से वह लोगों में हास्य का पात्र

बन गया ॥११२६॥ विटों की शिक्षा से वे देवदासियाँ राजा के मदन-जनित संताप को नष्ट करने के लिए मदन-पीड़ा-निवारक मन्त्रों को उसके संमुख पढ़कर उसकी बुद्धि को मोहित कर देती थीं ११३०॥

देवता बनने वाली उन दासियों की इच्छा के अनुसार उस भाग्यहीन राजा ने उनके साथ अंगसंग (संभोग) भी किया ॥११३१॥ वह मूर्ख राजा दीर्घायु बन कर चिरकाल तक जीवित रहना चाहता था इसलिए उन कुलटाओं ने उसे सौ वर्ष की आयुष्य का आशीर्वाद दे दिया ॥११३२॥ इसी प्रकार पिण्डसिद्धि को प्राप्त करने के लिए उत्सुक उस मूढ़ राजा को किसी डोम ने "यह रसायन पिण्डसिद्धि को देने वाला है" ऐसा कहकर वह रसायन पिला दिया ॥११३३॥ उस राजा की अन्य मूर्खताओं के विषय में क्या कहा जाय ? क्योंकि उसने विटों की याचना के अनुसार अपने कोश के धन के समान अपनी आयु भी उन्हें दे दी ॥११३४॥ बल एवं सौन्दर्य के इच्छुक उस राजा ने जिन अन्यान्य अयोग्यतम उपायों का सेवन किया था वे इससे भी अधिक लज्जाजनक हैं अतः उनका कौन सदाचारी मनुष्य वर्णन करेगा ? ॥११३५॥ इस प्रकार वह मूढ़मति राजा अपनी मूर्खता के द्वारा तथा दुष्ट सचिवों के द्वारा सर्वदा के लिए अन्धतामिस्र नरक में गिरा दिया गया था ॥११३६॥ जिस प्रकार प्राचीन काल के मेघवाहन आदि राजाओं के अलौकिक एवं अद्भुत कृत्यों के विषय में अल्पबुद्धि वाले लोगों के हृदय सन्देहदोलान्दोलित

हो जाते हैं ॥११३७॥ उसी प्रकार इस राजा के आश्चर्यकारक दुष्कृत्यों के वर्णन पर कुछ समय के बाद लोग अवश्य ही अविश्वास करने लगेंगे ॥११३८॥ इस प्रकार अनेक प्रकार के छल-कपटों से व्याप्त उस राज्य में दुर्नीति के आचरण से सत्पथभ्रष्ट होने पर भी वह राजा आयु के अवशिष्ट होने के कारण छिद्रान्वेषण परायण रिपुजनों के वशीभूत न हुआ ॥११३९॥ वह रात्रि के समय में नर्तकियों को नृत्य की शिक्षा देता था उस समय दीपकों के प्रखर प्रकाश से जगमगाते हुए राजभवन में स्वयं भी अभिनय करता हुआ बाहरी लोगों को भी स्पष्ट रूप से दीख पड़ता था फिर भी किसी शत्रु के बाण का लक्ष्य बन कर उसे न तो मरना पड़ा और न घायल होना पड़ा यह उसकी आयु के अवशिष्ट होने का परिणाम था या उसकी प्रजा के पापों का फल था ॥११४०–११४१॥

कुछ समय के बाद सब प्रकार की अपवित्रता के निवासस्थान उस राजा के अन्तःपुर में उसके अधःपतन का सूचक अन्तःपुर ललनाओं का चारित्र विप्लव होने लगा अर्थात् उस राजा की अन्तःपुर महिलाओं में व्यभिचार फैल गया ॥११४२॥ वहाँ के मदोन्मत्त तरुण पुरुष एवं यौवनमदोन्मत्त युवतियाँ राजा हर्षदेव के विनाश के लिए षड्यन्त्र रचने के लिए सन्नद्ध हो गये ॥११४३॥ उनमें से राजा ने कतिपय स्त्रियों को तथा उनके जारों को कठोर दण्ड दिया और कुछ युवक अपनी प्रेमिकाओं को अन्तःपुर में से उड़ाकर देशान्तर ले गये ॥११४४॥ अपनी दुश्चरित्रता के कारण

सभी सेवक राजा से साशंक होकर रहने लगे और अपनी चिन्ता को दूर करने के लिए उसके विनाश की इच्छा करने लगे ॥११४५॥ उस राजा की दुश्चरित्रता भी संपूर्ण संसार में उस हद तक प्रसिद्ध हो गई थी कि जहाँ तक कलश राजा के जैसे परम व्यभिचारी पुरुष के पुत्र की हो सकती है ॥११४६॥ उस दुष्ट राजा का बाल्यावस्था में जिन माताओं ने अपने उत्संग में बैठालकर वात्सल्य पूर्वक लालन-पालन किया था उन्हीं को उसने अपने उत्संग में बैठाल कर चुम्बन पूर्वक उनका सम्भोग किया ॥११४७॥ वह अपनी भगिनियों से भी संभोग करता था। एक बार कलशराजा की बहन की कन्या नागा ने उससे कुछ कठोर शब्द कहे थे उससे रुष्ट होकर उसे जबरदस्ती से पकड़ कर मँगवाया और उसके साथ बलात्कार से संभोग किया ॥११४८॥ उसने तुरुष्कशताधीश अर्थात् जिनके अधीन सौ-सौ तुर्क सिपाही रहा करते थे ऐसे सेवकों को नियुक्त किया था और वह उनको यथेष्ट धन देता था और वह दुष्टबुद्धि मृत्युकाल पर्यन्त ग्राम्यसूकरों का मांस भक्षण करता था ॥११४९॥ किसी समय राजपुरी के राजा की ओर से सेवा में कुछ त्रुटी हो जाने के कारण राजा हर्षदेव उस पर रुष्ट हो गया और उस मन्दबुद्धि ने राजपुरी पर आक्रमण करने के लिए प्रयाण किया ॥११५०॥

मार्ग में उसकी अनुपम सैन्यसामग्री को देखकर अन्य राजाओं के मनमें उसके विषय में त्रैलोक्य पर आक्रमण करने योग्य सामर्थ्य को धारण करने की आशंका होने लगी ॥११५१॥

वह राजा पृथ्वीगिरि नामक दुर्ग को मार्ग में देख कर उसे जीत लेने की आकांक्षा से राजपुरी को न जाते हुए उसी दुर्ग को चारों तरफ से घेर कर वहीं ठहर गया ॥११५२॥ एक मास से भी अधिक समय तक राजा ने उस दुर्ग को चारों तरफ से घेर रखा था इसलिए दुर्ग के अन्दर रहने वाले दुर्गरक्षकों के पास में की अन्न तथा अन्य सामग्री समाप्त हो चुकी थी और इससे वे व्याकुल हो गये थे ॥११५३॥ राजपुरी के राजा संग्रामपाल ने उनको सहायता देने के लिए खूब प्रयत्न किया तथा भयभीत होकर राजा को कर तथा बहुत कुछ अन्य सामग्री देना स्वीकार किया ॥११५४॥ परन्तु राजा ने हठ के कारण उसे स्वीकार नहीं किया और बहुत कठिन शर्तें उसके सामने रखीं तब उसने लाचार होकर लोभी दण्डनायक को रिश्वत देकर अपने अनुकूल बना लिया ॥११५५॥ दण्डनायक ने राजा से उस दुर्ग के घेरे को हटाने के लिए प्रार्थना की परन्तु राजा ने उसका बचन नहीं माना तब उसने धीरे से सैनिकों को राजा से प्रवास का विशेष वेतन माँगने के लिए प्रेरित किया ॥११५६॥ वे सैनिक प्रायः नीचे दर्जे के थे उन्होंने राजा को बुरी तरह से फटकारा और वे वेतन के लिए अड़ गये राजा का कोश वहाँ से दूर था इस लिए उन सैनिकों की इच्छा पूर्ण न हो सकी और उन्होंने हुल्लड़ मचा दिया ॥११५७॥ उसे शान्त करने के लिए राजा ने प्रयत्न प्रारम्भ किया इतने ही में दण्डनायक ने तुर्क लोग उपद्रव मचाने वाले हैं ऐसी अफवाह फैला कर राजा को डरा दिया ॥११५८॥ राजा में धैर्य की

मात्रा बहुत कम थी इसलिए वह डर कर अपनी सेना को वहाँ से हटाकर चल दिया और भयके कारण अपनी कोश सामग्री को उसने मार्ग में ही छोड़ दिया ॥११५६॥ जिस प्रकार नीचे दर्जे की तलवार युद्ध में धोखा दिये बिना नहीं रहती वैसे ही बिना परीक्षा किये ही बढ़ाया गया सेवक स्वामी को संकट के समय सहायता न देकर उसे और भी अधिक संकट में डाल देता है ॥११६०॥

प्रथम तो वह राजा स्वयं अयोग्य था और दूसरे वह अन्य योग्य व्यक्तियों को अपने पास रखना भी नहीं चाहता था इसलिए जिस प्रकार निम्न श्रेणी का अश्व अश्वशाला के सभी अश्वों को दूषित कर देता है वैसेही उस राजा ने राज्यवैभव को कलंकित कर दिया था ॥११६१॥ उस दिन से शान्तप्रताप उस राजा का पुराना "प्रतापचक्रवर्ती" यह प्रसिद्ध नाम सर्वत्र मलिन हो गया ॥११६२॥ उस समय लज्जा से म्लानवदन (मलिन मुख) वह राजा-जो कार्य स्वयं से तथा सम्पूर्ण सेवकों से सिद्ध न हो सका—उस कार्य को एकाकी हो कर भी सिद्ध कर देने वाले वीर कन्दर्प को अपने से श्रेष्ठ मानने लगा ॥११६३॥ राजा के मन में कन्दर्प को वापस बुलवाने का विचार उत्पन्न हुआ था परन्तु उस दुष्ट दण्डनायक ने उस मूर्ख राजा के सुविचार को अपनी पिशुनता (धूर्तता) से दबा दिया ॥११६४॥ जब उस दण्डनायक के कपटमय व्यवहार का राजा को पता लग गया तब राजा ने कुपित हो कर उसे कारागार में रख दिया परन्तु वह विवशता के कारण उसके अक्षम्य अपराध के अनुसार उसे पूर्णरूप से

उचित दण्ड न दे सका ॥११६५॥ उसे एक सुदृढ़ दुर्ग में रखा गया था वहाँ उसका जीवन एक प्रकार से खतरनाक परिस्थिति में ही था परन्तु फिर भी उस लोभी ने अपने सेवकों के द्वारा भेजे गये तांबूल, वस्त्र आदि का संग्रह करना चालू रखा था ॥११६६॥ पश्चात् कुछ दिनों के बाद उस मूर्ख राजा ने उस झूठे तथा लोभी सचिव को अपने नाश का प्रधान कारण होने से प्राणदण्ड देने के योग्य होने पर भी कारागार से मुक्त कर दिया और पुराने पद पर फिर से उसे नियुक्त भी कर दिया ॥११६७॥ घोषयात्रा में परास्त होकर वापस लौटकर आये हुए दुर्योधन को जिस प्रकार कर्ण आदि धूर्तों ने मिथ्या प्रशंसा द्वारा प्रोत्साहित किया था उसी प्रकार उस राजा को भी धूर्त विटों ने अपनी चाटुकारिता द्वारा पुनः उत्तेजित करना शुरू किया ॥११६८॥ वादविवाद में प्रतिवादी के द्वारा परास्त किया गया वादी प्रतिवादी को गालियाँ देने लगता है और शीलभ्रष्ट पत्नी मिथ्याकलह द्वारा अपने पति के मन को उद्विग्न करती है सब प्रकार के वैभव तथा महत्त्व को गवांने वाला कायस्थ (सचिव) राजा को संकट में फँसाकर अपने पराभव का प्रतीकार करने लगता है॥११६९॥ महत्तम मंत्री सहेल ने बहुत-सा राजकीय धन निज के काम-काज में खर्च कर डाला था उसका पता राजा को लग जायगा तो बड़ी दुर्दशा होगी इस भय से अपने बचाव के लिए उस स्वार्थचतुर मन्त्री ने राजा को अनेक दुर्व्यसनों की ओर ढकेलना शुरू किया ॥११७०॥

उस धूर्त मन्त्री ने दरद लोगों के छिद्र को ढूँढ कर राजा को लोहर प्रान्तवासी लवन्यों के सहित दुर्गघात नामक दुर्ग को अपने अधीन कर लेने के लिए प्रेरित किया ॥११७१॥ वह दुर्ग प्राचीन समय में अनन्तदेव की आज्ञा से द्वारपति जनक ने उसके रक्षक लक्कनचन्द्र नामक डामर को मार कर अधीन कर लिया था ॥११७२॥ पश्चात् उसकी पत्नी ने राजद्वार पर प्रायोपवेशन करके बड़े आग्रह से राजा कलश को वह दुर्ग समर्पित किया था परन्तु कलश ने उसकी उपेक्षा की इसलिए उस दुर्ग पर दरदराजा ने अपना अधिकार कर लिया था ॥११७३॥ उसके साथही साथ उस दुर्ग के नजदीक के काश्मीर राज्य की सीमा के बहुत से गाँव दबा लिये थे। इसलिए मन्त्री के कथन से राजा हर्ष ने उस दुर्ग को ले लेने के लिए उद्योग प्रारम्भ किया ॥११७४॥ उस दुर्ग में रहनेवाले लोग कृषकों के उपयोग के लिए बर्फ जमा कर रखते थे वह अनावृष्टि के कारण समाप्त हो चुका था ॥११७५॥ और इस बात की खबर गुप्तचरों के द्वारा सहेल को मिल चुकी थी इसलिए एकदम आक्रमण करने के लिए वह मंत्री राजा को बार-बार प्रेरणा करने लगा ॥११७६॥ उस समय चम्पक उस तरफ का द्वारपति था और वह इस आक्रमण के लिए जाना चाहता ही था। इतने में वातगंड आनन्द ने राजा की आज्ञा से उस पर अपना अधिकार कर लिया ॥११७७॥ राजा ने उसे द्वारपति के पद से हटाकर मण्डलेश के पद पर नियुक्त किया था वह उस प्रान्त के सभी द्वार-

पतियों से शत्रुता करता था ॥११७८॥ और उसने सेना में अव्यवस्था फैला रखी थी फिर भी द्वारपति चम्पक ने मधुमती नदी को पार करके अपनी सेना द्वारा उस दुर्ग को चारों तरफ से घेर लिया ॥११७९॥ राजा ने अपने सब सामन्तों को चारों ओर से एकत्रित करके वहाँ भेज दिया था और स्वयं सेना के मुकाम से एक मुकाम पीछे रहता था ॥११८०॥

दुर्ग के आश्रय में रहकर उपर से बड़े-बड़े शिला खण्डों को गिराते हुए दरद सैनिकों के साथ काश्मीर की सेना ने युद्ध करना प्रारम्भ किया ॥११८१॥ गुग का पुत्र मल्लराज उच्चल एवं सुस्सल नामक अपने दो पुत्रों के साथ प्राजिमठिका नामक मोर्चे पर रह कर अचानक दरदों पर दुःसह एवं अति भयंकर आक्रमण करता था ॥११८२॥ उसके पुत्र उच्चल और सुस्सल दोनों भविष्य में राज्याधिकार को प्राप्त करेंगे इस प्रकार ज्योतिषियों ने कह रखा था इसी आशा के अवलम्ब से वे दोनों वीर अपना प्रभाव एवं सम्मान बढ़ा रहे थे ॥११८३॥ उन दोनों में जो ज्येष्ठ भ्राता था वह राजा से मनमें द्वेष रखता था फिर भी होनहार की प्रबलता के वशीभूत होकर वह इस युद्ध में सम्मिलित हुआ था ॥११८४॥ अनावृष्टि से तथा उस प्रतापी राजा के प्रखर प्रताप से शोषित दरद सैनिक उस समय यथाकथंचित् उस दुर्ग की रक्षा कर रहे थे ॥११८५॥ उसके पश्चात् हर्षदेव के प्रताप का विरोध करने वाली विधाता की आज्ञा के समान जल एवं स्थल को एक कर देने वाली भयंकर पर्जन्यवृष्टि हुई ॥११८६॥ ऊपर की ओर जाते

हुए मानवों को नीचे की ओर गिरानेवाला एवं नीचे की ओर गिरते हुए मानवों को ऊपर की ओर उठाने वाला विधाता मानवों से मानों कन्दुककीड़ा करता है ॥११८७॥ उस वृष्टि से सम्पूर्ण दुर्ग का शिखर दुर्भेद्य बर्फ की बड़ी-बड़ी चट्टानों से अच्छादित हो गया अनुकूल दैवने उस दुर्ग के लिए बर्फ को संरक्षक-सा बना दिया था ॥११८८॥ उस भयंकर जलवृष्टि से व्याकुल हुए उन दुष्ट मंत्रियों को अपने घर की याद आने लगी और उन धूर्तोंने राजा की सेना में पूर्ववत् गड़बड़ी मचाना शुरू कर दिया ॥११८९॥ जिस प्रकार जलस्रोत के ऊपर की तरफ जानेवाला मत्स्य पर्वतीय शिलाखण्ड से प्रताड़ित होकर वापस आ जाता है उसी प्रकार वह राजा भी विजय की आशा को छोड़कर वहाँ से वापस चल दिया ॥११९०॥

राजा का सम्पूर्ण सैन्य अपना सब सामान, सब कीमती वस्तुएँ, सब हथियार एवं कोशराशि को छोड़ कर तत्काल पलायन-परायण हो गया ॥११९१॥ मार्ग में कोलाहलमय आक्रन्द करते हुए तथा शत्रुसैनिकों के द्वारा अनुसरण किये गये तथा भिन्न-भिन्न मार्गों से भागते हुए राजा के सैनिकों को बर्षा के प्रभाव से बढ़ी हुई मधुमती नदी ने अपने उदर में समाविष्ट कर लिया अर्थात् वे उस नदी में डूब गये ॥११९२॥ उस समय वह मधुमती नदी राजा के सैनिकों के द्वारा त्याग किये गये क्षौमवस्त्रों से हंस माला समेत-सी ढालों के समूह से कमल समूह सहित-सी खड्ग-समूहों से शैवलयुक्त सी अश्वों से शिलाखण्ड मण्डित सी सुवर्ण

पात्रों से चक्रवाक विभूषित सी और रजतमय पात्रों से फेन पटल सुमण्डित सी दीखने लगी थी ॥११६३-११६४॥ उस समय विजयी दरद वीरों के द्वारा मारे गये तथा जीवित अवस्था में पकड़े गये एवं नदी के द्वारा बहा दिये गये हर्ष के सैनिकों की गणना करना भी कठिन एवं अशक्य था ॥११९५॥ इस प्रकार अनाथ के समान दुर्दशाग्रस्त उस राजा के सैन्य को उस एकाकी स्वाभिमानी मल्ल के वीर पुत्र उच्चल ने अपने भ्राता सुस्सल की सहायता से बचाने का साहसपूर्ण उद्योग किया ॥११९६॥ उस हर्ष के सैन्य रूपी विश्वपर आक्रमण करने के लिए उद्युक्त एवं जोरों से लहराते हुए दरद सैन्यरूपी महासागर को उन दोनों वीर भ्राताओं ने वेलाद्रि के समान अचल बनकर वहीं रोक दिया ॥११९७॥ इस प्रकार राजा के सैन्य की रक्षा करके वे जब वापस आये तब उनकी खूब प्रसिद्धि हो गई और राजश्री पतिंवरा कन्या के समान उनके चमकते हुए तेज से उद्दीप्त दीखने लगी ॥११९८॥ उस दिन से सब लोगों के मन में यह सुदृढ़ विश्वास हो गया कि ये दोनों स्वाभिमानी वीररत्न ही राज्याधिकार के योग्य हैं और यह कायर राजा हर्षदेव राज्याधिकार के लिए सर्वथा अयोग्य है ॥११९९॥ इस प्रकार वीरता का कार्य करके भी वे दोनों वीर राजा से मिलने को नहीं गये और न उन्होंने पारितोषिक प्राप्त करने की अभिलाषा की इससे लोगों के मनमें उनके प्रति श्रद्धा अधिक दृढ़ हो गई ॥१२००॥

उसके बाद वह राजा शत्रुओं के त्रास से मुक्त होकर अपनी

राजधानी में प्रविष्ट हुआ और मल्लराज के पुत्रों का प्रताप सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया ॥१२०१॥ उन दोनों भ्राताओं के भावी उत्कर्ष के अनुरूप सब लोग उनको राम-लक्ष्मण की उपमा से अलंकृत करने लगे तथा हर्षदेव को उसके भावी अपकर्ष के अनुरूप रावण की उपमा दी जाने लगी ॥१२०२॥ उसके बाद मूर्ख एवं निर्लज्ज वह राजा नित्यकर्म के समान खेद रहित होकर फिर से अपनी प्रजा को कष्ट देने लगा ॥१२०३॥ थोड़े से अपराध के लिए भी नीच मनुष्य अपने नजदीक के सेवक को मार डालता है परन्तु अधिक अपराध करने वाले दूर देश के शत्रु को नहीं। तीक्ष्ण क्रोध करने वाला कुत्ता अपने पास में गिरते हुए पत्थर को काटने दौड़ता है परन्तु दूर से उस पत्थर को फेंकने वाले मनुष्य पर क्रोध नहीं करता ॥१२०४॥ राजा ने मदन की सेवा से प्रसन्न होकर उसे कम्पनेश का पद प्रदान किया था परन्तु राजा जब दरद युद्ध से वापस लौटा तब उसे पता लगा कि मदन ने उसके पराजय के विषय में स्पष्ट रूप से आलोचना की ॥१२०५॥ इसलिए वह राजा मदन पर बहुत नाराज होगया और उसने उसकी हत्या कर डालने का निश्चय किया और उस पर यह आरोप रखा गया कि उसने महारानी की ओर से भेजे गये आज्ञापत्र का उल्लंघन किया है ॥१२०६॥ मडव राज्य से वापस आने पर मदन राजा से मिलने को गया था तब राजा ने उसके साथ अच्छी तरह से बात-चीत नहीं की इसलिए उसके मनमें शंका तथा भय उत्पन्न होगया और वह टक्कदेशवासी

लक्ष्मीधर मंत्री के घर में जाकर रहने लगा ॥१२०७॥ उसको क्षमा कर देने के लिए मंत्री ने राजा से बहुत प्रार्थना की फिर भी राजा ने उस प्रार्थना की ओर किञ्चित्मात्र भी ध्यान न दे कर मदन को पुत्र समेत मरवा डाला इस घटना को देख कर सैनिक लोग भी राजा की मूर्खता पर हँसने लगे थे ॥१२०८॥ असमय में वृक्षों का फूलना, राजा का कोपस्मित (क्रोधपूर्वक रूक्ष हास्य) तथा बैताल का अट्टहास ये सब कदापि घातक हुए बिना नहीं रह सकते ॥१२०९॥ लोग "हम पर राजा का अत्यधिक प्रेम है" ऐसा समझकर अभिमानपूर्वक राजा की हर तरह सेवा करते हैं उन लोगों को सर्प का मंत्र जानने से सर्प के काटने की पर्वाह न करने पर अन्त में सर्पदंश से मृत्यु को प्राप्त होने वाले मांत्रिक के समान दुर्दशा का अनुभव करना पड़ता है ॥१२१०॥

इस प्रकार अनन्तदेवकी पत्नी महारानी सूर्यमती का शाप राजा कलश के अन्तिम परामर्शदाता (सलाहकार) एवं पिशुन (चुगुलखोर) मदन को फलीभूत हुआ ॥१२११॥ वह राजा पराक्रमी पुरुष को देखकर अपने मनमें भय से काँप उठता था इसी कारण से उसने अपने वीर मन्त्री कलशराज को लक्ष्मीधर मंत्री के भवन में हथकड़ी और बेड़ी पहनाकर कैद में रख दिया ॥१२१२॥ और वहाँ उसको अपमानित करने के लिए उसके विरोधी उदय नामक सचिव को उस राजा ने शिक्षा देने के मिस से उसके पास भेजा ॥१२१३॥ उदय मंत्री को लक्ष्मी के मद से

उद्धत एवं जाज्वल्यमान (चमकता हुआ) देखकर स्वाभिमानी कलशराज क्रोध से जल उठा और उसने अपने पास खड़े हुए एक सेवक के हाथ से तलवार छीन कर तत्काल उसका सिर काट डाला ॥ १२१४ ॥ उस घटनाके बाद उदयमंत्री के सेवकों ने कुपित होकर उसे पृथ्वी पर गिरा दिया और मार डाला। इस प्रकार उस दुर्बुद्धि राजा के दो मंत्री एक दम मारे गये ॥ १२१५ ॥ राजा की ओर से किये गये अत्याचारों से पीड़ित उस काश्मीर मण्डल में घाव पर नमक छिड़कने के समान अनेक अन्यान्य दुःख परम्पराएँ प्रकट होने लगीं ॥ १२१६ ॥ जिन लोगोंने सूर्य के मौजूद रहते हुए भी अर्थात् दिनदहाड़े राजभवन में से सोने की थाली चुराली ऐसे भयानक चोर धनिक नागरिकों को लूटने लगे ॥ १२१७ ॥ इस उपद्रव के साथ ही महामारी का भी वहाँ आगमन हुआ। सर्वत्र हाहाकार मच गया। यत्र तत्र रोदन-ध्वनि तथा प्रेतवाद्यों की भयानक आवाज श्रवण-गोचर होने लगी ॥ १२१८ ॥ लौकिक वर्ष ४१७५ में सम्पूर्ण काश्मीर मण्डल के सभी ग्राम नदियों की बाढ़ से डूब गये, सब वस्तुओं का घोर दुर्भिक्ष हो गया ॥ १२१९ ॥ पाँच सौ दीनारों के देने पर एक खारी तण्डुल मिलने लगे और दो पल द्राक्षारस का एक दीनार मूल्य हो गया था ॥ १२२० ॥

६ दीनार दे देने पर एक पल ऊन मिल सकता था और लवण, मरिच, हींग आदि वस्तुओं का तो नाम मात्र के लिए भी दर्शन नहीं हो सकता था ॥ १२२१ ॥ नदी का जल फूले हुए एवं

सड़कर सर्वत्र भयंकर दुर्गंध को फैलाते हुए शव शरीरों से आच्छादित हो गया था। उन शवों का समूह पर्वत पर से टूट कर एवं बह कर नीचे की ओर आये हुए देवदारु वृक्षों के वन के समान दीखता था ॥ १२२२ ॥ राजा ने "इन वृक्षोंके व्यवधान से राजधानी दूर से नहीं दीख सकती है" ऐसा सोचकर नगर के चारों तरफ लगे हुए हरे भरे वृक्षों को काट डालने का आदेश दे दिया ॥ १२२३ ॥ अपने अपने बाल-बच्चों के सहित घर में रहते हुए सद्-गृहस्थों के समान पुष्प एवं फलों से परिपूर्ण वृक्षों को राजाज्ञा से काट डाला गया। इस दुर्घटना से दुःखित होकर मधुकर वृक्षों के लिए कुटुम्बी जनों के समान स्थान-स्थान पर शोक करने लगे ॥ १२२४ ॥ इस प्रकार अत्यन्त पीड़ित प्रजा पर भी वह दुष्ट राजा हल के भारको खींचते खींचते शिथिल हुए वृद्ध वृषभ के मस्तक पर पाषाण-ताड़न के समान प्राणघातक अत्याचार करता था ॥ १२२५ ॥ उसने कायस्थ कर्मचारियों के द्वारा अनेक प्रकार के कर वसूल कर करके प्रजा को इतना त्रास दिया कि नगर तथा ग्रामों की मृत्तिका भी राजकीय कर के बिना न रह सकी ॥१२२६॥ उसके पश्चात् डामर लोगों को उद्धत होते देख उस राजा ने साक्षात् यमराज का रूप धारण कर उस प्रान्त के मण्डलेश्वर आनन्द को उनका उच्छेद करने के लिए आदेश दिया ॥ १२२७ ॥ उसने राजाज्ञा के अनुसार सर्व-प्रथम मडव-राज्यान्तर्गत होलडा प्रान्त के बहुत से डामरों को घोंसलों में रहते हुए पक्षियों के समान अपने अपने स्थानों पर रोक कर

वहीं मार डाला ॥ १२२८ ॥ इस प्रकार जब वह लवन्य डामरों का नाश कर रहा था उस समय यदि कोई ब्राह्मण भी अपने केशों को ऊपर की ओर बाँधकर एवं विकट आकृति को धारण कर मडव प्रान्त की ओर से निकलता था वह भी उसके द्वारा जीवित नहीं छोड़ा जाता था ॥ १२२९ ॥ लवन्य डामर मानकर बेचारे निरपराध पथिक लोग भी सूली पर चढ़ा दिये जाते थे, इसलिए प्रदेश भैरव की पाकशाला के समान भयंकर एवं शून्य अरण्य सा दीखने लगा ॥ १२३० ॥

उसने एक लवन्य जातिकी क्रूर स्त्री को बड़ी निर्दयता के साथ सूली पर चढ़ा दिया था। इस घटना से सब लवन्य उस मण्डलेश्वर से डर कर अन्यत्र भाग गये ॥ १२३१ ॥ उनमें से कुछ लोग म्लेच्छ देशों में जाकर गो-मांस भक्षण करने लगे और कुछ लोग चक्की पीसने लगे एवं कुछ लोग रहट चलाने लगे ॥ १२३२ ॥ मण्डलेश्वर आनन्द ने उस हर्षदेव रूपी भैरव के पास उपायन के रूप में अनेक लवन्यों के मस्तकों की अखण्ड मुण्डमालाएँ भेजीं ॥ १२३३ ॥ राजद्वार पर चारों तरफ घंटाओं के समान डामरों की करोटियों से (खोपड़ियों से) बनी हुई तोरणावलियाँ दृष्टिगोचर होती थीं ॥ १२३४ ॥ जो कोई मनुष्य डामर का सिर काट कर लाता था उसे परितोषिक के रूपमें देने के लिए सुवर्ण कंकण तथा वस्त्र आदि राजमहल के द्वार पर लटका दिये गये थे ॥ १२३५ ॥ डामरों के मुण्डों से चिपके हुए माँसको भक्षण करने के लिए सुविस्तृत-नृमुण्ड-तोर-

णावली पर बैठे हुए गृध्र, कंक आदि पक्षिगण राजद्वार का सेवन करने लगे ॥ १२३६ ॥ राज्य में भ्रमण करते समय राजा हर्षदेव का जहाँ जहाँ मुकाम होता था वहाँ वहाँ के लोग उसके स्वागत के लिए लवन्य डामरों के मुण्डों से बनी हुई बड़ी बड़ी तोरणावलियाँ दरवाजों पर लटकाते थे ॥ १२३७ ॥ स्मशान के समान मृत शरीरों से व्याप्त उस भयंकर मण्डल में सड़े हुए शवों की दुर्गन्ध से नासिका एवं चिल्लाते हुए शृगालों की भयानक आवाज से कानों को दुःसह त्रास होता था ॥ १२३८ ॥ उस क्रूर मण्डलेश्वर ने बलेरक प्रपा नामक प्रान्त से लेकर लोक-पुण्य पर्यन्त के मार्ग में दोनों तरफ डामरों को सूली पर चढ़ा कर मार्ग के दोनों तरफ की सीमा-सी बना दी थी ॥ १२३९ ॥ इस प्रकार उसने मडव राज्य के डामरों का सत्यानाश करके क्रम राज्य में भी उसी प्रकार डामरों की दुर्दशा करने के लिए तत्काल प्रयाण किया ॥ १२४० ॥

क्रम राज्य के डामरों को अपने अवश्यंभावी मरण का निश्चय हो चुका था, इसलिए उन्होंने लौलह नामक स्थान पर एकत्रित हो कर विशाल सेना का संग्रह किया ॥१२४१॥ और वे अपने मोर्चे पर डट कर उसके साथ लड़े तथा खूब जोरों से मार-काट मचादी, इसलिए मण्डलेश्वर आनन्द को कई दिनों तक वहाँ रुक जाना पड़ा ॥१२४२॥ उस हर्षदेव के विषय में और अधिक क्या कहा जाय ? हमारे मत से इतनाही कहना पर्याप्त होगा कि कोई राक्षस देवता तथा ऋषियों से पूजित इस पवित्रतम काश्मीर

मण्डल को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए हर्षदेव के रूप को धारण कर यहाँ उत्पन्न हुआ है ॥१२४३॥ क्योंकि रात्रि के समय उल्लास, दिन में शयन, क्रूरता, औद्धत्य, बोलचाल में क्षुद्रता और यमराज के करने योग्य कार्य में (मनुष्यों के प्राण हरण करने में) प्रीति इत्यादि राक्षसोचित धर्म उस हर्ष को अत्यंत प्रिय थे—ऐसा तात्कालिक विद्वानों का कथन है ॥१२४४, १२४५॥ उसी समय में यौवन के मद से उन्मत्त मल्लराज का कनिष्ठ पुत्र सुस्सल लक्ष्मीधर मंत्री की पत्नी का प्रणय-पात्र बन गया था ॥१२४६॥ सुस्सल लक्ष्मीधर मंत्री का पड़ोसी था, इसलिए उसकी पत्नी उस सुन्दर एवं युवक राजकुमार पर अनुरक्त हो गई थी। उसको बन्दर के समान कुरूप अपना पति अच्छा नहीं लगता था ॥१२४७॥ लक्ष्मीधर मंत्री को इस रहस्य का पता लग चुका था, इसलिए ईर्ष्या से कुपित हो कर उसने राजा से कहा "महाराज, आपने बहुत से अगण्य (गणना करने के लिए अयोग्य अर्थात् यःकश्चित्) ज्ञाति बान्धवों का तो वध कर डाला, तब उद्धत स्वभाव एवं भविष्य में राज्याधिकार को प्राप्त करने के योग्य इन उच्चल एवं सुस्सल दोनों भ्राताओं का आप वध क्यों नहीं करवाते ?" इस प्रकार के मंत्री के वचन को सुनकर भी इसके पूर्व मार डाले गये बांधवों की हत्या के पश्चात्ताप से व्याकुल हुए उस राजा ने क्रोध नहीं किया ॥१२४८, १२४९॥ लक्ष्मीधर ने इस विषय में दूसरों के द्वारा भी राजा को सूचित किया और स्वयं भी कई बार कहा फिर भी राजा ने कई दिनों तक इधर ध्यान नहीं दिया; क्योंकि उनके शौर्य एवं औद्धत्य को सोच

कर उनको मरवाने की हिम्मत नहीं होती थी ॥१२५०॥

पश्चात् थोड़े समय में ही ज्ञातिप्रीति, अनुवृत्ति, उपकृति इत्यादि सब कुछ भूलकर मंत्रियों की सलाह से राजा ने उन दोनों को मरवा डालने का निश्चय किया ॥१२५१॥ राजा के इस दुष्ट अभिप्राय को उनके साथ प्रेम करने वाली थक्कना नामक वेश्या ने उनसे कह दिया ॥१२५२॥ और उनके मित्र दर्शनपाल ने भी उस विषय में उनके संशय को दूर कर दिया। तब वे दोनों रात में दो तीन सेवकों को साथ में लेकर वहाँ से चल दिये ॥१२५३॥ वे दोनों वीर लौकिक वर्ष ४१७६ के मार्गशीर्ष मास में नगर से निकल कर उत्रास ग्रामवासी डामरों के वहाँ पहुँच गये ॥१२५४॥ वहाँ से अपने छोटे भ्राता सिल्लराज के साथ द्रोह करने की इच्छा से प्रशस्तराज नामक लवन्य डामर ने उन दोनों को फुसला कर दूसरे प्रान्त में भेज दिया ॥१२५५॥ उसके बाद ज्येष्ठ भ्राता उच्चल राजपुरी को गया और कनिष्ठ भ्राता सुस्सल कालिंजर को चला गया ॥१२५६॥ काश्मीर की राजधानी से उन दोनों के चले जाने पर किसी को भी राजा का विश्वास न रहा तथा शकुन शास्त्र के जानकार राजा हर्ष के मन में भी अपशकुनों को देखकर शंका होने लगी ॥ १२५७॥ उस राजा ने लक्ष्मीधर के मार्फत राजपुरी के राजा संग्रामपाल को धन देकर उच्चल को मार डालने के लिए कहलाया ॥१२५८॥ संग्रामपाल ने आये हुए उच्चल का प्रथम तो थोड़ा ही आदर किया, परन्तु जब हर्ष का भय लगने लगा तब वह उसका अत्यधिक आदर करने लगा ॥ १२५९॥ दैवयोग

से धैर्यहीन बन कर दुष्ट मनुष्य शंका एवं भय प्रकट करने लगता है, तब उसी कारण से वह उदयोन्मुख शत्रु के महत्त्व को अधिक बढ़ा देता है ऐसी घटनाएँ इस संसार में हुआ करती हैं ॥१२६०॥

राजपुरी के लोग काश्मीर में होनेवाले अनर्थों का अपने हृदय से अभिनन्दन करते थे और फिर हर्ष का प्रबल शत्रु उच्चल जब वहाँ पहुँच गया था तब वहाँ के षड्यंत्रों का क्या कहना ? ॥१२६१॥ उसके बाद उच्चल ने अपने पास आने जाने वाले कतिपय पक्षपाति लोगों के द्वारा डामरों को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया ॥१२६२॥ राजा के अत्याचार से पीड़ित डामर उच्चल के आश्रय को प्राप्त करने के लिए बड़े उत्साह के साथ अपने दूतों के मार्फत तथा उसके अन्तरंग मनुष्यों के द्वारा अनेक उपायन भेज कर उससे काश्मीर को वापस आने के लिए प्रार्थना करने लगे ॥ १२६३॥ सूर्यवर्मचन्द्र के पुत्र जनक नामक डामर ने भी अपने चतुर दूतों के द्वारा उसे काश्मीर को वापस आने के लिए प्रोत्साहित किया ॥१२६४॥ डामरों के दूतों को आते हुए देख कर संग्रामपाल ने हर्ष का भय त्याग दिया और वह प्रकट रूप से उच्चल का अत्यधिक गौरव करने लगा ॥१२६५॥ उसने कार्यगौरववशात् नम्रतापूर्वक मस्तक पर कर्पूर-चूर्ण चढ़ा कर उसे अभय दान दिया। युद्ध के लिए विजय प्रयाण करने को कहता ही था ॥१२६६॥ इतने में उस प्रान्त के प्रधान ठक्कुर कलशराज को हर्ष ने धन देकर संग्रामपाल के पास भेजा। उसने एकान्त में संग्रामपाल से कहा ॥१२६७॥ आप राजा

हर्षदेव के आराधन को छोड़कर इस उच्चल की भलाई क्यों चाहते हैं ? यह कामधेनु को त्याग कर बकरी की सेवा के समान अति तुच्छ कार्य है ॥१२६८॥ काश्मीर के राजाओं के आगे वह क्या है ? उस बेचारे में क्या शक्ति ? इसलिए राजा हर्ष की आराधना करके आप स्वयं को निर्भय बना लीजिए ॥१२६९॥ उच्चल को राजगिरि के दुर्ग में रख लीजिए, जिससे हर्ष को भी डर बना रहेगा और वह हमारा स्थायी मित्र बनकर हमारे कथनानुसार चलता रहेगा ॥१२७०॥

इस प्रकार कलशराज ठक्कुर के वचन सुनकर स्वार्थी एवं विवेकशून्य उस खशों के राजा संग्रामपाल ने 'तथास्तु' कह कर उसके कथन को स्वीकार कर लिया ॥१२७१॥ और उसने कलशराज को स्पष्ट रूप से कहा कि मैं उस बलशाली वीर उच्चल को कैद करने में सर्वथा असमर्थ हूँ, इसलिए मैं आपके पास उसे किसी बहाने से भेज दूँगा। आप ही उसे कैद कर लेना ॥१२७२॥ ऐसा कह कर संग्रामपाल ने कलशराज को अपने स्थान पर वापस रवाना किया और उच्चल से कहा कि आप कल प्रातःकाल में कलशराज ठक्कुर से अवश्य मिल लीजिएगा ॥१२७३॥ क्योंकि वह इस प्रदेश का प्रधान अधिकारी है, उससे मिल लेने पर आप यहाँ भविष्य के लिए निरापद हो जावेंगे और बाद में मैं भी आपके शत्रुपक्ष का विनाश करने के लिए अपने सैनिकों को सहायतार्थ देकर आपको दुश्मन पर चढ़ाई करने के लिए भेज सकूँगा ॥१२७४॥ संग्रामपाल के कथनानुसार दूसरे दिन उच्चल

जब कलशराज ठक्कुर से मिलने के लिए रवाना होने लगा, तब उसे अनेक अपशकुन हुए और उसे अपने विश्वासपात्र मित्रों के द्वारा गुप्त रूप से इस षड्यन्त्र का पता भी लग गया ॥१२७५॥ रहस्य-भेद हो जाने के कारण वह संग्रामपाल के पास जाने के लिए वापस चला। इस बात को सुन कलशराज क्रुद्ध होकर सेना समेत उसपर आक्रमण करने के लिए रवाना हुआ ॥१२७६॥ वीरश्रेष्ठ उच्चल भी कलशराज को अपने पर आक्रमण करने के लिए आते देखकर अपने भृत्यवर्ग समेत उसका सामना करने के लिए डट गया ॥१२७७॥ पश्चात् उन दोनों के संघर्ष को प्रारंभ होते देख संग्रामपाल ने मध्यस्थ बनकर उच्चल को शान्त किया और कलश-राज के सहित उसे अपने दरबार में ले गया ॥१२७८॥ उच्चल के सेवक उससे "उस तरफ जाना ठीक नहीं है" ऐसा कहते थे; परन्तु उसने उन्हें फटकार दिया और वह सज्ज हो कर उस खशराज (संग्रामपाल) के दरबार में गया। उस समय क्रोध से उच्चल के अधरोष्ठ का कंपन हो रहा था॥१२७९॥ वहाँ पर प्रलयकालीन सूर्य के समान अतिशय तीक्ष्ण एवं तेजोनिधि उस कोपायमान वीर उच्चल की ओर संग्रामपाल अथवा कलशराज ठक्कुर दोनों देख नहीं सकते थे ॥१२८०॥

पश्चात् एकांत में उस महान् तेजस्वी वीर उच्चल ने सान्त्वना प्रदान करते हुए मंत्रि समेत खशाधीश संग्रामपाल से क्रुद्ध होकर कठोर शब्दों में कहा ॥ १२८१ ॥ बहुत समय के पूर्व दार्वाभिसार देश में नर नामक भारद्वाज गोत्री राजा

था। उसका पुत्र नरवाहन हुआ और उसके यहाँ फुल्ल नामक पुत्र ने जन्म लिया ॥१२८२॥ फुल्ल के यहाँ सातवाहन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और सातवाहन का पुत्र चन्द हुआ, एवं चन्द का चन्दुराज और चन्दुराज के गोपाल तथा सिंहराज नामक दो पुत्र हुए ॥१२८३॥ सिंहराज के अनेक पुत्र हुए। उसने अपनी कन्या दिद्दा का क्षेमगुप्त नामक काश्मीर-नरेन्द्र के साथ विवाह किया। उस दिद्दारानी ने अपने पति का स्वर्गवास हो जाने के बाद पुत्र न होने के कारण अपने भ्राता उदयराज के पुत्र संग्रामराज को राज्याधिकारी बनाया और दिद्दा के दूसरे भ्राता कान्तिराज के यहाँ जस्सराज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१२८४,१२८५॥ संग्राम-राज का पुत्र अनन्तदेव हुआ। वैसे ही जस्सराज के तन्वंग एवं गुंग नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। अनन्तदेव से कलशराज का तथा गुंग से मल्लराज का जन्म हुआ ॥१२८६॥ कलशराज से हर्षदेव आदि की उत्पत्ति हुई है, वैसे ही मल्लराज के पुत्र हम दोनों भाई उच्चल और सुस्सल हैं। इस प्रकार वंशपरम्परा का सुस्पष्ट क्रम होने पर भी हमारे विषय में "ये काश्मीर राजवंश के कौन हैं" इस प्रकार मूर्ख लोग प्रश्न करने लगते हैं ॥१२८७॥ यह वसुंधरा वीर भोग्या है। इसमें वंश-परम्परा के क्रम का कहाँ उपयोग होता है और वीर पुरुष के लिए अपनी दोनों भुजाओं के अतिरिक्त दूसरा कौन सहायक हो सकता है ॥१२८८॥ मैंने आजतक दयनीय एवं शोचनीय लोगों के सम्मुख अपने सिर पर हाथ रखकर निज काश्मीर राजवंश को कलंकित नहीं किया है, यह वास्तव में हर्ष का विषय है

॥१२८९॥ अब आप लोग मेरी कर्तृत्व शक्ति को देखियेगा—ऐसा कहकर वह वीर उच्चल अपने १०० सौ पदाति सैनिकों को साथ लेकर विजय प्राप्त करने के लिए वहाँ से चल दिया ॥१२९०॥

मार्ग में सर्वप्रथम उसके सम्मुख मारे गये शश (खरगोश) को हाथ में लिये हुए शिकारी आया। उस शुभ शकुन को देखकर वह शत्रु के राज्यवैभव को अपने अधीन हुआ-सा मानने लगा ॥१२९१॥ मार्ग में काश्मीर राज्य से निर्वासित किये गये वाट्टदेव आदि डामर रहट खींचना, चक्की पीसना आदि कार्यों को त्याग कर उसके साथी बन गये ॥१२९२॥ उस समय संग्रामपाल नगर के बाहर अपने कटक (छावनी) में था। वहाँ से उच्चल राजपुरी में आया। वहाँ संग्रामपाल की रानियों ने उसका स्वागत किया और उसे खिन्न देखकर अनेक प्रकार के आश्वासन देकर प्रसन्न किया ॥१२९३॥ वहाँ भोजन करके सायंकाल के समय वह अपने निवासस्थान की ओर जाने के लिए रवाना हुआ ही था कि इतने में कलशराज ठक्कुर के सैनिकों ने उसपर आक्रमण किया॥१२९४॥ इस घटना को देखकर संग्रामपाल की रानियों ने उसे वहीं रोक लिया और दरवाजा बंद कर दिया। वहाँ पर उसके सैनिक तथा कलशराज के सैनिकों की खूब लड़ाई हुई। उसमें लोष्ठावट्ट आदि उच्चल के सैनिक मारे गये ॥१२९५॥ पश्चात् प्रधानों ने मध्यस्थ बन कर उस संघर्ष को शान्त करवा दिया। उसके सैनिक पहिले ही से अल्पसंख्यक थे और उस युद्ध में मारे जाने के कारण और भी अत्यल्प रह गये ॥१२९६॥ चैत्र मास की पूर्णिमा के दिन

उसे इस संकट का अनुभव करना पड़ा, परन्तु उसने किसी प्रकार से भी त्रस्त एवं विह्वल न होकर वैशाख कृष्ण ५ पंचमी को विजय के लिए पुनः प्रयाण किया ॥१२९७॥ उसने वाट्टदेव आदि अपने अनुयायियों को अपने अपने मार्ग से लूट मार आदि उपद्रव करते हुए आने का आदेश देकर स्वयं क्रमराज्य के मार्ग से काश्मीर देश में प्रवेश करने का इरादा किया ॥१२९८॥ राजा हर्षदेव ने उदयसीह के मरने के बाद क्षेमराज के पुत्र कपिल को लोहर प्रान्त का द्वारपति नियुक्त किया था। उसने अपनी समी को उल्लङ्घन कर काश्मीर में प्रविष्ट होते हुए उच्चल को देखकर भी नहीं रोका॥१२९९॥ वह स्वयं सबसे पहिले अग्रेसर बन कर ढाल और तलवार हाथ में लेकर चल दिया, बाद पर्णोत्स प्रदेश में कपिल के राजपक्षीय सैनिक तथा उच्चल के डामर सैनिकों का संघर्ष हो गया उसमें वीर उच्चल ने शत्रु-पक्ष के लोगों को मार भगाया ॥१३००॥

सुज्जक नामक राजा का द्वारपति निःशंक होकर बैठा था। उसे उच्चल ने बाँध लिया और आमिषाकांक्षी (मांसार्थी) श्येन पक्षी के समान वह काश्मीर देश पर झपटा ॥१३०१॥ उसे आया हुआ देख राजा के विरोधी डामर एवं खाशक लोग चारों तरफ से तत्काल उसके पास एकत्रित होकर सहायता के लिए सन्नद्ध हो गये ॥१३०२॥ अकस्मात् आकाश से गिरे हुए-से अथवा भूविवर में से प्रकट हुए-से उस उच्चल को सहसा असंभावित रूप से आते देखकर राजा हर्षदेव भय से काँपने लगा ॥१३०३॥ "शायद यह

उच्चल क्रमराज्य के मण्डलेश आनन्द का वध न कर डाले ? और इस कार्य से शायद यह अपनी जड़ को मजबूत न कर ले ?" इस प्रकार सोचकर वह राजा अत्यंत व्याकुल हो गया ॥१३०४॥ दण्डनायक को सैनिकों को एकत्रित करने में विलम्ब करते देख कर राजा ने पट्ट को बहुत बड़ी सेना देकर शत्रु से लड़ने के लिए वहाँ से रवाना किया ॥१३०५॥ न मालूम भाग्य से प्रतिहतवीर्य हो जाने के कारण अथवा स्वामिद्रोह करने के विचार से आक्रान्त हो जाने के कारण उस पट्ट ने शत्रु पर आक्रमण करने के अवसर की उपेक्षा कर मार्ग में ही विलम्ब करना प्रारंभ किया ॥१३०६॥ और भी राजा ने तिलकराज आदि जिन जिन अन्य व्यक्तियों को दुश्मन का सामना करने के लिए भेजा, वे सब पट्ट के पास तक पहुँचने के बाद आगे नहीं बढ़े ॥१३०७॥ उसके पश्चात् राजा ने नायक को विशाल सेना समेत रवाना किया, परन्तु वह भी आगे नहीं बढ़ सका और व्याकुल होकर वहीं ठहर गया, तथा उच्चल दृढमूल होने लगा ॥१३०८॥ वराहमूल नामक स्थान में प्रवेश करते हुए उस उच्चल को शत्रु की सेना में से भाग कर आयी हुई राजलक्ष्मी के समान एक सुलक्षणा अश्वा (घोड़ी) मिल गई थी ॥१३०९॥ उसी प्रकार जब वह भगवान् वराहदेव के दर्शन के लिए गया, तब वराहदेव के मस्तक पर से पुष्प माला उसके मस्तक पर गिर गई। वह माला मानों वराह भगवान् की दंष्ट्रा पर निवास करनेवाली वसुन्धरा ने उसके गले में स्वयंवर की वरमाला के रूप में ही पहिना दी थी ॥१३१०॥

वैद्यकुल (कुछ प्रतियों में वैश्यकुल ऐसा भी पाठान्तर है) में उत्पन्न हुए काक आदि वीरों ने मार्ग में उसे रोका था तब वह हुष्कपुर को छोड़कर क्रम राज्य की ओर से चल दिया ॥१३११॥ उस समय में उच्चल के आगमन की खबर को सुनते ही डामरों ने प्रोत्साहित होकर मण्डलेश्वर को पलायन के लिए उन्मुख (उत्कण्ठित) कर दिया ॥१३१२॥ क्योंकि उन्होंने उसके साथी यशोराज आदि बड़े बड़े वीरों को युद्ध में मारकर उसको परास्त एवं हतोत्साह कर दिया था, इसलिए उसका प्रताप अत्यन्त क्षीण हो गया था ॥१३१३॥ पश्चात् वह दण्डनायक पीछे की ओर हटते हटते तारकमूल नामक स्थान पर पहुँच गया। उच्चल के नेतृत्व में डामर लोग भी उसका पीछा करते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥१३१४॥ असंख्य सैन्य सहित उस दण्डनायक ने उच्चलरूपी प्रलयमेघ को रोकने के लिए पूर्व दिशा की ओर से बहनेवाले झंझावात का स्वरूप धारण किया अर्थात् दण्डनायक ने वहाँ उसका डटकर मुकाबला किया ॥१३१५॥ उस स्थान पर विजयश्रीरूपी हस्तिनी के लिए उन्मत्त दो हाथियों के समान उन दोनों सैन्यों का बहुत दिनों तक बराबरी का महान् संघर्ष चलता रहा ॥१३१६॥ उसी समय में उच्चल के मातुल आनन्द ने भी बहुत से डामरों को एकत्रित करके मडव राज्य में उपद्रव मचाना शुरू किया ॥१३१७॥ जिस प्रकार शीतकाल के बीत जाने के बाद भूरन्ध्रों में से असंख्य भ्रमर बाहर निकलने लगते हैं वैसे ही उस विप्लव में चारों तरफ से डामरों के समूह आकर एकत्रित हो गये थे ॥१३१८॥ उस

समय में क्षीणभाग्य उस राजा हर्ष का कायस्थ महत्तम सुहेल ही द्वारपति तथा कंपनेश था ॥१३१९॥ आनन्द ने कई बार उसपर आक्रमण करके उससे युद्ध किया; फिर भी उसने मडव राज्य को नहीं छोड़ा। उस समय उसका यह कार्य भी कुछ कम महत्त्व का न था ॥१३२०॥

उसके अद्भुत प्रतापशाली उच्चल ने उसकी विशाल सेना को चारों तरफ से घेर कर उस मण्डलेश्वर को बाँध लिया ॥१३२१॥ वे मण्डलेश्वर के सैनिक सशस्त्र, सकवच, एवं अश्वारूढ़ होकर भी कैसे बँध (घिर) गये थे इस बात का उन्हीं को पता न था ॥१३२२॥ इस प्रकार बँध (घिर) जाने पर भी वह भव्य (श्रेष्ठ) द्वारपति अपने स्वामी की भलाई के लिए सोचने लगा, क्योंकि मानी पुरुषों के हृदय से स्वामिभक्ति मरण-पर्यन्त नहीं हटती ॥१३२३॥ उसने "ऐसा अवसर फिर कभी नहीं मिल सकेगा" ऐसा कह कह कर उच्चल के हृदय में विश्वास उत्पन्न कर दिया और उसे नगर में शीघ्र ही प्रवेश करने के लिए प्रेरित किया ॥१३२४॥ और तदनुसार जब वह प्रवेश करने लगा तब "इस कार्य से इसकी खूब बदनामी होगी" ऐसा सोच कर उसके सैनिकों के द्वारा पुर, ग्राम आदि स्थानों में खूब लूट-मार मचवा दी ॥१३२५॥ उसके पश्चात् उसने उच्चल को परिहासपुर नामक नगर में भेज दिया। वहाँ पर पानी और गड्ढे तथा भयंकर दल दल होने के कारण वहाँ से निकालना अति कठिन था ॥१३२६॥ वहाँ पर एक चौक में उच्चल ने और दूसरे में मण्डलेश्वर ने

अपना मुकाम जमा लिया। इन दोनों चौकों में रात्रि के समय आग लगा कर दोनों को जला देने के लिए मण्डलेश्वर ने अपने सेवकों को आदेश दिया, परन्तु उसके विषय अत्यंत आदर होने के कारण उन्होंने वैसा नहीं किया ॥१३२७॥ मन के समान जिसका शरीर भी साहस करने के लिए क्षमता रखता हो, उस आत्मनिरपेक्ष वीर पुरुष का कौनसा मनोरथ सिद्ध नहीं होता ? ॥१३२८॥ कछुवा दुर्बल एवं डरपोक है इसलिए वह अपने शरीर पर दुर्भेद्य कवच धारण करता है और सिंह रणकर्म में साहस एवं अदम्य उत्साह धारण करने वाला है इस लिए वह कवच-हीन है। विचारशून्य विधाता नीच लोगों का बड़े जोर शोर से पक्षपात करता है और वीरों के शरीर को चारों तरफ से विकल एवं असुरक्षित रखता है। ऐसे विधाता को धिक्कार है ॥१३२९॥ उसके बाद उस मण्डलेश्वर ने राजा के निकट संदेश भेजा कि यह उच्चल रूपी शृगाल की शिकार मैंने आप के पास लाकर छोड़ दी है, अब आप शीघ्र ही आकर इसे अपना निशाना बना लीजिए ॥१३३०॥

तब राजा सम्पूर्ण सामन्त एवं सैन्य को साथ लेकर "आज विजय अथवा मरण प्राप्त होगा" ऐसा निश्चय करके नगर के बाहर निकला ॥ १३३१ ॥ वह अवसर अत्यंत भयंकर एवं प्राण संशय का था, इसलिए राजा ने सब अपराधियों के अपराध क्षमा करने का ढिंढोरा पिटवा दिया था, इसलिए सब नागरिक उसकी तरफ हो गये थे ॥ १३३२ ॥ शत्रु की सेना भरतसेतु पर

आ पहुँची थी इसलिए राजा के सैनिक शीघ्र ही अपने अश्वों को सरपट दौड़ाते हुए वहाँ पहुच गये और उन्होंने शत्रु-सेना को परास्त करना प्रारंभ किया ॥ १३३३ ॥ क्षुभित सागर के समान राजा के सैन्य को आता हुआ देख मण्डलेश्वर आनन्द ने शत्रु की सेना के अन्दर प्रवेश करके उसको नष्ट-भ्रष्ट कर डाला ॥ १३३४ ॥ इस पराभव के पश्चात् उच्चल के डामर सैनिकों में से जो चपल थे वे तो भाग गये और जो थक गये थे वे राजविहार के अन्दर जाकर छिप गये ॥ १३३५ ॥ उनके नायक भिल्लसेन नामक डामर को अन्दर जाते देख कर "यह उच्चल है" ऐसा मान कर शत्रु के (राजा के) लोगों ने उस विहार को आग लगा दी ॥ १३३६ ॥ उस समय दर्शनपाल के पितृव्य सोमपाल के साथ शत्रु के अश्वारोही सैनिकों से चिरकाल तक युद्ध करते हुए उस मानी उच्चल को बड़े प्रयत्न से जनक-चन्द्र आदि डामरों ने मृत्युमुख के समान उस भयंकर युद्ध में से हटाया ॥ १३३७, १३३८ ॥ वह गैरिकाबाल नामक ग्राम के पास से वितस्ता नदी को तैर कर डामरों के साथ फिर से तार-मूलक में वापस चला गया ॥ १३३९ ॥ इस छोटी सी विजय से किसी एक क्षुद्र द्यूतकार के समान वह राजा हर्षदेव सन्तुष्ट होकर मण्डलेश्वर आनन्द की प्रशंसा करता हुआ नगर को वापस गया ॥ १३४० ॥

"शत्रु जीवित है" ऐसा सुनकर भी उसने उसका पीछा नहीं किया इस कारण से हारे हुए भी डामर लोग फिर से प्रोत्साहित

होने लगे ॥ १३४१ ॥ युद्ध को छोड़कर भागे हुए डामर अपने अपने घर पर चले गये थे। उन्हें सब जगह से पुनः संगठित करने के लिए ज्येष्ठ मास में उस स्थिरबुद्धि उच्चल ने इरादा किया ॥ १३४२ ॥ उस समय उस मानी वीर को केवल अपनी दोनों भुजाएँ सहायक थीं। उसे हर तरह से दूसरों के आश्रय में रहना पड़ता था इसलिए दुर्भिक्ष के समय में किये गए उसके महान् उद्योग में अनेक बाधाएँ उस्थित हो जाती थीं ॥ १३४३ ॥ उन्हीं दिनों में अति दरिद्र होकर भी उच्चल ने जिस मूर्ति को हाथ तक न लगाया था उस परिहासपुर-स्थित परिहासकेशव की रौप्यमयी मूर्ति को राजा हर्षदेव ने तुड़वा डाला ॥ १३४४ ॥ उस मूर्ति को वहाँ से उखाड़ते ही तत्काल कबूतरों के पंखों के समान कबरे रंग की धूल उड़ने लगी और उससे सब दिशाएँ आच्छादित हो गईं। वह धूल हर्ष के शिरच्छेद होने तक विद्यमान थी ॥ १३४५ ॥ उस मूर्ति की स्थापना के पूर्व उस मण्डल में दिन के समय में भी अन्धकार का साम्राज्य सर्वत्र छा रहा था। पश्चात् श्रीपरिहासकेशव की मूर्ति की स्थापना के बाद उस रजतमय तेजस्विनी प्रतिमा के प्रखर तेज से सर्वत्र प्रकाश फैल गया था, ऐसी लोकवार्ता प्रसिद्ध थी। पश्चात् उस मूर्ति के उखाड़ते ही उसी प्रकार डेढ़ मास तक लोगों को दृष्टि-गोचर होता रहा ॥ १३४६, १३४७ ॥ शत्रु का उपद्रव शान्त होने के कारण राजा को थोड़ी सी शान्ति मिली थी, इतने में सुस्सल शूरपुर की ओर से प्रकट हुआ अर्थात् उसने शूरपुर क उधर उपद्रव

मचाना शुरू किया ॥ १३४८ ॥ वह अवनाह नामक ग्राम में रहता था। उसे इस प्रकार निरुद्योग देखकर उसके पिता ने उच्चल की प्रशंसा करते हुए उसे उपालम्भपूर्ण अनेक कटु संदेशों से प्रेरित किया, तब वह अपनी उदासीनता को त्याग कर पुनः जागृत हो गया ॥ १३४९ ॥ वह कल्ह राजा के दिये हुए कतिपय अश्वों को लेकर वहाँ से रवाना हुआ। वह इसके पूर्व हर्ष के विषय में श्रद्धा एवं आदर रखता था इसलिए उसने विलम्ब किया ॥१३५०॥

वह अत्यन्त मायावी था इसलिए राजा के साथ प्रबलतर वैर होने पर भी आरम्भ से अन्त तक अपने हार्दिक अभिप्राय को गुप्त रखकर ऊपर से प्रेम बतलाता था ॥ १३५१ ॥ उसने शूरपुर नामक द्रंग (सरहद्द का नाका) के पास माणिक्य नामक सेनापति को जीतकर विजयलक्ष्मी एवं विपुल सम्पत्ति को प्राप्त किया ॥ १३५२ ॥ उस सम्पत्ति से उस अभ्युदय पात्र सुस्सल का संपूर्ण भविष्यकालीन कार्यक्रम आश्चर्यकारक ऐश्वर्य-युक्त एवं शानदार हो गया ॥ १३५३ ॥ राजा ने तत्काल उच्चल को ओर से अपना ध्यान हटाकर मण्डलेश्वर एवं पट्ट आदि वीरों को उस शीघ्रकारी सुस्सल से युद्ध करने के लिए भेजा ॥१३५४॥ उस शौर्यशाली वीर ने शूरपुर में राजा के योद्धाओं को परास्त कर दिया। उनमें से बहुत से वीर वैतरणी नदी के जल में डूबकर यमलोक को चले गये ॥ १३५५ ॥ वहाँ पर स्वामिद्रोही दर्शन-पालने अपना पराक्रम खूब दिखलाया; परन्तु स्वामिद्रोह से खिन्न हुई विजयलक्ष्मी ने उसके अपवित्र शरीर को स्पर्श नहीं

किया ॥ १३५६ ॥ उस युद्ध में से भागे हुए हतशेष राजा के सैनिक दूसरे दिन नजदीक में ही लोकपुण्य में रहनेवाले सहेल के पास पहुँच गये ॥ १३५७ ॥ सहेलक ने उच्चलरूपी प्रलय-कालके आगमन की आशंका से उनको तथा स्वयं के सैनिकों को साथ लेकर नगर की ओर प्रयाण किया ॥१३५८॥ इस प्रकार जब सुस्सल ने राजा की फजीहत कर डाली, तब तारमूलकवासी उच्चल का प्रभाव फिर से बढ़ गया ॥ १३५९ ॥ उसके सहायक सभी डामर पदाति सैनिक थे, इसलिए वे अश्वारोही सैनिकों से डरते थे। इसी कारण से वे लोग उसे लोहर प्रान्त के पर्वतीय दुर्गम मार्ग से राजा पर आक्रमण करने के लिए लाये ॥१३६०॥

राजा ने उदयराज को द्वारपति के पद पर नियुक्त कर मण्डलेश्वर को फिर से उच्चल के साथ युद्ध करने के लिए रवाना किया ॥ १३६१ ॥ उधर उच्चल का मामा आनन्द जब पद्मपुर पहुँचा, तब राजा के सभी मन्त्री इतने भयभीत होगये कि उनमें से कोई भी कम्पनेश के अधिकार को स्वीकार नहीं करता था ॥ १३६२ ॥ तब राजा ने खिन्न होकर दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए "कौन मेरा है ?" ऐसा कहा। यह सुनकर चन्द्रराज ने उसके हाथ में से कम्पनेश के अधिकार की माला ले ली ॥१३६३॥ वह चन्द्रराज उन जिन्दुराज आदि वीरों के कुल में उत्पन्न हुआ था, जिनके यहाँ खाट पर पड़े रहकर मरना एक प्रकार का अभिशाप माना जाता था। इसलिए उस वीर ने अपने कुलके लिए जो कार्य उचित था वही किया ॥ १३६४ ॥ द्रोणपुत्र

अश्वत्थामा के समान वह भी सब कुछ नष्ट होने बाद के समय में सेनापति बनाया गया था। उसने नगर से निकल कर पद्मपुर से शत्रु की सेना को भगा दिया ॥ १३६५ ॥ बाद में वह धीरे धीरे आगे के प्रदेशों पर अधिकार करने लगा। उसने श्रावण शुक्ला ६ के दिन शत्रुपक्ष के कम्पनेश आनन्द को अवन्तिपुर में मार डाला ॥ १३६६ ॥ उसके सैनिक गोवर्धनधर के पास शत्रुओं से युद्ध कर रहे थे, वह उन्हें वैसा ही छोड़कर पास के प्रदेश में ही कतिपय सेवकों के साथ संगीत-श्रवण में तन्मय हो रहा था, उस स्थिति में शत्रु के अश्वारोही सैनिकों ने वितस्ता नदी के तीर के मार्ग से वहाँ पहुँच कर उसे देखा और अकस्मात् आक्रमण करके मार डाला, क्योंकि प्रमादी मनुष्यों का कल्याण कैसे हो सकता है ? ॥ १३६७, १३६८ ॥ चन्द्रराज ने उसका मस्तक राजा के पास भेज दिया। उसे देखकर राजा ने दैव को अपने अनुकूल मानते हुए विजय की आशा की ॥१३६९॥ जिस प्रकार जाता हुआ सिंह कभी कभी पीछे की ओर देखकर फिर से पलट कर आने का संशय उत्पन्न कर देता है वैसे ही प्रतिकूल दैव भी कभी कभी अनुकूलता दिखाकर मानव को आशान्वित कर देता है ॥ १३७० ॥

पश्चात् सेना को एकत्रित करता हुआ चन्द्रराज अपने अठारह सैन्य विभागों सहित मार्ग में स्थान स्थान पर पराक्रम दिखलाता हुआ विजयक्षेत्र में पहुँच गया ॥ १३७१ ॥ उस समय में तुलाधर (तौल करने वाले) के सदृश विधाता तुला के

दोनों पुटों (पलड़े) के समान उन दोनों कटकों की असमानता को सहन न कर सका ॥ १३७२ ॥ क्योंकि तीसरे ही दिन आकस्मिक अकालवृष्टि होने के कारण मण्डलेश्वर की सेना को विवश होकर लहर प्रान्त की ओर भागना पड़ा ॥ १३७३ ॥ शीत एवं वात से पीड़ित सैनिक लोग कीचड़ से भरे हुए खेतों में फँस गये। उन्होंने हताश होकर पशुओं के समान अपने अश्व, खड्ग, कवच आदि सब वस्तुओं को तत्काल त्याग दिया ॥ १३७४ ॥ ऐसी विकटतम परिस्थिति में दयार्द्रहृदय उच्चल मण्डलेश्वर के प्राणों की रक्षा करना चाहता था, परन्तु जनकचन्द्र आदि डामरों ने उसे मार ही डाला ॥ १३७५ ॥ स्वामिद्रोह की शंका से कलंकित हर्ष के सेवकवृन्द में से उसी एक सचिवरत्न ने अपने शरीर को मूल्य के रूप में देकर दुर्लभ कीर्ति को खरीदा था ॥ १३७६ ॥ "वह देवशर्मा आदि स्वामिभक्तों के साथ स्पर्धा करने के लिए उत्सुक था" ऐसा उस वीर चन्द्रराज के विषय में यदि कहा जाय तो कुछ लोग हमारे ऊपर विपरीत लेखन का दोषारोपण करने लगेंगे ॥ १३७७ ॥ प्रत्येक कार्य में यश एवं अपयश दैवाधीन होता है, तथापि लवन्यों का पराभव एवं नाश शत्रु के षड्यंत्र को विफल कर देना आदि उसके कार्यों की कौन प्रशंसा नहीं करेगा ? ॥ १३७८ ॥ क्या चन्द्र रसातल के अन्धकार को नष्ट नहीं करता ? संसार भरके जल को हजम करनेवाले समुद्र को बड़वानल भयकारक होता है और उसको नष्ट करने के लिए हालाहल विष मौजूद है एवं कालकूट के प्रतिकार

के लिए धन्वन्तरि विद्यमान है। इस प्रकार इस संसार में एक के लिए दूसरा प्रतियोगी विद्यमान हैं। इसलिए बेचारे समुद्र को जड़ कहकर दोष देना कदापि उचित नहीं है, क्योंकि सिद्धि की दैवाधीनता को मानकर उसकी योग्य स्तुति करने ही में गुणग्राहकता व्यक्त होती है ॥ १३७९ ॥ स्वामिकार्य के लिए अनवरत प्रयत्नशील सन्तान को उत्पन्न करनेवाली स्त्रियों में पूज्यतमा उसकी माता गज्जा ने अपने गौरव को व्यक्त करते हुए अग्नि में प्रवेश किया ॥ १३८० ॥

राजा के द्वारा जिस किसी साहसिक कार्य में अपने पुत्र को नियुक्त किये जाने पर वह स्नेह से मोहित होकर राजा से कहा करती थी ॥ १३८१ ॥ महाराज, मुझे इस पुत्र के अतिरिक्त दूसरी सन्तान नहीं है इसलिए मेरे इस इकलौते बेटे को जहाँ प्राण जानेका भय हो ऐसे कार्य में मत नियुक्त करते जाइये ॥ १३८२ ॥ राजा ने चन्द्रराज की माता गज्जा से कहा कि माता, जैसे आपको इस पुत्र के अतिरिक्त अन्य सन्तान नहीं है वैसे ही मेरे पास भी उसके समान कोई भी सच्चा सेवक नहीं है, इसलिए मेरा एकमात्र वही सहारा है ॥ १३८३ ॥ अपने औरस पुत्र के विषय में राजा की इस प्रकार भक्ति एवं श्रद्धा को देखकर मानवती सती अत्यन्त सन्तुष्ट हुई ॥ १३८४ ॥ इन्हीं दिनों में उच्चल हिरण्यपुर में गया था, तब वहाँ के ब्राह्मणों ने उसे राज्याभिषेक कर दिया ॥ १३८५ ॥ इन घटनाओं को होते देखकर व्याकुल हुए राजा से उसके सचिवों ने सलाह देते हुए

कहा कि महाराज, आपके शत्रु लोग साम्प्रतकाल में प्रबल हो रहे हैं इसलिए सब परिवार के समेत आप लोहराचल को चले जाइये ॥ १३८६ ॥ कुछ समय के पश्चात् नवीन नरेश के विषय में उत्कंठा रखनेवाली प्रजा जब शान्तोत्कंठ हो जायगी तब वही प्रजा आपको लिवा लावेगी अथवा आप स्वयं भी आ सकेंगे ॥ १३८७ ॥ तब राजा ने उनसे कहा कि अन्तःपुर की ललनाओं तथा कोश एवं राजसिंहासन आदि असाधारण वस्तुओं को छोड़कर मैं तत्काल जाना नहीं चाहता ॥ १३८८ ॥ तब उन आप्त सचिवों ने फिर से उससे कहा कि महाराज, आप अश्व पर आरूढ़ होकर यहाँ से रवाना हो जाइये। आपके पीछे से आपके अश्वारोही वीर अन्तःपुर की प्रमदाओं तथा कोश आदि वस्तुओं को लेकर आपके निकट शीघ्र ही उपस्थित हो जावेंगे ॥ १३८९ ॥ अब बाकी रह गया सिंहासन, सो उसपर तो आपके पहिले के श्वपाकी कामुक (चाण्डाली को चाहनेवाले) राजा लोग भी बैठ चुके हैं, अब उसीपर यदि दूसरा कोई राजा बैठ जायगा तो उसमें उसकी कौन सी मानहानि हो जाने वाली है ? ॥ १३९० ॥

राजा ने कहा कि अपनी इस सलाह को तो रहने दीजिए, दूसरा कोई मार्ग बतलाइये। इस प्रकार राजा के द्वारा प्रेरित किये गये मंत्री लोग कुछ जोश में आकर बोले ॥ १३९१ ॥ क्षात्रधर्म को आदर्श मानकर पृथ्वी पर शासन करनेवाले राजाओं को दैन्य प्रदर्शन करने का कौन सा अवसर हो सकता है ? क्योंकि

उनके मत में तो युद्ध में मरना आशीर्वाद समझा जाता है ॥ १३९२ ॥ आपत्ति में फँसे हुए राजा के वास्तविक शत्रु आप्त, बांधव अथवा सचिव नहीं हैं किन्तु अनुद्योग, लज्जा, भय तथा मंत्रियों के साथ मतभेद ही वास्तविक शत्रु हैं ॥ १३९२ ॥ जो राजा आलसी बनकर सम्पूर्ण कार्यभार को अपने सेवकों के ऊपर रख देता है उसका लकड़ी के सहारे से चलनेवाले अन्धे के समान पद-पद पर पतन होता है अर्थात् उसे बार बार आपत्तियों का सामना करना पड़ता है ॥ १३९४ ॥ अपने शत्रु को स्वयं से छोटा मानकर "इसके ऊपर शस्त्र उठाते हुए मुझे लज्जित होना चाहिए" ऐसा सोचकर उस लघु शत्रु को अवज्ञा (अनादर) की दृष्टि से देखनेवाले अदूरदर्शी राजा को शीघ्र ही लज्जित होना पड़ता है और वह राजा स्वयं अपने शत्रु को बढ़ाता है ॥ १३९५ ॥ काल के प्रभाव से महेन्द्र को कृमि (कीड़ा) बनना पड़ता है और कृमि महेन्द्र बन जाता है । इस लिए अमुक व्यक्ति बहुत बड़ा है और अमुक व्यक्ति अप्रतिष्ठित है, इस प्रकार का मन्तव्य झूठा अभिमान है ॥ १३९६ ॥ किसी भी विजयेच्छु राजा के मनमें भय उत्पन्न होते ही उसका पराभव अवश्यमेव होता है । सब प्रकार से विकल (अपूर्ण) शत्रु के द्वारा कभी कभी समस्त संपदाओं से परिपूर्ण राजा को भी दैन्य प्राप्त हो जाता है ॥ १३९७ ॥ उज्ज्वलतम विभूति के भाजन एवं सुप्रतिष्ठित तथा निर्भय पुरुष का दीन एवं दूसरों के आश्रय में रहनेवाले कापुरुष से कैसे पराभव हो सकता है ? और

न उसको किसी का भय हो सकता है ॥ १३६८ ॥ मंत्रियों के पारस्परिक मतभेद के कारण साधारण कार्य भी पूर्ण होना कठिन हो जाता है, क्योंकि वैशाख रज्जुके क्रमिक आकर्षण के समान दोनों समुदायों की ओरसे उस कार्य की क्रमशः खींच-तान होने लगती है ॥१३९९॥ सम्पूर्ण अंगों से हीन होने पर भी समग्र शक्तियों से युक्त एकाकी शत्रु भी केवल आशावादी राजा के राज्य एवं आयुष्य का नाश कर सकता है ॥१४००॥

राजा के तो यत्र तत्र शत्रु होते ही हैं और पृथ्वी पर एक राजा के बाद दूसरा राजा शासक बनता ही है, इसलिए आप यदि हमारे मतानुसार चलेंगे तो आपको फिर से राज्य की प्राप्ति हो सकेगी ॥१४०१॥ यदि विधि की प्रतिकूलता के कारण राज्य न मिल सका तो सहस्रशः वीरों से घिरे हुए राजाओं को युद्ध में पौरुष दिखलाकर मरने से जो ख्याति तथा शोभा प्राप्त होती है वह आपको अवश्य ही मिलेगी ॥१४०२॥ जब वीर पुरुष का केवल कबन्ध (शिरोहीन शरीर) रणांगण में नृत्य करने लगता है, तब धनुष की प्रत्यंचा का टंकार शब्द वीणा के तारों की झंकार के समान उसके नृत्य में सहयोग देता है और शृगाल उसके सम्मुख उपस्थित होकर अपने मुख में से निकलती हुई ज्वालाओं के दीपकों से उसकी आरती करने लगते हैं। उस समय उसका शरीरस्थ अभिमान शान्त हो जाता है और शरीर की सफलता से पूर्णमनोरथ वे वीर लोग धन्य होकर वीरशय्या पर शयन करते हैं ॥१४०३॥ इस प्रकार इस अन्तिम कृत्य को

उदात्त (श्रेष्ठ) समझ कर द्यूतकारों के समान राज्य की बाजी लगाकर खेलते हुए क्षत्रिय लोग सदा के लिए त्रासमुक्त हो जाते हैं ॥ १४०४ ॥ इस प्रकार की मंत्रियों की सलाह को उस राजा ने स्वीकार नहीं किया और जब दूसरी सलाह देने के लिए फिर से उन्हें प्रेरित करने लगा, तब वे शोकग्रस्त होकर दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए समयानुकूल कठोर वचन बोले ॥१४०५॥ राजन्, यदि आप अपने प्राणों की पर्वाह न कर इस संकटमय समय में उत्कर्ष राजा के समान प्राण त्याग कर सकते हों तो बहुत ही ठीक होगा, अन्यथा आपको शत्रुओं की ओर से अवश्य ही भयंकर अपमान सहना पड़ेगा ॥१४०६॥ राजा ने उनसे कहा कि मैं स्वयं आत्महत्या करने में सर्वथा असमर्थ हूँ इसलिए ऐसे संकटमय समय में आपलोग ही मुझे मार डालियेगा ॥१४०७॥ साधारण कापुरुष के समान भीरुतात्रस्त उस राजा के उन वचनों को सुनकर मंत्रियों के नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये और शोक प्रकट करते हुए उन्होंने राजा से कहा ॥१४०८॥ महाराज, दुर्दैव से यदि ऐसा विकटतम प्रसंग उपस्थित हो भी गया और हम लोगों में उसके प्रतीकार की शक्ति न भी रही तो भी उस समय आपके कथनानुसार उस भयंकर दुष्कर्म को करने के लिए हमारे हाथ कैसे उठ सकेंगे ॥१४०९॥ वास्तव में उस राजा ने अवश्य ही उन पुरुषरूपी पशुओं का पोषण किया था, क्योंकि दीन एवं हताश उस राजा के ऐसे दुःखपूर्ण वचनों को सुनकर भी उन्होंने उसका प्रतीकार नहीं किया ॥१४१०॥

युगान्तपर्यन्त जीकर भी जो शरीर एक दिन अवश्य ही नष्ट होनेवाला है, उस शरीरमात्र के त्याग से सिद्ध होनेवाले कार्य में अपने स्वामी के लिए शरीर त्याग करने में कार्पण्य दिखलानेवाले सेवकों को धिक्कार है ॥१४११॥ जिस स्वामिस्नेह की ओर ध्यान देकर स्त्रियाँ भी सरलतापूर्वक अग्नि में प्रविष्ट हो जाती हैं, उस स्वामिस्नेह को पुरुष होकर भी जो लोग भूल जाते हैं उनसे बढ़कर अधम कौन हो सकता है ॥१४१२॥ जो मनुष्य अपने स्वामी को नट के समान शोक, भय, दैन्य आदि विकारों को प्रदर्शित करता हुआ देखकर भी स्वस्थतापूर्वक बैठे रहते हैं, उन नराधमों से यह पृथ्वी तीर्थों से युक्त होने पर भी अपवित्र ही बनी रहती है ॥१४१३॥ जिस मनुष्य ने अपने बालक को भूखों मरते, अपनी स्त्री को दूसरों के घर की दासी बनते, अपने सन्मित्र को दुःख सहते, दूध देनेवाली गाय को क्षुधा की पीड़ा से करुण आक्रन्दन करते, माता-पिता को रुग्णावस्था में पथ्य न मिलने से मृत्यु के मुख में प्रविष्ट होते और स्वामी को शत्रुओं के द्वारा पराजित होते देख लिया हो, उन्हें नरक में भी इससे अधिक कौन-सी यातना को सहना पड़ेगा ॥१४१४॥ वह राजा उन नरपशुओं को फिर से कहने लगा, देखिए मैंने प्रारम्भ में कितने उदात्तकृत्य किये हैं; परन्तु इस समय भूताविष्ट मनुष्य के समान मेरी बुद्धि में मोह उत्पन्न हो गया है ॥१४१५॥ इस आधुनिक समय में मैंने जिस शान से राज्य का उपभोग किया है, उस प्रकार कोई भी दूसरा राजा इच्छानुकूल विशाल वैभव से

युक्त होकर अपने राज्य का भविष्य में उपभोग न कर सकेगा—ऐसा मेरा निश्चय है ॥१४१६॥ "राजा के ओष्ठाग्र पर कुबेर और यम दोनों देवता निवास करते हैं" इस प्रकार की लोकख्याति इस कलियुग में मेरे ही विषय में चरितार्थ हुई है ॥१४१७॥ नियतिनिर्दिष्ट समय के आ जाने पर रुद्र, उपेन्द्र, महेन्द्र आदि देवताओं को भी जिस मार्ग से अवश्य जाना है, तब उसके विषय में मनुष्य को क्यों शोक करना चाहिए ॥१४१८॥ परन्तु मुझे इसी बात का खेद होता है कि यह भूमि आज तक कुलीन ललना के समान उत्तम स्थिति में थी, अब मेरे दोष से बाजारू स्त्री के समान बलात्कारपूर्वक उपभोग्य बन जाएगी ॥१४१९॥ आज से जो मनुष्य राजनैतिक षड्यन्त्र रचने में सिद्धहस्त होगा वही इस नष्टप्रभ राज्य को हस्तगत करने की आशा कर सकेगा ॥१४२०॥

इसके लिए मैंने जो अलौकिक कृत्य किये हैं वे सब निष्फल सिद्ध हुए। इसलिए भविष्य में उदय होनेवाले अल्पसत्त्व (हीन पौरुष) लोग मेरी हँसी उड़ाएँगे ॥१४२१॥ किसी भी उद्योग में सफलता प्राप्त होने पर वह उद्योग उस समय के अनुरूप था या नहीं इस ओर ध्यान न देते हुए प्रायः कोई भी उसे बुरा नहीं कहता ॥१४२२॥ समुद्र-मंथन को सफल हुए देखकर उस कार्य में पर्वत-पक्षच्छेदक इन्द्र की सहायता होने पर भी और जिसका रस मृत्युप्रद है ऐसे वासुकी नाग के रज्जु के रूप में रहने पर भी विपरीत कारणों के परीक्षण द्वारा मन्दराचल पर्वत को कोई

भी दोष देता है क्या ? ॥१४२३॥ मैंने शास्त्र-सन्दर्भ जानते हुए जनता के उपजीवन के लिए समय-समय पर श्रीगर्भत्व का प्रदर्शन किया अर्थात् अपने धन से प्रजा को धनाढ्य बनाने का यत्न किया, वही सब मेरी मूर्खता के सिद्ध होने का कारण बन गया ॥१४२४॥ अब अंगुली के पर्व के समान अत्यल्प बुद्धिशाली उच्चल भी अपने काले दाँत दिखाता हुआ मेरी विडम्बना करने लगेगा ॥१४२५॥ मैं आज इतना विवश हो रहा हूँ इसका कारण अपमान है, भय नहीं, और इसी बात को प्रमाणित करने की इच्छा से इस प्रकार की मृत्यु को चाहता हूँ ॥१४२६॥ "वह राजा अपने ही लोगों के हाथ से न मारा गया होता तो कौन उससे पृथ्वी को छीन सकता था" इस प्रकार की किंवदन्ती के द्वारा मैं अपनी ख्याति की रक्षा करना चाहता हूँ ॥१४२७॥ प्राचीनकाल में अनेक राजाओं के मस्तक पर तपते हुए मुक्तापीड नामक राजा को उसके शत्रुओं ने मौका पाकर प्राणसंकट में डाल दिया था ॥१४२८॥ वह राजा उत्तरापथ में अनेक मार्गों से घूम रहा था और उसने उन मार्गों में स्थान-स्थान पर अपने सिपाहियों को रख दिया था। ऐसी स्थिति में परिमित अनुचरों से युक्त उस राजा को शत्रुओं ने किसी दुर्गम मार्ग में रोक लिया था॥१४२९॥ युद्धोपयुक्त सामग्री की विरलता (अल्पता) के कारण विवश उस राजा मुक्तापीड को आठ लाख अश्वारोही सैनिकों से युक्त राजा शल्य ने बाँध लेने की प्रतिज्ञा की थी ॥१४३०॥

राजा मुक्तापीड़ ने साम आदि उपायों से उस आपत्ति से

छूटना कठिन समझकर घबड़ाते हुए अपने प्रधान मंत्री शिव-स्वामी से समयानुकूल कर्तव्य पूछा ॥१४३१॥ उस मंत्री ने भी उस विनिपात (पतन, संकट) के उपाय को असाध्य समझकर योग्या-योग कर्तव्य को निश्चित कर राजा से कहा ॥१४३२॥ अपनी निष्कलंक कीर्ति का अभिमान रखनेवाले स्वाभिमानी पुरुषों के लोभ के क्षोभ से शून्य निर्मल हृदय में रहने वाली अकुण्ठित प्रतिभाही युक्ति-प्रयुक्त कर्तव्योपाय को प्रदर्शित कर देती है ॥१४३३॥ प्राप्त की गई ख्याति को सुरक्षित बनाये रखना यही कार्यनिपुण बुद्धिशाली पुरुष का प्रधान कर्तव्य है। साम्राज्योपार्जन आदि व्यापार तो उसके लिए आनुषंगिक (गौण) कर्तव्य है ॥१४३४॥ जिस प्रकार जलता हुआ कपूर अपनी सौरभ से जाना जा सकता है, उसी प्रकार शरीर के नष्ट होने पर भस्मावशेषत्व को प्राप्त होनेवाला प्राणी अपनी ख्याति से ही पहिचाना जाता है ॥१४३५॥ शान्त हुए यशस्वी एवं शान्त हुए अनंग (कामदेव) इन दोनों के लिए क्रमशः स्तुतिपाठककी जिह्वा और अंगना के कटाक्ष ये दोनों अद्भुत जीवित स्थान हैं ॥१४३६॥ अपनी ख्याति की रक्षा करना ही प्राणी के लिए कल्पान्तर पर्यन्त अपना स्थायित्व सिद्ध करना है। कीर्तिरूपी शरीर को कायम रखने में ही उन परमाणुओं का कार्य सम्पूर्ण होता है ॥१४३७॥ धीर पुरुषों को अपने विरोधियों के विषय में सर्वदा सावधान रहने वाले विधि की ओर ध्यान देते रहना चाहिए, क्योंकि वह सर्वदा उनकी उन्नति तथा धन के विनाश

के लिए प्रयत्न करता है ॥१४३८॥ उन्नत व्यक्ति को हठात् नीचे गिरा देने का विधाता को व्यसन-सा लग गया है। इस स्वाभाविक व्यसन के अनुसार वह स्वयं के उत्पत्तिस्थान कमल-कुल में उत्पन्न हुए पद्मखंड को भी द्विजपति (चन्द्र) के अस्तंगत होते ही अपवित्र अथवा मदोमत्त मातंग (हाथी या चाण्डाल) के हस्त (सूंड, हाथ) के द्वारा अपमानित करवाता है ॥१४३९॥ जो लोग हठात् लोगों की ख्याति का नाश करनेवाले विधाता की बुद्धि की उपेक्षा कर अपनी कीर्ति की रक्षा नहीं करते, उनको रक्षा करने के योग्य दूसरी कौनसी वस्तु हो सकती है ॥१४४०॥

सद्वंश में उत्पन्न होने के कारण राजाओं में अपनी ख्याति की प्रतिष्ठा को उज्ज्वल करके सद्वंशज वेत्रांकुर के समान जो अपने को अग्नि में जलाकर भस्मीभूत कर डालते हैं, ऐसा कार्य करनेवाले राजा लोग इस संसार में बहुत ही थोड़े हैं, और जो अपनी ख्याति-प्रतिष्ठा की रक्षा नहीं कर सकते वे विधि के क्रोध से शत्रु राजाओं के द्वारपालों का हस्तावलम्बन करके अनेक बार राजद्वार में गतागत (आने-जाने) का अनुभव करते है ॥१४४१॥ महाराज, अब आपने जिन राजोपभोगों का अनुभव किया था, वे सब नष्टप्राय हो चुके हैं—ऐसा सोचकर अपनी प्रतिष्ठा के महत्त्व की रक्षा के लिये प्राणपण से प्रयत्न करना चाहिए ॥१४४२॥ आप आज "आपको अकस्मात् शीघ्रपरिणामी दण्डकालसक नामक रोग होगया है" ऐसा सर्वत्र प्रसिद्ध कर दीजिए ॥१४४३॥ और इस भयंकर आपत्ति को नष्ट करने

का उपाय कल मैं आपसे निवेदन करूँगा, ऐसा कहकर वह प्रधान मंत्री वहाँ से निकल कर अपने निवास-स्थान को चला गया ॥१४४४॥ राजा ने भी मंत्री के कथनानुसार दण्डकालसक रोग का बहाना बनाकर जोर जोर से कराहना शुरू किया और मरणप्राय अवस्था को प्रदर्शित करते हुए आँखें मूँद कर पृथ्वी पर लोटना प्रारंभ किया ॥१४४५॥ स्वेदन, संवाहन, वमन आदि उपायों से जब उसका वह रोग किंचित् मात्र भी शान्त नहीं हुआ, तब यह अवश्य ही मर जाएगा, ऐसा सब लोग कहने लगे ॥१४४६॥ उस उपाय को बतलाने वाले उस प्रधान मंत्री ने कृतज्ञता को व्यक्त करते हुए अग्नि में प्रवेश किया, क्योंकि उसने स्वामी की मृत्यु को निश्चित मान लिया था ॥१४४७॥ इस प्रकार उसने दाक्षिण्य के अनुरोध से राजा को कर्तव्यशेष अर्थात् भविष्य का कर्तव्य अपने शब्दों के द्वारा प्रकट न कर कार्य द्वारा प्रदर्शित कर दिया और राजाने भी युक्तिपूर्वक कर्तव्य को प्रदर्शित करनेवाले उस मंत्री की अपने मनमें खूब प्रशंसा की ॥१४४८॥ पश्चात् उस राजा ने भी मैं इस भयंकर पीड़ा को सहन करने में सर्वथा असमर्थ हूँ, ऐसा कहते हुए अभिमान पूर्वक अग्नि में प्रवेश किया ॥१४४९॥ इस प्रकार उस मनस्वी राजा मुक्तापीड ने अपने दुर्यश को उत्पन्न न होने देने के लिए अपने प्राणों की उपेक्षा कर स्वयं के लिए स्वर्गारोहण सोपान का निर्माण-सा कर लिया था ॥१४५०॥

इस प्रकार भाग्य के प्रभाव से आनेवाली अपकीर्ति का

मनस्वी राजा लोग अपनी बुद्धि से अथवा अपने मंत्रियों की सम्मति से निवारण करते हैं ॥१४५१॥ ऐसा कहकर उस राजा ने मौन धारण किया। पश्चात् मंत्रियों ने राजवंश के बीज की रक्षा के लिए राजकुमार भोज को लोहर कोट भेज देने के लिए राजा से कहा ॥१४५२॥ राजकुमार मंगल-प्रस्थान रख कर वहाँ से रवाना हो रहा था। इतने में दण्डनायक के कथन से मोहित होकर राजाने उसे वापस बुलवा लिया ॥१४५३॥ विनाश काल उपस्थित होने के कारण उस राजा की वह बुद्धि, वह साहसपूर्वक आरम्भ और आपत्ति में भी सार्वत्रिक धैर्य ये सब एक दम नष्ट हो गये ॥१४५४॥ लक्ष्मीरूपी तडिल्लता (बिजली), कीर्ति-रूपी बलाका एवं प्रतापरूपी इन्द्रधनुष ये सब भाग्यरूपी मेघावली के पीछे रहा करते हैं, अर्थात् जहाँ भाग्य-रूपी मेघ-माला का उदय होता है वहीं ये भी उपस्थित रहते हैं ॥१४५५॥ भाग्य के बलवत्तर होने के समय जिस एकाकी राजा ने अपने शौर्य, वीर्य, धैर्य आदि सद्गुणों के प्रभाव से लोगों के मन में "यह इन्द्र पर आक्रमण क्यों नहीं करता है ?" ऐसी संभावना उत्पन्न कर दी थी, वही राजा दुर्भाग्य का उदय होते ही सर्वथा पंगु, जड़, अन्ध एवं विमूढ़ होकर निर्बल हो जाता है और उसके पैर इस पृथ्वी पर कैसे टिक सके ऐसा लोगों के मनमें सन्देह उत्पन्न होने लगता है ॥१४५६॥ उस राजाने शत्रु का सामना करने के लिए जो तन्त्रियों की सेना भेजने के लिए तैयार की थी उसके सैनिक लोग नगर में रहते हुए भी राजा से

प्रवासधन (भत्ता) माँगने लगे ॥१४५७॥ बहुत से राज-सेवकों ने शत्रु का आश्रय ग्रहण किया। केवल थोड़े से सैनिक राजभवन में रह गये थे, वे भी केवल शरीर से वहाँ थे, उनका मन तो शत्रु की ओर जा चुका था ॥१४५८॥ उनमें से दो तीन व्यक्तियों ने शत्रु के आश्रय में रहने का संकल्प भी नहीं किया था, परन्तु उनकी प्रशंसा करना निरर्थक है, क्योंकि उन्होंने स्त्रियों के समान अपने प्राण दे दिये थे ॥१४५९॥ काणवती नामक नर्तकी ने जयमती नामक एक अज्ञात कुल की बालिका को पुत्री के समान पाला था, उसका कौमार खण्डित होने पर वह तारुण्य अवस्था में उच्चल से प्रेम करने लगी थी, पश्चात् धन के लोभ से मण्डलेश्वर आनन्द की रक्षिता बन गयी ॥१४६०, १४६१॥

उस मण्डलेश्वर के मारे जाने के बाद वह नर्तकी (जयमती) लज्जा को तिलांजलि देकर उच्चल के निकट फिर से पहुँच गई और उससे पूर्ववत् प्रेम करने लगी, और दैवयोग से कुछ समय के पश्चात् वही इस राज्य की पटरानी होगी ॥१४६२॥ राजा हर्ष के सेवक सर्वथा निर्भय होकर सामूहिकरूप से एकत्रित हो उसके सामने ही उच्चल के विषय में चर्चा करने लगे थे॥१४६३॥ इसी प्रकार केवल वेतन के भक्त वे राजसैनिक किसी भी साधारण सैनिक को अपना प्रतिनिधि चुन लेते थे, और वह "सब सेनाधिकारी निकम्मे एवं लोभी हैं" ऐसी उद्घोषणा करके योद्धाओं के धैर्य को नष्ट कर देता था ॥१४६४॥ उसी प्रकार वह स्वयं अनुपयुक्त होकर भी दूसरे लोगों की हँसी तथा मर्मोद्-

घाटन करता था, और रसद मिलने के समय अपने अधिकार के लिए विशेष रूप से झगड़ने लगता था ॥१४६५॥ वह अपने स्वामी की दानशूरता के माहात्म्य का वर्णन बड़ी कुशलता के साथ करता था। इस प्रकार के आचरण से प्रत्येक राजा की सेना का प्रत्येक सैनिक अपने समुदाय का अग्रसर बनकर सेना में फूट डालने की कोशिश करता था ॥१४६६॥ राजा मल्लकुल के ऊपर अत्यंत क्रुद्ध था, इसलिए उसने मल्लकुलोत्पन्न एवं श्रीरेखा रानी के भतीजे के पुत्र व्यडुमंगल को आकस्मिक आक्रमण द्वारा मरवा डाला ॥१४६७॥ मल्लके शालक की कन्या व्यडुमंगल की पत्नी थी। उसने और उसकी सास (व्यडुमंगल की माता) ने अपने घर को आग लगा कर उसमें स्वयं को जला डाला॥१४६८॥ उसी समय में शाही कुल में उत्पन्न होनेवाली राजपत्नियों ने राजा से "यह मल्लराज ऊपर से तो मुनियों के समान अत्यन्त शुद्ध एवं धार्मिक दीख पड़ता है, परन्तु अन्तःकरण से अन्तक के समान क्रूरतम है। मौनव्रत आदि दम्भ के द्वारा यह हमारे सचिववर्ग में भेद उत्पन्न कर रहा है और यह अपने पुत्र को राज्य दिलवाने के लिए उत्कंठित हो रहा है, इसलिए इस परम शत्रु को निःशंक होकर मरवा डालना चाहिए ॥१४६९, १४७०॥

इस कार्य के लिए स्वयं राजा ने तैयारी की और सेना को साथ में लेकर उसके भवन को चारों तरफ से घेर लिया। मल्ल-राज भी अपने द्वारपर खड़े हुए प्राणों के याचक राजा हर्षदेव की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए अपने भवन से बाहर

निकला ॥१४७१॥ मुनियों के समान सरल एवं शान्तस्वभाव उस मल्लराज ने राज्य के कामुक अपने पुत्र उच्चल और सुस्सल दोनों की प्रार्थना ठुकरा कर सदाचार के अनुरोध से राजा हर्ष देव के पक्ष का त्याग नहीं किया था ॥१४७२॥ और राजा के हृदय में अपनी ओर से सुदृढ़ विश्वास उत्पन्न करने के लिए अपनी द्वितीय पत्नी के पुत्र सल्हण आदि को राजा के निकट जमानत के रूप में रखकर वह शान्तिपूर्वक अपने घरपर रहने लगा था ॥१४७३॥ ऋषियों के समान पवित्रतम जीवन व्यतीत करनेवाले तथा यावज्जन्म अग्नि की उपासना करनेवाले उस महात्मा मल्लराज पर आसन्नमृत्यु वह अभागा राजा अकस्मात् रुष्ट हो गया था ॥१४७४॥ जब राजा के सैनिकों ने युद्धके लिए उसका आह्वान किया, उस समय वह देवपूजन के कार्य में व्यस्त था। सैनिकों की आवाज सुनकर उसी वेष से घरके अन्दर से बाहर आगया। उस समय वह अत्यंत सुशोभित हो रहा था ॥१४७५॥ वह यज्ञोपवीत पहने हुए था, उसके हाथ में रुद्राक्ष की जपमाला थी और उसके ललाट-तट पर भस्मरेखाएँ हँस रही थीं। वह साक्षात् जामदग्न्य (परशुराम) के समान दीख रहा था ॥१४७६॥ वह कुछ समय के पूर्व स्नान से निवृत्त हुआ था, इसलिए उसका धवल एवं कृष्ण केशमय धम्मिल्ल (जटासमूह) देहत्याग के समय मस्तक पर धारण किये गये प्रयाग के गंगा-यमुना-जल के समान दीख रहा था ॥१४७७॥ वह मल्लराज मस्तक पर धारण किये वीरपट्ट से उष्णीषयुक्त एवं खेटक

(ढाल) से छत्रसमेत तथा कोशहीन खड्ग से दण्डधारी होकर असिधारातीर्थ का वास्तविक प्रवासी दीखता था ॥१४७८॥ उसके निकट रहकर उत्तम सुखोपभोग तथा सम्मान पानेवाले सद्भृत्य उसके पूर्व ही शत्रुओं से युद्ध करने के लिए बाहर निकल कर स्वर्ग-ललनाओं के सम्भोग-सुख को प्राप्त करने के लिए अग्रसर बन चुके थे ॥१४७९॥ उसके साथ ही रय्यवट्ट तथा विजय एवं पुरोहित और उसका कोष्ठक (पाकशाला का प्रधान व्यवस्थापक) एवं उसका वीर सैनिक सज्जक युद्ध में आहत होकर मृत्यु का आलिंगन कर चुके थे, और इस सत्कार्य से उनका निर्मल यश समग्र संसार में व्याप्त हो गया ॥१४८०॥

उसका द्वारपाल उदयराज युद्ध में घायल होकर भी आयुकी अवशिष्टता के कारण प्राणों से वियुक्त न हो सका। इसी प्रकार उसका कर्मचारी अज्जक भी घायल होकर भी बच गया॥१४८१॥ शत्रुओं के द्वारा द्वार को चारों तरफ से घिरा हुआ देख वह वीर मल्लराज निर्भय होकर उनके मस्तकों पर कूद पड़ा ॥१४८२॥ शैवालतुल्य खड्ग-समूह में तथा कमल-सदृश खेटक (ढाल)-वृन्द में भ्रमण करता हुआ जराधवलितकेश वह वीर राजहंस के समान सुशोभित हो रहा था ॥१४८३॥ परन्तु शीघ्र ही उसका शरीर शतशः तीक्ष्णतर शरों से छिन्न-भिन्न होगया और वह वीरश्रेष्ठ भीष्म के समान वीरशय्या पर सदा के लिए सो गया ॥१४८४॥ पश्चात् राजा हर्षदेव ने समरभूमि पर अनन्त काल के लिए दीर्घ निद्रा का आलिंगन कर सोये हुए उसका

शिरश्छेद करवा कर बड़े गर्व के साथ उसकी पीठ पर घोड़ा दौड़ाया। मृत्यु के द्वार तक पहुँचे हुए उस मूढ़ राजा का यह दुष्कृत्य क्या शोचनीय न था ? ॥१४८५॥ राजकुलोत्पन्ना कुमुद-लेखा तथा उसकी भगिनी वल्लभा दोनों ने अपने पति मल्लराज के मरण के पश्चात् अपने भवन में आग लगाकर स्वयं को उसमें भस्म कर डाला ॥१४८६॥ राज एवं अवकल्य की कन्याएँ असमती तथा सहजा मल्ल के पुत्र रल्हण और सल्हण की पत्नियाँ थीं, वे दोनों आग में जल कर मर गईं ॥१४८७॥ उसके अन्तःपुर में रहनेवाली स्त्रियों में से जिन अंगनाओं ने सब प्रकार के सुखों का उपभोग किया था, ऐसी ६ महिलाएँ अग्नि में दग्ध हो गईं ॥ १४८८॥ यह घटना वितस्ता नदी के बायें तीर पर मल्लराज के प्रासाद में हुई थी, इसलिए महान् प्रासाद की जलती हुई ज्वालाओं के ताप से तथा उस दुःखित परिवार के शोकोष्ण अश्रुजल से वितस्ता नदी का जल भी गरम हो गया था ॥१४८९॥ भावी भूपाल उच्चल सुस्सल की माता नन्दा मल्ल-राज के दाहिने तीरवाले महल के अन्तःपुर में थी। वह उस महल के सर्वोच्च शिखर परसे उत्तर तथा दक्षिण की ओर से अपने दोनों पुत्रों की सेनाओं के शिविर में महानसों (पाक-शाला) में से उठते हुए धूम्र की तरफ अत्यंत आतुरता के साथ देख रही थी। उसने भी इस वितस्ता के बायें तीर पर होनेवाले इस भयंकर काण्ड को देखकर स्वयं को जला डाला। अग्नि में प्रवेश करते समय उस सती ने "हे मेरे पुत्रो, तुम्हारे पिता का

इस प्रकार वध करनेवाले शत्रु के वंश का परशुराम के समान तुम दोनों शीघ्र ही उच्छेद करोगे" ऐसा शाप दिया, और खड़ी खड़ी ही वह अग्नि में कूद गई। उस समय वे अग्निज्वालाएँ उसकी प्रिय सखियों के समान उसे घेरकर नाच रही थीं। उसकी धात्री (उपमाता) चन्द्रा अपनी कन्या के समान उस राज-कन्या को तिलांजलि देने के दृश्य को देखने में असमर्थ होने के कारण जलती हुई आग में कूद कर मर गई ॥१४६०,१४९१, १४६२,१४९३,१४९४॥

दर्शनपाल की हत्या करने के लिए राजा प्रतिक्षण उत्कण्ठित रहता था, परन्तु सुदैव से तथा उसकी आयु कुछ दिनों तक और बाकी थी, इस कारण से अत्यंत विलक्षण घटनाओं से वह बच गया था ॥१४९५॥ अथवा वह भविष्य में अपमान-रूपी कटुफल का आस्वाद ग्रहण करने के लिए और एक वर्ष के लिए जीवित रह गया था ॥१४६६॥ उच्चल तथा सुस्सल दोनों भ्राताओं को अपने पिता के भयंकर वध का वृत्त भाद्रपद कृष्ण ६ नवमी को विदित हुआ। इससे उनको अत्यंत शोक हुआ, परन्तु वह शोक तदुत्पन्न विलक्षण क्रोध से आच्छादित हो गया ॥१४९७॥ दूसरे ही दिन सुस्सल ने क्रोधाविष्ट होकर राजधानी की ओर प्रस्थान किया और मार्ग में आनेवाले वन्हिपुर तक के गावों को जला कर राख कर डाला तथा विजयक्षेत्र की ओर रवाना हुआ ॥१४६८॥ उसका सामना करने के लिए जब चन्द्रराज रवाना हुआ, तब पट्ट एवं दर्शनपाल आदि अपनी अपनी सेना को लेकर

उसे छोड़कर चले गये ॥१४९९॥ इस प्रकार आत्मीय लोगों के द्वारा धोखा दिया जाने पर भी चन्द्रराज ने अपनी बची हुई सेना को लेकर शत्रु की बहुत बड़ी सेना के साथ बहुत समय तक डटकर युद्ध किया ॥१५००॥

उस समर में राजा के आत्मीय अक्षोटमल्ल तथा चचरिवंश में उत्पन्न हुआ मल्ल दोनों स्वर्गांगना सुखोपभोग के पात्र बन गये ॥१५०१॥ इसी प्रकार महान् संमर्द के कारण सर्वत्र व्याप्त होनेवाले रजरूपी अंधकार में जिसका छत्र चन्द्र के समान चमक रहा था ऐसा वीर चन्द्रराज अपने सत्सेवक इन्दुराज के समेत देवांगना का आलिंगन करने के लिए रवाना हो गया॥१५०२॥ उस वीर चन्द्रराज के मारे जाने से विधाता ने राजा हर्षदेव की आशारूपी कमलिनी के मूलकन्द का विनाश कर डाला था ॥१५०३॥ सुस्सल को विजयेश्वर क्षेत्र में प्रविष्ट होते देख पट्ट आदि हर्षपक्षीय योद्धा व्याकुल होकर विजयेश्वर के मन्दिर में घुस गये और उन्होंने मन्दिर का महाद्वार अच्छी तरह से अन्दर से बन्द कर लिया ॥१५०४॥ वहाँ का आस्थानीय पद्म बाहर के मैदान में शत्रुओं से लड़कर मृत्यु के मुख में चला गया और लक्ष्मीधर अपने प्राणों की पर्वाह न कर शत्रुओं से लड़ता रहा, परन्तु अन्त में उसे डामरों ने बाँध लिया ॥१५०५॥ विजयेश्वर के कोशभवन की छत पर आरूढ़ हुए सुस्सल ने नीचे के मैदान में खड़े हुए हर्षपक्षीय सैनिकों को पशुओं के समान भय से व्याकुल होते देखा ॥१५०६॥ वह अत्यंत धूर्त था, इसलिए

उसने उन लोगों में से पट्ट एवं दर्शनपाल दोनों को अभय देकर अपने पास बुलवाया ॥१५०७॥ उस छत पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ न थीं, इसलिए सुस्सल के सेवकों ने उनके हाथ में रस्सी देकर मृतकों के समान ऊपर की ओर खींचा ॥१५०८॥ लज्जित होकर वे दोनों सुस्सल से विदेश चले जाने की आज्ञा के लिए प्रार्थना करने लगे। बुद्धिमान् सुस्सल ने भी उनकी प्रार्थना के अनुसार आदेश प्रदान करने की प्रतिज्ञा कर उनकी ग्लानि को दूर किया ॥१५०९॥ और मधुर भाषण तथा मांस आदि स्निग्ध भोजन द्वारा उनका सत्कार किया। इस व्यवहार से उन दोनों के मन में देशान्तर जाने की उत्कण्ठा कुछ शिथिल हो गई ॥१५१०॥

दूसरे दिन उस सुस्सल ने पिशाचाविष्ट मनुष्य के समान ऐसा भयंकर एवं निर्घृण कृत्य किया, जिसके स्मरण से विश्वस्रष्टा भी रोमांचित हो गया होगा ॥१५११॥ उन लोगों में राजा हर्षदेव का ममेरा भाई राजा जासट तथा उमाधर आदि तीन राजा, राज वंशी, राजपुत्र एवं सामन्त, प्रतिष्ठित अश्वारोही वीर, तंत्री और अठारह सैन्य विभागों में के अगणित लोग थे ॥१५१२,१५१३॥ वे सब उसकी शरण आये थे। उसने विजयेश्वर मन्दिर के महा द्वार को खोलकर हाथ में नग्न खड्ग लिये हुए उनमें प्रवेश किया और उनको खूब फटकारा और उन्हें शरणागत जान कर विजयेश्वर को साक्षी बनाकर उन्हें अभय दान दिया और फिर मन्दिर की छत पर वापस आ गया ॥१५१४,१५१५॥ वहाँ बैठ कर उसने सबके शस्त्र छीन लिये और उनको बँधवा कर सेवकों द्वारा अपने

पास बुलवाया ॥१५१६॥ उस समय जिस छत पर सुस्सल बैठा था वह स्थान उन हर्षपक्षीय सैनिकों के हाथों से छीने गये खड्गों की सुनहरी एवं रुपहरी मूठों से पुष्पित-सा दीख रहा था ॥१५१७॥ उसने पशुओं के समान उन निश्शस्त्र सैनिकों को पशुपालों के समान डामरों के अधीन कर दिया और वहाँ तीन दिन ठहरा ॥१५१८॥ पश्चात् वह सुवर्णसानूर नामक ग्राम में पहुँच गया, वहाँ पर पट्ट तथा दर्शनपाल दोनों को स्वेच्छानुसार विदेश जाने के लिए आज्ञा दी ॥१५१९॥ वहाँ से रवाना होकर पट्ट शूरपुर को चला गया। वहाँ पहुँचने पर उसको उसकी पत्नी घर से आकर मिली, तब उस अल्पसत्त्व ने विदेश जाने का इरादा छोड़ दिया ॥१५२०॥

दर्शनपाल ने तो केवल विदेशगमन जोश बतलाया था और पश्चात् पट्ट की मित्रता के मिस से अपने विचार को त्याग दिया ॥१५२१॥ सुस्सल स्वयं राज्येच्छुक था, इसलिए उच्चल राजधानी पर अधिकार प्राप्त न करले इस विषय में वह बड़े जोर शोर से प्रयत्न कर रहा था ॥१५२२॥ उच्चल और सुस्सल दोनों भाई प्रायः समानवयस्क थे और दोनों उद्दण्डस्वभाव के थे, इसलिए उन्हें पारस्परिक ज्येष्ठत्व कनिष्ठत्व का कुछ भी ध्यान न था ॥१५२३॥ उस बलवान् सुस्सल ने दो तीन दिनों में आस पास के बहुत से स्थानों पर अधिकार कर लिया और वह राजधानी के नजदीक पहुँच गया ॥१५२४॥ वह कलशपुर को जलाकर राख करने के लिए प्रस्तुत ही था, इतने में बुप्प अथवा भोजदेव

नामक राजा कलश का पुत्र उससे लड़ने के लिए नगर से बाहर निकला ॥१५२५॥ हर्ष ने "अपने समान वह भी दुष्ट स्वभाव का होगा और खुद को दुःखप्रद भी होगा", इस विचार से उस राजकुमार को भावी दुर्भाग्य के प्रभाव से सर्वदा बलहीन बनाकर रखा था ॥१५२६॥ उस समय तो निरुपाय होकर उसे स्वतन्त्रता प्रदान करनी पड़ी। उसके पश्चात् वह वीर भोजदेव किन किन युद्धों में सैनिकों का अग्रेसर नहीं बना था ? ॥१५२७॥ यदि उसे अपने प्रपितामह राजा अनन्तदेव के समान राजकुमारोचित उत्तमतम शिक्षा दी गई होती तो वह वीर उत्साहपूर्वक समग्र दिशाओं को निर्दायाद (शत्रु-शून्य) कर डालने में किसी तरह की कसर नहीं रखता ॥१५२८॥ इस संसार में ऐसे मनुष्य बहुत ही थोड़े हैं जो नीति को न जानते हों, परन्तु उस नीति के प्रयोग में सफल होना बहुत कठिन है। अर्थात् ज्ञात नीति को कार्यरूप में परिणत करना प्रत्येक नीतिज्ञ की शक्ति के परे है, जैसे सब कोई शस्त्र-विद्या के जानकार हो सकते हैं, परन्तु अचूक निशाना लगाने वाले दुर्लभ हैं ॥१५२९॥ वह युवराज भोजदेव तिमि नामक मत्स्य के लिए तिमिंगिल नामक महामत्स्य के समान उद्दाम-पराक्रमशाली सुस्सल के लिए अत्युद्दामपराक्रमसंपन्न होने के कारण दुस्सह हो गया था ॥१५३०॥

पिताके कृतघ्न होने पर यदि सन्तान भी कृतघ्न हो तो उसे कैसे अयोग्य कहा जा सकता है ? तिल घुन लगे हुए भले ही क्यों न हों, परन्तु सुरभिसुमनों के सहवास से उत्पन्न होनेवाली

सुगन्ध उनके तेल में प्रकट हुए बिना क्या रह सकती है ? ॥१५३१॥ राजा हर्षदेव ने देवेश्वर के पुत्र पित्थ का अत्यधिक गौरव बढ़ा दिया था, फिर भी उस पापी ने राजा के पक्ष को त्याग कर शत्रुपक्ष का आश्रय स्वीकार किया ॥१५३२॥ पश्चात् जब सुस्सल से युद्ध प्रारम्भ हुआ तब पित्थ के पुत्र मिल्ल से राजा ने अपनी ओर से उसके प्रति अनादर को प्रकट करते हुए उससे राजकीय अश्व वापस माँगा था ॥१५३३॥ इस व्यवहार से खिन्न होकर मिल्ल ने राजा से कहा 'महाराज, आज आपको मेरी वास्तविक योग्यता का पता चल जायगा" ऐसा कहकर वहाँ से रवाना हो गया और उस मानी वीर ने रण में प्रविष्ट होकर खड्गधारा-रूपी जल से अपने कलंक को धो डाला ॥१५३४॥ इस घटना से उस कृतज्ञ राजा के अन्तःकरण में उसके सच्चे स्वरूप को न जानने के कारण सर्वस्वनाश की अपेक्षा भी अधिक दुःख हुआ ॥१५३५॥ विभव से सर्वदा संमोहग्रस्त राजा लोग अपने सेवक की वास्तविक योग्यता को तब जानते हैं जब कि उनके पास शाब्दिक पुरस्कार के अतिरिक्त कुछ देने को बाकी नहीं रहता ॥१५३६॥ भोजके द्वारा पराजित किया गया सुस्सल युद्ध में से भाग गया और उसने लवणोत्स में अपना मुकाम जमा लिया और वहाँ से वह दो एक बार आ भी गया था ॥१५३७॥ सूर्य के तीव्रतर आतप से तथा युद्धजनित श्रम से थका हुआ युवराज वापस आ गया था और वह राजा के सहित एक उद्यान में विश्राम के लिए पर्यंक पर लेट गया ॥१५३८॥ इतने में राजमहल

के उत्तर की ओर से नदी के उस पार से "मल्लराज का ज्येष्ठ-पुत्र उच्चल आक्रमण कर रहा है इसलिए नदी का पुल तोड़ दिया जावे" इस प्रकार का कोलाहल श्रवणगोचर होने लगा ॥१५३९॥ दुष्ट एवं कृतघ्न दण्डनायक ने "यदि आप आज ही राजधानी में पहुँच न सकेंगे तो राजसिंहासन आपको न मिलकर सुस्सल के अधीन हो जावेगा", इस प्रकार उच्चल के पास सन्देश भेजा था ॥१५४०॥

इसलिए वह बड़े वेग से आक्रमण करने के लिए आया और मार्ग में नरेन्द्रेश्वर के पास सामने लड़ने के लिए उद्यत हुए देवनायक को युद्ध में उसने परास्तकर यमालय को भेज दिया ॥१५४१॥ उसके बाद नगराधिकारी नाग अश्वारोही सैनिकों के व्यूह को साथ में लेकर बहुत बड़ी सेना के सहित उसके सम्मुख युद्ध करने के लिए रवाना हुआ ॥१५४२॥ उसीके पास प्रधान सेना थी, वह सुस्सल को जीतकर आया था, इसलिए राजा को उसपर अधिक भरोसा था। इसी कारण से उच्चल-सम्बन्धी भय अथवा आशंका राजा को न थी ॥१५४३॥ उच्चल के पास सेना बहुत कम थी इसलिए वह नाग से डरता था, परन्तु उस नाग ने अपनी पगड़ी उतार कर नम्रता के साथ उसको प्रणाम किया ॥१५४४॥ उच्चल ने मण्डलेश्वर आनन्द के समान उसे भी अपने शत्रु हर्ष का प्रेमभाजन समझकर उसका विश्वास नहीं किया, और उसे अपने घर जाने के लिए कहा, तब उस पापिष्ठ ने वैसा ही किया ॥१५४५॥ उस नाग को स्वामिद्रोह एवं राजद्रोह का फल इसी जन्म में तथा शीघ्र ही मिला, क्योंकि कुछ समय के बाद वह दुष्ट

उसी मण्डल में विपन्नावस्था में फँसकर भिक्षावृत्ति के द्वारा अपने अवशिष्ट जीवन को व्यतीत करके मृत्युमुख में चला गया ॥१५४६॥ उसके पश्चात् राजा ने नदी तीर पर पहुँचकर दावानल-दग्ध तरुसमूह के समान अत्यन्त श्यामवर्ण एवं विकृतवेष डामर-समूह को पुल पर आते देखा ॥१५४७॥ उनके मध्यमें कृष्णपक्ष की रात्रि में चमकीले शुक्र के प्रकाश के समान चमकते हुए शुभ्र कवच को धारण किये हुए जनकचन्द्र सुशोभित हो रहा था ॥१५४८॥ राजा ने उस विशाल नौकाओं के पुल को स्वयं के लाभ एवं उपयोग के लिए बनवाया था, परन्तु वही पुल इस समय दुर्भाग्यसे शत्रु के कार्य का साधक बन गया ॥१५४९॥ शत्रु को बहुत समीप आया देखकर राजपत्नियाँ (शाही राजकन्याएँ) व्याकुल हो गईं उन्होंने प्राणत्याग का निश्चय कर लिया और वे जलती हुई लकड़ियोंको हाथ में लेकर शतद्वार नामक राजमहल के ऊपरी भाग में चतुष्किका नामक प्रकोष्ठ पर चढ़ गईं ॥१५५०॥

नगरवासी जनता तटस्थ के समान निश्चिन्त होकर सेतु के अग्रभाग में शत्रुओं के साथ किये गये युद्ध को आश्वयुजीलागि (आश्विन मास किये जानेवाले क्रीडायुद्ध) के समान खड़े रहकर देख रहे थे ॥१५५१॥ राजा को विजय प्राप्ति की आशा थी, इस-लिए उसने राजमहल को आग न लगाने के लिए रानियों को सन्देश द्वारा सूचित किया था और वह पुल के द्वार पर युद्ध कर रहा था ॥१५५२॥ पुल के अग्रभाग में खड़े हुए राजा के हाथी का तनुत्राण (कवच) बाणों के प्रहार से छिन्न-भिन्न होकर गिर

पड़ा था, इसलिए जनकचन्द्र आदि डामरों ने उस हाथी पर बाणों की वर्षा शुरू की ॥१५५३॥ बाणों के प्रहारों से मर्मस्थानों में विताड़ित वह गज चीत्कार करता हुआ पराङ्मुख होकर अपनी सेना को चरणों से कुचलने लगा ॥१५५४॥ राजा के प्रतिकूल भाग्य के समान उस विमुख गज के द्वारा कदर्थित राजा की सेना के अश्वारोही तथा पदाति सैनिक व्याकुल होकर इधर उधर भाग गये ॥१५५५॥ शत्रु के सैनिकों के प्रहारों से विताड़ित वह राजा विमुख होकर सेतुको लाँघकर इसपार आ गया और भयभीत होकर शतद्वार नामक राजमहल के आँगन में अपने अश्वारोही सैनिकों के सहित प्रविष्ट हो गया ॥१५५६॥ जो राजा एकान्त में उदात्त (उज्ज्वल) वेष के बिना नहीं देखा गया था, जिसका मुख भोजन के समय में भी मलिन अथवा अस्वच्छ नहीं देखा गया था॥१५५७॥ उसी राजा का उस समय शरीर सूर्य के तीक्ष्ण आतप के ताप से तथा रिपुजनित भय से द्विगुणित स्वेदमय हो रहा था और कन्धों पर से खसकते हुए कवच उसके सेवक लोग बार बार ठीक करते थे ॥१५५८॥ उसका अश्व अचानक बारबार ऐंड़ी की चोट लगने के कारण दौड़ने के लिए व्याकुल होने लगता था। उसको रोकने के लिए वह राजा भी उसकी वल्गा (लगाम) को बारबार जोरों से खींच रहा था ॥१५५९॥ उसके सिर के बाल बहुत कम रह गये थे, इसलिए तालु के ऊपर के भाग में ,खल्वाटता आगई थी, इस कारण वह आस पास के अवशिष्ट केशों को तलवार लिए हुए हाथ से कानों के पीछे की ओर हटा रहा था ॥१५६०॥

उसके श्रवण कुण्डलहीन थे, उसकी लम्बायमान कर्णपाली शुष्कग्रीवा पर कृष्णसर्पिणी के समान लटक रही थी ॥१५६१॥ ताम्बूल के न मिलने से उसके सूखे ओष्ठ लाक्षालिप्त से (लाख चुपड़े से) दीख रहे थे। वह उन शुष्क ओष्ठों को बड़े कष्ट के साथ जिह्वाग्र से बारबार चाटता था ॥१५६२॥ उसके नेत्रों की पुतलियाँ तक धूल से भर गई थीं इसलिए उसका मुख रूक्ष एवं धूसरित हो रहा था। वह हताश होकर राजमहल की छत पर खड़ी हुई रानियों को ऊँचा मुँह करके बारबार देख रहा था ॥१५६३॥ उस समय उस राजा को आग लगाकर जलजाने के लिए उद्युक्त उन ललनाओं को आग न लगाने के लिए इशारा करते हुए एवं व्याकुलचित्त होकर उस राजमहल के आँगन में घूमते हुए सब लोगों ने देखा ॥१५६४॥ उस राजभवन के अतिनिकट मल्लराज का प्रासाद था, अतः जनकचन्द्र ने नदी के इस पार आकर उसमें आग लगा दी ॥१५६५॥ उस तरफ से जलती हुई आग को राजधानी की ओर आते देखकर युवराज भोज को अपने पिता के हाथ से राज्य के चले जाने का पूर्ण रूप से निश्चय हो गया और उसने वहाँ से पलायन करने का उपक्रम किया ॥१५६६॥ वह वीर राजकुमार नड़ों (तृण विशेष) के समान राजभवन के द्वार को रोककर खड़े हुए शत्रुओं के सशस्त्र सैनिकों की भीड़ को तितर बितर करता हुआ अश्वारूढ़ होकर पाँच सात अश्वारोही वीरों को साथ में लेकर सिंहराजमठ के पास के सेतु को उल्लङ्घन कर लोहर की ओर चल दिया ॥१५६७, १५६८॥ राजकुमार के नजरों से

ओझल हो जाने पर राजा हर्ष के नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये और वह कतिपय अश्वारोही सैनिकों के सहित राजभवन से बाहर आकर युवराज जिस दिशा की ओर गया था उसी तरफ शून्यदृष्टि से देखने लगा ॥१५६६॥ उसी अवसर पर अग्नि में प्रवेश करने के लिए उद्यत हुई रानियों को बचाने के लिए कतिपय राजसेवकों ने चतुष्किका को पत्थरों से तोड़ना शुरू किया ॥१५७०॥

तब शाही राजकन्याओं ने (रानियों ने) वास्तविक बात को न जानते हुए चतुष्किका के ऊपरी हिस्से में आग लगा दी ॥१५७१॥ इस दृश्य को देखते ही राजा के सेवकजन तथा डामर-मंडल आदि विद्रोही लोग परस्पर मारपीट करते हुए उस जलते हुए राजमहल के अन्दर घुसकर लूट खसोट करने लगे ॥१५७२॥ उस गड़बड़ में बहुत से लोगों के तो प्राण गये और बहुतों का जन्म भर का दारिद्र्य दूर हो गया, तथा वहाँ पर लूट करते हुए बहुत से लोगों को ऐसी अपूर्व वस्तुएँ हस्तगत हुईं जिनसे उन्हें हास्यास्पद बनना पड़ा ॥१५७३॥ किसी पामर ने कर्पूरखंड को सिताखंड (मिश्री का टुकड़ा) समझ अपने मुख में डाल लिया और जब उससे उसका सारा मुँह जल उठा तब उस कर्पूरपात्र को उस मूढ़ ने नदी में फेंक दिया ॥१५७४॥ बहुत से पामरों ने सुनहरे बेलबूटों से सुसज्जित वस्त्रों को उनमें से सुवर्ण प्राप्त करने की अभिलाषा से जला डाला और बड़े आदर के साथ उनकी राख के ढेर को एकत्रित कर लिया ॥१५७५॥ कहीं कहीं पर अविद्ध मौक्तिकों के समूहों को चावल समझकर पामर नारियों ने चक्की

में पीस डाला ॥१५७६॥ इस प्रकार उन पामरों द्वारा विडम्बित की गई उस काश्मीर राज्य की अतुल सम्पत्ति भविष्य में पुनः उस प्रकार से कदापि दृष्टिगोचर नहीं हुई ॥१५७७॥ विद्याधरियों के समान उज्ज्वलवेषधारिणी एवं सुन्दरतम राजपत्नियों को उपद्रवी एवं क्रूर डामरलोग जबरदस्ती से उड़ाकर ले जा रहे थे ॥१५७८॥ उस समय में वसन्तलेखा आदि प्रधान राजपत्नियाँ, उनकी स्नुषाएँ एवं राजकन्याएँ इस प्रकार सब मिलकर सत्रह ललनाओं ने अनन्यगतिक होकर अग्निप्रवेश किया और शेष सभी डामरों के द्वारा उड़ाई गईं ॥१५७९॥ जलते हुए राजप्रासादों के काष्ठस्तम्भों का चटचटा शब्द प्रखर उष्णता के कारण उबलती हुई आकाशगंगा के प्रचंड घोष के समान प्रतीत होता था ॥१५८०॥

पद्मश्री नामक प्रपा (प्याऊ) के पीछे की ओर खड़ा होकर वह राजा इस दृश्य को देख रहा था और शोकग्रस्त हो निम्न लिखित प्राचीन आर्षश्लोक को बारबार अपने मन में याद कर रहा था ॥१५८१॥

"प्रजापीडनसंतापात्समुद्भूतो हुताशनः ।
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणान्नादग्ध्वा विनिवर्तते ॥"

प्रजापीडन संताप से उत्पन्न हुई अग्नि राजा के कुल, ऐश्वर्य एवं प्राणों को भस्मसात् किये बिना शान्त नहीं होती ॥१५८२॥ अभी तक राजा के पास कुछ सेना अवशिष्ट थी, इसलिए उच्चल राजमहल में आग लगाकर डामरमण्डल समेत नदी के उस

पार चला गया ॥१५८३॥ राजा युद्ध में लड़कर मरना चाहता था परन्तु पदाति सैनिकों में पैर-पैर पर मतभेद होने के कारण वह व्याकुलता के कारण किसी प्रकार भी निश्चय नहीं कर सकता था ॥१५८४॥ अनन्तपाल आदि राजपुत्रों की सम्मति के अनुसार वह युद्ध के लिये सन्नद्ध होता था, परन्तु दण्डनायक उसे युद्ध में जाने के लिए बारबार रोकता था ॥१५८४॥ चम्पक ने "युद्ध कीजिए अथवा लोहर की ओर चले जाइये" ऐसा राजा से कहा और प्रयाग को लोहर की ओर जाना ही सम्मत था, युद्ध करना नहीं ॥१५८६॥ युवराज के चले जाने के बाद उस तरफ के समाचार न मिलने से व्याकुल होकर राजा ने चम्पक को भोजदेव का पता लगाने को जाने के लिए कहा ॥ १५८७॥ तब चम्पक ने अत्यन्त दुःखित होकर "महाराज ऐसा करने से आपकी सेवा में अकेला प्रयाग ही रह जायगा, इसलिए मुझे तो आप अपने निकट से मत हटाइये" ॥१५८८॥ तब राजा ने आँसू गिराते हुए कहा "ऐसा मैंने सुना है कि आप कृतघ्न नहीं है फिर आप मेरे कथन को क्यों नहीं मानते हैं ?" ॥१५८९॥ मैं पुत्र के विना सर्वत्र सूर्य के प्रकाश से विद्योतितदिन में भी सब दिशाओं को अन्ध के समान नहीं देख सकता, वह हमारे ही उत्सर्ग में रह कर बढ़ा है, इसलिए तुम्हें उसपर क्रोध नहीं करना चाहिए ॥१५९०॥

उस मंत्री से युवराज भोजदेव का एक अश्वा (घोड़ी) के लिए कुछ झगड़ा हो गया था, इसलिए राजा ने उससे इस प्रकार व्यंग्य वचन कहे थे। इस प्रकार के व्यंग वचनों को सुनकर वह मंत्री

लज्जित एवं दुःखी हुआ और युवराज की खोज करने के लिए वहाँ से चल दिया ॥१५९१,१५९२॥ उसके साथ उसके भाई तथा सेवक आदि सब मिलकर ५० अश्वारोही वीर थे, परन्तु नदी के उस पार पहुँचने तक उनमें से उसके समेत केवल पाँच मनुष्य रह गये थे ॥१५९३॥ उन चार साथियों में चम्पक के दोनों भाई और अश्वारूढ़ शेषाराज का पुत्र तथा धनक ये वीर थे, मार्ग में शेषाराज का अश्व मर गया था इसलिए उसे भी पैदल चलना पड़ा ॥१५९४॥ वे पाँचों वीर बहुत देर तक राजकुमार भोजदेव को खोजते फिरे, परन्तु उसका पता लग न सका, तब सायंकाल के समय वे सब वितस्ता नदी तथा सिन्धु नदी के संगम-स्थान पर पहुँच गये ॥१५९५॥ इसी प्रकार उस राजा ने अपने पुत्र का पता लगाने के लिए और भी बहुत से आप्तजनों को रवाना किया। बहुत से लोग तो इसी बहाने से उसके पास से चल दिये थे ॥१५९६॥ जिस दण्डनायक ने राजपुरी आदि स्थानों की लड़ाइयों में राजा से नाराज होकर शत्रुपक्ष की ओर से उत्कोच (रिश्वत) ले ली थी और राजा को धोखा दिया था, जिस दुष्ट ने योग्य सैनिकों से चिढ़कर उन्हें सेना में से निकाल दिया था और राजा की सम्पूर्ण सेना को निस्सार बना दिया था ॥१५९७॥ और राजा जब युवराज को लोहर भेज रहा था, तब भी जिस कृतघ्न ने उस कार्य में विघ्न उपस्थित किया था, इसी प्रकार जिस धूर्त ने राजा को युद्ध में संलग्न देखकर शत्रु को राजधानी में प्रविष्ट होने का अवसर दे दिया था ॥१५९८॥ और जिसने उस राजा का सर्वस्व

नष्ट कर डाला था, वही दण्डनायक उस समय पर भी राजा के उचित कर्तव्य का निषेधक बन गया था ॥१५९९॥ उस समय वह राजा भयंकर संकट में फँस जाने के कारण सुतरां कर्तव्यमूढ़ हो रहा था। उसमें किसी भी कर्तव्य को निश्चित करने की शक्ति नहीं थी। उसकी बुद्धि चंचल एवं भ्रान्त हो गई थी। उसके धैर्य का बाँध भी टूट चुका था ॥१६००॥

जिस प्रकार वेणुवाद्य (वंशी) के सभी छिद्रों में यदि वायु का प्रवेश होने लगता है तो मधुर स्वर कदापि नहीं निकल सकता, वैसे ही परस्पर विरुद्ध अनेक मतों से बाधित विचार कदापि निश्चितरूप को प्राप्त नहीं होते ॥१६०१॥ स्वामी के भाग्यक्षय का यही लक्षण है कि उसे साधारण मनुष्य भी बिना पूछे ही अपनी इच्छा से अपने मनके अनुकूल सलाह देने का धाष्ट्र्य करने लगता है ॥१६०२॥ जब राजा हर्ष युद्ध के लिए वहाँ से रवाना होने को तैयार हुआ, तब त्रैलोक्य नामक सारथि ने घोड़ों की लगाम पकड़कर दण्डनायक की खूब प्रशंसा की और कहा ॥१६०३॥ महाराज, पुराने जमाने में आपके पितामह ने एकांग तथा अश्वारोहियों को साथ में लेकर विजयलक्ष्मी को प्राप्त किया था। इसलिए उन लोगों को एकत्रित करने के लिए हमको अक्षपटल नामक कार्यस्थान (कचहरी) में चलना चाहिये ॥१६०४॥ वहाँ से उन सब लोगों को साथ में लेकर हमलोग एकत्रित हुए पदातिप्राय शत्रुसैन्य पर पीछे की ओर से एकदम बाज के समान आक्रमण कर पक्षियों के समान उन शत्रु सैनिकों को नष्ट कर देंगे ॥१६०५॥

इस कार्य के लिए राजा तैयार हो ही रहा था कि इतने में राजा की सेना में कोलाहल मच गया और जैसे जोरदार पानी की वर्षा से व्याकुल होकर तमाशा देखनेवाले लोग उसे छोड़कर इधर उधर भाग जाते हैं वैसे ही सैनिक लोग इधर उधर भाग गये ॥१६०६॥ उस राजा ने वितस्ता नदी को उल्लंघन करके इस पार आये हुए शेयाराज (शेषराज) के पुत्रों को युवराज भोजदेव के मार्गव्यय के लिए अपने कण्ठका रत्नहार तथा अन्य आभूषण उतार कर दे दिये थे ॥१६०७॥ वे आरामिक अर्थात् माली या बागवान का काम करते थे। उनको अपने राजभोग्य उत्तम आभूषण देने के पश्चात् उन आभूषणों से हीन वह राजा एकदम निस्तेज एवं शोभाहीन दीखने लगा ॥१६०८॥ उसके सैनिक उसे पैर पैर पर त्याग कर जा रहे थे । वह अक्षपटल कार्यस्थान तथा अन्य राजकीय कार्यस्थानों में खूब भटकता फिरा, परन्तु वहाँ पर उसे कोई भी नहीं मिल सका ॥१६०९॥ इस प्रकार सब जगह से निराश होकर वह राजा सायंकाल के समय प्रत्येक मंत्री के भवन के द्वार पर आश्रय के लिए गया, परन्तु द्वार पर खड़े हुए उस राजा हर्षदेव को किसी भी सचिव ने अपने घर के अन्दर नहीं बुलवाया ॥१६१०॥

केवल प्रायोपवेशन के कार्य में कुशल दुष्टतम ब्राह्मणवर्ग आखिर में किसी के भी कार्य में कदाचित् ही उपयुक्त हो सकता है, इसलिए उन नीचतम ब्राह्मणों पर राजाओं का विश्वास रखना सर्वथा व्यर्थ है ॥१६११॥ इस प्रकार उस नगर में जितने प्रति-

ष्ठित लोग थे उन सब के घर पर आश्रय पाने की आशा से भटकता हुआ वह राजा कपिल नामक मंत्री के द्वार पर पहुँचा ॥१६१२॥ वह मंत्री लोहरकोट को चला गया था। उसकी पत्नी ने राजा से रात भर वहीं ठहर कर प्रातः नौका द्वारा लोहरकोट को चले जाने के लिए प्रार्थना की, परन्तु दैवमोहित उस राजा ने मंत्रि-पत्नी के हितकारक वचन को नहीं माना ॥१६१३॥ पिता के समान द्रोह करने में निपुण उस कपिल मंत्री के पुत्रों ने उस राजा को आर्त देखकर जिस प्रकार कर्जदार लोग साहूकार को देखकर अपना मुँह छिपाने लगते हैं, वैसे ही स्वयं को छिपा लिया ॥१६१४॥ उस समय राजा हर्षदेव को अपनी सदोषता का पता लगा, क्योंकि उसके पूर्व तो दुष्ट-हृदय मंत्री लोग उसके द्वारा किये गये दुराचरणों पर एवं उन दुराचरणों से रुष्ट हुई जनता द्वारा की गई निन्दाओं पर परदा डाल रखा था ॥१६१५॥ उस समय वह राजा सर्वथा निराश हो चुका था। उसके मनमें अपने समीपस्थ सेवकों पर भी विश्वास न रहा था। अंत में वह प्रद्युम्नतीर्थ की पहाड़ी पर पहुँचा। उसको उल्लंघन करने के पश्चात् उसके पास बहुत थोड़े सेवक रह गये थे ॥१६१६॥ जो लोग स्वयं को ३६ उच्चतम कुलों में उत्पन्न हुआ समझते थे, और जो तेजस्वी एवं प्रभावशाली तथा सूर्य की अपेक्षा भी स्वयं को अधिक श्रेष्ठ मानते थे, उन्हीं अनन्तपाल आदि राजपुत्रों ने भी अपने अपने घोड़ों को लेकर उस राजा को रास्ते ही में छोड़ दिया ॥१६१७,१६१८॥ पश्चात् वह राजा जोहिलमठ के निकट

पहुँचने पर अश्व पर से उतर पड़ा, वहीं पर अनुजसमेत दण्ड-नायक ने भी उसका साथ छोड़ दिया ॥१६१९॥ "यहाँ पर मेरे श्वशुर का घर है, वहाँ पर आज की रात बिताने के लिए आपके रहने योग्य उत्तम निवासस्थान देखकर मैं अभी उपस्थित होता हूँ" ऐसा बहाना बनाकर वह धूर्त दण्डनायक राजा के पास से चल दिया ॥१६२०॥

जब दण्डनायक जाने की तैयारी कर रहा था, तब प्रयाग ने उसके छोटे भाई से राजा के मार्गव्यय के लिए अंगद (सुवर्ण का भुजबन्द) माँगा था, परन्तु उसने उसे न देकर केवल थोड़ा सा सत्तू दे दिया ॥१६२१॥ बाद में उस राजा के पास केवल एक वस्त्रात्मक सम्पत्ति, एकाकी स्वयं का जीव तथा अकेला सेवक प्रयाग इतने ही अवशिष्ट रहे थे ॥१६२२॥ उसी अवसरपर चम्पक महामात्य के सेवक जेलक का मुक्तक नामक सूद (रसोइया) अनायास से उनके पास आ पहुँचा था और वह राजा का परम विश्वसनीय अनुचर बन गया था ॥१६२३॥ इधर उधर भटकते हुए उन तीनों से नजदीक की एक पर्वतीय गुहा के अन्दर रहनेवाली किसी एक स्त्री ने कहा कि आगे का मार्ग नदी की बाढ़ के कारण अनेक गर्तपूर्ण एवं दुर्गम्य है ॥१६२४॥ इस वचन को सुनकर जब वह राजा वितस्ता नदी के तीर पर ठहर गया, तब प्रयाग ने नदी के उस पार जयपुरकोट को जाने के लिए नाविकों को बुलवाया ॥१६२५॥ प्रयाग ने पहिले से ही राजा को आश्रय के भीमादेव के घर पर भिजवाने के लिए

वहाँ के कतिपय शस्त्रधारी सैनिकों के साथ सलाह कर ली थी ॥१६२६॥ यद्यपि भीमादेव उच्चल के पक्षपातियों में से था, तथापि उसने "यदि राजा हर्ष स्वयं आश्रय के लिए मेरे घर पर उपस्थित होगा तो मैं उसीका पक्ष ग्रहण करूँगा" ऐसी प्रतिज्ञा की थी ॥१६२७॥भाग्यहीन एवं आत्मविनाश के लिए अग्रसर तथा किसी भी समीपस्थ व्यक्ति के दृष्टिपातमात्र से भयभीत होनेवाला वह राजा नाविकों के द्वारा लाई गई नौका पर नहीं बैठा ॥१६२८॥ जिस प्रकार सर्प के दृष्टिपात से दीपक निर्वाणोन्मुख होने लगता है, वैसे ही शरीरधारियों का बुद्धिदीपक विनाश के समय उपस्थित हुए कालरूपी सर्प के दृष्टिपात से शीघ्र ही आसन्ननिर्वाण हो जाता है ॥१६२९॥ स्वामिद्रोह के सुभिक्ष से परिपूर्ण उस भयंकर समय में भी अपने स्वामी को छोड़ दूसरे की तरफ आँख उठाकर भी न देखनेवाली किसी उच्चकुलीन वधू के समान जिस नीलाश्व डामर विम्ब ने राजा के पक्ष का त्याग नहीं किया था, उस बिंब को भी उस समय में आश्रयकांक्षी वह राजा अपने दुर्भाग्य से याद न कर सका ॥१६३०, १६३१॥

उसके पश्चात् स्वामिद्रोह के पातक से दूषित हुई पृथ्वी को क्षालित करने के लिए बादलों का समूह जोर से वृष्टि करने लगा ॥१६३२॥ निर्जन भूमि, निरंतर मूसलधार जलवृष्टि, निविड़ अंधकार तथा क्षण-क्षण में शत्रुभय इस प्रकार उस अभागे राजा के लिए कौनसी दुःखप्रद घटना बाकी रही थी? ॥१६३३॥ वास्तव में तो उस समय में राजद्रोही बन जानेवाले किसी भी

व्यक्ति का यहाँ नामोल्लेख करना कथमपि योग्य न होगा, तथापि सत्य इतिहासलेखन के अनुरोध से स्मरण न करने योग्य व्यक्तियों के नामों का भी हमें यहाँ उल्लेख करना पड़ रहा है ॥१६३४॥ राजा जिस स्थान पर पहुँचा था वह स्मशान भूमि थी, वहाँ सोमानन्द नामक किसी सिद्ध योगी के द्वारा पूजित भगवान् सोमेश्वर नामक शंकर का मन्दिर था ॥१६३५॥ उस मन्दिर के चारों तरफ विशाल एवं उन्नत वृक्षसमूह से प्रच्छन्न वाटिका थी, उसमें गुण नामक एक क्षुद्र तपस्वी की कुटी थी ॥ १६३६ ॥ उसमें वह क्षुद्रभिक्षुक "विरहभुजंगी" नाम से विख्यात भिक्षा नामक वृद्धवेश्या के साथ रहकर कुटनेपन का काम करता था ॥१६३७॥ वह कुटी प्रतापगौरीश के मन्दिर के पास में थी, उसी कुटी में मुक्त राजा को रात बिताने के लिए ले जा रहा था ॥१६३८॥ मुक्त का सहारा लेकर राजा तथा राजा के सहारे से प्रयाग इस प्रकार वे तीनों निविड़ अंधकारमय यामिनी में बीच-बीच में बिजली के आलोक से पृथ्वी को देखते हुए जा रहे थे ॥१६३९॥ उस समय राजा का मस्तक निरुन्मीष था, बरसात के कारण उसके भींगे हुए वस्त्र शरीर से चिपक गये थे, और वह बारबार कीचड़ में फिसल पड़ता था। प्रयाग और मुक्त दोनों बड़ी कठिनता से उसे उस कुटी तक ला सके ॥१६४०॥

उस विकट समय में जैसे उत्पल को रुद्र का स्मरण आया था, वैसे ही शोक करते हुए उस राजा को दुष्ट सचिवों के कथन से निर्वासित एवं आपत्ति को निवारण करने में समर्थ वीरवर

कन्दर्प का स्मरण आ रहा था ॥१६४१॥ वे लोग जब वहाँ पहुँचे थे तब भिक्षुकगुण कहीं अन्यत्र गया था, इसलिए मुक्तने दीवार पर चढ़कर उस कुटी के आँगन में प्रवेश किया, और आँगन के द्वार की अर्गला का उद्घाटन किया। पश्चात् प्रयाग समेत राजा उस आँगन के अन्दर गया ॥१६४२॥ उस आँगन के अन्दर प्रवेश करते समय राजा के दक्षिण चरण में ठोकर लग गई और रक्त बहने लगा, इस प्रकार के अपशकुन को देखकर राजा ने "अपनी मृत्यु अति समीप आ गई है" ऐसा जान लिया ॥१६४३॥ उस कुटी के दरवाजे पर ताला लगा था, इसलिए उस राजा को भयंकर मेघाच्छादित गाढ़ अन्धकारमयी वह रात्रि उस आँगन में बैठकर डरते-डरते बितानी पड़ी ॥१६४४॥ उस समय राजा का सम्पूर्ण शरीर कीचड़ से भरा हुआ था, वृष्टि के शान्त होने के बाद उसने सेवक के साधारण कम्बल से अपने शरीर को आच्छादित करके कर्दममयी पृथ्वी पर खड़े खड़े अवशिष्ट रात्रि को बिताया ॥१६४५॥ वह कभी उठता था, कभी बैठता था, कभी उठकर चलने लगता था, इस प्रकार किसी कार्य में व्याप्त होकर अपनी दुःखमय अवस्था को भूलने का प्रयत्न कर रहा था, परन्तु व्याकुलता के कारण उसे निद्रा नहीं आती थी, और वह स्वयं को किसी ऊँचे स्थान पर से अत्यंत गहरे गर्त में गिरा हुआ सा अनुभव कर रहा था ॥१६४६॥ वह राजा—"मैं कौन हूँ, आज मुझे किसने अभिभूत कर रखा है, मैं कहाँ हूँ, इस समय मेरा कौन सेवक है, और अब मेरा क्या कर्तव्य है" ऐसा सोचकर बार बार काँप उठता

था ॥१६४७॥ "मेरा राज्य छीन लिया गया है, मेरी प्रिय पत्नियाँ अग्नि में जलकर भस्म हो गई हैं, पुत्र चला गया है, मैं बन्धु-रहित, एकाकी तथा पाथेयहीन हूँ, मुझे एक भिखारी की कुटी के आँगन में बैठकर कालयापन करना पड़ता है", इस प्रकार एक-एक दुःख के विषय में गम्भीर विचार करते हुए उस राजा को स्वयं के समान दुःखग्रस्त एवं इस प्रकार की दुर्दशा का अनुभव करने वाला मानव सारे संसार के पुराण तथा इतिहासों की कथाओं में भी नहीं दीख रहा था ॥१६४८, १६४९॥ इधर युवराज भोज-देव भी बचे हुए अपने दो तीन अश्वारोही साथियों के सहित नगर के समीप भाग से निकल कर हस्तिकर्ण नामक स्थान पर पहुँच गया ॥१६५०॥

चलते हुए उस भोज के मनमें इस बात का पूरा भरोसा था कि यदि इन्द्र भी मेरा शत्रु होगा फिर भी मैं पाँच या छ दिनों में अपने राज्य को वापिस छीन लूँगा ॥१६५१॥ मानव गर्भवास की अवस्था में अवस्थित जीव के समान पुरुषार्थ के अन्दर आकर कौन सा कार्य नहीं करना चाहता ? परन्तु जिस प्रकार गर्भवास से मुक्त होकर इस संसार में आये हुए जीव को प्राक्तन कर्मों की हवा मुग्ध कर देती है, वैसे दैव भी उस मानव को हठात् मोहित कर ही देता है ॥१६५२॥ युवराज की माताओं के द्वारा दिये गये पाथेय को लाने के लिए नागेश्वर नामक सेवक गया था, उसकी प्रतीक्षा में युवराज भी हस्तिकर्ण के समीप की रंगबाट नामक वाटिका के अन्दर ठहरा हुआ था ॥१६५३॥

पश्चात् नागेश्वर के आगमन की सूचना को पाते ही वह वहाँ से बाहर निकला। इतने में ही नागेश्वर तथा उसके साथियों ने उस पर प्रहार करना प्रारंभ कर दिया ॥१६५४॥ इस प्रकार उन लोगों की कृतघ्नता को देखकर क्षात्रधर्म पर दृढ़ रहनेवाले उस वीर युवराज भोजदेव ने जो पराक्रम प्रदर्शित किया वह किसे आश्चर्यान्वित न करेगा ? ॥१६५५॥ युद्ध में सिंह के समान विरोधियों का संहार करते हुए उस वीर ने रुधिररूपी अंगराग से अनुलिप्तांग होकर वीरशय्या को भूषित किया ॥१६५६॥ उसके साथ ही अनुपमपराक्रमशाली उसके मातुल का पुत्र पद्मक और उसका प्रेमपात्र क्रीड़ा-सहचर (खेल का साथी) खेल दोनों वीर युद्ध में मृत्युमुख में प्रविष्ट हो गये ॥१६५७॥ उधर उज्वल रात्रि के समय शूरमती देवी के मठ में प्रविष्ट हुआ था, वहाँ उसका भाई सुस्सल युद्धश्रान्त होकर लवणोत्स से आ पहुँचा ॥१६५८॥ "राजकुमार भोज मारा जा चुका है और अब अकेला हर्ष ही बाकी बच गया है" ऐसी खबर सुनकर उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानों उनके हृदय में का शल्य तो निकल चुका है। अब केवल उसका अग्रभाग ही रह गया है ॥१६५९॥ उन दोनों भ्राताओं को हर्ष के कारण जो देशान्तर प्रवास का कष्ट उठाना पड़ा था, अब वे उसे भूल गये थे और उन्हें कुछ थोड़ा-सा राज्य-सुख भी प्राप्त हो गया था, फिर भी वह राज्यप्राप्ति अप्राप्ति के समान ही उन्हें विदित हो रही थी ॥१६६०॥

दूसरे दिन प्रातःकाल में मुक्त उस भिक्षुक को कहीं से खोज

कर वहाँ लाया। उसने राजा को प्रणाम कर उस कुटिया का द्वार खोला ॥१६६१॥ वह कुटी डांस एवं मच्छरों से भरी पड़ी थी, पृथ्वीपर तृण बिछा हुआ था, मुक्त ने उस पर थोड़ा पानी छिड़क दिया, तब राजा उसके अन्दर गया ॥१६६२॥ जिसके शब्दों को श्रवण करने का सुअवसर पाकर बड़े-बड़े राजा-महाराजा लोग स्वयं को धन्य मानते थे, वही राजा हर्ष उस समय में भय के कारण उस दरिद्र भिक्षुक से नम्रतापूर्वक चाटुकारिता प्रदर्शित करते हुए बोलने लगा ॥१६६३॥ उस भिक्षुक की भिक्षुकानुरूप अनागरिक भाषा, ग्राम्य भोजन तथा चातुर्यहीन व्यवहार आदि ढंग को देखकर राजा को अत्यन्त कष्ट हुआ ॥१६६४॥ पश्चात् प्रयाग ने उस भिक्षुक को अपना अन्तर्वस्त्र (अन्दर पहिनने का कपड़ा) बेचने के लिए देकर उसके धन से भोजनसामग्री लाने के लिए भेजा ॥१६६५॥ प्रत्यक्ष में कुत्सित एवं कटु वचन कहने वाला तथा परोक्ष में रहस्यभेद करने के कारण भयोत्पादक वह कुत्सित तापस राजा को शत्रु के समान दुःखप्रद हो रहा था ॥१६६६॥ मध्याह्न काल में वह क्षुद्रतपस्वी अपनी सहचरी तपस्विनी के सहित भोजन के बर्तन को मस्तक पर रखकर वहाँ उपस्थित हुआ ॥१६६७॥ उसे देखकर राजा के मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि अभी तक तो मुझे मुक्त एवं यह भिक्षुक दो ही जानते थे, परन्तु अब इस तपस्विनी को भी यह वृत्तान्त विदित हो गया है, अतः अब मेरे जीवन की आशा बहुत कम रह गई है ॥१६६८॥ पश्चात् प्रयाग के द्वारा लाये गये अन्न को राजा ने प्रयाग के अनु-

रोध से केवल स्पर्श ही किया, खाया नहीं, क्योंकि उसका हृदय तीव्र दुःख के कारण व्याकुल हो रहा था ॥१६६९॥ आँगन में खड़े हुए प्रयाग ने उस तपस्विनी से "क्या कुछ नवीन खबर है" ऐसा पूछा, तब उसने अपनी ग्राम्यभाषा द्वारा भोज के मारे जाने का वृत्तान्त स्पष्ट रूप से कह दिया ॥१६७०॥

ऐसा सुनकर प्रयाग ने "यह बात सर्वथा असत्य है" ऐसा कहा; परन्तु राजा ने अपने वामनेत्र तथा वामबाहु के स्फुरण आदि अपशकुनों को देखकर उस बात को अन्यथा नहीं माना अर्थात् वह वार्ता राजा को सत्य प्रतीत हुई ॥१६७१॥ इस दुःख-प्रद समाचार से दुःस्थिति में फँसे हुए उस राजा को इतना तीव्रतम दुःख हुआ कि जिसको वर्णन करने में राजा के कट्टर से कट्टर शत्रु को भी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा ॥१६७२॥ उस राजा ने राजनैतिक कपटमय प्रपंच के वशीभूत होकर उस राजकुमार को जो यन्त्रणाएँ दी थीं, उनके द्वारा उसने अपने मनमें स्वयं को ही जन्मतः राजकुमार को आपत्ति में डालने का प्रधान कारण माना ॥१६७३॥ यद्यपि वह युवराज वीरस्पृहणीय शौर्यवृत्ति के साथ युद्ध करके मरा था, तथापि वात्सल्यातिशय के कारण राजा को "वह अपने उत्संग में सोया है एवं उसकी बाल्यावस्था में ही मृत्यु हो गई है" ऐसा प्रतीत हो रहा था ॥१६७४॥ "अपने यौवनोन्नत वक्षस्थल पर वह राजकुमार खेल रहा है तथा उसकी ग्रीवा में मुक्ताहार सुशोभित हो रहा है" ऐसी कल्पना करते हुए और उसे आशीर्वाद देते हुए उस राजा का मन अत्यन्त विह्वल

हो रहा था ॥१६७५॥ जिसकी रक्षा करना नितान्त आवश्यक एवं सर्वथा उचित था, वह बालक अर्थात् राजकुमार तो मारा गया और मैं इतना वृद्ध होकर भी अनुचित आचरण द्वारा अपने इस कुत्सित जीवन की रक्षा कर रहा हूँ। इस प्रकार विचार में मग्न होकर वह अत्यन्त लज्जित हुआ ॥१६७६॥ इस प्रकार उस राजा ने पुत्र-शोक के कारण अनिर्वचनीय व्यथा से व्यथित होकर उसी क्षुद्र तापस की कुटी में द्वितीय निशा को भी व्यतीत किया ॥१६७७॥ उस रात्रि में प्रयाग ने राजा से भगवन्मठ को जाने के लिए प्रार्थना की थी, परन्तु शोक के दुष्परिणाम से नष्टमति होकर उस राजा ने वहाँ से अन्यत्र जाने के लिए अपने मनमें संकल्प भी नहीं किया ॥१६७८॥ वह रात्रि चन्द्रबिम्ब से टपकते हुए अवश्याय-बिन्दुरूपी अश्रु-बिन्दुओं की वृष्टि के द्वारा तथा वियुक्त चक्रवाक-युगल के करुणाक्रन्दन-रूपी शोकाक्रोश के द्वारा दुःख को प्रकट कर रही थी ॥१६७९॥ पश्चात् प्रातःकाल में प्रयाग ने अपने स्वामी को क्षुधा एवं तृषा से म्लान देखकर उस तापस से भोजन लाने के लिए प्रार्थना की ॥१६८०॥

तब वह तापस वहाँ से चल दिया और शीघ्र ही वापस आकर उसने उन दोनों के सम्मुख व्यंजन सहित उत्तम अन्न से पूर्ण दो पात्र रख दिये ॥१६८१॥ और कहा कि किसी एक सद्गृहस्थ के घर में यज्ञमहोत्सव था, वहाँ से मैं ये दो पात्र लाया हूँ। इस प्रकार उसके वचन को सुनकर प्रयाग ने दीर्घ एवं उष्ण निश्वास छोड़ते हुए कहा ॥१६८२॥ महाराज, स्वामी का इस प्रकार वियोग

होकर वह आपत्तिमय अवस्था से पीड़ित हो रहा है; देखिये फिर भी इन लोगों को यज्ञ आदि महोत्सव करने का साहस हो रहा है। तब राजा ने प्रयाग से कहा कि तू इस प्रकार मूर्खवत् क्यों बोल रहा है ?॥१६८३॥ जो गया वह गया ही है, उसके चले जाने से दूसरे की कौन सी क्षति हो जाती है ? सब अपने अपने सुख को चाहते हैं, कोई किसी के लिए शोक नहीं करता ॥१६८४॥ जब कि जगदेकचक्षु (संसार के एकमात्र नेत्र, संपूर्ण संसार को आलोक प्रदान करनेवाले) भगवान् सूर्य के लोकान्तर चले जाने पर समस्त विश्व अपने भवनों में सुख एवं शान्ति के साथ विश्राम करता है, तब दूसरा कौन इस प्रकार सोचेगा कि मुझ से वियुक्त होकर अर्थात् मेरे बिना यह अखिल विश्व कैसे रहेगा ॥१६८५॥ मुझे पहिले मेरे पुत्र के स्नेह का जो विश्वास था, परन्तु अब उसके मरण का वृत्तान्त सुनकर वैसा अन्य स्नेह का विश्वास नहीं हो सकता। इसी प्रकार दूसरे मानवों के स्नेह का भी यही तरीका है। दूसरों की बात को तो जाने दीजिए, मुझे ही पहिले देख लीजिए कि मैं अपने जीवन के भी जीवनस्वरूप पुत्र को मरा हुआ सुनकर भी स्वस्थ के समान जी रहा हूँ, तब दूसरों को कैसे दोष दिया जा सकता है ॥१६८६,१६८७॥ ऐसा कहकर राजा ने मौन धारण कर लिया, तब प्रयाग ने उन दोनों पात्रों को त्याग कर गुप्त रूप से उस भिक्षुक को फिर से योग्य अन्न लाने के लिए कहा ॥१६८८॥ "मेरे पास कल के धन में से खर्च करने के बाद बचा हुआ धन आज के खर्च के लिए पर्याप्त

नहीं है, तथापि प्रयत्न करके देखता हूँ", ऐसा कहकर वह भिक्षु खेद प्रदर्शन करता हुआ वहाँ से रवाना हुआ ॥१६८६॥ जैसे अल्पसत्त्व (दुर्बल) मनुष्य से पारदभस्म पचाया नहीं जा सकता, वैसे ही क्षुद्रहृदय मानव रहस्य को अपने मन में नहीं रख सकते ॥१६९०॥

उस भिक्षुक का मनोरथ नामक एक आप्त (बांधव) था, उसने यह रहस्य उससे कह दिया ॥१६९१॥ तब मनोरथ ने उस भिक्षुक से कहा कि यह राजा उच्चल का शत्रु है इसलिए उसको इसकी सूचना देने से हम दोनों को उच्चल के पास से पारितोषिक प्राप्त होगा, और धनाढ्य बन जावेंगे। इस प्रकार प्रलोभन देकर उस भिक्षुक को मनोरथ ने विद्रोही बना दिया ॥१६९२॥ वह द्विज न होकर किसी नीचकुलोत्पन्न दास की संतान होगा, क्योंकि सदसत्कर्म तथा स्वभाव ही इस बात के ज्ञापक प्रमाण होते हैं ॥१६९३॥ राजा हर्ष का वृत्तान्त उन दोनों ने इलाराज से कहा और उसने उच्चल को सूचित किया। पश्चात् उच्चल ने भी हर्ष को पकड़ने का काम इलाराज को सौंप दिया ॥१६९४॥ इस विषय में कुछ ऐतिहासिकों का कथन है कि उस क्षुद्र भिक्षुक तथा मनोरथ नामक विप्र को इलाराज के पास विभूतिमिश्र नामक कायस्थ ने पहुँचाया था ॥१६९५॥ यह बात सरासर झूठ होकर किसी के द्वारा इसका प्रचार कर दिया गया हो, ऐसा भी हो सकता है, तथापि ऐसी अफवाह फैलने का कारण तो उस भूतिमिश्र का चारित्र्य अथवा वर्ताव ही हो सकता है

॥१६९६॥ कुछ समय के बाद उस दुष्ट कायस्थ को श्वपाक (चाण्डाल) के कन्धे पर बैठाल कर सर्वत्र घुमाया गया और अनेक प्रकार से उसकी दुर्दशा की गई, तथा अपमान किया गया और अन्त में कारागार में रहकर अनेक यातनाओं को भोगकर उसे मृत्यु के वशीभूत होना पड़ा। यह सब उसके दुष्कर्मों का ही दुष्परिणाम था ॥१६९७॥ राजा हर्षदेव क्षुधा से अत्यंत व्याकुल हो रहा था और प्रयाग भी उससे भोजन करने के लिए बार-बार आग्रह कर रहा था। अन्त में नवीनतम पुत्र-शोक से पीड़ित होने पर भी राजा ने प्रयाग के अनुरोध से भोजन करना स्वीकार किया ॥१६९८॥ जैसे पक्षिशावक खाद्य सामग्री को लाने के लिए गये हुए अपने माता-पिता की प्रतीक्षा करते हुए घोसले के बाहर बार-बार मुँह निकाल कर देखता है, वैसे ही प्रयाग भी उस कुटी के गवाक्ष (खिड़की) से भोजन लेकर आनेवाले उस भिक्षुक को आया हुआ जान कर बार-बार बाहर की ओर देख रहा था ॥१६९९॥ इतने में उसने उस कुटी को चारों तरफ से सशस्त्र सैनिकों के द्वारा घिरा हुआ देखा और आँगन के द्वार की अर्गला को तोड़ने की आवाज भी उसे सुनाई दी ॥१७००॥

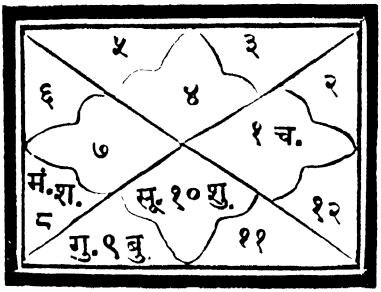
इस प्रकार से विश्वासघात हुआ जानते हुए उस राजा ने आँगन में खड़े रहकर मुक्त को बुलाते हुए उस विश्वासघाती अधम तापस को सैनिक समेत देखा ॥१७०१॥ फिर भी उसने निर्भय होकर कुटी का द्वार खोल दिया और मुक्त को बाहर भेजकर पास में की कटार को म्यान से निकाल कर अपने हाथ

में ले लिया ॥१७०२॥ इतने में एक साहसी, अहंकारी, क्रूर-स्वभाव तथा कवचधारी सैनिक अपने हाथ में नग्न खड्ग लेकर उस कुटी के अन्दर प्रविष्ट हुआ ॥१७०३॥ उस सैनिक को संकीर्णतम तापसकुटी के अन्दर बड़ी कठिनता से खड़े हुए उस व्यायामकुशल राजा ने पृथ्वी पर गिरा दिया, परन्तु दया के वशीभूत होकर उसका वध नहीं किया ॥१७०४॥ "पृथ्वी पर गिरे हुए इस यःकश्चित् मनुष्य को मारने से क्या प्रयोजन है ?" इस प्रकार निरर्थक अहंकार से ग्रस्त हुए उस राजा ने अपने मन में कहा ॥१७०५॥ एक दूसरा सैनिक कुटी के छाजन को उखाड़ कर अन्दर उतर रहा था, और तीसरा ऊपर चढ़ रहा था। उन दोनों ने राजा को उस प्रथम सैनिक की पीठ पर शस्त्र को हाथ में लिये हुए खड़ा देखा और वे भयभीत होकर पृथ्वी पर गिर पड़े ॥१७०६॥ उस समय उस सैनिक की पीठ पर खड़ा हुआ वह राजा हाथ में दण्ड को धारण कर रुरु नामक दानव की पीठ पर खड़ी हुई चामुण्डा के समान सुशोभित हो रहा था ॥१७०७॥ राजा हर्षदेव के जीवन का यह अन्तिम युद्ध वीरों के सिंहनाद, रणवाद्यों के उत्साहवर्धक शब्द अथवा शस्त्रों के झणत्कार आदि से सुशोभित नहीं हो रहा था ॥१७०८॥ प्रत्युत जैसे भाण्डस्थित मूषक को चारों तरफ से घेरकर मार्जार खड़े हो जाते हैं, वैसे कतिपय शस्त्रधारी डामर उस कुटी के अंदर घुस गये थे और उस राजा को चारों तरफ से घेर कर खड़े हो गये थे ॥१७०९॥ पश्चात् एक अन्य शस्त्रधारी सैनिक कुटी के छाजन पर से अन्दर

की ओर उतरा, और उसने प्रयाग के कन्धे पर तथा मस्तक पर प्रहार करके राजा पर भी सहसा आक्रमण किया ॥१७१०॥ और राजा के द्वारा किये गये प्रहार को बचाकर राजा के वक्षस्थल में शीघ्रता पूर्वक दो बार खंजर घुसेड़ दिया ॥१७११॥ उस प्रहार से घायल हुए राजा ने "महेश्वर, महेश्वर" इस प्रकार अपने इष्ट-देव का दो बार नाम-स्मरण किया और वह छिन्न-मूल वृक्ष के समान गतप्राण होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥१७१२॥

वह चक्रवर्ती राजा था, तथापि उसे भयभीत हो पलायन कर किसी के घर में छिपे हुए चोर के समान उस संकुचित एवं मलिन कुटी में प्राण त्याग करना पड़ा ॥१७१३॥ आधुनिक काल के राजाओं में हर्षदेव के समान परमैश्वर्यशाली दूसरा कोई भी राजा नहीं हुआ, वैसे ही दूसरे किसी भी राजा को इस प्रकार गर्हित रूप से प्राणत्याग भी नहीं करना पड़ा ॥१७१४॥ संग्राम से विमुख हो जाने के कारण ही उस महामना राजा ने अपना संपूर्ण वैभव एवं तदंगभूत सुख अपने आप खो दिया ॥१७१५॥ अथवा वह स्वायत्तसिद्धि न होकर सचिवायत्तसिद्धि था, यही एकमात्र उसमें दूषण था, अर्थात् वह स्वयं कुछ भी नहीं सोचता था, और प्रत्येक कार्य मंत्रियों की सलाह से करता था। यही एक ही दोष उस राजा का था और सम्पूर्ण अनर्थों के कारण तो उसके मन्त्रियों के दोष थे—ऐसा भी कहा जा सकता है ॥१७१६॥ वह राजा लौकिक वर्ष ४१७७ में भाद्रपद शुक्ला पंचमी के दिन मारा गया। उस समय उसकी अवस्था ४२ वर्ष तथा

८ मास थी ॥१७१७॥ उस राजा की जन्मकुण्डली में दुर्योधन के समान अपने ही कार्य के द्वारा स्वयं के वंशोच्छेदन करने का योग था ॥१७१८॥ उसकी जन्मकुण्डली में जन्मलग्न कर्क था और शनि तथा मंगल पंचम भवन में थे और बुध एवं बृहस्पति षष्ठ स्थान स्थित थे। सूर्य-शुक्र सप्तम थे तथा चन्द्र दशम स्थान में था ॥ १७१९॥ (अर्थात् निम्नलिखित कुण्डली थी)



इसी प्रकार जब चन्द्र, शुक्र तथा पापग्रह क्रमशः दशम, सप्तम एवं पंचम स्थानों में विद्यमान थे, ऐसे कुयोग में उत्पन्न हुए कौरवादिकों ने अपने वंश का नाश किया—इस प्रकार ज्योतिष-संहिताकारों का कथन है ॥१७२०॥

उस समय वह संपूर्ण काश्मीर देश अब्रह्मण्य-सा हो गया था। इसीलिए राजा हर्ष के मस्तक को किसी एक चोर के मस्तक के समान काट कर उसके शत्रु उच्चल के पास भेजा गया ॥१७२१॥ उस राजा के मस्तक का छेदन करते समय ससागरा वसुन्धरा काँपने लगी तथा निरभ्र आकाश से मूसलधार जलवृष्टि होने लगी ॥१७२२॥ उसका मस्तक एक लम्बे भाले की नोक पर रख कर

दुर्दशा करके चारों तरफ नचाया गया और इस पाप के कारण उन पापी लोगों को भविष्य में अत्यंत कष्ट भोगना पड़ा ॥१७२३॥ जिस प्रकार इस काश्मीरमंडल में हर्षदेव के शासन-काल सेही देव प्रतिमाओं का उखाड़ना, तोड़ना आदि दुष्कार्यों का प्रारंभ हुआ, उसी प्रकार भूपाल का शिरश्छेद भी उसके शिरश्छेद से ही प्रारंभ हुआ ॥१७२४॥ जब वह मस्तक उच्चल के सामने रखा गया तब सौजन्य के कारण उच्चल ने उसकी ओर देखा नहीं और उसने बड़ी देर तक आँसू बहाये तथा उस सिर का अग्निसंस्कार करवाया ॥१७२५॥ बड़े कष्ट एवं लज्जा की बात है कि उस हर्ष-जैसे चक्रवर्ती के शरीर का अग्निसंस्कार किसी चोर के समान उच्चल की आज्ञा के विना न हो सका ॥१७२६॥ सेवकों से परित्यक्त, वंशहीन उस राजा के शरीर को गौरिक नामक काष्ठ-विक्रेता ने अनाथ शव के समान नग्न ही जला डाला ॥१७२७॥ इस राजा हर्ष की यह कथा रामायण तथा महाभारत की कथा के समान दीर्घ एवं अवर्णनीय आश्चर्य को उत्पन्न करनेवाली है ॥१७२८॥ सम्पत्तियाँ भाग्यरूपी बादलों में चमकने वाली विद्युल्लताओं के समान नितान्त चञ्चल हैं और अत्युत्कट एवं अत्यद्भुत वैभव का अवसान भी वैसे ही विरस अर्थात् तिरस्करणीय है तथापि मोह से हत बुद्धि होने के कारण लोगों का काल्पनिक विभव के अनुभव का अभिमान शांत नहीं होता, बड़े ही आश्चर्य की बात है ॥१७२९॥ उस राजा के अन्तःपुर में इतनी रानियाँ थीं फिर भी एक ने भी उसके लिए शोका-

क्रन्दन नहीं किया और उस राजा के सहस्रशः सेवकों के होने पर भी उसकी मृत्यु के शोक से खिन्न होकर किसी सेवक ने भी प्राणत्याग अथवा तीर्थवास स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार अपने सुख में तन्मयचित्त होकर रहने वाले लोगों की निःस्नेहता को देख कर भी जो व्यक्ति विरक्तियुक्त होकर अरण्यवास को अङ्गीकार नहीं करते उन्हें धिक्कार हो ! ॥१७३०॥ प्रारंभ में शाश्वत ऐसी कोई भी वस्तु नहीं होती और यही प्रकार अन्त का भी है। मध्य में अकस्मात् सुस्थिति अथवा दुःस्थिति के अनुरोध से कोई भी कृति थोड़े से समय के लिए किसी प्राणी के द्वारा निष्पन्न हो जाती है और वह प्राणी विना सिर-पैर के नट के समान इस मिथाभास-रूपी संसार के परदे के अन्दर छिप कर कहाँ चला जाता है ?—इस रहस्य को हम नहीं जानते हैं ॥१७३१॥ जिस प्रकार दिनश्री देवताओं के द्वारा परित्यक्त हिमगिरे-शिखर को त्यागकर देवगिरि सुमेरु के दिव्य तट का आश्रय ग्रहण करती है वैसे ही सातवाहन-कुलोद्भव श्रीउदयराज के वंश में निवास को त्याग कर कांतिराज के कुल में प्रतिष्ठित हो गई ॥१७३२॥ (इस तरंग में तीन दिन कम ९८ वर्षों में उदयराज के वंशज ६ राजा हो गये)।

इति श्रीकाश्मीरिकमहामात्य-चंपकप्रभुसुतकल्हण-
महाकविविरचितायां राजतरंगिण्यां
सप्तमस्तरङ्गः समाप्तः ।

पुस्तक भवन द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

उपन्यास, कहानियाँ आदि

१	एम. ए. बनाके क्यों मेरी मिट्टी खराब की ?	।)
२	शैलबाला (सामाजिक)	१)
३	सीताराम (बंकिम बाबू)	१।)
४	दुर्गेशनन्दिनी ..	१)
५	कृष्णकांत का वसीयतनामा ..	१)
६	कपालकुण्डला ..	।।)
७	रजनी ..	।।)
८	आनन्दमठ ,,	१)
९	लोकरहस्य ,,	।।)
१०	योगेश्वरी (आध्यात्मिक)	२)
११	रंगीला भक्तराज (सामाजिक)	।)
१२	सच्ची-झूठ ,,	।)
१३	हुगली का इमामबाड़ा (आध्यात्मिक)	१।)
१४	तू-तू मैं-मैं (हास्यरस)	।)
१५	भेदभरी कोठरी (जासूसी)	।)
१६	वाह री परीक्षा (कहानियाँ)	।)
१७	लाल त्रिशूल (जासूसी)	।=)
१८	शराबी (पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र')	१।)

साहित्यिक, नाटक आदि

१	विसर्जन नाटक (रवीन्द्रनाथ ठाकुर कृत)	।)
२	राजारानी नाटक ,, ,,	।।)
३	विक्रमोर्वशीय नाटक (महाकवि कालिदास)	।=)
४	वृन्द सतसई सटीक (महाकवि वृन्द)	१)

बालोपयोगी

१	बाल-मनोरञ्जन दो भाग	।)
२	मूर्खराज और चतुरसिंह	१)

पता—**पुस्तक-भवन, बनारस**